



इकसठ  
कहानियाँ

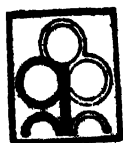
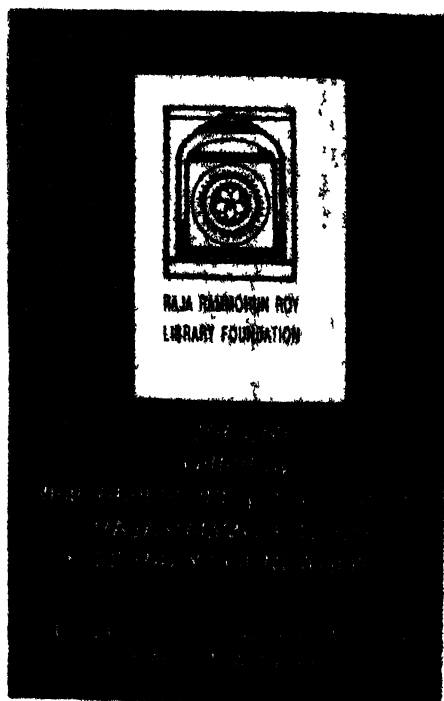


इकसठ कहानियाँ



# इकसठ कहानिया

हिमांशु जोशी



प्रवीण प्रकाशन

नई दिल्ली-110030

----- PUBLIC LIBRARY

SL/R.R.R.L.F No.

MR. NO. (R.R.R.L.F./GEN) 56795

प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन

1/1079 ई, महारौली, नई दिल्ली-110030

आवरण : इलहाम

शब्द-संयोजक : अजय प्रिंटर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

मुद्रक : विशाल प्रिंटर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

---

IKSATH KAHANIYAN by Himanshu Joshi

भाई भीष्म जी  
तथा  
शीला भाभी  
को  
सादर





# कथा तीरे

एक

आज पीछे मुड़कर कभी देखता हूँ तो सच नहीं लगता । लगता है जैसे यह चालीस साल लम्बी यात्रा कल ही तो शुरू हुई थी और आज चार दशक भी पूरे हो गए ।

ऐसा भी कहीं होता है ?

ऐसा भी कहीं हुआ करता है कि केवल एक ही दिन में चालीस साल लम्बा वक्त गुजर जाए ?

हाँ, कभी-कभी हर असम्भव सम्भव हो जाता है, और हर सम्भव असम्भव ।

सम्भव और असम्भव के बीच झूलती यद् उसी की कहानी है ।

मैं आज की नहीं, अतीत की बातें कर रहा हूँ । तब भी तो वह ऐसा ही था ! कुछ-कुछ इसी तरह का । सीधा-सादा... । अन्तर्मुखी...अपने में लीन...बेहद संकोची... किसी हद तक शर्मिला...नासमझ । संयुक्त परिवार में पितृहीन शिशु की जो त्रासदी होती है, कुछ-कुछ वैसी ही उसकी भी थी । सब कुछ होते हुए भी कुछ न होने का और कुछ न होते हुए भी सब कुछ होने का अहसास ।

कहते हैं, अभी वह सात साल का भी न था कि सिर से पिता का साया उठ गया । वे स्वाधीनता-संग्राम में थे । गाँधीजी का अलख जगाते-जगाते वे स्वयं ही चिरनिद्रा में लीन हो गए कहीं !

और तब एक सम्पन्न परिवार देखते-देखते विपन्न हो गया था ! सारा सुख-वैभव अतीत का स्वप्न बनकर रह गया !

कभी-कभी अभिशाप भी किस तरह से वरदान के कारण बन जाते हैं, और वरदान भी अभिशाप के, मैं वही कुछ कहने जा रहा हूँ । लेकिन उससे पहले—

जीवन में कुछ करना, उसकी नियति है शायद—उसे कभी-कभी अहसास होता तो उसके हाथ अपने आप छटपटाने लगते। चित्रकला का बेहद शौक था। पुस्तकें पढ़ना, या घण्टों अकेले में बैठे रहना भी अच्छा लगता था। कभी-कभी एकान्त के क्षणों में कागज काले कर लिया करता। क्या लिखता है? क्यों? उसे पता न था। फिर भी वह लिखता था। क्योंकि लिखना उसे अच्छा लगता था।

अभी वह निचली सीढ़ी पर ही था, यानी पुस्तक के पन्ने पलटना सीख ही रहा था, कि कभी-कभी उल्टी-सीधी तुकबंदियाँ भी कर लेता था।

उम्र के साथ-साथ धीरे-धीरे यह मर्ज़ भी बढ़ने लगा था। अभी उसका कद कुछ ही बढ़ा था कि तुकबंदियों की पंक्तियाँ भी उसके साथ-साथ लम्बी खिंचने लगीं। परीक्षा के क्षणों में भी उसे कविता सूझने लगी। एक प्रकार का यह पागलपन बहुत असें तक घेरे रहा उसे।

नैनीताल में, अध्ययन के दिनों में अध्यापक जब नोट्स लिखवा रहे होते, वह सबसे पिछली सीट पर, गर्दन झुकाए बैठा, कविता लिख रहा होता। कई बार दण्ड भी मिला, पर आदत थी कि छूटने का नाम न ले रही थी।

समय हर रोग की दवा है न! इस रोग का निदान भी। समय स्वतः निकालने लगा। दूसरे नशों की तरह धीरे-धीरे यह नशा भी उतरने लगा। किन्तु इस उन्माद से अभी भली-भाँति मुक्ति मिल भी न पाई थी कि एक और फितूर उस पर सवार होने लगा। हर क्षण उसके मस्तिष्क में कहानी का कोई-न-कोई ऊल-जलूल प्लाट घूमने लगा।

लिखने का जो सिलसिला तब शुरू हुआ, वह किसी न किसी रूप में आज तक चल रहा है। डॉक्टर कहते हैं कि इस मर्ज़ का दुनिया में कोई इलाज नहीं।

## दो

सचमुच में उसके घोर संकट के दिन थे वे! अग्नि-दीक्षा के।

जीवन-मृत्यु के झूले में झूल रहा था वह।

दिल्ली की धूलभरी तपती सड़कों पर बावला-सा भटक रहा था। बर्फीली, शीतल पहाड़ी धरती से उठकर आया था वह, गर्मी में सिकते इस जलते भाड़ में। चारों ओर जैसे आग बरस रही हो!

एक अनजान, अपरिचित महानगर! नहीं, नहीं, नीम पागलों की एक अन्तहीन बस्ती। आदमी ही आदमी। मकान ही मकान। इन आदमियों और मकानों के मिले-जुले जंगल में वह कहीं खो गया था। दिन-रात इन भीड़भरी सड़कों पर भटककर कहीं वह अपने को ही खोज रहा था।

न ढंग से सिर छिपाने के लिए ठौर! न दो रोटियों का जुगाड़!

स्वयं पर-आश्रित होने पर भी अपने पर आश्रितों का अदृश्य हाँस! कर्तव्यहीनता

या पलायन का अपराधबोध ! वह कहीं भीतर-ही-भीतर छटपटा रहा था ।

पर इस सबके बावजूद एक प्रकार का गहरा जुनून छाया हुआ था उसमें । जीवन में कुछ कर गुजरने की तमन्ना ।

इस घटाटोप अँधियारे में कहीं कुछ अदृश्य उजास की किरणें थीं । सवेरे का एक भ्रम कहीं खींचे ले जा रहा था उसे ।

सवेरा न हो, केवल रात ही रात हो, यह कैसे हो सकता है ।

दिनभर का हारा-थका, रात को अपने किसी रिश्तेदार के एक कमरे के 'घर' में लौटता तो गहरा अँधियारा उसकी राह देख रहा होता । रिश्तेदार मिल में मजदूर था । अकेला था, अक्सर रात की पाली में बाहर रहता था । इसलिए इस चारपाई-भर लम्बे कमरे में साँस ले पाना सम्भव हो पाता था ।

दिल्ली के एक छोर में बसी अनधिकृत गंदी बस्ती । बित्ते भर का ठौर ! केवल अधउखड़ा-सा, टूटे फट्टे का एक झूलता हुआ दरवाजा, जिसमें धूप, हवा, धूल, धुआँ ही नहीं, वर्षा की बौछारों का पानी भी आराम से आर-पार हो जाता । जिस दिन रिश्तेदार की रात की ड्यूटी न होती, रिश्तेदार चारपाई पर सोता और वह चारपाई के पाए के पास थोड़ी-सी जगह में पाँव सिकोड़े अपने बिस्तर पर पड़ा रात गुज़ार देता । ऐसे में कभी बारिश हो जाती तो सुबह उठने पर लगता जैसे अभी-अभी किसी तालाब से उठकर आ रहा हो ।

इतना सब होने पर भी उसे यह एकान्त, यह उमसभरा अँधियारा कमरा बहुत अच्छा लगता । क्योंकि रात को पढ़ने-लिखने का कुछ अवसर मिल जाता था यहाँ ।

रूखा-सूखा कुछ चबाकर, हैंडपम्प का ढेर सारा ठंडा पानी पीता । चारपाई के नीचे रखे छोटे-से, रीते गोल ड्रम को खड़ा करता, उसके ऊपर अपना टिन का चौकोर पुराना बक्सा जमाकर, मेज का आकार दे देता । बैठने के लिए कुर्सी तो थी नहीं । इसलिए चारपाई की बाँस की पाटी पर बैठ जाता और तमाम कागज-पत्रर फैलाकर लिखने लगता ।

एक-एक कहानी कई-कई बार लिखता । जब तक सन्तोष न हो, लिखता रहता । एक-एक शब्द साफ, मोती-सा होना चाहिए, उसकी तब की धारणा आज तक ज्यों-की-त्यों बनी है ।

कितनी राते इसी तरह जाग-जागकर वह बिता देता था !

पर उसका इस तरह जागना, जाग-जागकर लिखना, उसके मकान मालिक को रास न आ पा रहा था । उसका धंधा दूध बेचने का था । बाहर-भीतर भैसे ही भैंसें । उसका कहना था कि इस तरह रातभर बिजली जलते रहने के कारण, उसकी भैंसें आराम की नींद सो नहीं पाती हैं, इसलिए दूध कम दे रही हैं ।

भैंसों का इस तरह सो न पाना, जागते रहना और दूध कम देना, उसके मन में एक प्रकार की ग्लानि का भाव पैदा कर रहा था । उस पर मकान मालिक का यह कहना कि कमरा उसने एक के रहने के लिए दिया है, फिर दो के रहने का क्या औचित्य ?

ये सारे तर्क उसे अपनी जगह ठीक लग रहे थे।

पर दिनभर वह मारा-मारा यों न भटके, रातभर जाग-जागकर यों न लिखे तो क्या करे! किनारा कहीं भी नज़र न आ रहा था।

## तीन

एक ट्यूशन! मात्र एक महीने के लिए! कितने मिलेंगे, इसका भी भरोसा नहीं।

खाना, पीना, रहना—सब मित्र के मत्थे!

दिन किसी तरह बीत रहे थे। कहानियाँ लिखते-लिखते कहीं स्वयं भी वह कहानी का पात्र बन रहा था—दुःख इस बात का था।

भीषण गर्मी के दिन!

कहाँ किशनगंज का बाग कड़ेखाँ, कहाँ तेरह-चौदह कि. मी. तक चल सकता है! एक ट्यूशन के लिए दिल्ली के एक छोर से दूसरे छोर तक की पदयात्रा! सारा समय यों ही निकल जाता।

यों किशनगंज से पुरानी दिल्ली रेलवे-स्टेशन तक का रेल का टिकट एक आने का होता था, पर यह भी कोई थोड़ी-सी रकम थी क्या?

‘आकाशवाणी’ में ऑडिशन था उस दिन। सोचा दरियागंज से ही होकर चला जाए! एक दिन फैज़ बाज़ार की सड़क पर भटकते-भटकते जैनेन्द्रजी की नेम-प्लेट दिखलाई दी थी। उसने सोचा, उनसे भी मिल लिया जाए। किसी से कम तो उसने अपने को कभी समझा नहीं, भले ही अभी तक कुछ छपा न था।

जैनेन्द्रजी दिन में अपने कार्यालय ‘ऋषि-भवन’ में बैठते थे।

वह मिला। कुछ औपचारिक-सी बातें हुईं, ताल्स्तोय और रोम्या रौलाँ के जीवन-दर्शन की। जब वह जाने के लिए उठा तो उसके हाथ में बेलन की तरह लिपटे कागजों को देखकर जैनेन्द्रजी ने यों ही पूछा, ‘यह क्या लिखा है?’

‘जी, कुछ... नहीं, ऐसे ही... कल रात खाली बैठे-बैठे लिख रहा था...।’

‘कहानी है?’

वह यों ही हँस पड़ा, ‘कहानी-वहानी नहीं, ऐसे ही...!’

जैनेन्द्रजी ने उसे पढ़ा।

‘भई, कहानी तो वाकई अच्छी है। ‘नवभारत टाइम्स’ का आफिस देखा है? यहीं पास ही है। अक्षय को दे आओ। कहना कि वह मुझे फोन कर ले।’

अक्षय जी के कमरे में कहानी तो चपरासी के मार्फत उसने भिजवा दी, पर यह कहना गंवारा न लगा कि इसे जैनेन्द्रजी ने भिजवाया है।

उसकी मान्यताएँ आरम्भ से ही कुछ विचित्र-सी रही हैं। इसे उसका स्वाभिमान भी कह सकते हैं, जन्मजात अहं भी। लेखन में यह सब उसे कभी जँचा नहीं। जिस

आदमी में आत्माभिमान ही न हो, वह लिखेगा क्या... ?

शायद इसीलिए उसने कभी किसी बड़े लेखक से अपनी किसी पुस्तक की भूमिका नहीं लिखवाई। न किसी की राय को फ्लैप ही छापने की आवश्यकता ही अनुभव की और न किसी तरह के प्रमाण-पत्रों या सम्मान-पत्रों को ही महत्त्व दिया ! न उन्हें संवारकर ही रखा।

आज भी किसी मित्र के घर की दीवारों पर 'पद्मश्री', 'पद्मभूषण' या किन्हीं प्रशस्ति-पत्रों को फ्रेम में मढ़ा देखकर उसे आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। लेखक को भी क्या इस तरह की सनदों की आवश्यकता होती है ?

## चार

एक दिन। रविवार की सुबह-सुबह।

डिरे के पास ही खोखे पर चाय पीने पहुँचा तो देखा—चील के पंखों की तरह, काठ की मैली-सी मेज पर, भिनभिनाती मक्खियों के बीच आज का ताजा दैनिक-पत्र बिखरा पड़ा है। उसमें, उसकी वही कहानी छपी है।

यह पहली प्रकाशित कहानी थी उसकी।

वर्ष था—1956।

उस दिन उसके पास केवल इतने ही पैसे थे कि या तो वह एक प्रति समाचार-पत्र की खरीद ले अथवा एक प्याला चाय पी ले।

पास ही दुकान से वह समाचार-पत्र खरीदता है, और बिना चाय किए ही डिरे पर लौट आता है।

आज कभी-कभी अतीत की ओर झँकता है तो लगता है, इतना लम्बा समय इस छोटी-सी जिन्दगी में कुछ कम तो नहीं होता। न जाने एक साथ कितने-कितने जीवन जिए उसने। सुख और दुःख—दोनों को ही परखा। दोनों की ही पराकाष्ठा को देखा। सुख को भी कभी-कभी दुःख का कारण बनते पाया और दुःख के मूल में भी कहीं कोई सुख। कालान्तर में, कौन किसका निमित्त बनता है, इसका गणित कोई आसान तो नहीं।

यदि उसके जीवन में इतने उतार-चढ़ाव न आए होते तो कहानियों में इतने विविध रंग कहाँ से उभरते? अनुभूति और संवेदना की ये प्रतिच्छायाएँ कहाँ से झलकतीं? अभिशाप भी कभी-कभी यों वरदान बन जाते हैं—अनायास !

हर विपत्ति कुछ-न-कुछ दे जाती है। उसका हमेशा का अपना अनुभव है।

उपेक्षा क्या होती है? शोषण किसे कहते हैं? आदमी कितने स्तरों पर, कितने रूपों, कितने रंगों में जीने के लिए विवश होता है? अपनापन किसे कहते हैं? परापन का दंश कितना गहरा होता है? ये सब उसे अपने ही अनुभवों के अंश लगते हैं। शायद इस सबके मूल में, यह कारण रहा है कि हर दुःखी का दुःख इसीलिए आज उसे

कहीं अपना ही दुःख लगता है। हर किसी की पीड़ा उसे आहत करती है। उसे लगता है, उसके पात्र उसके सामने खड़े हैं और अपनी व्यथा स्वयं व्यक्त कर रहे हैं।

जब-जब वह उनके दुखों का वर्णन करता है, उसे लगता है, जैसे वह अपनी ही व्यथा को वाणी दे रहा है! इसलिए ये कहानियाँ उसे कहानियाँ नहीं लगतीं, देखे हुए यथार्थ के अंश जैसे लगते हैं।

## पाँच

पहली कहानी के बाद जो सिलसिला शुरू हुआ, वह चलता रहा। उस वर्ष दिल्ली में आयोजित 'कथा-प्रतियोगिता' में उसकी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला। दूसरे वर्ष भी उसकी कहानी को वही सम्मान प्राप्त हुआ। तीसरे वर्ष भी उससे कहानी भेजने के लिए कहा गया, पर उसने भेजी नहीं। जानबूझकर कतराया! एक ही आदमी हर साल पुरस्कार लेता चला जाए—यह भी कोई बात है!

लिखने और छपने के मामले में वह सदा सौभाग्यशाली रहा। मान-सम्मान भी अनायास ही मिलते रहे। 1965 में पहला कहानी-संग्रह 'अन्ततः' आया। अब तक जिसके सात-आठ संस्करण हो गए होंगे।

उसी वर्ष पहला उपन्यास 'अरण्य' भी प्रकाशित हुआ, जिसे 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' का 'प्रेमचन्द पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

'रथचक्र', 'मनुष्य-चिह्न', 'जलते हुए डैने', 'तपस्या तथा अन्य कहानियाँ', 'गंधर्व-गाथा' आदि कई कहानी-संग्रह आए। ऐसी शायद ही कोई पुस्तक हो, जिसके अनेक संस्करण न हुए हों। शायद ही कोई भारतीय भाषा हो, जिसमें रचनाओं के अनुवाद न प्रकाशित हुए हों। अंग्रेजी, नेपाली, बर्मी, चीनी, जापानी, कोरियाई, चेक, स्लाव, नार्वेजियाई आदि में भी कुछ कहानियाँ रूपान्तरित होकर आईं। कुछ कहानियाँ पर फिल्में बनीं। कुछ के रेडियो-रूपान्तर प्रसारित हुए। कुछ मंचों पर खेली गईं। कुछ पाठ्यक्रमों में लगीं, पुरस्कृत भी हुईं, परन्तु हर क्षण उसे यही अहसास होता रहा कि अभी ऐसा कुछ लिखा ही कहाँ गया है! यह तो लोगों का स्नेहभर है। उनकी उदारता। इसमें उसका क्या!

लिखना उसके लिए और कुछ नहीं, मात्र अपनी यंत्रणाओं से, अपनी मुक्ति का माध्यम है। वह न लिखे तो जी नहीं सकता। इसलिए फिर क्या करे?

हाँ, अपने पात्रों को उसने कभी भी अपने से भिन्न नहीं माना। उनकी हँसी में वह स्वयं हँसा, उनके दुःख में उनके साथ-साथ वह स्वयं भी दुःखी हुआ। किसी पात्र की मृत्यु उसे कहीं अपनी मौत का अहसास जगाती रही। अपनी पहली कहानी का वाक्या उसे हमेशा याद रहा। कभी भी उसे भूल न पाया।

पहली कहानी जब छपी, तो उसके एक अभिन्न मित्र ने हताश स्वर में कहा, 'जब से मेरी रुग्ण पत्नी ने आपकी यह कहानी पढ़ी, जीने की आस ही छोड़ दी। उसके मन

के किसी कोने में, टूटे काँटे की अनी की तरह, यह भावना घर कर गई है कि उसके साथ भी सब कुछ वैसा ही घटित होगा, जैसा कहानी के पात्र के साथ हुआ था... ।

च...च्च... ! यह क्या ?

वह जैसे आसमान से औंधे मुँह सीधे धरती पर गिर पड़ा ।

ऐसा दुष्प्रभाव भी कहानी का हो सकता है, उसने कल्पना नहीं की थी ।

उसने बहुतेरा समझाया कि कहानी को इसीलिए कहानी कहते हैं क्योंकि वह मात्र कहानी होती है, इसलिए उसमें घटी घटनाओं को अपने जीवन में घटित होने की कल्पना क्या कहीं विवेकपूर्ण मानी जा सकती है ? लेखक अपनी कल्पना से जो भी लिखे वह किसी के जीवन में, उसी तरह, वैसा का वैसा कैसे घटित हो सकता है... ?

वह ये सारे सही-सही तर्क तो अपनी ओर से रखता रहा, परन्तु पता नहीं, क्यों भीतर-ही-भीतर कहीं उसे लगता रहा, जो वह कह रहा है, सब सच होते हुए भी, कहीं किंचित सच नहीं ।...वास्तव में कहानी इसीलिए कहानी कहलाती है कि वह कहानी होते हुए भी कहीं कहानी नहीं, सच भी होती है । इसलिए जो कहानी में घटित हुआ, वह कहीं और भी घटित क्यों नहीं हो सकता... ! कहानी भी तो किसी सच पर ही आधारित होती है ।

उस दिन से, उसने तय कर लिया कि कभी भी वह ऐसा कुछ नहीं लिखेगा, जिससे व्यक्ति में हताशा या निराशा जागे । साहित्य का धर्म जीवन है, साहित्य का मर्म जिलाना है, मृत्यु नहीं ।

पता नहीं, इस सत्य का कितना निर्वाह कर पाया !

छः

अपनी इस थोड़ी-बहुत यात्रा के पश्चात्, आज भी जब कभी वह लिखने बैठा है, उसे लगता है, जैसे पहली कहानी लिख रहा हो ! वैसा ही भय, वैसा ही संशय ! पता नहीं कैसी रहेगी । ठीक-ठीक लिखी भी जाएगी या नहीं !

अनेक कथा-आन्दोलनों को निकट से देखा । शहरों की पृष्ठभूमि पर लिखा तो थोड़ा-बहुत गाँव और कस्बों के जन-जीवन पर भी । मानवीय सम्बन्धों को महत्त्व दिया, जो उल्टे-सीधे कथा-प्रयोग भी कुछ कम नहीं किए । निगूढ़ यानी ऐब्स्ट्रेक्ट कहानियों से जुड़ा रहा तो फन्तासी पर आधारित कथाएँ भी लिखने से बाज न आया ।

सचमुच अपने को सौभाग्यशाली मानता है वह । अनेक संघर्षों के बावजूद जीवन में वह सब मिला उसे, जिसकी उसे आकांक्षा रही । पाठकों का असीमित स्नेह, उसके जीवन की अर्जित सबसे बड़ी पूँजी है । यों कहने भर को कुछ कृतियाँ उसके खाते में अवश्य हैं, परन्तु सच-सच कहें तो सचमुच में वह जो लिखना चाहता था, उसे अभी लिखा ही कहाँ गया है । लगता है, जैसे अपना लेखकीय जीवन अभी-अभी तो

उसने आरम्भ किया है। भूमिका तो अभी लिखी ही नहीं। पर उम्र के तीसरे पहर की यह ढलान ! निरन्तर लम्बे होते साँझ के ये साए... !

वह अचकचाकर ठिठक पड़ता है।

आने वाले कल की उसे अधिक चिन्ता नहीं सताती, न बीते हुए कल का कोई क्लेश दुःख देता है ! बुद्ध के क्षणवादी दर्शन में कुछ-कुछ आस्था रही है। इसीलिए अगले जन्म पर कुछ छोड़ने की आकांक्षा नहीं। अनेक कमियों-कमजोरियों के बावजूद, यह संसार उसे नितान्त सुंदर लगता है ! निरन्तर जीने योग्य। अक्सर सोचता है वह, काश, अपने कृत्यों से, अपनी कृतियों से, हम इसे कुछ और सुन्दर बना पाते !

7/सी-2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स,

मयूर विहार, फेज़-एक

दिल्ली-110091



## क्रम

अन्ततः	17
आदमी : जमाने का	24
स्वभाव	33
परिणति	45
अभाव	56
नई बात	61
दंशित	74
बूँद पानी	81
सिमटा हुआ दुःख	90
किनारे के लोग	96
किसी एक शहर में	106
सज़ा	113
स्मृतियाँ	117
काला दरिया	124
अथाह	132
नंगे पाँवों के निशान	131
एक पारमिता	151
सफेद सपने	154
जीना-मरना	165
इति	169
रथ-चक्र	183
कोई एक मसीहा	187
देखे हुए दिन	194
रास्ता रुक गया है !	201
एक दिन	206
सुनन्दा	214
गंधर्व-गाथा	224
सँपेरा	232

हंसा	239
लकीर-सी परछाई	246
छोई 'इ'	252
एक समुद्र भी	258
हरे सूरज का देश	265
अनचाहे	270
सीमा से कुछ और आगे	281
भेड़िए	286
न जानना	292
जलते हुए डैने	300
अन्तराल	307
समुद्र और सूर्य के बीच	313
तरपन	319
एक वट वृक्ष था	330
स्मृति-चिह्न	338
जो घटित हुआ	346
पाषाण-गाथा	352
आदमियों के जंगल में	358
तलाश	365
आँखें	371
काला धुआँ	383
झुका हुआ आकाश	390
बरस बीत गया	395
एक सुकरात और	403
अह्मसास	406
कटी हुई किरणें	412
वह	420
यह सब 'अ'संभव है	425
मनुष्य-चिह्न	430
फासला	441
हत्यारे	445
तपस्या	451
अँधेरा और	456

## अन्ततः

बावला है बिरजू। निरा बावला। जबसे गोसाईं बाबा गए, बूढ़ी बिनियाँ ने अपने मुँह के टुकड़े से पाला-पोसा। पर टूटे करम की रेख मिट न पाई। बरम-देवता की धूनी पर जा उसने कम मान-मनौती न की। तीरथ-बरत के लिए टका कहाँ! लेकिन ऐसा कोई दिन नहीं, छिन नहीं, जब उसने हरजी के थान में जा अपनी विपदा न सुनाई। परमेसर तो सबकी सुनते हैं। पर उसी के भाग फूटे—तो क्या!

सबके लड़के लौ-लगन से मिहनत-मजदूरी करते हैं। रूखा-सूखा कुछ तो पेट को मिलता ही है। किन्तु बिनियाँ का बिरजू कुछ नहीं करता। दिन भर ठाला फिरता है। कहीं कूड़े के ढेर से जली-बुझी बीड़ी के टुकड़े बटोर लिए। किसी के फटे-पुराने से तन ढाँप लिया। जूठा-मूठा कहीं कुछ मिल गया तो टूँस लिया। नहीं तो राम का नाम भज, फटी चदरिया तान ली।

बुढ़ापे के भार से बिनियाँ की कमर झुक आई। बाल सन की तरह सफेद हो गए। मुरझाए मुखड़े पर अनगिनत रेखाएँ घिर गईं। आँखों की जोत भी अब उतनी न रही। फिर भी दिन-रात मिट्टी से सनी रहती। बरखा-घाम, साँझ-सकारे की कुछ भी परख न थी उसे। दो दुधमुँहे, अनाथ धेवते, खाँव-खाँव कर घर आते ही चिपट जाते। बिरजू झाड़-पोंछकर सब दिन में ही साफ किए रहता। सबके घर दिन में दो बार चूल्हे जलते हैं, पर अभागी बिनियाँ अपनी रीती हँडिया में क्या उबाले! उपलों की आँच में क्या सेंके। चूल्हा तो रोज ही जलता, लेकिन अधिकतर केवल धुएँ का गुबार उमड़कर रह जाता।

‘फूल डोल’ के मेले में इस बरस नौटंकी आई है। किसन-महाराज की लीला है।  
....गाँव भर के छोटे-बड़े सभी लोकों में दिनों से सूँ-साँ हो रही बई। अन्त में जब, सब ही दसमी का दिन आया, सब ही सब मेले गए जो बिरजू भी अपने-कले खाने से रोक न पाया। वह भी पीछे-पीछे चल पड़ा। सभी ने दो पैसे, आने, दो आने के टिकट खरीदे।

ठठ से नौटंकी-घर के अन्दर घुसे। पर बिरजू के पास पैसे कहां! टिकट कहां! फिर उसे अन्दर जाने भी कौन देता? अतः द्वार पर ही झिड़क कर उसे परे धकेल दिया।

गैस-बत्तियों की रोशनी, गाने-बजाने की आवाज, बाहर-भीतर की चमक-दमक उसे बड़ी भली लगी। बहुत रात तक वह टिन की चादरों की ओट से, इधर-उधर से, छेद-सूराखों से ताक-झाँक करता रहा।

आधी रात गए, बड़ी मुश्किल से घर लौटा। किसन-महाराज की लीला छोड़ने को मन न होता। लेकिन जब कोई जबरदस्ती धकेलकर ले'ही चला तो क्या करता!

रास्ते में ही कभी वह एक पाँव पर खड़ा होकर बँसुरिया बजाने का स्वाँग भरता, कभी रास-लीला का। कभी कहीं पेड़ की लटकती जड़ दीखती, उसी को दोनों हाथों से कसकर जकड़ लेता और नाग-मर्दन की तरह देर तक इधर-उधर हवा में घुमाता रहा। फिर किलकता, उछलता-कूदता, ग्वाल-बालों की तरह चौकड़ी भरता और फिर कभी ठिठक पड़ता। बिरहिन गोपिकाओं की तरह हाथ हवा में उछाल-उछालकर सीने पर पटकता और अनायास, अकारण रो पड़ता।

लोग ये करतब देखकर, ठहाका मार कर हँसते, लेकिन बिरजू को क्या!

घर लौटकर सोया, पर नींद कहां!

दूसरे दिन भोर उगते ही अम्मा से बोला—“माई, हम भी गैया-बछिया चम्पेंगे। कनाई-महाराज बनेंगे। बस, एक बँसुरिया ला दे। बोल, रोज माखन-मिसरी देगी न!”

“किसकी... गैया चराएगा? घर मा खूँटी भी गड़ी है एक!” खीझती हुई बुढ़िया माई बोली—“माखन-मिसरी ही भाग मा हौती तो ये फुटहा करम ले के झुपड़िया मा जनमतो ही काहे को?”

बिरजू चुप बैठने वाला कब था! सुबह उठते ही पड़ोसिन मनियाँ की गाय-भैंस खोलने लगा तो हाथा-पाई तक की नौबत आ गई, गाली-गलौज से—“निगोड़े, दाढ़ीजार, अब हीने सीख लिहौ...!” सबने फटकारना शुरू किया।

तब दिन-भर चदरिया कन्धे पर झपकाए सारे गाँव का चक्कर काटता रहा। पर इस पागल के हवाले अपने डोर-डंगर करता कौन! अन्त में अमराई के उस पार नज़र पड़ी। देखा—बिसनुवाँ के दो बैल चर रहे हैं। लाठी लिए उधर बेसुध भागा और उन्हें ही जंगल हॉक ले चला।

शाम को ठीक समय पर वापस भी लौट आया। बिसनुवाँ के आँगन में उन्हें खड़ा कर बोला—“कनाई महाराज खड़ा है, बिसनुवाँ! देओ माखन-मिसरी!”

बिसनुवाँ झुपड़िया से बाहर आया। देखा कि बैल आज अघाकर गरगज बने हैं। अचरज से बोला—“बिरजुवा, बैलन को जंगल ले गयासि रे!”

“बिरजुवा बोलत है गँवार!” तुनककर बिरजू बोला, “महाराज कनाई बोल! देओ, माखन-मिसरी! महाराज जात हैं।”

बिसनुवाँ की बहू किवाड़ के ओट से खड़ी झाँक रही थी। गुड़ की डली लाती हुई मुसकराकर बोली—“ले ओ, लल्ला! गैया चराय के मिलत हैं, माखन-मिसरी, बैल

चराय के नहीं। अगहन मा परमेसर ने सुनी तो गैया खरीदेंगे, तब मिलेगी महाराज को माखन-मिसरी।”

इतने पर ही बिरजू सन्तुष्ट होकर चला गया। जब-तब यही उसका नेम-नियम हो चला। बिसनुवाँ के बैल अघाकर हाथी हो गए। एकाध डली गुड़ कनाई-महाराज को भी मिलती रही। उसी पर वे मगन रहे। हाथ में निगाले की बाँसुरी, माथे पर मोर-पखना, पीठ में काली कमलिया लिए फिरते रहे।

इस साल खबर उड़ी कि हरिनपुरा में राम-लीला होगी। सात-आठ दिन तक रहेगी। खूब रौनक-रंग, धूम-धाम मचेगी। तब वह भी अपनी बाँसुरिया, मोर-पखना लिए जा धमका। चौधरी चाचा कुमेटी के परधान, करता-धरता थे। अतः उनके पास जा विनती के, किसी हद तक शिकायत भरे सुर में बोला—“कुमनियाँ, हरीस को तो राम-लछिमन को पाठ दिहों और कनाई-महाराज की कौनो खबर नहिं!”

चौधरी चाचा क्या करते। क्या कहते इस बावरे से! कुछ सोचते हुए, टालते हुए बोले—“राम-लीला मा तो राम-लछिमन ही होत हैं, किसन-कनाई नहीं। जब महाराज की लीला होगी तो कनाई का पाठ तुमको ही दिया जाएगा। जाओ, मोर पखना सम्हालिके धरो। वकत पर काम आवेगा...।”

बिरजू की सहजबुद्धि ने सहज ही इसे भी स्वीकार कर लिया। ठीक ही तो कहते हैं काका। राम-लछिमन की लीला में महाराजें का पाठ कहाँ से आएगा!

लेकिन फिर भी वह रोज, बिना नागा-लीला देखने जाता। सीता-हरन और दसरथ-मरन के दिन तो वह सच ही फूट-फूटकर रोने लगा। भरत की भ्रतु-भक्ति पर उसकी अगाध आस्था थी। किन्तु उगमे भी अधिक प्रभावित था—बजरंग से। अयोध्या की चमक दमक, जनकपुरी का वैभव-विलास, कुछ भी उसे अपनी ओर खींच न पाया। बस, लम्बी पूँछ वाले राम-भक्त बन्दर का ही पुजारी बन बैठा वह। लंका-दहन के दिन तो और भी बावला हो उठा। ‘बजरंग बली की जै...जै...जै...!’ कहता हुआ स्टेज की तरफ आँखें मूँदे लपका तो दो-चार स्वयं-सेवकों ने रोक लिया। अनेक तरह से समझाया-बुझाया। नहीं तो न जाने क्या कर बैठता!

दूसरे दिन से वह रोज बजरंग—देवधर ददा के घर जाकर बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करता। बजरंग की छाप उसके अबोध हृदय पर ऐसी पड़ी की मोर-पखना, बाँसुरिया, बिसनुवाँ के बैल सब भूल गया। अपने को ही होने वाली लीला का बजरंग समझने लगा अब।

लोद की टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी की लम्बी पूँछ बना ली। मुगदर पर फटे-पुराने चीथड़े लपेटकर हनुमान जी की गदा भी बन गई। दिन-रात उन्हीं के साज-शृंगार में लगा रहता। जो कोई भी मिलता, उसी से कहता—“ये ई साल बजरंग जल्दी ही लंका जराय डारेंगे। सीता माई के हरन ते पहले ही रावन-राकस मारि डारेंगे...।”

दिन-भर फिरकर अन्त में सन्ध्या को घर आता। आते ही चट पूछता—“माई,

आज तू किम्के खेत मा काम करने गई ?” माई के मुख से कही भूल से सुमेर पधान का नाम निकल पडता तो उसकी सारी देह फुँक जाती। दाँत पीसकर क्रोध से काँपते हुए चिल्लाता वह—“राकसनी है तू। फिर रावन के खेत मा काहे गई ? राम लछिमन के खेत मा जाओ। भभीमन सुगरीव महाराज के खेत मा जाओ। जनक महाराज के खेत मा जाओ। मुला, रावन के खेत मा गई तो बजरग तारी झुर्पाडया जराय डारंगे। कमर तोडि डारेगे।” वह आवेश मे मुगदर घुमाने लगता। लीला के बजरग की तरह हाथ पाँव नचाना शुरू कर देता।

एक दिन न जाने क्या लहर चढ़ी। परेशान सा मीधा भगीरथ मुदरिस के घर जा धमका। शायद सारी रात मोया नही। आँखो मे लाल डोरे साफ झलक रहे थे। लीला के हनुमान की तरह राम को दण्डवत प्रणाम कर, घुटनो के बल खडा, दोनो हाथ जोडता हुआ बोला—“महाराज, बात तौ बताओ। बजरग ने लका जराई। महाराज अपने हाथो रावन मारिहो। पर रावन तो हम रोज ही देखते है महाराज।”

“कहाँ ?” सहज विस्मय मे भगीरथ ने पूछा।

“तिमजला मा बैठि के तिजारत करत हे।” बिरजू उमी रफ्तार से बोला, “गाँव को पधान बनत है। आवत बार बुलावन रहा। तमाखू खाओ बिरजुआ’ बोलत रहा। हम थुक के धुतकार देहन—‘हम बिरजुआ नहीं बजरग है। हम महागज के घर जात है। रावन, तू देखत का है। तोरी लकापुरी अब के हम जराय डारेगे।”

“हि स् स्।” जीभ काटते हुए भगीरथ बोले, “यह क्या ? सुमेर पधान का घर जलाने को कहता है। कही सुन लिया तो खाल उधेड देगे तेरी। जानता नही, महाजन है। दो गाँव के पधान। सच, बिरजू, तू बोरा गया हे रे।”

साँप की तरह फुँफकारता हुआ बिरजू बोला—“कहत का हो। महाराज होकर डरत हो। तुम राज-पाट करो। हम जराय डारेग लवा मारो।”

चुप चुप कहते हुए भगीरथ उमें चुप कराने लगे। लेकिन दूसरी ओर आग पर धी छूट रहा था—“लीला मे तो धनुष ल के रावन मारत हो। यहाँ चुप चप करात हो। महागज होकर का तुम भी डरत हो ?”

“लीला तो लीला है बिरजू। ऐसी बातें नही बकते। मेरी मुदरिसी खतरे मे पड जाएगी। तेरा क्या है। तू तो गेज का फिरवा है। मे बाल-बच्चे वाला।

बिरजू उबल पडा—“तो हमे बताआ। झूठ मूँठ लीला गड देत हो। पण्डत हो के झूठी लीला रचत हो। पाखण्ड करत हो।”

भगीरथ क्या कहे। क्या कह के समझाएँ बुझाएँ।

“लीला तो लीला हे रे। उसकी बात और है बिरजू। यह तो घर की बात है।” खिामयाने स्वर मे बोले।

“असत् बोलत हो। डरत हो रावस से। झूठ लीला रचत हो। निगोडा। रावन मरिंके उठत है। जिन्दा होई जात है। तिमजला मा बैठि तिजारत करत है। डोर, गँवई-गँवार समझ के हमको ठगत हो। धोखा देत हो। झूठे राम बनत हो।... पहले अब

रावन की लका नही, झूठे राम—तोरी अजुध्या जराय डारेगे। फूँक डारेगे दुनिया सारी। चाण्डाल ठगत हो हमे ।”

आवेश मे वह मुग्ध नचाता हुआ बाज की तरह झपटा। लोगो ने किमी तरह बीच बचाव किया और उससे पल्ला छुडवाया।

हारे सिपाही की तरह हताश, निराश बिरजू घर लौटा। क्रोध से उसका पागलपन आज चग्मसीमा पर था। मुगरी उसी समय उसने आग मे झोक दी। पूँछ नोड मरोडकर फेक डाली और चौपाल पर हाथ पाँव पमारे बेमुध लेट गया।

साँझ के समय नींद खुली। जागा। अपनी फटा चदरिया लपेटकर घर पहुँचा। उदाम बोला— माई, इस गाँव मा हमारी गुजर नाही। सब झूठ दाढीजार बसत है हिया। हम जात है। ”

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही बिरजू बाहर निकल पडा। कन्धे पर चदरिया, हाथ मे लकुटिया लिए उस आँधियारे मे न मालूम कहाँ खो गया। बूढी माई चीखती चिल्लाती रोती रही, पर बिरजू लाटकर न आया।

महीने बीत गए। बिरजू का कोई पता पानी न मिला। कोई हरिनपुरा की तरफ, तो कोई देवागर को तरफ बताता। कोई कहता बिरजू अब पूरा पगला हो गया है। कोई कहता—बिरजू ने बेराग ले लिया। बिनियों आँचल मे सिर गडाए फूट फूटकर अपने फूटे करम को रोती रहती।

मान मनाती फिर शुरू की। हरजी के थान मे और जोर मे फरियाद पहुँची। लेकिन कही कोई आसार झलक्ते न थे।

सन्ध्या के समय एक दिन दरवाजे पर आवाज सुनाई दी—‘मा ई

हडबडाती हुई वह द्वाग की ओर नपकी— कान बि र जू।’

दरवाजा खोलकर देखा—दुर्बल हड्डिया का ढाचा खडा ह। हाथ मे लाठी, एक फटा चीथडा कमर मे लपेटे दृमरा कन्धे मे। बनावटी ऊन की, बकरे की-सी टाढी है। आँखो पर गोल गोल छल्ले स पडे है—चश्मे की तरह।

“कौ—न। हमार बिरजुवा हरे तू। धुँधली आँखो को बुढिया ने फिर मला।

“बिरजुवा हिरजुवा हम नाह जानत है माई। हम तो दाढी बाबा है। जमीन माँगत है, दान मा। धेला टका माँगत है। देओ जमीन। गाधी महाराज को हुकुम है ।”

“बिरजू, बिरजू ।” माँ लपट पडी, ‘इत्ते राज को अब आयो। का सच ही बौराय गयो बिरजू। रात रात हम अन्धा होइ गइन। अब घर मा बैठो। लोनी-मिनिया करके हम खवावहि बि र जू ।

बिरजू वेसा ही खडा रहा। जैसे कुछ भी सुना समझा न हो। जैसे ही बहके स्वर मे बोला— बिरजुवा-भिरजुवा नही। देओ माई, कुछ तो जमीन देओ।”

“बिरजू जे का कहत है।” हताश बुढिया ने कहा, “जर जमीन हमरे लगे कौन धरी

है। दूसरा के खेत मा काम करत हैं। बैठो बिरजूवा। हाड़ दीखत है। बीमार भो है का ?”

कुछ भी बोल न पाया वह। देर तक खड़ा रहा। फिर मुडता हुआ भीगी आवाज मे कहने लगा—“मुलक-मुलक मा जाना है माई। हमरे लगे कहाँ कौन ठौर धरी है…… !”

गाँव-गाँव, घर-घर यही अब उमका नियम हो चला। सुना था, हरिनपुरा मे एक बार ज़मीन माँगने के लिए एक बाबा आए थे। उनकी बातों का बम्, ऐसा रंग चढ़ा कि उस दिन से उन्हीं का चेला बन बैठा। वैसी ही दाढी, वैसा ही रूप-रंग बनाकर भटकता रहता—घर-घर, द्वार-द्वार, दीन-दुखियो का मसीहा बनकर अलख जगाता।

एक लम्बे असें तक बिरजू की फिर कोई खबर न लगी। बाट मे पता चला कि वह दैवागर में बीमार पड़ा है। जमीन माँगने के सिलसिले में झगड़ा हो गया। किसी पुराने जमींदार के खूँखार, मुँहलगे लठैतों ने उस निहत्थे पर लाठी मार दी। शिवाले में वह अधमरा पड़ा है। कोई पानी के लिए भी पूछने वाला नहीं।

अभागिन बुढ़िया क्या करे। मारे पडोसियो की देहरी-देहरी जाकर अपना दुखडा रोई। किसी तरह गाँव की बदनामी या लोक-लाज के डर से रमियों के कक्का, सिब्बन के नाना, पदिया के ताऊ, और पण्डित छर्बाराग के भानजे माघेराम तैयार हुए। रातो-रात दैवागर पहुँचे। देखा—बिरजू अचंत पडा है। कपडे तार-तार फटे है। जगह-जगह रिसते घाव है। ओठ सूखे है। बाल बिखरे। रह-रहकर कराहने की आवाज आ रही है—“दे ओ, ज़मीन… दे ओ …। …गांधी … महाराज को। बाबा को… ज़मीन दे ओ। ज़… मी … न …।”

डाडी पर लादकर बिनियों घर लाई। दिन-रात टहल-टुकड़े मे लगी रही। दायों हाथ टूट गया था। सारा शरीर जख्मी था। हर क्षण कसकता-दुखता रहता। कितनी जड़ी-बूटी, झाड़-फूँक की, पर दस से नौ न हुई।

सुनिया-धीरू एक दिन मकई भुन रहे थे। अभी तक इतनी रात गए नानी लौटी न थी।

“मामा, मकई चबात हो ?” भूख मे कुलमुलानी सुनियों ने कहा।

देर तक बिरजू देखता रहा। देखता रहा। जैसे किसी दूसरी दुनिया मे डूबा हो। फिर कुछ सोचना हुआ बोला—“नाह, मकई नाह। … झाड फूँम सब हिया बटोर के लाओ।”

सुनियाँ ने अपनी नन्ही हथेली मे ममेटकर सब मामने रख टिया। उममें से भुवा बिरजू ने बटोर लिए। मुतली मे गूँधकर दाढी बना ली। फिर कराहता हुआ, वैसे ही अकड़कर बोला—“मुनो, मुनो। बाबा भाखत है। मुनो……।”

फटी गुदड़िया के ऊपर अपना दुबला तन रखा। किसी तरह पाल्थी मार ली। चदरिया का फटा टुकड़ा बाबा की तरह कन्धे पर लपेट लिया। खोखला चश्मा दिनेो पहले मार-पीट में न जाने कहाँ चला गया था। देर तक सोचता रहा। विधान न बना।



अन्त में हार मान ली। वैसे ही बोलना शुरू किया। दोनों बच्चों को निकट ला, हाथ जुड़ा के बिठला दिया।

“मुलक-मुलक मा गरीबी है। भुखमरी है। ज़मीन ज़िगरे लगे जादा है, दूसरे गरीबन को दिहो। ज़र-जमीन सब परमेसर की है। हवा-पानी परमेसर की है। बाबा अपने ताँई नाहिं भाखत हैं। हाथ जोरि, पाँव परि के कहत हैं। दे ओ जमीन धेला-टका दे ओ !”

दोनों बच्चे अवाक् हाथ जोड़े बैठे थे। सब देख-सुन रहे थे, पर ममझ में कुछ आ न पाता। पिटाई के डर से दम साधे बैठे थे—हँसी रोके। इतने में खलिहान से नानी लौट आई। दरवाजे पर खड़ी की खड़ी देखती रह गई।

“मुनत नहि बड़की माई ! भाखत हैं। हाथ जोरि के बैठो !” धीरू ने धीरे से तुनककर कहा। बुढ़िया भी ठगी-ठगी-सी, सच ही हाथ जोड़कर बैठ गई।

“मुलक मुलक मा चक्कर काटि के आवत हैं।” उसी रफ्तार से बिरजू कहना रहा—“दे ओ ! नहीं तो लड़ाई होई ! मारा-मारि होई ! बाबा जुगत देख के कहते हैं। जिनके लगे जौन है देओ। बाबा की झोली भरि देओ ! पाँच पूत तोहके हैं। छठा एक हमहि मान लिहो। हमार हिस्सा हमें देओ ! देओ नाँ ! बोल-बोल रे, छोरे तू का देत है ! छोरी तू का देत है ! माई ! बोल रि माई, तू का देत है ! बाबा जात हैं ! जा त हैं !”

बिरजू की आवाज लडखड़ा आई, स्वर टूट गया। अपनी टूटी हथेली अपने आगे मसार दी और अचेत होकर गिर पड़ा।

“बिरजू, बिरजू !” बुढ़िया माई उसकी ओर लपकी—“का होई गवा, बिरजू ! जे का कहत है !” गला भर आया बुढ़िया का—“हमरे लगे पाँच पूत नहिं। एको तू ही है। तू ही। सब तोर है। ये हि गुद कबल जौन चाहत है, ले जाओ ! सब ले जाओ बिरजू ! सब स ब !”

पर बिरजू ने न सुना, न देखा। सदा के रीते हाथ इस बार भी रीते थे। बुढ़िया मुबक मुबक कर रोती रही। बार-बार उस टूटी हथेली को उलट पलट कर देखती गी। चूमती रही।

“नाहिं नाहिं बिरजू नाहिं !” उसने ओस से भीगी गीली माटी मुट्ठी भर जमीन से उठाई और उम रीती टूटी हथेली में गूब दी और माथा टिका दिया। “बिरजू !”

पर दूसरी ओर स फिर कोई आवाज न आई।



## आदमी : जमाने का

पूरे तीस वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद, सरकारी तौर पर बेकार घोषित होकर यानी कि संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर, बाल-बच्चों की छोटी बटालियन के साथ गाँव लौटा तो घुग्घू बाबू के दर्शन सबसे पहले हुए। उन्होंने पहले ही पत्र भेजकर सूचित कर दिया था कि चूँकि मैं उनका पुराना ज़िगरी दोस्त हूँ, परदेस से घर लौट रहा हूँ और उनकी देश-सेवा के बुरे-भले हर काम में, हर तरह का तहेदिल से साथ देने का वादा कर चुका हूँ—अतः वे मेरे स्वागत में खड़े रहेंगे। यही हुआ भी। प्रारम्भिक पाठशाला के आठ-दस अबोध बच्चों को लिए, लाठी में कोई फटा-पुराना झण्डा लटकाए, बस के अड्डे पर बैठे थे। छोटे-मोटे हाथ हवा में उछालते हुए, फटे बाँस की तरह गला फाड़ते हुए—‘मिसिरों जी जिन्दाबाद’ का गगनभेदी नारा लगाते हुए उन्हें देखा तो हैरान रह गया।

हृदय गद्गद हो उठा। पलकें गीली हो गईं। कसकर उन्होंने मुझे अपने सीने से लगा लिया। मेरे दोनों घुटनों को अपने सीने से कसकर जकड़े थे—जैसे बच्चा मचल रहा हो। सम्भवतः इससे ऊपर वे पहुँच भी तो नहीं सकते थे।

मैं कोई राजनेता नहीं, महान शास्त्र-वेत्ता नहीं, वनस्पति-विज्ञान का एक साधारण-सा गरीब अध्यापक। फिर घुग्घू बाबू की यह दरियादिली नहीं तो और क्या थी।

लम्बे मफर की लम्बी थकान के कारण लम्बा लेटा था। कुछ बहुत ज़रूरी कामों में मन उलझा था। तभी गाँव-गिराम के आठ-दस ‘भले’ आदमी उन्हें घेरकर आ खड़े हुए।

मन मारकर उठना पड़ा। श्रीमतीजी से चाय बनाने को कहा।

गरम चाय से जली जीभ की नोक खिसियाकर इधर-उधर सरकाते हुए सब सज्जनों की अब तक भिँची, तालू पर चिपकी जुबान अब चर्खी की तरह चलने लगी—

—घुग्घू बाबू के परसाद इलाका चमक उठा मिसिरों जी। गधेरे का पानी रुकवा कर शरम-दान से सागर बना डाला। पूरा पिचाम हाथ लम्बा, यही कोई ब्यालीस हाथ

चौड़ा—तलाऊँ समन्दर है। समन्दर। भैंस भी डूब जाती है। उधमी बच्चो को उधर जाने की मनाही है। वैसे औरत-जात भी उधर जाने से डरती है। घुटने-घुटने तक जाकर ही लौट आती है।

—कन्या-रतन पाठशाला भी इन्ही की बदौलत है। इन्ही की। एक ने उँगली खडी कर कहा—नहीं तो मरकार भला कहाँ पूछे। अफसर-हाकम मे लड-झगडकर रातो रात इमारत खडी कर दी। पर मुँई दीवार बरमात से पहले ही लोट गई। भगवान का सुकर समझो। अगर जो कही भरपूर बरसात मे गिरती तो राम जाने क्या होता। गाँव मे एक भी बच्चा बीज के लिए नहीं बचता। केवल हरेराम काका की एक आलसिन गधी लडकी को चोट आई—केवल टॉग टूटी। उसे लोग उसी समय हस्पतान ले गए। घुग्घू बाबू वहाँ तो जा न पाए, लेकिन अभागन अपने खोटे करम के कारन जब बची नहीं, मर गई तो अपने कन्धे पर उठाकर सबसे आगे लगकर इन्होने ही मशान तक उसे पहुँचाया। अपने हाथो आग दी। अपनी कोख की कन्या की तरह जलाया।

—जो कोई गाँव मे बीमार होता है, वैद के साथ-साथ ब्राह्मण भी बुला लाते है—घुग्घू बाबू। साढे तीन हाथ कपडा हर घडी घर पर धरा रहता है। कौन जाने कब जरूरत आ टपके। आखिर दाने-सयाने है न।

—अखबार-कागज वाले कहते है कि शरम दान से सवा तीन मील लम्बी सडक, देश मे पहले-पहल इन्होने ही बनवाई थी—मिसिरों जी। आप तो दो आँख वाले है। देखते होंगे। कहते है उससे खुश होकर सरकार-दरबार ने इलाके की भनाई के लिए हजारो रुपए की मदद दी। उससे घुग्घू बाबू ने यो लम्बा-चौड़ा बगीचा, नौ पानी की डिगियाँ (पत्थर की छत मे छही, चारो ओर से बन्द पक्की बावडियाँ) और एक 'गाधी पचाइत घर' का निरमान किया।

घुग्घू बाबू के बारे मे जब-तब कुछ सुनता रहता था लेकिन रचनात्मक कार्यों मे विनोबा जी की तरह इतनी गहरी पैठ होगी, इसका अनुमान न था। पाठशाला की इमारत गिर गई।—इसमे उन बेचारो का क्या दोष। साथनो की कमी होगी। बडे-बडे 'हाथी छाप' बाँध बनाने की उनकी क्या त्ने। इतना भी किया तो कम है। दोर-डगरो को तो पानी मिल ही जाता होगा। बगीचा। पचायत-घर। मन-ही मन एक गरीब अध्यापक ने घुग्घू बाबू जैसे परोपकारी पुरुष को प्रणाम किया।

एक के बाद एक, 'पंच वर्षीय योजना' के आँकडो की कागजी घुड दौड की तरह बातो का सिलसिला भी बढता रहा। मबके कहने मे तात्पर्य यही था कि—चूँकि अब मै बाहर की विघ्न-बाधाओ से बचकर पग्मेमर और रेल की कृपा से सवकुशल, सुरक्षित घर लौटा हूँ इसलिए मुझे उनके काम मे सहयोग देकर यश का भागी बनना चाहिए। यह मेरा मौभाग्य है कि मै उनका बचपन का मित्र और अब पडोसी हूँ।

बातो के इस क्रम मे आगे मालूम हुआ कि कल जो इलाके के महामान्य डिप्टी कमिश्नर—श्री जमील साहब दौरे पर पधारने वाले है उन्होने कार्य-क्रम मे बगीचा,

पंचायत-घर आदि का निरीक्षण भी रखा है। जमील साहब चूँकि मेरे पुराने सहपाठी हैं, अभी तक वे मुझे भूले नहीं हैं—अतः वे हर घड़ी मुझे अपने साथ रखेंगे। इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि घुग्घू बाबू की सहायता कर, गाँव की तरक्की की दो बातें उनके कानों तक भी पहुँचाऊँ।

मुझे क्या आपत्ति।

वे चले गए तो मैं श्रीमती जी से बोला कि उनके सामने बैठे इस टूट किताबी-कीड़े से तो घुग्घू बाबू हजार भले है। इलाका रौशन कर दिया। अपना नाम रौशन कर दिया। क्या है। अपना पेट तो हर कोई भरता है!

साँझ के समय हम इन्हीं बातों में तल्लीन थे कि देखा—घुग्घू बाबू घबराए हुए बेतहाशा भागे आ रहे हैं, दुम-कटे खरगोश की तरह। ज़मीन पर घिसटता हुआ पाजामा लेकर, लम्बे कानों पर लटकती टोपी सँभालकर।

“मिसिरों जी, मैं आप ही के पास आया हूँ।” अपनी पुरानी आदत के अनुसार नाक से बोलते हुए उन्होंने कहा। यों ही चार-छ. बार, दो अँगुलियों के बीच नाक की नोक झटके से दबाकर बार-बार साफ की...सीं। सीं। कर...फिर मेरा मुँह ताकते रहे।

लपककर मैं स्वागत के लिए आगे बढ़ा तो—“नहीं। नहीं। हम गोबर के कीड़ों के लिए इत्ती-सी जगह बहुत है—मिसिरों जी।” नाक पर अकारण दो-तीन बार फिर हाथ फेरा और पाल्थी मारकर फर्श पर ही गड़े खूँटे की तरह जम गए। मेरे कँगोड मना करने पर भी माने नहीं।

उन्होंने मुझे सूचित किया कि मैं उनका गहरा दोस्त हूँ। वे मुझे ‘अपना’ समझते हैं। इसी कारण मुझमें कुछ ‘निजू’ बातें करना चाहते हैं। अतः बच्चों को बाहर भेज दिया जाय।

फिसी तरह नटखट बच्चों को बाहर धकेला तो उन्होंने इधर-उधर देखा—श्रीमती जी की ओर तिरछे अँगूठे से इशारा किया। वे भी बाहर चली गईं। फिर दरवाजे बन्द करने का आदेश हुआ, वह भी पूरा किया। अन्त में बोले—कुण्डा मजबूती से चढा दिया जाय और लालटेन बुझा दी जाय। क्योंकि उनके स्वर्गीय दादा जी कहा करते थे कि दीवार के भी कान होते हैं और कम्बख्त दरवाजे भी टेखा करते हैं।

वह भी यन्त्र की तरह हुआ तो हुक्म हुआ कि अब मैं बैठ जाऊँ।

मैं कुर्सी पर बैठ गया। उन्होंने अँधेरे में मेरे पाँव टटोले। जिन्हें मैंने पीछे हटा लिया। पास ही कुर्सी के नीचे पाँवों के पास मेरे बरसाती लम्बे गम-बूट पड़े थे। वे आपे में बाहर थे। उन्हीं पर माथा टिकाए, अधीर होकर फूट पड़े।

बोले—मैं उनका एकमात्र मित्र हूँ। वे गले-गले तक डूब गए हैं। मेरा परम-धर्म है कि मैं उन्हें तिनके का सहारा दूँ। मुदामा श्रीकृष्ण के दरबार में बिना मुट्ठी-भर चावल लिए, रीते हाथ आया है। आज प्राणों की भीख माँग रहा है।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। हजार बार मेरे पूछने पर भी वे कुछ बतलाने को राजी न थे। केवल बरबस आँसू दुलकाए जा रहे थे।

मैं उठकर उन्हें फर्श पर से उठाने लगा कि उन्होंने कसकर मेरे दोनों पाँव जमूरे की तरह जकड़ लिए। रूँधे कण्ठ से बोले कि मैं वचन दूँ कि मैं उनकी बात मानूँगा और किसी से कुछ नहीं कहूँगा।

गोपनीयता के लिए मुझसे मेरे दुधमुँहे बच्चों की, रुग्णा धर्म-पत्नी की, दिवंगत पृज्य पिताजी की और मेरे अनेक इष्ट-मित्रों की, जिनसे उनका कोई लेना-देना न था, बार-बार कसमें दिलाकर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

“जमील साहब आपके दोस्त हैं न ?”

“जी हाँ।”

“तो कल वे हमारे ग्राम-सभा के सहकारी-बगीचे में आएँगे न ?”

मैंने सिर हिलाया।

“तो आपको वे अपने साथ रखेंगे न ?”

“शायद।”

“तो आप चुप रहिएगा। बाकी हम देख लेंगे।”

“क्या ? क्या ?” अनायास मैंने उनकी ओर देखा।

“बस, आप चुप रहिए। अधिक पूछें तो गाँव की तरक्की के दो शब्द कहिए। नहीं तो होंठ सिए बैठे रहिए। बस, बाकी हम खुद देख लेंगे।”

“घुग्घू बाबू !” परेशान होकर मैंने कहा—“अपना दिमाग बोदा है। बात समझा नहीं। आखिर आप क्या देख लेने को कहते हैं ? बात क्या है ?”

“बात भी कुछ हुआ करती है, मिसिरों जी। आप भी निरे नादों हैं।” उन्होंने मुझ नासमझ की ओर देखा। कुछ ठहरकर तनिक दूमरे स्वर में बोले—“क्या कहूँ। किससे कहूँ। इन दो-पाए मूरख मृगों का हाल।” एक हाथ से उन्होंने अपना बन्दर का-सा दो अँगुल चौड़ा माथा थामा—“बस, ये मंगे प्राणों पर उतर आए हैं, मिसिरों जी। मेरी खाल खींचने को आमादा हैं। इन्होंने मेरी तबाही रच दी है। कहीं का भी नहीं रख छोड़ा। बतलाइए। चुप क्यों हैं। आप ही बतलाइए न। मैं क्या करूँ। कहो तो ज़हर खाकर कूँच कर दूँ……।”

मैं हैरत से उनकी ओर देखता रहा। भला मैं कैसे कहने लगा कि वे ज़हर खाकर कूँच कर जाएँ या न करें।

“आखिर क्या हो गया ऐसा ?” मैंने जिज्ञासा से फिर प्रश्न किया।

“बात भी कुछ हुआ करती है मिसिरों जी !” झुँझलाकर उन्होंने वही पुराना भरत-वाक्य फिर दुहराया इस बार—“आप देख तो रह हैं। कितनी मुसीबत में हूँ। फिर मुझे पूछकर, जानबूझकर मेरी दोनों आँखों में अँगुलियाँ डाल रहे हैं।”

मुझे कुछ कहते न बना। मैं उनकी ओर ताकता रहा।

वे धीरे-से बुदबुदाए, हाथ रचाकर। अपना दीर्घकालीन सम्भाषण शंका के समाधान में उन्होंने प्रस्तुत किया। जिसका संक्षिप्त सार यह है कि उन्होंने सहकारी-फलोद्यान के लिए अपनी जमीन दी, अपना सर्वस्व लुटाया, लेकिन गाँव वालों ने सब

स्वाहा कर डाला। उनके विरुद्ध सबने 'षड्यन्त्र' रचा—अकेला समझकर। ....और उनका 'मेरे' अलावा अब कोई भी नहीं है।

“कितने पेड़ लगवाए थे ?”

“यह भी कोई पूछने की बात है मिसिरों जी। नाग-पंचमी के दिन परमेश्वर का नाम लेकर पहले सवा-इक्कीस पेड़ लगाए—लेकिन मेरी अशोक-वाटिका, इन मुए रावणों ने चौपट कर दी। कह दिया—मेरी गैया ने खाए थे। मैंने उखेड़कर किमी और को बेच दिए थे, वे क्या जानें। आगे फिर कैमे साहस करता। फलों के पौधों को यों नुचवाने में भगवान भी क्या कहते। इसलिए चुप रहा...।”

उन्होंने आगे बतलाया कि उनकी जगह मैं होता तो क्या करता। लाख दुष्टों के बीच अकेला भला आदमी कर ही क्या सकता है।

“तो अब क्या होगा ? आपने तो कहा था—पाँच सौ पेड़ लग गए हैं।” मेरे ओंठ खुल आए।

उन्होंने सोचते हुए कहा कि वे इसीलिए तो मेरे पास आए हैं। अगर मैं कहूँ तो वे फलों की तीन-चार सौ टहनियाँ तुड़वा लें और जमीन पर गाड़ दें। ....यह काम तो आसानी से निकल सकता है, लेकिन परेशानी ससुरी कुछ और है....।”

“सो क्या ?”

मेरे अनेक बार पूछने पर उन्होंने बतलाया कि पानी की डिगियों में पानी नहीं आता।

“तो बनाई क्यों थीं ?”

उन्होंने बतलाया कि प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए। एक बार पानी के सम्बन्ध में गाँव वालों से झगडते समय उन्होंने कहा था कि यदि गाँव में नौ डिगियाँ न खड़ी कर दें तो अपने बाप की औलाद नहीं। सो अपने बाप की औलाद बनने के लिए। आगे बोले, “अगर मैं कहूँ तो वे उनमें रात को ही बाल्टियों से पानी भरवा लेंगे। ‘गांधी पंचायत-घर’ से अपने बच्चों को अभी उठा लेंगे। भैंस आँगन में बँधी रहने देंगे। यदि मैं कहूँ तो वे साहब से कह देंगे कि ग्राम-सभा की सहकारी भैंस है। गरीब बच्चों को मुफ्त दूध बँटता है।”

वे कहते रहे, लेकिन मेरे मन में नाना प्रकार के नाग लोटते रहे। मैंने शका उठाई—“सुना है वे सुबह इन्स्पेक्शन करेंगे। टहनियाँ पहचानी गईं तो।”

“नहीं, नहीं।” उन्होंने झटके से सिर हिलाया—“साहब कल सुबह के बजाय रात को ही तशरीफ लाएँगे। वे मब ठीक कर लेंगे। उन्होने पानी के पापड़ नहीं बेले हैं।”

यह सुनकर मेरा मन कॉप आया। इस सबके लिए मैं तैयार न था।

“यह गोरख-धन्धा अपने व्रश का नहीं, घुग्घू बाबू।” अपने सीने पर पत्थर धरकर किमी तरह मैंने कहा—“अच्छा है आप कार्मिश्नर साहब के सामने अपना अपराध मान लें। बाकी छूट मैं दिलवा दूँगा और...।”

“अपराध।” फुँफकारकर उन्होंने देखा। मेरा अधूरा वाक्य बीच में ही काट

डाला—“ये आप क्या कह रहे हैं, मिसिरॉ जी।” अपनी छटॉक-भर की छाती उन्होंने ठोंकी—“आपका भेजा फिर गया है। मुझ जैसे आदमी से ऐसा कहकर भगवान की मूरत के मुख पर आपने गोबर पोत डाला है।” उनका स्वर भर आया।

मैं चुप था। वे पैतरा बदलकर फिर पॉवों पर लिपट पड़े। बोले—“इसे अपराध न कहो, मिसिरॉ जी! यह तो भूल है। गलती है। फिर आप सोचिए—मैंने देश के लिए कितना कुछ नहीं किया! फिर ‘पंचायत-घर’ में मैंने सिर टिका लिया तो कौन-सा अपराध किया। पंचायती-भैंस का दो बूँद दूध कभी-कदास मेरे बच्चों के गले भी उतर गया तो कौन-सा अपराध हुआ। लोगों ने चाँदी कर ली। घर भर लिए। मैंने दो जून खाने का सामान जुटा लिया तो कौन-सा अपराध कर डाला।……”

“लेकिन घुग्घू बाबू, मेरा मन इस सबके लिए तैयार नहीं……।” कहकर मैं दरवाजे की ओर लपका। वे बाज़ की तरह मेरी ओर झपटे। पर उससे पहले ही मैं किवाड खोलकर निकल गया।

सुना कुछ देर तक वे भौंचक्के आँखें फाड़े देखते रहे। फिर बड़बड़ाते हुए, गाली देते हुए चले गए। सुना अपने आँगन की मुँडेर पर खड़े, हाथ हिला-हिलाकर कहते थे—“मैंने देस में रण्डियों का व्यापार किया। उन्होंने अपनी आँखों से देखा। मैं दुराचारी हूँ, दगाबाज़ हूँ, उचक्का हूँ। अब गाँव में क्या आया, गाँव तबाह हो गया!”

मैंने सुनी की अनसुनी कर दी।

रात को बिछौने पर लेटा ही था कि देखता हूँ दरवाजे पर दरजन-भर बच्चों के साथ एक महिला खड़ी हैं—कह रही हैं कि वे मेरी भाभी हैं। मुझे वे अपने बड़े भाई से ज्यादा समझती हैं। लेकिन मैं उनकी माँग का सिंदूर पोंछने पर तुला हूँ। यदि वे विधवा हो गई और मेरे बड़े भाईसाहब गुजर गए तो मुझे ही उनके घर का भार उठाना होगा। चार जवान कन्याएँ देहरी पर बेठी हैं—दहेज……दामाद……सब मेरे मत्थे!

मैं अपने माँ-बाप का इकलौता हूँ। मेरे कोई छोटे-बड़े भाई नहीं। इस चिरन्तन सत्य के बाद भी मुझे कहना पड़ा कि अपने बड़े भाईसाहब से मुझे पूरी हमदर्दी है और मैं अपनी भाभी का सिंदूर पोंछना नहीं चाहता।

मेरे इस कथन के बावजूद मेरी भाभी कहती रहीं कि अपने बड़े भाईसाहब पर मैंने न जाने कौन-सा टोना चला दिया है, न जाने क्या खिला दिया है! जब से वे मेरे घर से गए हैं, आपे से बाहर हैं। पागलों का जैसा हाल कर रहे हैं। जहर की शीशी बगल में दबाए जंगल की ओर भाग रहे थे। वह तों लोगो ने समय पर पकड़ लिया, नहीं तो परमेसर जाने क्या हाल होता!

मेरी भाभी रोने लगीं। मेरे दरजन-भर भतीजे-भतीजियों उनके सुर में सुर मिलाकर रोने लगे। मेरे होश हिरन हो गए। घर भर के लोग जाग पड़े। श्रीमतीजी अपने कपाल पर दुहती मारकर बरस पड़ीं कि मैं कितना हृदयहीन हूँ। अकारण इन गरीबों को अपने घर पर बुलाकर दुःख दे रहा हूँ—जो उनसे देखा नहीं जाता।

अपनी भाभी का रोना किसी तरह शांत किया। बच्चों को चुप कराया।

“आखिर वे क्या चाहते क्या हैं?” हताश होकर, अपनी गंजी खोपड़ी का पसीना पोंछते हुए मैंने पूछा।

“यह तो आपको ही मालूम होगा।” हिचकियाँ भरते हुए उन्होंने कहा कि उन्हें साफ-साफ मालूम नहीं। वे तो इत्ता ही कहते हैं कि उनका छोटा भाई होते हुए भी मैं उनकी आज्ञा नहीं मानता। वे तो मेरा भला चाहते हैं। लेकिन कृतघ्नता मेरी ही ओर से है। वे तो इत्ता ही कहते हैं कि मैं कल साहब के साथ रहूँ, चुप रहूँ, वे जो पृछें—‘हाँ’ ‘ना’ में ही उसका उत्तर दूँ बस! इस बात का वचन वे पहले भी चिट्ठी भेजकर ले चुके हैं कि उनका मैं हर तरह से साथ निभाऊँगा। सो अब मौके पर प्रतिज्ञा भंग कर मैं मुकर रहा हूँ।

क्या करता। इस आधी रात में यह तमाशा! पिण्ड छुटाने के लिए मैंने ‘हाँ’ कह दी और विदा किया।

सुबह पौ फटने से पहले ही दरवाजा खटका।

अब धुग्धू बाबू सामने खड़े थे। गिलहरी की तरह मेरे पाँवों पर लोटते हुए बोले—कि मैंने इस कलयुग में भी कृष्ण सुदामा की मित्रता निभाई है। मैं उनका पूर्वजन्म का सगा भाई हूँ अब....।

वे कुछ देर बैठे रहे। जाने ममय वे कह गए कि यदि मैं कहीं तो इसी खुशी में साहब का खाना मेरे ही घर पर बनेगा। क्योंकि वे (साहब) मेरे पुराने सहपाठी हैं। चपरामी से उन्होंने साहब को कहला भेजा है। और मेरे कहने पर स्वयं उन्हें (धुग्धू बाबू को) भी मेरे घर पर भोजन पाने में आपत्ति न होगी।

मैं उनकी सूरत देखता रहा।

दोपहर ढल गई। श्रीमतीजी भोजन तैयार किए उँघती रहीं। लेकिन साहब के आने के कोई भी आसार दीखते न थे।

मालूम हुआ कि साहब का गधा जैसा नया घोड़ा, ज़िन्दगी में पहली बार खूँटा तुड़ाकर जंगल में भाग गया है। डिप्टी कलक्टर, पटवारी, पेशकार, तहमीलदार सब जंगल का पत्ता-पत्ता छान रहे हैं। अतः वे अब साँझ को ही पधारेंगे।

साँझ ढले वे आए तो धुग्धू बाबू ने गाँव भर के बच्चों की कवायद करवा डाली—कमिश्नर साँब की जै। गांधीजी की जै। नेता की जै।...के गूँजते नारों से सूनी घाटियाँ गुलजार हो गईं। जंगल के जानवर बिदकने लगे। तिरंगे द्वार, सजी झण्डियाँ। साहब को पूरी तरह फूलों में लाद दिया गया था।

इतना स्वागत-सत्कार देखकर साहब हैरत में थे। निरीक्षण के समय वे विभोर होकर चारों ओर देखने लगे। जैसे खोता नात्र पर चढ़कर पानी की लहरों की ओर कुतूहल से निहार रहा हो।

लाल फीता काटते हुए बोले—“मिस्टर मिश्रा, आप तो बाटांनी पढ़े हैं। बतलाइए जरा, ये पौधे कब फल देंगे?” उन्होंने चिकनी पत्ती सहलाई।



धुग्धू बाबू के प्राण काँप आए। कहीं पौधा जड़ से ही उखड़ जाता तो।

साहब ने मेरी ओर देखा तो कहना पड़ा—“यही चौथे पाँचवे साल।”

“इतने ही पौधे सब लगाएँ तो मिस्टर मिश्रा, क्या हमारे पहाड़ स्विट्जरलैंड नहीं बन सकते। फ़ौरन एक्सचेन्ज की शार्टेज दूर नहीं हो सकती। अन-एम्प्लायमेण्ट का प्राब्लम साल्व नहीं हो सकता?”

मैने मौन सहमति दी।

बगीचे के दो द्वार थे। उत्तर का दयानन्द द्वार और दाक्षिण का शिवानन्द-द्वार।

कमिश्नर साहब ने इसमें सशोधन रखा। बाले—नार्थ का ‘उत्तर द्वार’ और माउथ का ‘दक्षिण द्वार’ होना चाहिए। इसमें नेशनल-इन्टिग्रेशन को मजबूती मिलती है। क्यो मिश्रा?”

मैं चुप सिर हिलाता रहा। बाप की कसम जो खा बैठा था कि जुबान खोलूँगा नहीं।

शखनाद के साथ डिगिगयो की टूटियाँ खुली। छल छल पानो आया। कमिश्नर साहब मुग्ध भाव से देखते रहे। एक ही गाँव में एक साथ पानी की नौ दम डिगिगियाँ। नेशन कितनी तरक्की पर है। यह सब उनकी ‘फाइव इयर प्लान’ की वजह से है। साहब अपने आप बुदबुदाते रहे। बड़बडाते रहे। घुमते रहे। झुमते रहे।

‘गाधी पचायत-घर’ का उद्घाटन दीपक जलाकर हुआ। बच्चो ने मास्टर जी के साथ रोज की, पाठशाला की, प्रार्थना दुहराई—उठ जाग मुसाफिर भोर भई।

इस पर दूर खड़े किसी कम अक्ल नाममझ ने ऐतराज किया कि यह रात का समय है।

इस पर दखल देते हुए साहब बोले—‘नहीं। नहीं। यही चलना मॉगेगा। यही। ‘उठ जाग मुसाफिर’ मार्निंग सॉग नहीं है। यह तो नेशनल अवेकनिंग है। खैर।’

फिर वन्देमातरम् का गम्भीर गीत भी गूँजा।

‘भैस की स्कीम’ साहब को बेहद पसन्द आ। अपने हाथो उन्होंने गरीब बच्चो को दूध बाँटा और नेशनल हैल्थ के बारे में भी कहा।

लोग खुश थे। बच्चे तालियाँ पीट रहे थे। लेकिन मेरा माथा फटा जा रहा था। मुझसे खडा रहा न जा सका। अतः साहब से क्षमा याचना कर, घर आकर किवाड मूँदकर लेट गया।

मालूम हुआ कि रात को लगातार बरखा का शंछारो के बावजूद तीन घण्टे तक भाषणो का दौर चलता रहा। बेचारे फटे-हाल गाँव के गरीब लोग भीगते रहे। पर पल्ले कुछ न पडा। केवल वक्ता के मुँह की ओर ताकते रहे। सबने ताली पीटी तो चट्-चट् ताली पीट देते।

धुग्धू बाबू को साहब ने जमाने का आदमी बतलाया और उनके आदर्श चरित्र के अनुकरण की बच्चो को विशेष रूप से सलाह दी और कहा कि आने वाली पीढियाँ उनका नाम श्रद्धा से लेगी। क्योंकि मरकर भी जो मरते नहीं, अमर रहते हैं, उन

बुनियादी सच्चे जन-सेवकों में से हैं वे ।

फिर घुग्घू बाबू का भाषण हुआ । उन्होंने कमिश्नर साहब को देश के प्रमुख आदर्श प्रशासकों की श्रेणी में रखा और उनकी कार्य-कुशलता अनुकरणीय बतलाई । उनके कर्मठ-जीवन से प्रेरणा लेने की बात कही ।...फिर आँखें मूँदकर गाँव की गरीबी का वर्णन किया । इतना मर्मस्पर्शी, करुण कि साहब की पलकें भीग आईं । घुग्घू बाबू ने अन्त में दोनों हाथ पसार कर, सरकारी सहायता के लिए झोली फैला दी ।

दूसरे दिन उठा नहीं कि श्रीमती जी ने झकंझोरा । कहा कि मैं हमेशा का लापरवाह हूँ । उनकी बात सुनता नहीं । सुना, घुग्घू बाबू की स्कीमों के लिए साहब ने पन्द्रह हजार की सहायता दिलवाने का वचन दिया है । घुग्घू बाबू के लड़कों को नौकरी दिलाने का आश्वासन भी मिला है । सुना है जाते समय नकद इनाम में सौ रुपए उनके हाथ में धर गए ।...चारों ओर घुग्घू बाबू की वाहवाही हो रही है । और मैंने तो जिन्दगी यों ही बेकार की । व्यर्थ का वनस्पति-विज्ञान लेकर न जाने कहाँ-कहाँ घास खोदता रहा... ।



## स्वभाव

हँसी के बाद एक अटपटी-सी शरारतभरी चीख फूटी.... ।

“अरि, क्या हुआ मिन्नी ?...क्या हुआ .. ?” बिछौने पर लेटी रुग्णा मालती ने कराहते हुए करवट ली । फिर धूप से बचने की तरह पाँचों अँगुलियाँ कतार में समेटकर माथे पर लगाते हुए, अपनी धुँधली निगाहों से दूर दरवाजे की ओर देखने की चेष्टा की । स्पष्ट कुछ दीखा नहीं । केवल कुछ आहट-सी आई । फिर मुँह भींची दबी हँसी । फिर गुदगुदी लिए मीठी हल्की चीख ।

तभी कार के दरवाजे की भाँति फट से बाहर के किवाड़ बन्द हुए । जाफरी का काठ का जालीदार दरवाजा थरथराता हुआ कॉप आया ।

और तभी मिन्नी हॉफती हुई साग्ने आ खडी हुई । बाल हवा में उडते, इधर-उधर बिखरे, घोंसले की तरह उलझे । लापरवाही से पहने कपड़े अस्त-व्यस्त, आँखों में साँझ के बादलो का-सा आक्रोश, सिन्दूरी चेहरा ।...झट अपने जालीदार सलेटी ‘दुपट्टे’ से मुँह पोंछती हुई तमतमाकर बोली—“भइया बौत बुरे हैं भाभी... ।” उसके नथुने फडक आए । सीना बड़े वेग से उठने-गिरने लगा । झीनी चुनरिया मफलर की तरह गले में डालकर, उसके नीचे झुके दोनों पल्ले खींचकर, आँखें तरेरकर देखा—‘सच्ची, बौत बुरे है भाभी । दरवाजे तक देने जो गई कि निगोड़ी घड़ी रह गई, बस लाट साहब की तरह हाथ आगे बढ़ा दिया । अकड़कर, यों ऐँठकर बोले—‘चुडैल घड़ी बाँध ।’ बाँधने लगी तो घड़ी के साथ-साथ हाथ भी पकड लिया । फिर सामने की तरफ झुकी चोटी हथेली पर धरकर सूँघने लगे । मैंने कहा—सूँघते क्या हो हजूर, तुम्हारा चमेली का तेल लगाया है ! तो ‘चुप झूठी’ कहकर गाल पर एक चपत जमा दी । फिर ‘नागन’ कहकर मेरी चोटी पकड़कर जोर-जोर से खींचने लगे । देखो, कहीं बाल उतर जाते तो । । ।”

भाभी की बुझी पलकें बड़ी हो आईं । जैसे नन्हा किनारा बाढ़ के जल से अनायास विस्तार पा गया हो ।

लेकिन मिन्नी उसी गति से कहती चली ‘गई’—“मैंने कही तो— !” अँगुली पर

तेजी से छल्ले की तरह टुपट्टे का किनारा लपेटती-उफेरती बोली—“कही तो कहने लगे ‘गिलैरी बिना पूँछ के भी बुरी न लगे है। क्यों कट्टो!’ फिर बिना बात हो……हो……हो……हँसने लगे।……मैंने मुख-बिदोरकर गुस्से से देखा तो सच्ची भाभी—‘लवली……लवली……।’ कहकर चले गए।……देखो न जे भी कोई बात है! घर में भी अंगरेजी बोलते हैं?”

उफनती-उबलती मिन्नी चली गई। भाभी देखती रही। सोचती रही। दो-चार अनबुझे शब्दों पर मन अनायास अटक आया—मॉँछी के कण्ठ में फँसी कँटिया की तरह।

अभी पाख भी पूरा गुजरा न होगा कि इसी पहले मंगल को, साँझ के बखत सीढ़ियों से ही हो-हल्ला मचाता हुआ जितेन आया था। नीचे आँगन पर से ही आवाज लगाता हुआ, पुकार-पुकार कर कहने लगा था, जैसे किसी बहरी को बियाबान वन में पुकार रहा हो—“अरि ओ, सुन्ती हो!……सुन्ती हो!……देखो, यह क्या पकड़कर लाया हूँ जंगल से! तुम्हारे कपाल की कसम, अब बैल बेचकर सो जाओ। घर-बाहर का जुमला काम करेगी। बर्तन-भाँडे माँजेगी। कपड़े-लत्ते धोएगी। बुहारी लगाएगी, आँगन पर।……बस आज से महरा का काम ठप्प!” चट्ट से चुटकी बजाते हुए उसने अपनी पुरानी आदत के अनुसार एक आँख तनिक दबाते हुए कहा था—“देखो, क्या है! गिलहरी है!……है न!”

विस्मय से मालती ने देखा—सच ही सामने गिलहरी खड़ी है। जितेन कान पकड़े खड़ा है—

“मत्था टिका भाभी के!”

वह मत्था टिकाने के लिए झुकी तो भाभी ‘नहीं-नहीं’ कहकर, खिसियाती मुस्करा भर दी। एक उड़ी-उड़ी-सी क्षीण मुस्कान पपड़ी लगे, सूखे स्याह होंठों पर आकर हौले से यों ही बिखर गई। फर्श पर ढुलके स्प्रिट की तरह धीरे-धीरे जो ओझल हो चली।

“कब आई दिल्ली?” भाभी ने चुपके से अपनी तेल से काली गद्दी का काला किनारा ओढ़ी चादर से ढक दिया। फिर इंचभर पीछे सरक गई ताकि सामने वाली भी बैठ सके। घर में बाबा आदम के जमाने की, बिना हत्ये की, बेंत की जगह प्लाइवुड की पाटी से ठुकी एक ही कुर्सी है, जिसके सामने जितेन खड़ा है।

“इसी पिछले सनीचर को।” तनिक संकोच से आवाज लौटी।

“अरी, खड़ी क्यों हो! बैठो भी न!” मालती ने कहा, तो वह बँधी गठरी की तरह सिमटकर, हौले से चारपाई की पतली-सी बाँस की पटिया की दो अँगुल जगह घेरे बैठ गई।

“पढ़ती कहाँ हो आजकल?”

“वहीं, बाबा के ताँई—बुलन्दसैर।”

प्लास्टिक की मेहँदी रंग की जालीदार कण्डी, जिसका एक हत्था सुतली से बँधा

था, जिसके एकाध घेरे पता नहीं कब कैसे टूट गए थे, वह अभी तक भी अपने दाहिने हाथ में थामे थी। जिसमें एक जोड़ी सलवार कुर्ता, दो चार और जरूरत की छोटी-मोटी चीजे थी। ऊपर से अखबार की फटी जिल्द में ढकी एक किताब थी, जिस पर स्याही और पेन्सिल के मिश्रित अक्षरों से हिन्दी अंग्रेजी में कुछ लिखा था। छुट्टियों में पढ़ने के लिए लाई थी—क्योंकि, भैनजी ने छुट्टियाँ मिलते समय कहा जो था कि छात्राओं को हँसी ठट्टे में समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। सो समय बर्बाद न करने के लिए ही वह बँदरिया के बच्चे की तरह घमीटे फिर रही थी। वैसे एक बार भी उसने पन्ने पलटे नहीं तो क्या हुआ।

आज से पहले वह एक बार कभी यहाँ आई थी। तब वह शायद पासपोर्ट साइज की थी। लडकियाँ कितनी बड़ी हो जाती हैं एकदम।

मालती क्या कहे। एकाएक बोलने को कुछ सूझता न था। गर्मी की छुट्टियों में आई है तो।—कुछ सोचते हुए उमने सहानुभूति से कहा—“इम्तान दे के आई होगी न। थकी थकाई।”

“ च्व च अ । मुँह के मामने में मक्खी उड़ाने की तरह हाथ यो ही झटके से हिलाता हुआ चट जितेन बोल उठा—“थकने के बाद यह हाल है तो पता नहीं पहले क्या होगा ? हरे राम।” हाथ जोड़ते हुए एक गहरी साँस भरकर जितेन ने मिन्नी की ओर देखा—“भाभी कहती थी कि इसका पेट चक्की है, चक्की । हाथ-भर ऊँचा ढेर एक वक्त में हजम कर जाती है। ऊपर से घूँट भर पानी भी नहीं निगलती। मुना, हमारे यहाँ इतना नहीं मिलेगा हाँ हो हो हो ।” वह फिर मुँह फैलाकर हँसने लगा।

मिन्नी झेप गई।

मालती ने अजीब सा मुँह बनाया। जैसे कहना चाहती थी कि उसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी।

बात सँभालता हुआ चुस्कियाँ लेकर जितेन बोला, मजाकिया लहजे में—“अरी, खाली बैठी बिठाई पटेल नगरी में करती क्या। इसलिए यहाँ आमात्रत कर लाया। गृह अपना है। जैसी वह भाभी, वैसी यह। रोग शैया पर विश्राम करती रानी साहिबा की देख रेख हो जाएगी। स्वयं मुझे चार छ दिन पर्यटन पर रहना हागा। लौह पथ गामिनी से यात्रा करनी होगी। तब कण्ठ में गगाजल गेरने गन्ग तो कोई चाहिए न ।” वह कहता कहता स्वयं ही हँस पड़ा। फिर स्वाभाविक बराव में बोला—“भई वाह, कैलाश भी क्या है। दोस्त हो तो ऐसा हो। कढ़ने लगा—यार, तू मौज से टूर पर जा। हमारे होते चिन्ता किस गीज की। ले जा न इम चुडैल को। कोई राजस्थानी ऊँट वूँट मिले तो गले टाँग देना। पढ लिखकर इसे कान मी मिनिस्ट्री सँभालनी है ।”

जितेन ने मुँह मटकाते हुए देखा। मिन्नी ओठ सिकोडे, मुँह बनाए—हूँ हूँ ।

बस बस। कहकर दबे गुस्से से देख रही है।

तबसे इन चार छ दिनों में इस गिलहरी में बड़ा अन्तर आ गया है। एकाध दिन

तो यों ही फूहड़ बनी रही। न सलीके से कपड़े पहनने का शऊर, न चोटी बनाने का, न उठने-बैठने का। बोलती तो बस बोलती चला जाएगी, ढलान पर ढुलकते पहिए की तरह। कहाँ बोले जा रही है? क्या बोले जा रही है? किससे बोले जा रही है? कोई सुध नहीं।

—भाभी, हमारी मण्डी धनौरा वाली भाभी भी बड़ी मसालेदार हैं। हम सब उन्हें 'लच्छेदार' भाभी कहते हैं। पहले भइया से लड़ेंगी। फिर हाथ नचाएँगी। फिर गुस्से से पाँवों को अपने आप फरस पर पटकेंगी!.... सच्ची भाभी, भइया भौत डरते हैं। कहते हैं—औरत-जात को मुँह लगाना अच्छा नहीं। तुलसीदास जी ने जो कहा है।

—हमारी वो सहेली है न भाभी, सबत्रा जिज्जी! वह बजन्तीमाला से अच्छा नाचती है। वह कहती है कि वह आगे चलकर सनेमा में काम करेगी। मोटर-गाड़ियों की मालकन बनेगी। तब भी मुझे भूलेगी नहीं।

—हमारे स्कूल की भैनजी—मिस पुरी—बूढ़ी होकर भी लड़कियों की तरह हाफ-टाइम में खट्टी खाती हैं। थुल-थुल बोलती हैं तो दुधमुँहे बच्चों की तरह मुँह से लार गिरती है। लोग कहते हैं, बच्चो से उन्हें बड़ा प्यार है। तभी घर में कुत्ता पाल रखा है।.... कहते हैं वे उसका जूठा तक खा लेती हैं और अपनी खटिया पर ही सुलाती हैं।

—और भाभी, वो मिसेज ठाकुर। हर साल मुर्गी के अण्डे की तरह एक बच्चा!....वह अपनी एक अँगुली हवा में खड़ी करती।

फिर भाभी के तनिक पास खिसककर कहेगी—भाभी, हमें एक मुच्छन मास्टरजी पढ़ाने आते थे। टिगने-टिगने में थे। वे मुझसे बिना बात गुस्सा होते और गुस्से में मुझे 'गधी' कहते। एक दिन वे मुझसे कहने लगे कि मैं बड़ी मूर्ख हूँ, गँवार हूँ। इत्ती बड़ी हो गई, कंगारू की तरह, अभी तक मुझे 'शादी' की बात नहीं आती। पहले वे जहाँ पढ़ाते थे, वहाँ इत्ती-इत्ती छोटी छेकरियाँ भी सब जानती थीं। पर मैं ही हूँ जो.... एक दिन हमारी मण्डी धनौरा वाली भाभी ने, सच्ची भाभी, खुद अपने कानों से सुना। बाबा से कहा। बाबा भी बिना बात उस बिचारे पर लाठी लिए पिल पड़े। पता नहीं भीगी बिलिया की तरह कहाँ भागा!" खि...खि... खि...। वह फिर हँमने लगती।

लेकिन धीरे-धीरे अब हालत इधर काफी बदल गई है। मालती को यह अन्दाजा लगाना कठिन हो जाता है कि यह वाकई भोली है या इस तरह की ऊट-पटाँग बातें बनाकर उसे बनाया करती है। कभी-कभी तो समझदारों से भी भली-सयानी बात कर बैठती है।

अब कम-से-कम एक घण्टा गुमलखाने में खपता है। चार-छः दिन में ही जितने की सुगन्धित तेल की सारी शीशी माथे पर उँडेल डाली है। जितने ऑफिस से स्टैंन्सल का 'फ्लूट' लाया था, जिससे उसने बीसों नाखून रँग डाले हैं। सारे दिन शीशा सामने रहेगा। सन्ध्या को काजल लगाके, आँखों में तेल डाले, छत की मुँडेर पर बैठी न मालूम क्या-क्या निहारती रहेगी! फिर नीचे उतरकर, गहरी साँस भरकर, दौनों हाथों को हवा में

फेकती हुई, होठो ही होठो मे कहेगी—हृद हो गई। भाभी, आज इती अबेर तक भी भइया लौटे नही।”

मालती सब देखती है। सुनती है। लेकिन साफ-साफ समझ मे आता नहीं। अधिक पढी लिखी नही है वह। बचपन मे नाना की फटकार या अम्भी दादी के दुलार के कारण, रामायन, महाभारत और राम-रच्छा पढ लेती है। ब्याह के दिनों मे जितेन कहता था कि वह पढा देगा। पर अब पढा-पढाया भी सब बिसरा गई है। ‘गिलहरी’ की बात खैर मान लिया ठीक भी हो, जिसके कुछ माने भी हो। लेकिन जरूर कुछ बात है, तभी तो घर मे अग्रेजी बोलते है। मिन्नी ठीक कहती है।

मन उदास हो आता मालती का। उसे लगना, उसकी रुग्णदेह भीगते कम्बल की तरह भारी होती चली जा रही है। शनै शनै साँस लेने मे भी कठिनाई हो रही है। पिछले सवा साल की बीमारी मे इतना कमजोर उसने अपने को कभी भी महसूस नही किया। जितेन पहले भी उखडा-उखडा-सा रहता, लेकिन कभी-कदास मीठी बाते तो कर ही लिया करता था। ऑफिस के काम मे भी तन-मन से जुटा रहता था। पर अब। दस सवा-दस घर मे ही बज जाते है। किसी-किसी दिन तो आधी छुट्टी लेकर दुपहर को ही हाजिर ।

“मिन्नी भई, फल्के ‘डिजाइन’ करना तो कोई तुमसे सीखे’ । लेकिन हाँ, जरा पकौडे सकौडे तो बना अभी। तेरे हाथ की पकौडियाँ सच । पर हूँ, बेसन मे नमक न मिलाय्यो।” फिर शगरत से देखता “वैसे ही बहुत नमकीन हो जाती हैं।” चाय के प्याले मे चीनी के बदले वह कभी मिन्नी से अपनी अँगुली डुबोने को कहता। फिर मुँह निचोडता हुआ कहता—“चा बक्खर हो गई, बक्खर। इतनी मीठी कि ससुरी पी नही जाती। सारा स्वाद ही चला जाता है। ब... /”

निगाहे फिर मिन्नी पर अटक जाती है।

मालती जानती है, उसका शरीर अब निचुडे हुए कोए की तरह बेकाम है। न रक्त। न मास। खाल भी हड्डियो से अलग हो रही है। उसे अपने दो अबोध बच्चो की याद अक्सर आती जो पिछले आठ दस महीने से अपनी बुआ के यहाँ बरेली पड़े है। जितेन इलाज करवाते करवाते अब उब्ब चुका है। ऑफिस मे लौटने के बाद उडती निगाहो से केवल एक बार देख-भर लेता है। उसका जी चाहता है कि पहले की तरह उमके तपते माथे को सहलाए, उमसे बाते करे, उसका मन बहलाए। उसके साथ बैठकर बच्चो क बारे मे बाते करने मे उसे अजीब-सा सुख मिलता है। वह उसके हाथो को अपने हाथो मे थामकर, अपनी मुँदी पलको पर टिका देती है और खोई-खोई-सी सुनती जाती है और जितेन कहता चला जाता है—मण्डू को वह स्कूल भेजेगा।...टिकू कितना समझदार है। इतने छोटे कम अक्ल के बच्चे इस तरह रह सकते हैं, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। परसो जो चिट्ठी आई थी।...वह अचकचाकर देखता—मालती की आँखों मे उलझे मोती । और उसकी सारी हथेली नहा आई है।—एक बार, बस केवल एक बार कभी ऐसी बाते सुनने के लिए वह तरस उठती है।...पर जब से मिन्नी

आई है... !

उसका मन काँच के टूटते टुकड़ों की तरह खनखना आता और अथाह सागर में डूब जाता ।

जितेन अब अधिकतर जाफरी वाले कमरे में बैठा रहता है । मिन्नी बैठी रहती है । उसकी कलाई से घड़ी खोलती है । जूते उतारती है । मौजे उतारती है । करीने से उसके कपड़े तह करके हैंगर में सजाती है । उसके लिए वह रूमाल ही नहीं, तकिए का 'स्वीट ड्रीम' लिखा गिलाफ भी काढ़ने को कहती है । और कभी कहती है कि वह चादर भी काढ़ेगी—बेल-बूटों वाली ।

“भइया, आज आपने खाना नहीं खाया । अच्छा नहीं बना क्या ?”

“खा तो लिया ।”

“हँ, कहाँ खाया ! बस, इसे खाओ न ! कित्ता घी लगा है ! कित्ती मिहनत से सेंक-सेंक कर बनाई हैं—आपके लिए !”

“न, बस !”

“नहीं भइया ।”

“ना, ना !” वह अपने दोनों फैले, उल्टे हाथों से थाली ढक देता और अपनी ओर सरका लेता ।

पर मिन्नी माने तब न ! वह जबरदस्ती निशाना साधकर रोटी गेर देती है ।

“...च्च ...अ !”

मिन्नी देखती रहती है—“मैं खिला दूँ भइया ।”

पास ही दूसरे कमरे में अचेत-सी लेटी मालती तड़प उठती है । उसके सूखे, हड्डियों वाले शरीर में एक साथ हजारों सुइयों कसकने लगती हैं । उसका शरीर बर्फ से जा टकराता है । वह सुन्न रह जाती है । जैसे सारी चेतना चुक गई हो । तभी फिर किलकारी और हँसी के फव्वारे । वह अपने कानों पर हथेली धर देती है ।

और थाली पर ही हाथ धोकर जितेन बाहर ही बाहर घूमने निकल जाता है ।

मिन्नी फिर भागती भीतर आती है । उसका उमगा शरीर खिल रहा है । पाँव थिरक रहे हैं । आँखें अभी तक भी नाच रही हैं—“भाभी, आप क्या लेंगी ?”

“कुछ नहीं ।”

“कुछ तो लो भाभी... । जो कहो सो बना दूँ... ।”

“... ।”

“भइया भी क्या... ।” अकारण वह हँस पड़ती—“देखो न, खाना खाते-खाते बीच में ही उचक पड़ते हैं—‘अब नहीं खाना । बस, बस... ।’ थाली परे हटाकर दोनों हाथों से ढक लेते हैं । लेकिन जब मैं अपने हाथों तोड़-तोड़कर निवाले खिलाती हूँ तो सच्ची भाभी, दो-तीन रोटियाँ और चबा जाते हैं । जब तक मैं मना नहीं करूँगी, मुँह चलाते रहेंगे ।...और देखो न भाभी, पानी भी मुझी को पिलाना पड़ता है, बच्चों की तरह !”



फिर भाभी के उनींदे चेहरे की ओर देखती ।

“भइया आपको बहुत प्यार करते हैं, भाभी । हमारे पटेलनगर वाले भइया हमारी बागपत वाली भाभी को जित्ता प्यार करते हैं, उससे भी अधिक । वो हमारी ‘लच्छेदार’ भाभी तो बस्स्.... !”

मालती का झुलसा मन बुझ-सा आता ।

“परसों भइया कहते थे भाभी.... ।”

“....”

“आपको बुखार तो नहीं भाभी !” वह बिल्ली की तरह उछलकर पलंग की पाटी पर जा बिराजती । माथे पर हाथ फेरती—“अँच रहा है भाभी, भट्टी की तरह.... । कहते हैं बरफ की थैली धरने से ठण्डक पड़ जाती है ।....भाभी, थोडा तलुओं को मल दूँ ! आप कहती हैं उससे ठण्डाई पड़ती है । प्राणों को सुख मिलता है ।”

“नहीं, नहीं ।” मालती झटके से कहती, जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो, “तुम खा लो मिन्नी । जाओ, रोटियाँ ठण्डी हो जाएँगी ।”

“भइया कहते हैं भाभी कि मेरे साथ बैठकर खाने में उन्हें बहुत सुख लगता है !”

भाभी की ओर से कोई उत्तर नहीं लौटता । तब मिन्नी धीरे-से उठती है । मुड़कर फिर देखती है—“देशी घी आज चुकता हो गया, भाभी ।”

इस महीने दस को ही सारा मर्तबान चाट डाला । मै होती तो इत्ते से ही महीना-दस दिन और निकाल देती । घी चुँआ चुँआ के साँझ-सकारे पराटे खिलाली जाओगी तो बचेगा क्या ? मालती के मन में आता, पर.... ।

“भाभी, आप बहुत बुरी हैं । मण्टू-टिक्कू का न जाने कहाँ भेज दिया है । एक बार दिखलाया तक नहीं । सुना, बहुत प्यारे हैं । बहुत खूबसूरत । हू-बहू भइया पर गए हैं ।”

मालती मौन देखती रहती है ।

“आपको बच्चो की याद नहीं आती भाभी ?”

मालती कुछ न कह पाती ।

“भाभी, सच्ची, हमारे बुलन्दसैर वाले भइया कहते हैं कि मैं पढ़-लिखकर डाक्टरनी बनने वाली हूँ । मेरे जनम-पतरे मे भी माँजी कहती हैं कुछ ऐसा ही संजोग है । तब सच्ची भाभी, मैं इलाज कर आपको अच्छा कर दूँगी । भइया तो कुछ करने धरते नहीं ।....आज-कल के डाक्टर मुँए निगोड़ होते ढे ।....हमारे बुलन्दसैर में है एक भाभी । वह जिसका इलाज करता है वही फट् हो जाता है.... ।”

“.... ।”

“भाभी, बच्चो को हमारे घर भेज दो ! सच्ची, मैं पालूँगी ।....भाभी, भइया अब गिलैरी-विलैरी नहीं कहते । मेरी चिउरी पर दो अँगुलियाँ छुआ के कभी ‘लवली.... लवली....’ कह देते हैं ! तब पता नहीं मैं क्यों शरमा जाती हूँ । सच्ची भाभी, मेरा मुख लाल हो जाता है—पके अनार की तरह !”

मालती को कुछ सुनाई नहीं देता। वह आँखें फाड़े, पपड़ी लगे खुरदरे होंठ खोले, विस्मित-सी छत की ओर देखती रहती है। खिड़की के ठीक ऊपर, खटिया के पावों के पास हवा की जाली है। ठण्डी हवा से बचने के लिए जिसे जाड़ों में अखबार या मोटे गत्ते के टुकड़े से ढक देते हैं। लेकिन गर्मियों के झाँकते ही वह आवरण हट जाता है। पर इस साल वह वैसा ही है—उसकी लम्बी बीमारी के कारण....। मकड़ियों ने उलझ-उलझकर जाले रच डाले हैं। इन जालों के उस पार उसे एक तस्वीर दीखती है, जिसमें अब गर्द की भारी तह चढ़ चुकी है। ....लेकिन एकान्त के सूने क्षणों में जब कभी उसकी पलकें खुलती हैं—वही तस्वीर उभरकर ऊपर आती है— मटमैली-सी। धुँधली-सी। न जाने क्यों !

सामने दाहिनी ओर आले में बच्चों के टूटे खिलौने पड़े हैं। रंग अब पुँछ गया है। मंटू बुआ के यहाँ जाते समय भूल गया था। सुबह की गाड़ी पकड़नी थी। पौ फटे के अधमुँदे आँधियारे में आँखें मलता हुआ चला गया था—“अम्मी, तुम भी आना हाँ !....अम्मी ! ....अम्मी ! !” तब से कोई उस ओर जा न पाया।

परसों टिंकू का पत्र आया था। पेन्सिल से लिखा था—“अम्मी, यहाँ सब हमसे झगड़ते हैं। ....कहते हैं हमारी मम्मी बीमार है। मरने वाली है। ....मण्टू आधी रात को नींद में चिल्लाने लगता है। ....वह अब खाना नहीं खाता। दूध भी नहीं पीता। ....हमें बुला लो अम्मी.... !”

सच ही मालती का गला सूख आता। चीखने को मन होता। पर गले में पत्थर जम जाता। शब्द फूटकर बाहर न आ पाता।

“मिन्नी पानी....।”

दो घूँट पानी गले से उतरने पर होश आता। मिन्नी की ओर देखती। हाँफती, रोती—“मिन्नी, तुम्हें भैया अच्छे लगते हैं !....वे भी तो तुम्हें प्यार करते हैं न.... !”

“....।

“मेरे बच्चों की देख-रेख कर सकोगी मिन्नी !....उन्हें प्यार कर सकोगी !.... बिल्कुल तुम्हारे भैया पर गए हैं.... !”

थोड़ी देर बाद मालती संयत होती तो स्वयं ही पछताने लगती। हाय, वह क्या कह गई मिन्नी से। ....नहीं ....नहीं....। वह कसकर चारपाई की पाटी से जा लगती। जैसे भूचाल से धरती फट रही हो। त्राण पाने के लिए वह अन्तिम सहारे से लिपटी जा रही हो। ....कहीं मंझधार में तिनका....और....।

चूँकि मिन्नी की छुट्टियाँ अब किनारे पर हैं। चूँकि जल्दी ही उसे अब अपने शहर लौटना है। चूँकि जितने ही सम्भवतः उसे उकसाया हो, अतः आज प्रातः से ही वह तुली थी कि इते दिनों में कभी उसने ‘चिड़ीघर’ नहीं देखा। इसलिए आज इतवार का दिन होने से छुट्टी है। इसलिए उसे अवश्य दिखलाया जाए। नहीं तो वह वहाँ लौटकर क्या कहेगी ! बाबा ने आती बेर टेसन में कलास भइया से कहा था कि वह इस

बार अवश्य पूरी दिल्ली देखकर लौटनी चाहिए। भइया ने सिर हिलाते हुए हामी भी भरी थी। लेकिन....।

जितेन ने पहले अधिक 'बिजी' होने की बात कही। फिर 'हेडेक' की और अन्त में जब मिन्नी नहीं मानी तो उसने श्रीमतीजी की ओर देखा—“यह गाँव की गिलहरी चैन से बैठने नहीं देगी। बताओ क्या करूँ! दो-चार रुपए का पानी यों ही हो जाएगा....। पर....”

मालती ने स्पष्ट कोई उत्तर न दिया। सुखना बुआ और बच्चों की नई चिट्ठी की बातें उधेड़कर दिशा ही बदल डाली।

अन्त में मिन्नी ने शोरगुल अधिक मचाया तो वह अनमने भाव से तैयार हुआ। मिन्नी के फूहड़पन की दो-चार बातें बुदबुदाता हुआ मालती के सामने से झुँझलाकर गुजरा। पर क्षण भर बाद सीढ़ियों में ढलान की ओर तेजी से उतरते जूतो की चट्-चट्ट आवाज आई। फिर सम्मिलित हँसी का जैसा स्वर व्यापा।

मालती अकेली रह गई तो वे सूनी दीवारें, श्मशान की-सी मुर्दानगी लिए उसे झपटने को भागीं। वह आँखें मीचे बार-बार करवट बदलती रही। कभी उसे चिड़ियाघर की बत्तख-सारसों वाली घुमावदार झील के किनारे, करील की छतरीनुमा डालियों की एकांत छाँह में, हरी-हरी मखमली मुलायम दूब पर बैठी मिन्नी दीखती। जितेन दीखता। तरह-तरह की सुख-दुःख की कड़वी-मीठी बातें सुनाई देतीं। झटके से वह करवट बदलती और आँखें खोल देती।

अब फिर पलकें ढकने पर फिर वही दृश्य। अब मिन्नी के घुटनों के पास आसमान की ओर मुँह किए जितेन लेटा है। जैसे खोया हो। भूला हो। दो अँगुलियों के बीच 'चार मीनार' सुलगाकर राख हुई जा रही है, पर उसे होश नहीं। मिन्नी उसके माथे की पसीने की बूँदों को अपने दुपट्टे से पोंछती है। जितेन के पके पाँगर-से खूबसूरत घुँघराले बालों को छल्ले की तरह अँगुली में लपेटती है। फिर बीच में से अँगुली हटाकर देखती है।—अरे, मुआ छल्ला पूरी गोलाई का बना नहीं। दो सिरे मिलते नहीं। बीच में नाखून के बराबर दायरा खाली रह जाता है।....मिन्नी दो अँगुलियों की नोक से उन्हें फिर-फिर मिलाने की असफल चेष्टा कर रही है।....दोनों चुप हैं।....उस ओर रास्ते से इक्के-दुक्के लोग गुजर रहे हैं, लेकिन मिन्नी की उधर पीठ है।....उसने जितेन का धूप का काला चश्मा पहन रखा है।

—तुम मेरी तरफ यों घूरकर क्यों देख रहे हो ?

—तुम्हारी दो आँखों में छोटे-छोटे दो जितेन दिखलाई दे रहे हैं....।

फिर दोनों चुप हैं।

—घर लौटकर याद करेगी न मिन्नी.... ?”

वह एक बार उसकी ओर देखती है....और हँस भर देती है।

गिलहरी जब हँसती है तो कितनी भली लगती है! मेमनै-सा भोला मुखड़ा। रूई के गोले-से कोमल गुलाबी गालों पर गड्डे। कच्चे अनार के सफेद दानों की तरह

मोतिया दाँत...मालती के डूबे मन में तीर-सा चुभा। लपककर उसने पास ही मेज पर धरी कानी आरसी उठाई। अपने चेहरे के सामने रखकर, अपने से ही आँखें चार करती, देखती रही, अविचलित भाव से। देखते-देखते उसका मुँह मलिन हो आया। आँखों के कोर भीग गए...।

दोपहर ढले बाहर की जाफरी के किवाड़ का कुण्डा खटका। मालती ने चौंककर झाँका। मानो नींद में जागी हो। “अरे, त्वा... ! इती अबेर !”

धम्-धम् कर मिन्नी दाखिल हुई, हाथ में प्लास्टिक की रीती टोकरी नचाती हुई।

मालती ने यों ही देखा—“वे नहीं आए... !” अधर अन्नचाहे खुले।

“यहीं ‘सी’ ब्लाक की तरफ गए हैं। किसी मद्रासी दोस्त के घर कुछ काम बताते थे।”

वह धम्म से निहत्थी चरमराती कुर्सी पर गिर पड़ी। पास ही कुर्सी की पीठ की पाटी पर लटके मालती के धुले ब्लाउज से पसीना पोंछती हुई, बिखरे बालों को दोनों हाथों से कनपटी के ऊपर से समेटकर, माथे की ओर से पीछे ले गई। फिर घुटनों पर दोनों कुहनियाँ टिकाकर, दोनों हाथों से ठोड़ी थामती चहक उठी—“मजा आ गया। हद्द हो गई भाभी ! भइया भी क्या हैं। सच्ची, मैं मरती-मरती यहाँ तक आ पाई। इत्ता खिला दिया बस्स !... जहाँ पर भी खाने की कोई चीज दिखी नहीं बस, हमारे बुलन्दसैर की कमेटी के कूड़ा उठाने वाले बैल की तरह अपने आप ठिठक पड़े !...बैंगन की पकौड़ी खिलाई। दही-भल्ले खिलाए। इत्ते इत्ते सन्तरे खुद अपने हाथों छीलकर खिलाए !... ऊपर से दो, नहीं-नहीं तीन भरी ठण्डी बोतलें पिलाई। मैं जित्ती मनाही करती, भैया उत्ती जबरन करते। कहते—मैं झाऊंगी नहीं तो अपनी भाभी की तरह सीक-मलाई बन जाऊँगी !...लौटती बेर तो बेहद मजा आया भाभी। ...भइया की बगल में बैठने को ठौर मिल गई। भइया गिन-गिनकर सब दिखाते रहे—इण्डिया गेट। हवाई-गाड़ी का अड्डा। ...इस मँर की मोटर-बस भी क्या हैं भाभी ! ...मुँए बड़े झटके लगते हैं। कभी भइया मेरे ऊपर गिर पडते और कभी मैं भइया के ऊपर...।”

मालती के मन में आया कि वह यह भी पूछे कि चिडियाघर तो तुमने जल्दी देख लिया होगा, फिर मारे दिन क्या करते रहे। झील के किनारे ट्रब पर भी बैठे होगे न !...भैया से क्या-क्या बाने हुई। ‘पर तभी दरवाजा खुला। जितेन आ खड़ा हुआ।

मालती ने महसूस किया कि शायद वह ठीक सोच रही थी। उसके मुँह का जायका बिगड़ गया। किमी से उसने कोई बात नहीं की। कटे-तने की तरह निढाल लेट गई।

...कल भी तो ऐसा ही हुआ था कुछ। परमो भी। नरमो भी...।”

मिन्नी आज चली जाएगी। मालती सोचती है—चलो ठीक है। चुड़ैल चली जाय तो उसके लिए कुछ दिन और जीना सम्भव हो सकेगा।

जाफरी वाले कमरे में आज सुबह से दोनों बैठे हैं। क्या पता जितेन ने छुट्टी का

बहाना बना लिया हो।

मिन्नी जितेन के जूते के तश्मे बाँधती है और उसके हाथ को अपने हाथ में थामकर घड़ी।

मालती सिर से पाँव तक कान बनी है। जितेन के हाथ में कल शाम घर आते समय कागजों का एक पुलिन्दा था। हो न हो गिलहरी के लिए कोई 'चीज' लाया हो। कल दिन से वह परेशान है। बातें करते-करते काटने को भागता है।

दोनों जने पता नहीं क्या-क्या बातें कर रहे हैं। लड़ते हैं, झगड़ते हैं, कभी-कभी हँस भी लेते हैं। वह आज फिर 'गिलहरी-गिलहरी' चिढ़ा रहा है। 'नागन' कहता हुआ उसकी चोटी खींच रहा है। उसके बालों में फूल खोसता मुँई अँगरेजी में भी कुछ कह रहा है। और समझा रहा है कि उसे अब सलीके से कपड़े पहनने चाहिए। सलीके से बोलना चाहिए। सलीके से उठना-बैठना चाहिए। क्योंकि अब वह बच्ची नहीं है। गाँवों में तो उसकी उमर की लड़कियों के दो-दो बच्चे हो जाते हैं। और वह सिर हिलाकर हामी भर रही है कि उसकी अनारो बुआ की छोटी लड़की कुलवन्ती का ब्याह बिरनपुरा में हुआ है। उसकी (मिन्नी की) माँजी कहती हैं कि वह उमर में उससे कम है। लेकिन इसी पिछले चैत में एक बच्चा हुआ है....।

बाहर घर... घर...घर ...करता हुआ स्कूटर खड़ा है।

जितेन सीढ़ियों पर खड़ा आवाज लगा रहा है—“सुन्ती नहीं, अरि ओ चुड़ैल... !”

मिन्नी हड़बड़ाती खड़ी है। उसकी डोरी के हत्थे वाली प्लास्टिक की टोकरी नहीं मिल पा रही है। अब उसकी बागपत वाली भाभी उसका श्राद्ध कर डालेगी।

टोकरी बड़ी उथल-पुथल के पश्चात्, बड़ी कठिनाई से कोयले की गीती बोरी से दबी मिल जाती है। झाड़ू लगाते समय शायद मेहतारानी की मेहरबानी हुई हो।

“भइया के साथ कभी हमारे घर अय्यो हूँ भाभी !”

मालती के अधर खुल पड़ते हैं— “हाँ, हाँ। क्यों नहीं !”

मिन्नी के हाथ में थमी टोकरी पंखे की तरह घूमती जाती है—“मेरे बाबा कहते हैं भाभी, कि अगर मैं पढ़ने में इक्कीस नहीं रही तो मैं आगे पढ़ूंगी नहीं। तब खाता-पीता अच्छा घर ढूँढकर मेरा ब्याह हो जाएगा। ब्याह में तो आओगी न भाभी !...मण्टू-टिकू को भी लड़यो हँ !”

मालती क्या कहे ! हाँले से हँस देती है।

नीचे से फिर आवाज आती है कि गाड़ी का समय हो गया है। चुड़ैल क्या कर रही है।

मिन्नी उतावले में हाथ जोड़ने की तरह अपने दोनों हाथों की अँगुलियाँ केवल दूर से ही मिला देती है—अच्छा... भाभी...।

सीढ़ियाँ उतरकर, पल भर बाद पुनः हॉफती लौट आती है—“मुँई याद ही नहीं रही भाभी... !” वह जतन से आले में धरी कागज में लिपटी कोई चीज निकालती है, “यह भइया का फोटू लिए जा रही हूँ भाभी ! भइया से माँगकर—हाँ ! वहाँ अपनी

सबत्रा जिज्जी को दिखलाऊंगी। मण्डी धनौरा वाली भाभी को भी।……बुलन्दसैर में हमारे दूर के रिश्ते के फूफा के लड़के जसमेर भइया भी ऐन-मैन जितेन भइया जैसे ही हैं। हमारे घर बाँत आते-जाते हैं। मेरे कन्धों पर दोनों हाथ धर कर जोर से दबाते हैं। कहते हैं, देखें, तेरे मामा पक्के हैं या कच्चे! कभी-कभी वे मुझे पढ़ाने और बजार घुमाने को भी कहते हैं। तुम कहो तो उनको भी दिखलाऊंगी भाभी!……” एक साँस में कहकर मिन्नी तेजी से चली जाती है।

स्कूटर में पहले मिन्नी बैठती है फिर जितेन। स्कूटर का मुँह सामने सड़क की ओर है। इसलिए मालती की ओर पीठ। खिड़की के सीकचैँ के सहारे खड़ी वह देख रही है।

स्कूटर की आवाज बढ़ती है। छोटे-छोटे दो पिछले पहिए घूमते हैं। गाड़ी आगे फिसलती है।

मालती को दो कन्धे अलग-अलग दीखते हैं। दोनों अगल-बगल के दो किनारों की ओर झुके। स्कूटर कुछ आगे बढ़ता है तो मालती को लगता है कन्धों की दूरी भी कम हो गई है।…… बिल्कुल कम हो गई है!……दोनों एकदम एक-दूसरे से मिल गए हैं!……एक-दूसरे पर गिर गए हैं!

मालती की आँख मुँद जाती हैं। माथा घूमने लगता है। ऐसा भी कहीं हो सकता है। जितेन को वह अच्छी तरह जानती है। वह हरगिज ऐसा नहीं है। फिर क्यों ऐसी ऊल-जलूल बातें सोचा करती है वह!……नहीं……नहीं। वह फिर आँखें मलती है। एक बार फिर देखने का प्रयास करती है—धूप से बचने की तरह पाँचों उँगलियाँ फिर माथे पर टिकाते हुए। लेकिन धुँधली निगाहों को कुछ भी दीखता नहीं। स्कूटर पहले ही मोड़ से ओझल जो हो चला है!

## परिणति

वितस्ता ने खादी के बेल-बूटे वाले, रगीन भारी पर्दे रिग पर एक ओर समेटे तो देखा—दूर गेट के पास कोई छाया-सी खड़ी है। व्यस्तता के कारण उधर अधिक ध्यान न दे पाई। यों ही देखा-अनदेखा करके ड्राइंग-रूम की ओर चली गई। उसका मन आज न जाने क्यों इतना भारी, उदास है। कहीं भी जी लगाए लगता नहीं।

नाश्ते की प्लेटें लगी थीं। भदई कन्धे पर गमछा लटकाए, बड़े अदब से, ठहर-ठहरकर गिलासों में जल भर रहा था। एक भी बूंद धोखे-से टेबिल-क्लाथ पर बिखरी नहीं कि उसे बड़ी शालीनता के साथ गमछे में समेट लेता।

चिरन्तन ने समाचार-पत्र परे रखते हुए एक हल्की-सी अँगड़ाई ली। इधर-उधर देखा तो निगाहें वितस्ता पर ठहर गई। सामने की कुर्सी पर वह गूंगी-दुल्हन की तरह होंठ सिए चुप बैठी है। दोनो कुहनियाँ मेज पर टिकाए, हथेलियों में ठोड़ी थामे, आँखें मूँदें पता नहीं क्या सोच रही है। इस तरह से जब कभी वह किसी भाव में लीन रहती है तो उसकी यह भंगिमा चिरन्तन को बहुत अधिक भाती है....।

वितस्ता घर-बाहर का सारा काम-काज जानती है। कला के प्रति उसकी अभिरुचि है। वह बहुत मीठा गाती है। सितार बहुत अच्छा बजा लेती है। अपने अधमुँदे अँधेरे कमरे में जब कभी साँझ के समय वह तन्मय होकर तारों को छेडती है तो प्रशान्त वातावरण में एक लहर-सी दौड़ जाती है। एक अजीब-सी वेदना कण-कण मे व्याप जाती है। घण्टों तक, पता नहीं कब तक, उसकी सगमरमर-सी सफेद, तराशी हुई बारीक लम्बी नाजुक उँगलियाँ तारों को सहलाती रहती हैं। धीरे-धीरे हवा थम जाती है। उँगलियाँ ठहर जाती हैं। सितार के झनझनाते तार कँपकँपाना छोडकर, साँस साधे रुक-से जाते हैं। विस्तता गरदन झुका लेती है। माथा सितार पर टिका देती है। तब उसकी आकृति भाव-शून्य हो जाती है। एकदम प्रतिमा की तरह शान्त। किन्तु दूसरे ही क्षण ज्योंही गरदन ऊपर उठाती हुई जोर से पलके मींचती है, कभी-कभी बूँद-भर खारा पानी आँखों से उतरकर गालों पर दुलक पड़ता है।

सच, कितनी विचित्र है वितस्ता। चिरन्तन क्षण-भर उसे देखता रहा, फिर हौले-से कुर्सी से उठकर उमके पीछे खड़ा हो गया। उसके कन्धो पर बिखरी अधगीली लटो को सहलाता हुआ, उसकी आँखो की गहराइयो मे कुछ टटोलने लगा।

वितस्ता ने भी उसी भाव से गरदन ऊपर उठाई तो चिरन्तन ने सामने खिला चाँद अपने दोनों हाथो मे भर लिया—“क्या सोच रही हो बिती ?”

वितस्ता ने केवल सिर हिलाया—“जी, कुछ भी नहीं।”

“कुछ तो।”

“ना।”

“चुप। चुप।” कहता हुआ वह और झुक गया और अपने धधकते होठ उसके रक्तिम कपोलो पर रखने ही वाला था कि तभी दरवाजे की निगोडी कॉल बेल टुनटुनाई। अचकचाकर, सँभलकर दोनो बाहर की ओर झाँकने लगे जैसे कही चोरी न पकड ली गई हो।

भदई टिकोजी से ढका टी पॉट लाता-लाता ठहर गया। साहब को कही उठकर देखने का कष्ट न हो, अत स्वय वैसा ही दरवाजे की ओर मुड़ा।

“कहिए।”

“मिस्टर चिरन्तन है ?”

“आइए।”

भदई ने जैसे खाना पूरी की नैमे ही मुँह लटकाए कहा। वास्तव मे भदई को इस आकृति मे तानक भी नवीनता नहीं टीखती। अकसर वक्त बेवक्त इसी तरह घण्टी बजती है। नाइलॉनी साडी मे लिपटी पर्स हाथ मे झुलाती लिपिस्टिक पुते अधरो से मुस्कराती, कोई टिकटिक आती है और बेधडक चिरन्तन के कमरे मे चली जाती है।

चिरन्तन के विवाह के बाद, आज ब्रहृत दिनो पश्चात् वह पहली बार आई है। अत आकृति मे कुछ अममजस का अटपटा भाव है। पॉवों मे अनिश्चितता। वे सधे ङग मे, आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ नहीं पा रहे है।

“आइए। आइए।” चिरन्तन न आगे बढ़कर स्वागत किया—‘कम इन। आप दोनो का परिचय करा दूँ। आप हे कुमारी जुबेदा और आप यानी कि यानी कि आइ मीन।”

“गमझी, समझी।” कहकर सामने खड़ी कुमारी ने वितस्ता की ओर मुस्कराकर देखा, अभिवादन किया और बडे तपाक मे हाथ मिलाया।

टेबिल पर तीनो बैठकर बडी बेनकल्लुफ बातें करने लगे। वितस्ता कुछ कम बोलती, अपने स्वभाव के अनुमार, पर चिरन्तन और जुबेदा माहित्य से लेकर सेक्स तक हर टापिक पर देर तक, निस्सकोच बातें करते रहे। वितस्ता को बडा आश्चर्य हुआ कि कोई नारी किमी पर-पुरुष से इतनी स्पष्ट बात कर सकती है।

किसी काम के बहाने उठकर वितस्ता दूसरे कमरे मे चली गई। भदई को गमलो मे पानी देने और फर्श को साबुन से धोने के बारे मे कुछ हिदायते देती रही। फिर



रसोई-घर में घुसकर सारा काम स्वयं देखने लगी।

धुएँ के कारण उसकी आँखों में पानी भर आया। ऑचल से पलकें पाँछती जब वह ड्राइंग-रूम की ओर लौट रही थी कि उसकी आँखों के आगे बिजली-सी कौंधी। उसके चलते पाँव एकाएक ठहर गए—एकदम चेतना-शून्य हो गए।

जुबेदा चिरन्तन की बाँहों में धिरी थी और वह उसकी काली बिखरी जुल्फों को हाथों में समेटे... !

तीनों प्राणी—जो जहाँ थे, वहीं पर सुन्न खड़े रह गए। न चिरन्तन कुछ बोला, न जुबेदा कुछ कहने का साहस जुटा पाई और न वितस्ता ने ही कुछ कहने की आवश्यकता की... ।

शाम को चिरन्तन का मन घर लौटने का न था। फिर भी वह लौट रहा था। अनेक आशंकाएँ उठ रही थीं। वितस्ता से सामना कर पाने की हिम्मत न थी। मुबह के अपने व्यवहार से वह बेहद क्षुब्ध था। उसे स्वयं पर झुँझलाहट हो रही थी कि वह ऐसा अभद्र व्यवहार क्यों कर बैठा। विवाह हुए अभी दिन ही कितने बीते हैं। फिर ऐसी हरकतें क्या शोभा देती हैं! इतनी बड़ी नौकरी है, इतना बड़ा जिम्मेदारी का ओहदा है, शान है, शोहरत है, भारी नाम है। फिर यह !... वितस्ता क्या सोचती होगी ! उसके स्थान पर कोई और होती तो क्या सोचती !

उसने जब घर की देहरी पर पाँव धरा तो चारों ओर रोज की तरह सन्नाटा था। वितस्ता अपने कमरे में, किताबों के ढेर के पास, सितार सहला रही थी। दर्द की एक हल्की-सी लहर वायु में घुल-घुलकर एक वीतरागी करुण-दृश्य रच रही थी।

दरवाजे के खुलने की खटक और सीमेंट के फर्श पर जूतों की आहट से वितस्ता की तन्द्रा टूटी। वह लपककर आगे बढ़ी। हमेशा की तरह मुस्कराती सामने खड़ी हो गई। बोली—“बड़ी देर कर दी आज !”

चिरन्तन चुप था। कुर्सी पर बैठा ही था कि वितस्ता उसके पाँवों के पास फर्श पर बैठ गई। जूते के तस्मे खोलने लगी। फिर निश्चित स्थान पर जूते रखकर कुर्सी के सहारे उसके सामने खड़ी हो गई। बोली—“तबीयत तो ठीक हे न !”

प्रत्युत्तर में चिरन्तन से कुछ भी कहा न गया।

वितस्ता उसके ठण्डे माथे को अपनी गरम हथेलियों से सहलाने लगी—“इतनी रात बाहर रहते हो तभी तो सेहत खराब रहती है। मैं न जाने कब से खिड़की पर खड़ी-खड़ी प्रतीक्षा करती थक गई। किताबें उलटने लगी तो मन लगा नहीं। सितार भी कब तक बजाती... !”

चिरन्तन अपलक उसकी ओर देखता रहा। न मालूम एक साथ कितनी परछाइयाँ, कितने भाव, कितने विचार अन्त से उभर-उभरकर, धूप-छाँव की तरह आए और ओझल हो गए।

अभी तक भी चिरन्तन को चुप देखकर वितस्ता उसके और समीप खिच आई।

उसके घुँघराले बालों को छल्ले की तरह उँगलियों में लपटेती-बिखरेती रही। फिर सामने खड़ी हो, उसकी टाई की गाँठ खोलने लगी—“कितनी जोर से बाँधते हैं आप ! गरदन में दर्द नहीं होता !”

“....।”

“चलो, उठो न ! खा लो। कब से पड़ा-पड़ा ठण्डा हो गया। कितनी मैहनत से आज खुद ही सब्जी खरीदकर लाई, खुद ही बनाई। पर सब.... !” वह चिरन्तन का हाथ थामे उठाने लगी।

चिरन्तन को इस सबकी कल्पना तक न थी। न वितस्ता घर पर रूठी बैठी थी, न घर में अँधेरा था, न उसके घर पहुँचते ही वह बिफरी, न झसने रोते हुए ही यह कहा कि ‘सुनिए, मुझे मेरे मैके पहुँचा दीजिए। इश्क ही लड़ाना था तो फिर ब्याह क्यों किया ? किसी एक की जिन्दगी से यों खिलवाड़ करके आपको क्या मिला !’

पर वितस्ता चुप थी। उसकी निर्विकार, सुशान्त, सुनिश्चित आकृति की ओर वह न मालूम इस तरह से क्यों देखता रहा ! और फिर पालतू-पशु की तरह चुपचाप उठा और पीछे-पीछे चल दिया।

निवाले तोड़-तोड़कर, अबोध शिशु की तरह वितस्ता उसे खिलाने लगी।

“तुमने खा लिया।”

“जी, खा लूँगी। इतनी जल्दी क्या है ! पहले आप लीजिए न !”

चिरन्तन की निगाहें घड़ी की ओर मुड़ीं—“तुम्हें खाकर सो जाना चाहिए था। खाना भदई खिला देता या सुजानो। इतनी जल्दी कामकाज समाप्त करके घर चली गई क्या ?”

“क्यों खिला देती जी कोई—होठे हुए मेरे !” वितस्ता कहकर भी कह न पाई। केवल बुदबुदाकर चुप हो गई।

चिरन्तन ने कौर के साथ-साथ दो-तीन बार उसकी फ्लासबीन-सी पतली नाजुक उँगलियाँ भी काट डालीं। अन्तिम ग्रास के साथ वह शरारत से मुस्कराता हुआ वितस्ता के होंठों के पास मुँह ले गया तो वितस्ता चौंककर पीछे हट गई। चिरन्तन के मुँह से शराब की बदबू आ रही थी।

“क्या हुआ ?”

“जी, कुछ नहीं।” वितस्ता हँस पड़ी। वह हँसी उसके दिल को चीरकर पता नहीं किस गहराई से निकली थी।

सोते समय वितस्ता उसके माथे को सहलाती रही। चिरन्तन के मन में न जाने कौन-सा ज्वार उमड़ रहा था। न जाने कौन-सा झंझावात उसे झकझोर रहा था। शायद उसके अन्तःकरण की अपराध-भावना उसे मथ रही थी। शायद वह होश में नहीं था—“तुम बहुत मीठी हो, हो न।” वह बुदबुदाया—“लेकिन जुबेदा, तुमसे भी....।”

वह चुप थी। चिरन्तन भी।

“क्यों जी, वह आपको बहुत अच्छी लगती है ?”

“हाँ।”

“क्या खासियत है उसमें?”

“खासियत...!” वह बड़े जोर से, बड़े भद्दे ढंग से हँसा—“कोई जवान हो। उस पर लड़की हो। उस पर खूबसूरत हो, यह क्या कम है!” तनिक रुककर चिरन्तन बोला—शायद अब वह बिल्कुल होश में न था—“शी इज रियली स्वीट! वह बड़े मोहक ढंग से मुस्कराती है, हँसती है, बातें करती है, चलती है। उसके चिकने, सुडौल गोरे शरीर में साँप की केंचुली-सी बारीक नाइलॉन की फिसलती हुई साड़ी खूब फबती है। बड़े आर्टिस्टिक ढंग से स्मोक करती है। बाल-डॉस और शराबी निगाहों से देखती हुई शैम्पेन के...! ओह, शी इज रियली स्वीट!” उसने जोर से वितस्ता को अपनी ओर खींचा, जैसे सामने वितस्ता नहीं जुबेदा ही हो और फिर आँखें मूँदे जोर से उसे चूमता हुआ फुसफुसाया—“स्वीट! सो स्वीट!! सो स्वीट!!!”

लेकिन दूसरी ओर वितस्ता का मन चीत्कार कर उठा। वह वैसी ही बेबस पड़ी रही। चिरन्तन जब थककर सो गया तो वह हौले से अपने कमरे में गई और फिर सारी रात सितार उसकी बाँहों में लिपटा, न जाने क्यों रोता रहा!

सुबह फिर ताजे फूलों की तरह वितस्ता ताजी थी। बड़े प्यार से उसने चिरन्तन को जगाया। बिस्तरे पर ही कॉफी का गर्म प्याला उसके होंठों से लगाती हुई बोली—“देखिए, आप कितने लापरवाह हैं! एक तो आफिस में काम बहुत रहता है, दूसरे रात को देर तक जागते रहते हैं। इससे सेहत खराब हो जाती है। देखो न, आपकी आँखें कितनी लाल हैं—सूजी हुई।” वितस्ता पास ही मेज पर रखा शीशा उसके सामने तक लाई। पर चिरन्तन शीशे की ओर नहीं, केवल उसकी आकृति की ओर देखता हुआ हँस पड़ा। वितस्ता की समझ में कुछ न आया। चिरन्तन ने शीशे का मुँह वितस्ता की ओर कर दिया और कॉफी का गरम प्याला उसके हाथों से थाम लिया।

वितस्ता सचमुच वितस्ता लगती न थी। उसका चेहरा बेहद सूजा हुआ था। आँखें गुड़हल के फूल की तरह सुर्ख थीं।

“लगता है रात-भर जागती रहीं?”

“नहीं तो!”

“फिर?”

“फिर क्या,” यों ही हँसने का प्रयास करती वितस्ता ने कहा—“मेरी आँखें इधर बहुत कमजोर हो गई हैं न! तभी तो थोड़े से ही शीत से ही सूज जाती हैं।”

चिरन्तन ने दो ही घूंट में प्याला रीता कर दिया। वितस्ता ने फिर कोई बात न की। केवल चुपके से रीता प्याला उठाकर चली गई। ड्राइंग-रूम में, आदमकद शीशे के सामने अपना प्रतिबिम्ब तौलने लगी—सचमुच उसकी उदास आँखें भरे-घड़े की तरह सहसा छलछला आईं। अपने को सँभालती हुई वह सीधी बाथ-रूम गई। किवाड़ भीतर से बन्द कर, खूब जी भर रोती रही।

अन्त में, हल्की होकर, नहा-धोकर, वस्त्र बदलकर नाश्ते की मेज पर आई तो देखा चिरन्तन कब से प्रतीक्षा कर रहा है। ऐश-ट्रे में अध-जले सिगरेट के ढेर सारे टूटे-टुकड़े तैर रहे हैं और अभी तक वह लगातार धुआँ उगल रहा है।

उसे देखते ही चिरन्तन का मूड बदल गया—“आज तो तुम बहुत खूबसूरत लग रही हो।” पूरी की पूरी सिगरेट उसने ऐश-ट्रे में डुबो डाली और फिर झट से छुरी-चम्मच लेकर, डबल-रोटी के अध-सिके टुकड़ों पर मक्खन की मोटी-मोटी परतें चढ़ाने लगा—“आज तो एकदम अल्ट्रामाडर्न नजर आती हो। कलर-लेस नाइलॉन का स्लीवलेस ब्लाउज, नाइलॉनी साड़ी, इतना बारीक पेटिकोट पहने हो और इतनी गहरी लिपिस्टिक कि जुबेदा भी पानी भरने चली जाय।”

वितस्ता लाज से सिकुड़कर चौथाई रह गई।

“डांस जानती हो?”

“वैसे जानती तो नहीं, आप कहेंगे तो सीख लूँगी।”

चिरन्तन फिर सिगरेट जला चुका था। धुएँ के गोल-गोल छल्ले, एक के बाद एक, छत की ओर उड़ाने लगा। वितस्ता प्यालियों में दूध डालकर चम्मच से उन्हें हिलाने लगी। आज ठण्ड कुछ अधिक थी, इसलिए उसका बदन कँपकँपा रहा था।

चिरन्तन के मुँह से सिगरेट छीनकर वितस्ता ने अपने रंगीन अधरों पर लगाया। एक कश जोर से खींचते हुए कहा—“वह ऐसे ही पीती है! कहिए न, अब तो आपको अच्छी लग र...ही।” तभी खॉसी शुरू हुई। वह इतनी जोर से, इतनी देर तक लगातार खॉसती रही कि उसकी आँखों में पानी भर आया। किन्तु दूसरी ओर चिरन्तन ठहाके लगाता रहा।

चिरन्तन ऑफिस जाने लगा तो आज वितस्ता उसे छोड़ने द्वार तक गई। जाते समय अपनी नाजुक उँगलियाँ हवा में हिलाती हुई बोली—“देखिए, आज ऑफिस से सीधे घर आइएगा। क्लब जाना चाहेंगे तो मैं भी साथ चलूँगी।”

दूरी कुछ बढ़ने लगी तो वितस्ता की आवाज उसी अनुपात से ऊँची हो आई, जैसे चिरन्तन को कुछ कम सुनाई पड़ता हो, “आज आपसे कुछ बहुत जरूरी बातें करनी हैं। ठीक छ' बजे पहुँच जाना, हॉ।” वह लपककर और पास चली आई। उसके कन्धों पर झुकती हुई बोली—“दिन-भर अकेली बैठी-बैठी बोर हो जाती हूँ। यदि दिन में कभी आपको फोन कर लूँ तो आप डिस्टर्ब तो न होंगे! बुरा तो नहीं मानेंगे...।”

साँझ को चिरन्तन ऑफिस से उठकर सीधा घर चला आया। वितस्ता पलकें बिछाए पाँच बजे से ही द्वार पर खड़ी थी। चिरन्तन को देखते ही उसकी उदास आँखें चमक उठीं। वह लपककर आगे बढ़ी और उससे लिपट गई।

पास ही भदई फूलों में पानी दे रहा, यह सब देख रहा था। अतः उसकी ओर दृष्टि जाते ही वह शर्म से लाल हो, लपककर भीतर चली गई। भदई भी अपने को कोसता, पानी का फव्वारा थामे, दूसरे कोने में खड़ा हो गया।

वितस्ता ने एक बहुत सुन्दर, कलात्मक नया अल्बम उसके सामने बढ़ाया,

“खाली बैठे-बैठे क्या करती। आपके बक्स में कितने सुन्दर-सुन्दर फोटो यो ही घास कूड़े की तरह तुसे थे। सोचा उन्हें ही ठीक कर दूँ।”

उन्हें देखते ही चिरन्तन को कुछ कहते न बना। मौन-भाव से, दार्शनिक-ढंग से पन्ने पलटता रहा। ये वे चित्र थे, जो उमकी पूर्व-प्रेमिकाओं ने ‘अमित-म्नेह’ के साथ समर्पित किए थे।

कोई नारी ऐसा व्यवहार भी कर सकती है, वह सोच नहीं सकता था। पर यह वितस्ता नाम की लडकी वस्तुतः क्या है—उमकी ममझ में न आता था।

“इन्हें देखकर तुम्हें ईर्ष्या नहीं हुई ?”

“ईर्ष्या क्यों हो भला।” बड़े सहज भाव से वितस्ता कहने लगी—“जो आपको प्रिय हैं, वे सब मुझे भी प्रिय हैं। जिन्हें आपने अपने प्राणों से भी अधिक चाहा, मेरे लिए उनका मूल्य मेरे प्राणों से भी अधिक क्यों न हो। विवाह की वेदी पर, परमात्मा को भाक्षी रखकर मैंने मौगन्ध खाई है कि जिस ढंग से आप सुखी रहें, जो आपको अच्छा लगे, उसी को अच्छा मानकर आपके चरणों में बैठी, जीवन-पर्यन्त आपकी सेवा करती रहूँगी। मेरी खुशियों का सारा संसार आप पर केन्द्रित है—केवल आप पर।” वितस्ता की आवाज भारी हो गई।

दूसरे दिन रविवार की छुट्टी थी। चिरन्तन लॉन में बेंच की कुर्सियाँ डाले धूप सेंकता हुआ मैगजीनो के पन्ने पलट रहा था। पाम ही बैठी वितस्ता उसके लिए रोएँदार मुलायम ऊन का, पूरी आस्तीन का स्वेटर बुन रही थी और बार-बार घड़ी की ओर देख रही थी।

“आज भी आपको ऑफिस जाना है। मच कह रहे हैं।”

“हाँ, तोऽ।”

“मैं सोच रही थी, आज आपके पसन्द की डिश बनाऊँगी। आज धूप में बैठे हम दोनो साथ-साथ भोजन करेंगे।”

चिरन्तन वैसे ही पन्ने पलटता रहा।

“कभी-कभार एक दिन मुझे भी तो दीर्घाए। केवल इसी दिन के इन्तजार में अपना सारा सप्ताह किस तरह गुजारती हूँ, आपको क्या पता।”

चिरन्तन की ओर से उत्तर इस बार न आया तो समझौता करती वितस्ता बोली—“अच्छा, तो शाम को जल्दी आइएगा, हाँ।”

“शाम को।” चिरन्तन ने गरदन उठाकर ऊपर देखा और ऐसे कहा जैसे पहली ही बार सुन रहा हो—“शाम को भी समय कहाँ मिलेगा। जोनल-कमेटी की मीटिंग कभी-कभी तो रात के आठ-नौ बजे तक चलती रहती है। फिर...।”

इस ‘फिर’ का वितस्ता के पाम कौन सा समाधान हो सकता था। अतः वह चुप हो गई और चिरन्तन भी समय पर गाड़ी लेकर ऑफिस चला गया।

वितस्ता को यह बेबसी से लदा अकेलापन बहुत अखरने लगा। वह अकेली ही

अपने आपसे जूझती-झगड़ती रही। कभी उसका मन रोने को होता, कभी अपने बालों को नोचने को। लेकिन फिर एक आशा की सुनहरी लहर-सी दौड़ती और वह चुप हो जाती। उसे इस पर ही कुछ कम सन्तोष न था कि चलो इतने दिनों में चिरन्तन में कुछ तो परिवर्तन आ ही गए हैं। धीरे-धीरे एक दिन पूरा ही बदल जाए तो क्या आश्चर्य ! जुबेदा का एक बार भी उसने नाम लिया न था और न कभी हल्की बातें ही कही थीं और न कभी लौटने में ही अकारण बहुत विलम्ब किया था।

पर वह बैठी-बैठी क्या करे ! हर तरह से खीझकर, अब वह पीठ के बल बिस्तर पर लेटकर, छत पर लटके रंगीन लाल बल्ब की ओर देख रही थी। आज सितार बजाने को मन न था। न फूलों को सजाने और न पुस्तकों को पढ़ने या घर के किसी और काम-काज में ही।

तभी कमरे के किवाड़ खटके। वह चौंककर उठे इससे पहले ही बिन्दो हथेली में भरी प्लेट थामे खड़ी हो गई—“कहिए, श्रीमती वितस्ता देवीजी, एम० ए० अर्थशास्त्र, आप किस कल्पना-नगरी में विचरण कर रही हैं ?” बिन्दो ने सदा की तरह शरारत से अजीब-सा मुँह बनाया।

बिन्दो उसकी बचपन की सहेली है। यहीं पास ही ‘बी’ स्क्वायर में, पीली-कोठी की मालकिन है। मालिक देश-विदेश में इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का धन्धा करते हैं और यह घर पर अकेली रहती है। खूब पैसे और खूब बाल-बच्चों वाली है। किसी किस्म का कष्ट नहीं। बचपन से ही खुशमिजाज है, मिलनसार है। इसलिए जब भी समय मिलता है, कोई न कोई काम का बहाना बनाकर स्वतः ही चली आती है।

वितस्ता सहसा बिस्तर पर ही उठ बैठी। सामने बिखरे बालों को परे हटाती हुई बोली—“अरी, बैठो न ! यह क्या ले आई ?”

“अचार, तुम्हारे लिए।”

“क्यों ?”

“अरी, भोली !” हाथ नचाते हुए बिन्दो बिल्कुल पास ही सटकर बैठ गई—“हमसे छिपाती हो रानी ! अब तो अचार खाने को मन करने लगा होगा न !”

“अचार खाने को ! क्यों ?”

“च्च...। मेम साहिबा, ये बनाने वाली बातें किसी और से करना। हम सब जानते हैं।” वह हँस पड़ी।

“अरी, क्या जानती हो ? बाईगॉड, मैं समझी नहीं !”

“सच बित्ती, तू तो एकदम निरी-निरी ही है री !” उसके मुँह के पास मीठे अचार की एक फाँक ले जाती हुई बोली—“सच, तू कभी इतनी सुन्दर लगती है कि बस, चूमने को जी चाहता है। सच्ची, तू पुरुष होती तो मैं तुझसे ही शादी करती !”

दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

“थोड़ा अचार बाहर से मँगवाया था।” कुछ पल बाद संयत होकर बिन्दो ने कहा—“सोचा तुम्हारा शेयर तुम्हें दे आऊँ।...मुन, जब जरूरत पड़े निस्संकोच कहना।

तुम्हारे लिए तो मैं अचार का कारखाना तक खुलवा दूंगी...।”

बिन्दो मुस्कराती हुई उठ खड़ी होती है—“अरी सुन तो। देख, अभी भदई से मालूम हुआ कि साहब ऑफिस गए हैं। हम भी अकेले हैं। यही सोचकर सिनेमा के दो टिकट मँगवा लिए। ये देखो।” उसने अपने ब्लाउज में से मुड़े-तुड़े दो टिकट निकाले और वितस्ता की ओर बढ़ा दिए।

वितस्ता असमंजस में सोचती रही—“उनसे पूछे बिना।”

“चअ! तो क्या गजब हो जाएगा डार्लिंग। तुम्हारे साहब सात-आठ से पहले लौटने के नहीं और हम छह से पहले ही घर पर हाजिर। फिर...।” बाँह पकड़कर बिन्दो ने उसे पलंग पर से उठाया—“जब देखो तब पलंग पर। अरी, पलंग क्या इतना अच्छा लगता कि...! ब्याह तो सभी के होते हैं, पर दुनिया का भी तो कुछ लिहाज कर।”

उसे मुँह भींचकर हँसती देख वितस्ता भी अपनी हँसी रोक न पाई।

वास्तव में वितस्ता का कहीं भी जाने को मन न था। लेकिन वह जोंक की तरह ऐसी चिपट गई कि...।

जाते-जाते पिक्चर शुरू हो चुकी थी। हॉल में अधेरा छा गया था। सामने के सफेद पर्दे पर डाक्युमेण्ट्री बड़ी तेजी से फिसल रही थी।

थोड़ी देर बाद फिर असली पिक्चर प्रारम्भ हुई। वितस्ता ने देखा, आज छुट्टी का दिन होने के कारण हॉल खचाखच भरा हुआ है। लोग छुट्टी के मूड में हैं। कितने ही दम्पति साथ-साथ बैठे सिनेमा का पूरा-पूरा आनन्द ले रहे हैं। बाँहों में बाँहें डाले—बीच-बीच में फुसफुसा रहे हैं। अनायास खिलखिला रहे हैं। और एक हैं—उसके पति, जो छुट्टी के दिन भी ऑफिस जाते हैं। जोनल-कमेटी की मीटिंग जिन्हें आए दिन खाए जाती है। जैसे ऑफिस के अलावा जीवन में उनके लिए और कुछ है ही नहीं। सामने तीसरी कतार पर बैठे एक दम्पति पर उसकी निगाहें ठहर गई। अभी-अभी अधेरा होते ही जिन्होंने बड़ी अदा से एक-दूमरे को ‘किस’ कर लिया था।

वितस्ता के सारे शरीर में सुरसुरी-सी फैल गई। पिक्चर कहाँ से शुरू हुई, कहाँ तक पहुँच गई—उसे फिर कुछ पता न चला। लेकिन इण्टरवल में ज्योंही सहसा प्रकाश फैला, उसकी मुँदी पलकें खुलीं, जैसे वह नींद से जागी हो। अचकचाकर उसने बिन्दो की ओर देखा और फिर सामने तीसरी कतार में बैठे दम्पति की पीठ पर पलकें गड़ गई और खुली-की-खुली रह गई।

चिरन्तन, बगल की सीट की पिछली पाटी पर दूर तक अपनी बाँहें फैलाए बैठा था। बाँहों की सीमा-रेखा पास बैठी जुबेदा के दाहिने किनारे के कन्धों तक को घेरे थी। चिरन्तन झुस्करा रहा था। जुबेदा भी बालों में पीले फूल खोंसे मुस्कराकर, चिरन्तन को आँखों-ही-आँखों में पीकर ‘कोका’ की चुस्कियाँ ले रही थी।

वितस्ता के पाँवों तले धरती खिसक गई। हल की सारी-की-सारी छत टूटकर

उसके सिर पर गिर पड़ी हो जैसे। वह सिर-दर्द का बहाना बनाकर सीट से उठी और सीधे घर की ओर चल पड़ी।

शाम को चिरन्तन काफी देर से लौटा। वितस्ता आज रोज की तरह अनन्त प्रतीक्षा में खड़ी न रही। न आज उसके कमरे में हल्के-से मद्धिम प्रकाश की किरणें ही फूट रही थीं। न अथाह सूनेपन में डूबे सितार के तार ही चमक रहे थे। चारों ओर सन्नाटा था। बुझा हुआ सन्नाटा—एकदम असह्य, भयावना।

कमरे में पहुँचकर, स्विच पर हाथ गया तो देखा—मेज पर जहाँ रोज वितस्ता अपने पीने के लिए गंगाजल रखती थी, आज औंधे मुँह शराब की खुली बोतल दुलक रही थी। भुनी मछली के कुछ खाए-अनखाए टुकड़े बिखरे थे। पास ही वितस्ता अर्द्ध-नग्नता में, नशे में चूर पड़ी थी। उसके माथे पर रक्त के कई घाव थे। जिनसे अभी तक भी खून बह रहा था। पास ही सितार टूटा था। जिसके तार-तार अलग हो गए थे। और पास ही किसी युवा-पुरुष का चित्र था और एकाध प्रेम-पत्र जो वितस्ता को लिखा गया था।

चिरन्तन जैसे सातवें आसमान से धरती पर गिर पड़ा हो। सारी रात उसकी पलकें खुली रहीं—धरती चारों ओर तेजी से घूमती रही।

सुबह वितस्ता कराहती हुई जागी तो देखा—बोतल के टुकड़े रद्दी की बोकरी में पड़े हैं। युवा-पुरुष का चित्र फटकर ज़मीन पर बिखरा है। चिरन्तन का अलबम भी कूड़े के ढेर में टूटा पड़ा है। चिरन्तन कमरे में नहीं है। उमके जूते पास ही पड़े हैं। शायद गुसलखाने गया है।

कल रात वह क्या कर बैठी। उसे स्वयं पर विस्मय हो रहा था। साथ ही पश्चाताप और दुःख भी। वह इतनी निर्लज्ज भी वह हो सकती है, उसने सोचा तक न था।

नहा-धोकर चिरन्तन नाश्ते की मेज पर भदई के बदले स्वयं ही प्लेटें सजा रहा था।

वितस्ता ने भागकर उसके हाथों से प्लेटें छीन लीं—“यह क्या कर रहे हैं!”

“क्यों?”

“क्यों क्या? आपको यह शोभा देता है।”

“शोभा क्या देता है, क्या नहीं।……छोड़ो भी।” एक गहरी साँस भरकर चिरन्तन ने कहा।

मेज पर दोनो चुप बैठे थे। वितस्ता लाज से सिर ऊपर न उठा पा रही थी, बातें करना तो दूर रहा। चिरन्तन भी गरदन झुकाए था—चुप।

“कल पागलपन में पता नहीं क्या कर बैठी।”

चिरन्तन सिप-सिपे चाय निगलता रहा।

“देखिए, मुझे माफ कर दीजिए!” बड़े कातर-भाव से तड़पकर वितस्ता ने



कहा—“जिस ढंग से आपको सुख मिले, वैसा कीजिए। आपकी खुशी से मेरी खुशी क्या अलग है! आपको यदि कुँवारी लड़कियों के साथ घूमने और शराब पीने का शौक है, शौक से पीजिए। मुझसे झूठ बोलने की क्या जरूरत। मैं तो कहती हूँ, जुबेदा या किसी और को, जो आपको अच्छी लगती है, यहीं बुला लीजिए। बाहर छिपकर मिलने से आपकी इज़्ज़त पर बट्टा लगता है। और बाहर के लोगों को कहने-सुनने का मौका मिलता है। मैं आपको कभी भी मना न करूँगी। आपकी खुशियों के लिए मैं सब-कुछ कर सकती हूँ—सब-कुछ...।” वितस्ता का गला भर आया।

चिरन्तन उसकी कुर्सी की पाटी पर बैठकर उसके माथे को चुपचाप सहलाने लगा।

“कल रात जो फोटो मेरे सिरहाने रखा था, जिसके गुस्से से आपने टुकड़े-टुकड़े कर दिए न, वह तो बिन्दो के भाई का था।” वितस्ता ने भर्राई आवाज में कहा—“कल उससे मॉगकर लाई थी। और वह लव-लेटर भी बिन्दो से ही कल लिखवाया था। आप जोनल-कमेटी की मीटिंग का बहाना बनाकर सिनेमा जाते हैं। यदि मैं भी कोई बहाना बनाकर किसी पर-पुरुष के साथ घूमने लगूँ तो आपको अच्छा लगेगा?” वितस्ता ने आँसुओं से भीगा मुख ऊपर उठाया—“लेकिन देखिए, मैं ऐसा न करूँगी। अपने पाँवों के पास थोड़ी-सी ठौर दे दीजिए। वहीं पर पड़ी रहकर ज़िन्दगी गुजार दूँगी। कभी उफ तक न करूँगी...।” वितस्ता जोर से फूट पडी।

चिरन्तन ने उसे बाँहों में समेटकर उठाया। उसका आँसुओ से भीगा मुखडा ओंठों से छुआ और अपनी हथेलियों में छिपा लिया।

□

## अभाव

चन्दे की कमी के कारण पाठशाला टूट रही है। लगे-लगाए ट्यूशन छूट रहे हैं। आगे क्या होगा—सूझता नहीं। इसी उधेड़बुन में उलझा, गली से गुजर रहा था। तभी पीछे से आवाज पड़ी—

“अये...पंडत...बाबू!”

चौककर मुड़ा। देखा—लाला लक्खीराम यानी कि लक्खी ताऊ सघन, सफेद मूँछों से ढके, पतले ओंठों को गोलाई से मोड़ते हुए, अपनी स्वाभाविक पैनी आवाज में पुकार रहे हैं।

“क्या मुझे पुकार रहे हैं ताऊजी...?” पायलागन कहते हुए हाथ जोड़कर मैंने पूछा।

“हाँ... हाँ...नहीं तोऽ!” भारी-भरकम डलिया-सी, घुमरैली पगड़ी सँभालते हुए बोले—“सुनते हैं, तुमारे दास भैया आए हैं!”

“नहीं तो ताऊजी!” सहज विस्मय से मैंने कहा—“दास भैया घर आते तो क्या आप तक नहीं पहुँचते! इधर तो उनकी चिट्ठी-पतरी भी मिली नहीं।”

“अच्छ...ऽ...ऽ!” लक्खी ताऊ ने अजीब ढंग की सूरत बनाई। तराजू में भर-भरकर फिर आटा तौलने लगे और सामने खड़े ग्राहक के खुले थैले में फटाफट गेरने लगे। उन्हें फिर मेरी उपस्थिति का भी भान न रहा—“अऽ ये लल्ला, कित्ता गुड़! ...धुली मूँग की दाल पाव भर! ...आट्टा गनेशी-छाप अपने ताई नहीं।...फोकटी का माल नहीं बेचते—समझे! अए, रामदीन के छोकरे! बट्टा उठा, बट्टा...!”

मैं चला गया।

लक्खी ताऊ के इकलौते बेटे बब्बन और हमारे दास भैया की कभी गहरी दोस्ती थी। दोनों एक-दूसरे के साथ-साथ पढ़े, बड़े और खेले थे। इसी कारण हमारे और उनके घरों में भी आना-जाना था। कहते हैं बब्बन भैया उगती तरुणाई में ही भगवान को प्यारे हो

गए। तब से लक्खी ताऊ दास भैया को और भी अधिक चाहने लगे थे। दास भैया जब भी घर आते, लक्खी ताऊ से मिले बगैर नहीं जाते थे।

पर, दास भैया भला कहां से आने लगे। अंधेरी, सँकरी गली के घुमावदार मोड़ों से गुजरता हुआ मैं सोचता रहा—घर की फिकर ही उन्हें होती तो इन पिछले तीन-चार सालों में एक बार भी घर न आते। पत्र भेजकर ही कभी खैर-खबर न लेते। बच्चे कैसे हैं। अम्मा कैसी हैं। आँखें देखती हैं या नहीं। बीमार तो नहीं रहतीं...। खाने को होता है या नहीं...। हम जीते हैं या मरते हैं। कभी भूलकर भी जानने की कोशिश न की उन्होंने...।

... और फिर अपना यह हाल। नौकरी का यह। कल का भरोसा नहीं—क्या होगा!

जी उचट-सा आया। पढ़ाने में भी मन लगा नहीं। किसी तरह दिन कटा। ट्यूशन का एक घण्टा पूरा किया। सदा की तरह उलझा-उदास घर लौटा तो देखा—साँझ धिर आई है। घरों में दीए जल चुके हैं। पर अपने कमरे में अभी तक भी अंधेरा है, रोज की तरह। अम्मा टिन की ढिबरी जलाए रसोई-घर में साग छौंक रही है। पप्पू जूतों की आहट सुनते ही, अंधियारे में भागता हुआ मेरी ओर लपका। पाँवों पर लिपटता हुआ बोला—‘अक्का!’

दास भैया का बेटा है—पप्पू। जो अभी तक भी तुतला-तुतलाकर बोलता है। कक्का के बदले अक्का कहता है।

मुस्कराने की असफल चेष्टा कर मैंने उसे बाँहों में उठाया और उसके धूल से ढके उदास मुखड़े को चूम लिया।

तभी अम्मा बोल उठी—“बिन्नु।” हाथ में भभकती ढिबरी लिए बाहर की ओर झाँकने लगीं, कुछ बुदबुदाती, बड़बडाती हुई। अम्मा को सुनाई और दिखाई कम देता है। दास भैया के बारे में सोचते-सोचते, कभी-कभी उन्हें न जाने क्या हो जाता है! यों ही अकारण उचककर बोल पड़ती हैं—बिन्नु।

ध्यान दिया नहीं मैंने। पप्पू को गोदी में लिए छज्जे की सीढियों की ओर बढ़ने लगा। तभी पप्पू ने अपनी नन्ही बाँहें मेरे गले में जोर से लपेट ली—अक्का।

देर तक टहलता रहा। कभी तारों की ओर, कभी दूर ऊँचाई तक फैले, अंधेरे से धिरे युकलिप्टस् के पेड़ों को ओर ताकता रहा।

“अक्का, हम घोला लेंगे।” पप्पू ने तन्द्रा भंग की।

“अच्छा।”

“अक्का, हम लाजा बेता हैं। लात को लोते नहीं...।”

“अच्छा।”

“दिदी कहती है अक्का, लोने छे लात लूथ जाती है।”

“...हाँ, रात रूठ जाती है...।”

“लात लूथती कैछे है अक्का?”

मैं क्या जवाब देता ! कुछ कहकर टालता हुआ चुप हो गया ।

पर पप्पू चुप न रह सका । क्षण-भर बाद फिर बोल उठा—“अक्का, हमाली पूछी बिल्ली का मुख काला है ।”

मैंने सहमति प्रकट की । सिर हिलाया—“हाँ, है ।”

“वह जूथ बोलती है न अक्का !”

“हाँ ।”

“दिदी कहती है जो जूथ बोलता है, उछका मुख काला होता है ।……मैं जूथ नहीं बोलता, न अक्का !”

“हाँ, तुम बहुत सच्चे हो ।” मैंने उसके रूखे बालों को सहलाया ।

“पूछी दूद पीती है अक्का !”

“हाँ, बहुत बुरी है पूसी । दूध पीती है न !”

“मैं भी दूद पियूँगा अक्का !”

“हाँ, तुम भी पियोगे…… ।”

“इत्ता-इत्ता पियूँगा ! छब पियूँगा ! छब !” उसने अपनी दोनों बौनी बाँहें फैला दीं ।

“हाँ, हाँ…… !” कहकर मैं मुँडेर पर जा बैठा । अभी तक भी निगाहें ऊँचे-ऊँचे दानवाकार युकलिप्टस के पेड़ों पर टिकी थीं, जो अब और घने और काले हो आए थे ।

पप्पू गोदी से उतरकर फर्श पर खेलने लगा । कोने में कुछ कोयले बिखरे पड़े थे, उन्हीं से हाथ काले करने लगा । थोड़ी देर बाद गोदी पर आ लपका । दोनों काली बाँहें जोर से गले में लपेटे मेरे मुँह की ओर ताकने लगा—“अक्का !”

बाँहों की छाप गले पर छूट गई । कमीज का कालर कालिख से पुत आया । रूमाल से यों ही पोंछ-पोंछकर फिर टहलने लगा । फिर मुँडेर पर बैठ गया ।

नीचे से तभी खाँसने का-सा स्वर सुनाई दिया । झुककर झाँका तो स्पष्ट कुछ दीखा नहीं । मेरे कमरे में अब धुँधली-सी दिबरी भभक रही थी । मटमैला प्रकाश था—धीमा । कुहासे से घिरा जैसा । ऐसे समय अम्मा रोज ही कमरे में दिया बाल देती हैं । फिर नई बात क्या !

मैं निश्चित बैठा रहा । अँधियारे में बैठा-बैठा न जाने क्या-क्या सोचता रहा !

तभी फिर खाँसने की-सी आवाज आई ।

पप्पू भी इस बार मेरे साथ झुककर देखने लगा ।

“अक्का, आज घल में कोई आया ।”

“कौन आया ?” मैंने उत्सुकता से पूछा ।

पप्पू चुप रहा ।

“कब आया ?”

“दिन में ।”

“कौ—न ?” मैंने और अधिक जिज्ञासा से दुहराया ।

उसने अपना नन्हा-सा सिर हिला दिया कि वह नहीं जानता ।

“तेरी दीदी कहाँ गई ?”

“दिदी !……खेलने, तित्मी के घल ।”

मैं उसका हाथ थामे जल्दी-जल्दी सीढ़ियों लॉघने लगा । अम्मा ने बतलाया भी नहीं, कौन आया है । शायद छोटे मामा होंगे । उन्होंने ही आने को लिखा था । और कौन होगा ?

तिरछे अधमुँदे किवाड धकेलकर होले से अन्दर घुसा । देखा—द्विबरी की ओर पीठ किए, कुर्सी पर पाँव फैलाए, गरदन झुकाए कोई बैठा है । आँखों पर चश्मा-सा है । सिगरेट का धुआँ छत की ओर उठ रहा है । “मामाजी तो सिगरेट पीते नहीं !……दास भैया चश्मा नहीं लगाते !……तो फिर— ।

मैं धीरे-से यों ही खॉसा । तनिक आगे की ओर बढ़ा तो देखा—दास भैया……सच ही दास भैया आँखें मूँदे बैठे हैं । होंठों पर सिगरेट अटकी है । मेरी उपस्थिति का रच-मात्र भी भान नहीं है ।

देखता रहा दास भैया की ओर—……आँखें गड्डे में धँसी हैं । दुहरा मोटा चश्मा नीचे की ओर झुका है । गोरा, दूध-सा धुला रंग उड़कर स्याह पड़ गया है । दाढ़ी दिनों से बनी नहीं । रूखे बाल सफेद हो गए हैं—कपास की तरह । पपड़ी लगे ओठ भिचे हैं । पलकें मुँदी हैं । सिगरेट अपने आप सुलग रही है । धुएँ की हल्की-सी लकीर ऊपर की ओर उठ रही है, हवा में काँपती ।

चाहकर भी दास भैया को जगा न पाया । दबे पाँव हौले से, कमरे से बाहर निकल पड़ा । दरवाजा फिर ढक दिया ।

दास भैया कभी कितने ठाट-बाट से रहते थे । मक्खनी-सिल्क की कमीज, नीली कार्ट्राई की पैण्ट, चमचमाते जूते, मुँह में कैप्स्टन दबाए, जिधर निकल पड़ते, लोग देखते रह जाते…… ।

वही दास भैया भिचे-भिचे, बुझे हुए, शरीर निचुड़ा हुआ । चेहरा दयनीय, कातर…… । कपड़े गए-बीते, मैले-कुचैले—सिकुड़े हुए ।……क्या ये वही दास भैया हैं ।—हड्डियों का ढाँचा मात्र । मन लाख मनाए, मानता न था ।

“अम्मा, तुमने बतलाया भी नहीं दास भैया आए हैं । वे तो सुना, मुबह ही आ गए थे, मेरे जाने के थोड़ी ही देर बाद ।” शिकायत के स्वर में अम्मा से जब पूछा तो वे कुछ भी कह न पाई । अम्मा की आँखे आज अधिक लाल हैं, अधिक भीगीं । यह ठीक है कि रसोई में धुआँ अधिक है, अम्मा को दिखलाई कम देता है, आँखों में पानी झरता रहता है, लेकिन…… ।

अम्मा की ओर देख न सका । लौटकर बरामदे में टहलता रहा । कमरे में तभी फिर खॉसने की आवाज आई । पप्पू को गोदी में थामे उधर बढ़ निकला ।

दास भैया जाग गए थे ।

क्षण-भर दोनों एक-दूसरे को देखते रहे। कोई कुछ न कह पाया।

“कब आए भैया ?” अनायास मुँह से निकल पड़ा।

दास भैया जैसे नींद से जागे। उचककर ऐसे देखने लगे, मानो स्पष्ट कुछ दीखता न हो।—“कौन, सु-शी ल।” उनके मुरझाए ओंठ फड़के।

“सुबह की गाड़ी से आए क्या ?”

“हाँ।”

“चिट्ठी भी नहीं भेजी। डाकिए की राह देखते-देखते थक गए....।”

“....”

“मामाजी का जवाबी पत्र मिला ?”

“हाँ।”

“अम्मा को इधर बुखार अधिक रहता है। दमा भी बढ़ गया है....।”

“....।”

“पप्पू सीढ़ियों पर फिसल पड़ा था। कलाई की हड्डी टूट गई। छोटे मामाजी ने अपने घर ले जाकर इलाज करवाया। यहाँ तो सरकारी अस्पताल में लाल पानी तक नहीं। प्राइवेट के लिए पैसे....।”

दास भैया कुछ भी बोल न पाए। केवल चुप देखते रहे।

कमरा सुनसान रहा।

पप्पू दोनों बाँहें कसकर लपेटे, सामने बैठे अजनबी की ओर जिज्ञासा से देख रहा था। नीना अपनी लम्बी धोती का पल्ला दाँत से दबाए, दरवाजे के सहारे खड़ी थी। उसकी माँ की कुछ बची-बचाई धोतियाँ हैं, जिन्हें अब वह इस्तेमाल कर लेती है।

“पप्पू पहचानता नहीं पापा को। तूने नमस्ते नहीं कहा ?” मैंने मौन भंग किया, बातचीत का सिलसिला टटोलने के लिए।

पप्पू सकपका-सा आया। एक बार उसने मेरी ओर देखा, फिर निगाहें नीची कर लीं।

कमरे में फिर अभेद्य सन्नाटा रहा, देर तक। भैया की अँगुलियों के बीच अटकी, आधी से अधिक सिगरेट जलकर राख हो गई। लम्बी राख की सफेद लकीर अभी तक भी गिरी न थी। पप्पू कभी मेरी ओर देखता, कभी सामने की ओर। नीना अँगुली में रस्सी की तरह बँटकर, धोती का पल्ला लपेट रही थी, पाँव के अँगूठे से बिना बात मिट्टी का फर्श खुरच रही थी।

“नीना, तू कहाँ चली गई थी ?” वह घुटन-भरा सन्नाटा सहा नहीं जा रहा था। अतः मैंने बड़ी ताकत लगाकर कहा, रूखे कण्ठ, सूखे स्वर में, “पापा आए हैं। साँझ के समय तो घर पर रहना चाहिए। देखो न, दिया भी देर से जला। शायद अम्मा ने जलाया होगा। नहीं तो अभी तक भी अँधेरा रहता।”

प्रत्युत्तर में नीना से कुछ भी कहा नहीं गया।

झोड़ी देर पश्चात् अम्मा ने चौके से आवाज लगाई तो उठकर चला गया।

“देख तो, बिन्नु को भूख लगी होगी ! सुबह भी कुछ खाया नहीं। रोटियाँ अभी बन रही हैं। तू बाद में खा लीजो, हाँ !”

नीना थाली लेकर आई तो एक बार दास भैया ने उसे पूरा देखा—सिर से पाँव तक। बोले कुछ नहीं। यों ही रोटी तोड़कर, निवाले निगलने लगे। बीच-बीच में गले से नीचे उतारने के लिए पानी का सहारा लेना भी न भूलते। ध्यान उनका रोटियों की ओर नहीं, खाने की ओर नहीं, न जाने कहीं और था।

दो-तीन रोटियाँ बड़ी मुश्किल से खाई होंगी। खाया-अनखाया कर, रूमाल से हाथ पोंछकर बैठ गए, और सिगरेट के कश खींचने लगे। अधमुँदी आँखों से छत की ओर उड़ते हुए धुएँ की मोटी-मोटी पारदर्शी काली लकीरों की ओर देखने लगे।

मैं खाने बैठा तो अम्मा अभी तक भी कहे जा रही थीं—बिन्नु ने सुबह भी नहीं खाया और शाम भी। खाना नहीं खाएगा तो तन्दुरुस्ती बनेगी कैसे ! तभी तो सूखकर काँटा रह गया है। रँग ही काला पड़ गया है। जब आया तो पहचाना तक नहीं। सच, बिन्नु को क्या हो गया है...।

इतने दिनों बाद दास भैया घर आए। लेकिन घर में कुछ भी परिवर्तन कहीं झलकता नहीं। वही रोज की उदासी। वही रोज का सूनापन। नीना वैसी ही चुप। पप्पू वैसा ही चुप। अम्मा अब बिल्कुल भी बोलतीं नहीं...।

लगता है इन तीन-चार सालों में दास भैया बूढ़े हो गए। चेहरे पर झुर्रियाँ घिर आई हैं। बालों में सफेदी। कमर झुकी-सी। शरीर सूखा-सा। खाते समय मैंने देखा हाथ की उभरी मोटी नसों के तार साफ झलक रहे थे। हड्डियाँ साफ दिख रही थीं। कपड़े भी ऐसे ही गए-गुजरे। बिस्तरा तक साथ नहीं। सच, दास भैया क्या करते हैं ?

मिट्टी से पुती, धुएँ से पीली पड़ी दीवारों की ओर देखता रहा। पप्पू गोदी में ही बैठा-बैठा सो गया है। नीना बाहर बैठी कुछ सिल रही है। अम्मा रात के जूठे बर्तन माँज रही हैं, खाँसती हुई। दास भैया गूँगे-से बैठे हैं। मैं बैठा हूँ।

गला साफ करते हुए दास भैया के भिंचे होंठ किंचित खुले—

“पप्पू स्कूल जाता है ?”

“हाँ।”

“तुम उसी पाठशाला में पढ़ाते हो ?”

“हाँ।”

“तुमने फिर प्राइवेट इम्तहान तो पास नहीं किया होगा न।”

मैंने सिर हिलाया—“नहीं !”

दो-चार ऐसी ही औपचारिक-सी उखड़ी-उखड़ी बातों के बाद दास भैया चुप हो गए।

सुबह उठकर देखा—दास भैया की चारपाई के नीचे सिगरेट के जले-अधजले टुकड़े-ही-टुकड़े बिखरे पड़े हैं। रात-भर वे करवटें बदलते रहे। एक बार उठकर छत पर भी गए। फिर लौटकर सोए नहीं। धुप अँधियारे में शोले की तरह सिगरेट की आग

कभी चमकती, कभी मद्धम पड़ जाती ।

पहले अम्मा रोज कहती थीं—“बिन्नु एक बार कभी घर आए तो उसके बच्चे उसे सौंपकर गंगा नहा लूँ। मुँआ, बुढ़ापे का भरोसा क्या ! किसी घड़ी आँखें मुँद गई तो इन सबका क्या होगा ! लेकिन उसे तो कुछ फिकर ही नहीं ! रत्ती-भर भी फिकर होती तो एक बार घर न आता । दो-चार पैसे भी कभी बच्चों के लिए नहीं भेजता ! परदेस कौन नहीं जाता, पर यों कलेजे पर पत्थर बाँधकर, भला कौन बैठता होगा !...ऐसे—पेड़े जैसे बच्चे !...वह है कि न जाने क्या विराग ले बैठा है ! किसी दिन जोग न ले ले... !”

अम्मा फिर मेरी ओर देखतीं—“एक तू है ! गुमसुम बैठा रहता है, ढेले की तरह ! चिट्ठी भी नहीं गेरता ! तू चिट्ठी देता तो क्या वह जवाब भी नहीं लौटाता ! बिन्नु को मैं जाने हूँ !...ऐसा निठोर तो कभी न था ! भला अपनी कोख की सन्तान के लिए... !” कहते-कहते अम्मा की आँखें निराधार शून्य पर अटक आतीं ।

फिर इधर थोड़े दिनों से अम्मा रट लगाए थीं—“बिन्नु का पता तू जाने है सुशील । मुझे पहुँचा दे । एकाध महीना वहीं कट जाएगा । सत्तो की काकी कहती थी कि उधर जमनाजी पास हैं । कभी नहा लूँगी—अपने बिन्नु के परसाद । कौन जाने वहीं मर गई तो जमनाजी में तो बहा ही देगा !...पर ऐसे धन्न भाग कहाँ !”

अम्मा के मस्तिष्क मे दिन-रात, सुबह-शाम, आठों-पहर दास भैया के बारे में ही विचार उमड़ते रहते । अम्मा की रुग्णता का कारण केवल दास भैया हैं । कितनी बार समझाया-बुझाया... !” मैंने, मामाजी ने । लेकिन फिर—बिन्नु... बिन्नु ।।

खाने के लिए चौके पर बैठता तो हर रोज अम्मा भाजी परोसती, रोटी बेलती, दाल छौंकती, बुदबुदाती रहतीं—“मैं मर जाऊँगी तो मेरे बिन्नु के बच्चों का क्या होगा रे सुशील... !” अम्मा फिर मेरी गम्भीर आकृति का भाव ताड़ जातीं । चुप हो जातीं । पर, दूसरे ही क्षण कह उठतीं—बिन्नु खाने का क्या करता होगा ! वैसे ही कित्ता लापरवाह है । लोग कहते हैं, गाँव-गाँव, घर-घर, घूमने-फिरने की नौकरी है । कौन जन्ने कैसा मुलक है ! कौन उसकी रोटियाँ सेंकता हांग । कौन देख-रेख करता होगा !...वैसा ही भूखा पड़ा रहता होगा ।...

और फिर आँखें पोंछती अनजाने दुहरा डालतीं—“क्या पता नौकरी है भी या नहीं । कहीं यों ही तो फिर नहीं करता बावग ।...कभी आए तो पूछूँ । लेकिन... !”

दाम भैया को आए अब इतने रोज हो गए, पर अम्मा ने एक बार भी पूछा नहीं, एक बार भी कहा नहीं । कितनी बार दास भैया के कमरे में जाती हैं, पर चुप लौट आती हैं । आँखें मूँदे फिर एकान्त में अपने-आप बड़बड़ाती रहती हैं । अकारण अपने से बाने वरती रहती हैं ।

हमेशा की तरह सुबह होती है, दिन ढलता है, रात घिरती है—साँय-साँय कर ! दास भैया जैसे आए, वैसे नहीं पाए । कोई बदलाव कहीं नहीं । वही उदासी !



वीरानी... !

पाठशाला की परीक्षाएँ अब समीप हैं। ट्यूशनो में भी इधर अधिक समय देना पड़ता है। सुबह निकल जाता हूँ तो सूनापन रहता है, घर पर! और रात को वही श्मशान की-सी उदासी!

दास भैया कितने दिनों की छुट्टियों में आए। अब तो काफी अरसा हो गया— मैं सोचता-सोचता एक दिन घर लौट रहा था। अन्दर पहुँचा ही था कि पप्पू भागता हुआ आया। पाँवों में जोर से लिपट पड़ा—“अक्का!”

मैंने उसे गोदी में उठाया ही था कि वह फिर चहका—अ-क्-का! उसका स्वर भीगा-सा था। सूरत उनींदी—रुलाई भरी।

“क्यों, क्या हुआ रे!” उसके बिखरे बालों को अँगुलियों से सँवारते हुए पूछा।

वह बोला नहीं। कन्धे में मुँह छिपाए चुपचाप रो पड़ा।

“क्या हुआ...?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

इस बार वह बोलने के बदले और जोर से फबक पड़ा।

“क्या हुआ...नीना! पप्पू को किसने मारा!—तूने!”

नीना बेसन से सने हाथ लिए, नंगे सिर, वैसी ही रसोईघर से बाहर निकल आई। “काका, हमने कुछ नहीं कहा।” क्षीण-स्वर में वह बोली—“सुबह सिगरेट के बिखरे टुकड़े बटोर रहा था। फिर चूल्हे से आग जलाकर, कोने में छिपा पी रहा था।...पापा ने धमकाया तो रोने लगा। सुबह से अभी तक इसने खाया नहीं। केवल अक्का, अक्का कहकर रोता है।...पापा ने कितना मनाया। पैसे दिए। लेकिन, इसने छुए तक नहीं।”

“अच्छा, तो यह बात है। हमारे पप्पू बेटा को हमारी गैरहाजरी में तुम सब लोग पीटा करते हो न! अब किसी ने हाथ उठाया तो बुरी बात होगी।...नीना, ला भैया के लिए रोटी...!” कहता हुआ मैं छत पर चला गया। पप्पू अभी तक भी सिसक रहा था गोदी में बैठा।

मैं रोटी खिला रहा था तो वह एकाएक उचक बैठा—“अक्का, उछने माला, उछने...अक्का!” पप्पू मेरे मुँह की ओर गुस्से से ताकता हुआ बोला।

“किसने मारा, हमारे राजा बेटा को...!”

“उछने...!” उसने नीचे कमरे की ओर इशारा किया, “उछने!”

“पापा बहुत बुरे हैं न! हमारे राजा बेटा को इस तरह मारा करते हैं।”

“पापा, बहुत बुले हैं अक्का!” वह फिर सिसक पड़ा। “हम लोती नहीं देंगे। दूद नहीं देंगे। वे बहुत बुले हैं! बहुत!” और जोर से वह रो पड़ा।

बड़ी मुश्किल से मनाया। रोटी खिलाकर फिर निकल पड़ा बाहर। एक ट्यूशन अभी और पूरा करना था।

दास भैया आज अभी तक भी लौटे न थे। सुना था सुबह निकल गए थे, बिना खाए ही। अम्मा अभी तक सुबह की रोटी सेकें बैठी थीं।

लौटा तो काफी रात हो गई थी। अम्मा बर्तन मॉज चुकी थीं। नीना बाहर खात

पर पढ़ती-पढ़ती, किताबों में माथा टिकाए ढुलक पड़ी थी। दास भैया के कमरे से बोलने की-सी आवाज आ रही थी। ढिबरी धुआँ उगल रही थी।

“तू हमारे साथ चलेगा ?”

“ना।”

“तुझे अब नहीं मारेंगे—हाँ !”

“..... !”

“नीना के साथ रोज स्कूल जाता है ?”

“हाँ।”

“नीना से झगड़ता तो नहीं ?”

“ना।”

“तुझे दूध मिलता है ?”

“.....ना .....।”

“अपनी मम्मी की याद नहीं आती कभी ?”

“.....।”

“कभी नहीं आती ?”

“.....।”

“कभी भी नहीं ?”

“.....।”

पिछली रात से आसमान घिरा है। सुरमई बादल अधिक घने नहीं हैं, फिर भी बरसने के आसार तो झलकते ही हैं। सुबह देखा कि कहीं-कहीं कुछ बूँदाबादी-सी हो रही है। पाठशाला की परीक्षाएँ प्रारम्भ हो गई हैं। घर में घड़ी नहीं। बादलों से ढके सूरज का भरोसा क्या।

जल्दी-जल्दी तन पर कपड़े डालकर जूते पहन रहा था। तभी, “सुसी-सुसी..... !” कहती अम्मा कमरे में चली आई।

“बिन्नु आज जाने को कहता है !” अम्मा की आवाज़ भराई थी।

“क्या आज ही चले जाने को कहते हैं ?” तनिक विस्मय से मैंने पूछा।

“हाँ ?”

“तो शाम की बस से चले जाएँगे। जल्दी क्या है। तब तक मैं भी लौट आऊँगा।”

“यही तो कह रही हूँ—मानता नहीं।” आहत-स्वर में अम्मा बोली, “कल बतला देता तो रास्ते के लिए चबैना बना देती। अभी के लिए कुछ खाना तैयार कर देती।.....लेकिन वह तो जिद पर है। भूखा ही चले जाने को कहे है !” अम्मा का स्वर आर्द्र था। आँखों में अजब-सी बेबसी ! अजब-सा सूनापन ! जो अब और भारी हो आया था।

तस्मे बाँधकर दास भैया के कमरे की ओर बढ़ा। लेकिन कमरा खाली था। फिर छत पर देखा। दास भैया धोती पहने, नंगे बदन, आँखें मीचे, मुँडेर पर बैठे दातुन कर रहे हैं। सामने पानी की बाल्टी है, लोटा, तौलिया है। लेकिन उन्हें सुघ नहीं।

“दास भैया...।”

दास भैया ने दातुन के छिलके थूकते हुए आँखें खोलीं। उनका चेहरा आज सच ही बहुत भारी था।

“शाम या कल सुबह की बस से जाकर नहीं हो सकता।...अम्मा कुछ चबैना बना देगी। भूखे जाना भी ठीक नहीं।...शाम तक मैं भी लौट आऊँगा। वैसे कल तो मेरी भी छुट्टी है।”

दास भैया मेरे मुँह की ओर ताकते रहे, फिर “अच्छा...s...।” नपा-तुला सक्षिप्त-सा उत्तर देकर चुप हो गए।

दूसरे दिन सुबह वैसे ही मिलवट-पड़े कपड़ों से ढके दास भैया तैयार खड़े हो गए। अम्मा ने पौ फटने से पहले ही जगकर रसोई का काम शुरू कर दिया। पप्पू भी खटर-पटर सुनकर आज और दिनों से जल्दी जाग गया था। नंगा ही चौके में घुसकर गुमसुम बैठा था। टुकुर-टुकुर बड़ी-बड़ी आँखों से सब देख रहा था। नीना, अम्मा का हाथ बँटा रही थी।

जहाँ तक बन सका अम्मा ने आज वे सारी चीजें बनाईं जो दास भैया को पसन्द थीं। रायता था, साबुत उरद की दाल थी, कुछ तले पापड थे, बडियाँ थीं—जिनमें दाम भैया के कारण नमक ज्यादा छोड़ा गया था। पर दास भैया ने दो-तीन टुकड़े मुश्किल से तोड़े...। वैसे ही खाने का स्वांग कर, हाथ धोए और बाहर आ गए।

कमरे में खड़े-खड़े छत की ओर न जाने क्या ताकते रहे।

दास भैया तैयार तो हो गए, पर जाने का खरचा है भी या नहीं। मैं बाहर खड़ा सोचता रहा। असमजस में डूबा कुछ भी निर्णय न कर पाया।

“दास भैया, पैसे हैं?” बड़ी मुश्किल से मैंने पूछ ही लिया।

सहसा मुडकर मेरी ओर देखा उन्होंने, “क्या तुझे चाहिए?” यों ही अधर खुल-से आए। पीले, फीके दाँत थोड़े-से चमके। फिर भिच गए।

मैं हँस पड़ा। “नहीं तो।...मेरा मतलब खरचे से है। आपके जाने के...।”

वे कुछ बोल न पाए। खड़े देखते रहे। सोचते रहे। फिर मेरी ओर देखते हुए, खिसियानी भरी मुस्कान होंठों पर लाने की चेष्टा करते हुए बोले—“तेरे पास हैं कुछ पैसे। शायद कम पड़ेंगे।” दास भैया बड़ी मुश्किल से कह पाए—इतना मात्र। चेहरा अबोध बालक की तरह था—निर्विकार, शान्त, सहमा हुआ।

ट्यूशन से मिले बीस रुपए बचे थे। जो राशन वाले के लिए रख छोड़े थे। वे ही दो नोट मैंने सन्दूक से निकालकर आगे बढ़ा दिए।

“घर खरचे के लिए कम पड़ेंगे...तो।”

“नहीं, नहीं। खरचा चल जाता है। पैसे और हैं।” टालते हुए मैंने कहा। और

कहता भी क्या !

दास भैया की आकृति में अजीब-सी द्विविधा का भाव था। मानों वे सब-कुछ जानते हों।

“तुझे जरूरत पड़ेगी तो…… !”

“जरूरत के लिए और धरे हैं।”

“मुसीबत पर…… !” दास भैया कहते-कहते चुप हो गए।

बड़ी देर तक उन दो नोटों को हथेली में थामे रहे। फिर जेब में डालने लगे तो हाथ कॉप-कॉप आया। बड़ी देर तक जेब में ही अटका रहा हाथ। जैसे चिपक गया हो।

घर के आँगन के पास ही बस का अड्डा है। दास भैया बस की खिड़की से बाहर की ओर मुँह किए बैठे हैं। पप्पू, नीना का हाथ थामे बिजली के खम्भे के सहारे खड़ा सामने की ओर देख रहा है। अम्मा के माथे पर सन-से सफेद बाल उलझे-बिखरे हैं। जिन्हें वे फटी धोती से समेटने की कोशिश कर रही हैं।

कोई कुछ बोलता नहीं। होंठ सिए सभी खड़े हैं।

देखते-देखते गाड़ी की घरघराहट शुरू हुई, बढ़ी और फिर पहिए घूमने लगे। अम्मा का धीरज टूट गया, अपने को रोक न पाई। लपककर आगे बढ़ीं—“बिन्नी, चिट्ठी दीजो—हाँ।”

दास भैया कुछ कह न सके। आँखें मींचते हुए उन्होंने मुँह फेर लिया।

आज सारे दिन अम्मा उदास रहीं—बेहद उदास! रात को पढ़ाकर लौटा तो बड़बडाती हुई शिकायत किए जा रही थीं। कहे जा रही थीं—“जल्दी में चबैना भी भूल गया बावला……।” उसे तो खाने की भी सुध नहीं।……पता नहीं क्या नौकरी करता होगा……।” अम्मा का गला भर आया। तार-तार फटी धोती के पल्ले से आँसू पोंछती हुई बोली—“……मैंने तो मना किया। लेकिन ज़िद्दी मानता न था।……कित्ता कहा, खर्च के लिए कम पड़ेंगे।……परदेस का मामला है।……पर माना नहीं।……कहने लगा—‘मैं तो कुछ लाया नहीं।……मन मानता न था। क्या करता।……वैसा ही रीता चला आया……पर……ये तू रख ले।……बच्चे कभी रार मचाएँगे।……रोएँगे।……रूठेंगे।……किसी चीज़ के लिए हठ करेंगे तो तू क्या देगी।…… कहाँ से देगी…… ! !”

अम्मा के झीने आँचल से आँसुओं का वेग थम न पाया। अपनी मुट्ठी में भिचे दस-दस के दो नोट उन्होंने आगे बढ़ा दिए।

□

## नई बात

जब कहीं ब्याह की बात न चली, दरजा दस तक पढ़ाने-लिखाने के बाद भी सार्थकता सिद्ध न हुई और विवश होकर घर बिठलाना पड़ा—और घर बैठे-बैठे भी बदनामी होने लगी तो चन्द्रा बल्लभ उपरेती ने अपनी बहन केती को पहाड़ से दिल्ली भेजने को लिख दिया।

गर्मियों के दिन थे—तपते। भरी दुपहरी। लू के थपेड़ों के बीच, इक्का-दुक्का साइकिल-सवार हॉफता हुआ विनयनगर 'मेन-मार्किट' की ओर गुजरता दीखता।—और आसमान में कोई चील मँडराती, कौवे काँव-काँव कर, गन्दी नालियों में सूखी चोंच डुबोते तो—एक गर्मी में लिपटी, धुंधली उदासी चारों ओर बिखर जाती...।

चन्द्रा बल्लभ उपरेती धनुष की डोर की तरह, गले में जनेऊ डाले, मात्र अण्डर-वियर पहने, अपनी जाल जैसी गूली, ढीली बॉस की खटिया पर गिरा—'कमेटी' का हिसाब जोड़ रहा था।

इस अगले महीने की पहली को सेवानगर, नीतबिष्ट के क्वार्टर में 'कमेटी' थी।—चन्द्रा बल्लभ 'गुरु' कहलाने, तथा गत माह से, दफ्तरी से तरक्की पाकर, जूनियर-क्लर्क होने की वजह से 'सिकरेटरी' था। उसे अपना हिसाब हयातसींग को नियत समय पर सौंपना था ताकि मीटिंग ठीक से चल सके। किन्तु सवा-तेरह आने का जोड़ मिलता न था। इसलिए बार-बार वह अपने छोटे-से कपाल पर पेंसिल का कुन्दा ठोक रहा था।

चार-मरियल बच्चों की माँ, उसकी धरम-पत्नी—गोबिन्दी, जिसके गोरे गालों पर 'छोए' पड़ गए थे, जिसकी गोदी पर लिपटा, पसीने से नहाया नंगा बच्चा, दूध झिंझोड़ रहा था—ऊँघ रही थी।

तभी बाहर गली पर हॉक की-सी आवाज आई।

अचकचाते हुए उसने सुना—कोई 'चंद्रा बल्लभ' पुकार रहा है।

जाफरी के छेदों से झाँका, एक ताँगा रफ्ता-रफ्ता मोड़ पर मुड़ता, रुकता दिखलाई

दिया ।

देखते ही आँखें फैल-सी आई उसकी—“द, वे’ हमारी केति जैसी !—देखो तो हो !” मछली की तरह आँखें पति पर से फिसलकर नीचे की ओर डूब गईं ।

चन्द्रा बल्लभ हाथ का कागज हाथ में थामे, मुनीमों की तरह पेन्सिल कान में खोंसकर, हड़बड़ाता हुआ खड़ा हुआ । अजीब-सी उत्कण्ठा से काठ की स्लेटी रंग की जाफरी के वर्गाकार छेदों के बीच—दोनों हाथों की अँगुलियों का गोल घेरा बनाए इस तरह देखने लगा, जैसे छोटे बच्चे दो-दो पैसे में बाइस्कोप के बक्स के भीतर झाँकते हैं ।

ताँगे की अगली सीट पर, ताँगे वाले की बगल में, धोबी के गड्ढर की तरह केतकी बैठी है । पिछली सीट पर तुल कका पाँवों को सीट पर समेटे, सहमे-से पाल्थी मारे बैठे हैं ।

ताँगे वाला केतकी का हाथ पकड़कर बड़े जतन से उतार रहा है । कहीं गिर न पड़े ! ‘बेटी’ कहकर उसकी पीठ पर हाथ फेर रहा है ।

चन्द्रा बल्लभ को यह अच्छा न लगा । वह तेजी से नीचे उतरा । हिकारत की नजर से ताँगे वाले की ओर देखा । पैसे चुकाकर मुँह काला किया ।

चन्द्रा बल्लभ ने फिर कका को प्रणाम किया—चरण छूकर । फिर कुतुबमीनार की तरह खड़ी केतकी को देखा—जो अब पहले की तरह बच्ची नहीं, भरी-पूरी औरत-सी लगती थी ।...उसने पाँव छुए तो उसे अजीब-सा लगा ।

दोनों मोटे-मोटे हाथों में, मोटी-मोटी लाल चूड़ियाँ । विशाल माँसल शरीर पर छोटी-सी धोती—टखनों के ऊपर तक उठी । बड़े भदे ढंग से पहनी—शहर में ऐसे थोड़े ही पहनते हैं !

चारपाई पर पसरते हुए कका ने अपनी मैली-कुचैली, फटी गरम-टोपी बड़े गौरव एवं आत्म-विश्वास के साथ उतारी और अपने ऊपर उठे घुटने पर रखी—

“दिल्ली स्वरग है यार चन्द्रा ! तुम लोगों के पिछले जनम के करम हैं । हमने तो पहाड़ के खड्ड में पड़े-पड़े उमर बिता दी । तेरे परसाद आज यह दिन भी देख लिया हो... ।”

चन्द्रा बल्लभ ने धन्यता अनुभव की ।

“आप थक गए होंगे कका... ।”

“न हो, मुझे तो मुरादाबाद से किसी के बक्स के ऊपर बैठने को ठौर मिल गई थी । पर हमारी केति परेशान रही । गाड़ी में कभी चढ़ी नहीं थी—माँच लगता, सिर घुमाता था—उस पर भीड़ के रेल-पेल में दबी रही । आदमी पर आदमी था । यहाँ उतरते समय कहती थी—‘हाड़ दुःख रहे हैं कका... ।’ मिलटरीवालों से डब्बा खचाखच भरा था... ।”

कका ने अपने दोनों पाँव दूर तक तनकाए । दसों अँगुलियाँ एक-दूसरे पर कैची की तरह फँसाकर, सिर के नीचे पट्टी की तरह तानकर रख दीं—

“अपने गंगादत्त की लड़की का कुछ पता चला हो। सुना दिल्ली में थी ?”

“कमलु'का डराईभर कहते थे....।”

कका ने घर की तरफ की बहुत-सी बातें बतलाई। यह भी कहा कि मिलटरीवालो ने रानीखेत के पास एक औरत के साथ बदफेली की। औरत बच्चे पर थी—भर गई।....सरपंच हम लोगो के धड़े से बाहर है। एक दिन कुल्हाड़ी उचाकर हमें मारने को आया था....।

चन्द्रा बल्लभ माथा हिलाता रहा चुप। केतकी खिलखिलाती-हँसती अपने छोटे भाई सदिद्या को इतने जोर से चूम रही थी कि उसे बीच में टोकना पड़ा....।

शाम को भोजन के लिए, तुल कका जब कपड़े उतार, धोती पहनकर, चौके पर बिराजे तो उन्होंने पहाड़-पुराण की बातों का टेलीप्रिण्टर फिर खोल दिया—

“गाँव-गाँव में मोटर-सडक बन गई है हो। बलौक वाले भर गए हैं। हमने भी अपने घर के दो कमरे किराए पर लगाए हैं—चौदह रुपए पर। तीन बलौक बाबू रहते हैं...। कभी-कभी घर में ही खा लेते और रात को समय मिलने पर हमारी केति को भी पढ़ा दिया करते थे।—वे बिचारे न होते तो केति, दस साल में भी दफा दस पास न कर पाती। अपने हाथ से कलम पकड़-पकड़कर लिखना सिखाते। अपने पैसे से किताब कलम खरीद कर लाते। उस अल्मोड़िया बाबू ने तो बड़ी मदद की। केति जाने और वह जाने, जब देखो पढ़ाने में। हमारे इधर आती बेर कहता था—‘केति को दिल्ली न ले जाओ हो चचा, यहीं पराइभेट पास करवाकर बलौक की नौकरी में लगा देंगे। खूब तरक्की करेगी। खुश रहेगी। जैसी हमारी बहिन है, वैसी यह भी है....।’

“हमने सोचा केति दिल्ली जाएगी तो हमारी आनन्दी का भी सुधर जाएगा। वह भी पढ़ लेगी। बिना पढ़े अब शहरो की तरह गाँव-घरो में भी वर मिलना मुश्किल है। जमाना ही बदल गया हो चन्द्रा।”

आनन्दी, चन्द्रा बल्लभ के तुल कका परमानन्द की बड़ी बेटी है। तुल कका को उसके भविष्य की भी चिन्ता है।

“हमारी आनन्दी भी अब सयानी होगी...।” रोटियाँ बेलती गोबिन्दी ने घुँघट की ओट से कहा।

“द, न पूछोऽ। इस पाँच गते पूस को उसे सत्रह पूरे हुए हैं। लेकिन लगती ज्वान-जमान है। हमारी केति से इक्कीस होगी, उन्नीस नहीं...।”

“पढ़ती है न !”

“फराफर पढ़ती है। पटवारी-पेशकार आते हैं तो उनके सामने बैठती है। बातें करती है।” कका घासलेट से चुपड़े फुलके एक के बाद एक निगलते रहे।

चन्द्रा बल्लभ अपनी ओर से अधिक नहीं, किफायत से बोलता है। वह भी आज धोती लपेटकर चौके पर बैठा है। नहीं तो तुल कका घर जाकर धरम-डूबने की बात कहकर बदनामी करेंगे।

“हाइ-इसकूल खुलने से गाँव में बड़ी तरक्की हो रही है।—जसोधर घर से लौटने पर सुना रहा था।” चन्द्रा बल्लभ ने कुछ कहने के लिए कहा।

“तरक्की-वरक्की तो क्या होती। यार, शहरों की तरह गाँवों में भी ‘लोफर’ भर गए हैं। गुण्डा-गर्दी मच रही है।...ग्राम-देवियों के तो किस्से ही और हैं...!” कका ने सेर-भर का लोटा सिर से दूर ऊपर तक उठाया और झरने की-सी लम्बी धार गटा-गट गले में गेरते रहे। एक ही साँस में लोटा रीता कर दिया। फिर भीगी मूँछों को पोंछते हुए निवाले तोड़ने लगे।

“तेरी चिट्ठी जब पिछले दिन आई तो हमने गाँव में भेली बाँटी। सब कहते थे—औलाद हो तो ऐसी हो। सेरा-वालों का लड़का होनहार निकला। दफ्तरी से किलर्क हो गया। पटवारी के बराबर तनखा पाता है। कुर्सी पर बैठकर कलम चलाता है...।”

अपने ‘होनहार’ होने की बात सुनकर चन्द्रा बल्लभ मन-ही-मन बहुत मगन हुआ। उसकी पत्नी का चेहरा भी एकाएक खिल उठा। भले ही ऑफिस में अभी तक भी वह पहले की तरह चिपियाँ ही चिपका रहा था—किन्तु लोगों के बीच एक आदर का स्थान तो बन ही चुका था।

वह सचमुच मोम बन गया अब। खुशामद के लहजे में बोला—“कका, आपने तो कुछ खाया नहीं। आहार कम हो गया क्या?”

“आहार-वाहार तो ठीक ही है बेटा।” कका ने परम-विराग से कहा—“पर अब शरीर में सुस्ताई जैसी आ गई है हो। कसी-कुदाली चलाई नहीं जाती। जजमानी से जमता क्या है। नोन-तेल का भी पूरा नहीं पड़ता। इन कन्याओ के ऋण से उऋण हो जाता तो जगन्नाथजी का पुन्न मिल जाता।”

तुल कका ने पाषाण-शिला-सी बैठी केतकी की ओर देखा। जिसे अभी तक भी रेल के धक्के लग रहे थे। जो अभी तक सारी वस्तुओ को अचरज से देख रही थी।

“केत, कैसी लगी दिल्ली?” कका ने खाने के बाद हाथ पोंछकर, सींक से दाँतों को कुरेदते हुए पूछा।

केतकी बत्तीसी दिखलाकर, फीं-ई-ई कर हँस दी।

नींद न आई चन्द्रा बल्लभ को। ‘कमेटी’ का हिसाब छू-मन्तर हो गया था। अब समस्या थी—केतकी की। उसने उमग में आकर दिल्ली आने को लिख तो दिया था, पर यहाँ आकर कौन-सी समस्याएँ उठ खड़ी होंगी—सोचा न था।

चपरासियों के क्लास-फोर क्वार्टर में एक जाफरी वाला कमरा लेकर पिछले सवा साल से गुजारा कर रहा था। दूसरे में कोई रोहतक की तरफ का छड़ा था—अकेला। अब एक ही कमरे में सात आदमी कैसे रहेंगे। छड़े के साथ कैसे निभेगी! कहीं कुछ बात हो गई तो—जमाना बिगड़ चुका है। किसी का भी ईमान नहीं...।



सुबह नहा-धोकर टुल कका ध्यान में बैठे। चन्द्रा बल्लभ राशन व दूधिए का हिसाब जोड़ता रहा। आने वाले महीने में गुजारा मुश्किल था, उस पर टुल कका के आने-जाने का खर्चा—सो अलग।

वह सोचता था 'कमेटी' से कुछ पैसे निकाल लेगा। परन्तु सत्तर का पिछला बकाया गत तीने महीने से उतर न पाया था।

“हँ हो, चन्द्रा बल्लभ !” पूजा के आसन से उठने के बाद टुल कका को जैसे कुछ सहसा याद आ पड़ा—“यहाँ सुना है पुतलीघर है ! तेरी काकी के घाघरे के लिए दस-बाहर गज किरप तो मिल ही जाएगी न !”

चन्द्रा बल्लभ ने सिर हिलाया—केवल।

चाय का हाथ-भर लम्बा गिलास कका ने होंठों से लगाया—“यार, कुछ कपड़े-वपड़े सिलवा देना हो—हमारी केति के लिए—देसी फैसन के। वहाँ समय ही नहीं मिला। फिर गॉव-गिराम में मिलता भी तो महँगा है ! दुकानदारों ने 'लुट्यौल' मचा रखी है। जितना मुँह में आया, उतना दाम कह देते हैं।”

कका ने चाय के साथ बीड़ी भी सुलगा ली—“पहाड़ में जुलम अकाल पड़ा है हो चन्द्राऽ। एक समय खाने को भी रासन नहीं मिलता। लोगों को लाज रखना कठिन हो गया है। चीनी की बात तो दूर रही, लोगों को बीमार के लिए बॉस-मिसरी तक मुहय्या नहीं है...। तू अब कुछ घरवालों की मदद कर हो...।”

चन्द्रा बल्लभ पाठशाला के विद्यार्थी की तरह हर बात पर सिर हिलाता है।

शाम को साइकिल घसीटता, 'कमेटी' की मीटिंग के बाद घर लौटा—बेहद हारा-थका।...कका छोटे लच्छू को लिए 'मारकीट' गए हैं। अभी तक लौटे नहीं। केतकी बाहर चारपाई पर मगरमच्छ की तरह लेटी है।

“इसके लच्छन भले नहीं होऽ।” गोबिन्दी ने पति के कानों में फुसफुसाते हुए कहा।

“क्यों ?” साश्चर्य चन्द्रा बल्लभ ने दे जा।

“इमकी बक्सा में चिट्ठियाँ-ही-चिट्ठियाँ भरी पड़ी हैं। पता नहीं किस-किस की ! बेशरम बात लिखी है...।”

चन्द्रा बल्लभ ने कुछ कहा नहीं। किंचित आगे सरक आया—“किसकी हैं ?”

“क्या पता ? मुँह-जले बलौक वालों की होंगी ! इसकूल के मास्ट्रों की होंगी। बनिए की गुल्लख की तरह बक्सी भरी पड़ी है...।”

जमीन धंसने लगती है—उसके पाँवों स।

“सुनो तोऽ...।” वह और पास आई—“कैसा बेशरम जमाना हो गया है ! किसी से कहना नहीं...।”

एक अजीब-सी स्थिति हो गई चन्द्रा बल्लभ की। यह सब जानने-सुनने को वह तैयार न था। एकदम गूँगे की तरह सॉस रोके चुप रहा। पत्नी को इस मामले में बढ़ावा

देना उसे ठीक न लगा।

“वहीं किसी के पल्ले बाँध देते—गुपचुप। यहाँ बदनामी हो गई तो फिर कहाँ जाएँगे! डूब मरने को भी ठौर न रहेगी! परदेस का मामला ठहरा...।” चिन्तित-भाव से, सयानेपन के साथ कहकर, गोबिन्दी चुप हो गई।

देर तक सन्नाटा रहा। कुछ टटोलते-खोजते हुए चन्द्रा बल्लभ ने पत्नी की ओर देखा—“तू तो दिन-भर यहीं रहती है, अपनी निगाहों पर रख। बदनामी कैसे होगी।”

“क्यों?” पत्नी की पलकें फैल गई—“दिन-भर मैं भेड़ों की तरह इन्हीं की रखवाली करूँ। सारा दिन खिड़की पर बैठी, बाहर-भीतर आती-जाती, ताक-झाँक करती रहती है। यह मुसण्ड। (उसने दीवार की ओर इंगित किया। उसका तात्पर्य छड़े पड़ोसी से था)—आज दोपहर को ही छुट्टी लेकर घर आ गया था। तब से वह जाने या यह! दरवाजे पर खूँटे की तरह गड़ गई है।...मैं किसी काम से बाहर जाती हूँ तो वह लपककर कागज की गोली फेंकता है और यह खिच्च-से हँस देती है...।”

अपने निर्लज्ज पड़ोसी पर चन्द्रा बल्लभ को बेहद गुस्सा आया। पर शान्तभाव से पानी की तरह पी गया। अँगीठी के कोयले से बीड़ी सुलगाता—वैसा ही रोज की तरह अण्डर-वीयर पहने बैठा रहा।

चन्द्रा बल्लभ को आता केतकी ने देखा था, पर वह वैसी ही पड़ी रही। लेकिन देर तक भैया-भाभी को गुप-चुप बातें करते सुन उसे न जाने क्या प्रतिक्रिया हुई...बाल बिखरे, आँचल बहाए, बरगद के पेड़ की तरह, वह आँखें मलती खड़ी हो गई। •

दोनों अब चुप थे।

“ददा, कल अपने औफिस से आठ-दस लिफाफे ला दोगे न।”

“क्यों?”

“हमारे पड़ोस में जो वे भारतनन्दन, बलौक-बाबू रहते हैं न, उनकी दुल्हेणी को चिट्ठी लिखनी है। दिल्ली आती बेर कहती थीं—‘लली, वहाँ पहुँचने पर कम-से-कम चिट्ठी गेर कर ही याद कर लेना...।’ भारतनन्दन बाबू कहते थे—जाडो में, छुट्टियों में दिल्ली आऊँगा तो तुम्हारे ही घर पर रुकूँगा।...भारतनन्दन बाबू बहुत अच्छे हैं। तुल कका को बड-बौज्यू कहकर पुकारते हैं।”

रेल के इजन की तरह, चन्द्रा बल्लभ भक्-भक् बीड़ी फूँकता रहा।

केतकी के ब्लाउज में एक छोटा-सा पेन लगा था। चन्द्रा बल्लभ ने यों ही पूछा—“यह कहाँ से आया?”

“मेरा है।” खिल-खिल हँसती केतकी बोली—“गुसाई राम मास्टर जी ने इनाम में दिया है। कहते थे—इससे जो भी लिखता है, पास हो जाता है। मैंने भी इसी से लिखा था, तभी तो पास हुई।”

तुल कका पूरे छ दिन रुके—आज जाता हूँ, कल जाता हूँ करके। अपने लिए बास्कट का कपड़ा, छतरी और चन्दर की काकी के लिए बारह गज क्लिरेप का कपड़ा ले जाना भी न भूले। पूरा फेरी-वालों का-सा गटट्टर बनाकर चलने की तैयारी करने लगे।

‘हाँ हो चन्द्रा, यहाँ अल्मोड़ा के हमारे तिवाड़ी वकील साहब के लड़के भी रहते हैं। सुना अफसर हैं। उनकी सोहबत में रहा कर यार...।’

“....।”

फिर कुछ रुककर सोचते हुए बोले —“गाँव में रैंजर ने जुलम मचा रखा है हो। लोग कहते हैं तेरी दिल्ली में बड़ी पहुँच है। हो सके तो उसका भी कुछ बन्दोबस्त करवा देना हो...।”

चन्द्रा बल्लभ ‘बन्दोबस्त’ करवाएगा या बन्दोबस्त नहीं करवाएगा—कुछ नहीं कहता।

तुल कका को कुतुबमीनार, बिरला-मन्दिर सबके दर्शन कराके चन्द्रा बल्लभ बड़े स्टेशन तक छोड़ने जाता है। जाते-जाते भी कका कर्तव्य का बोध कराते रहते हैं—

“...केति, दुरली और आनन्दी का भार तेरे ऊपर है। उनके लिए वर की तलाश करते रहना।...घर-खरचा भेजना हो।...अपनी काकी के लिए खॉसी की एक बोतल और मेरे लिए जाड़ों में पहनने के लिए एक काली उन्नी वास्कट...।”

जब तक रोशनी हरी न हुई, सीटी न बजी, खुट-खुट पहिए न घूमने लगे, कका प्रवचन देते रहे—“चन्द्रा बल्लभ, हो सके तो केति को कुछ और पढ़ा-लिखा देना ! उसका जनम सुधर जाएगा। तुम्हारे पड़ोस का लड़का बडा होनहार है—बीए० ऐमे० तक पढ़ा लिखा। कहता था ‘केतकी को मैं पढ़ा दूँगा।’...मैं पढ़ाने की बात पक्की कर आया हूँ...।”

चन्द्रा बल्लभ घर लौटने लगा तो उसके पाँव कॉपने लगे—न जाने उसके कानों में फुसफुसाकर गोबिन्दी आज कौन-सी नई बात कहेगी।



## दंशित

भले ही लोग कहते रहें कि ददा मरे नहीं, लड़ाई में मारे गए—शहीद हो गए— पर बाबूजी का घायल मन, किसी दूसरी ही दुनिया में पर-कटे पंछी की तरह छटपटाता रहता है।

“इन्दर, आज क्या बार है बेटा ?” घर में अम्मा-बाबूजी मुझे इसी नाम से पुकारते हैं।

“मंगल है, शायद।”

“तुम्हारे ददा को गुजरे कितने महीने हुए ?”

मैं उँगलियों पर हिसाब लगाता हूँ। कुछ जोड़ता हूँ। कुछ घटाता हूँ, “बरस पूरा होने में अभी दो-ढाई महीने हैं शायद…… !”

“हँ, दो 5 ढा 5 ई…… !” बाबूजी के रूखे होंठ खुलते हैं। वे इस तरह देखते हैं कि मैं कहीं गलत तो नहीं कह रहा।

तभी पराग अखबार नोचता है।

“इससे जहाज बना दो न अंकलजी। हम इसमें बैठकर पापा के पास बोमडीला जाएँगे।”

मैं कुछ उत्तर नहीं देता तो वह बछिया की जैसी बड़ी-बड़ी निरीह आँखों से मेरे उदास चेहरे की ओर ताकता है।

“आप भी लरने जाएँगे न अंकलजी।” वह सिर हिलाकर पूछता है।

“हाँ……।” मैं यों ही कह देता हूँ।

वह कमीज की आस्तीन से नाक पोंछता है, फिर आँखें मिचमिचाता है, “आपको तो गुम्सा नहीं आता। फिर कैसे लरेंगे ? हँ अंकलजी !”

मैं मक्खन के गोले को अपनी दोनों हथेलियों के बीच भरता हूँ……पास खींचता हूँ। उसकी छोटी-सी पतली नाक के दो हल्के-से छोटे छेद ऐसे लगते हैं जैसे दियासलाई की बारीक नोक से अभी-अभी चुभोकर बनाए हों।

मैं उसे जूठा करूँ, इससे पहले ही वह उछलता है। चला जाता है। पर मैं उसी परिधि पर फिर-फिर घूमने लगता हूँ।

हाँ, पराग ठीक कहता है। मैं लड़ाई में नहीं जा सकता। मुझे अब गुस्सा नहीं आता। कभी-कभी मैं स्वयं भी सोचता हूँ, मुझे गुस्सा क्यों नहीं आता है।

नदी के किनारे बिखरे पत्थरो की तरह मुझे असंख्य सपाट आकृतियाँ दिखलाई देती है। पर एक भी ऐसी नहीं, जिससे अकारण लड सकूँ, झगड़ सकूँ, मन की सारी बातें जिस पर उँडेल सकूँ।

मेरी रीती आँखें, तब प्रकाशविहीन मर्च-लाइट के हण्डे की तरह निरर्थक चारों ओर घूमती हैं। फिर अधमूँदे दरवाजे पर ठिठक पड़ती हैं।

एक गूंगी-सी, गहरी परछाई दूर कहीं से आकर ठहर जाती है। सीपी जैसी चौड़ी पलकें खोले मेरी ओर देखती है।

“नीरेन’दा।” बच्चों की भाँति वह पूछने लगती है, उमर में इतनी बड़ी होकर भी, “आप इस अँधेरे कमरे में अकेले क्यों बैठे रहते हैं?”

मैं कुछ कह नहीं पाता।

“घूमने से तन्दुरुस्ती अच्छी रहती है न।”

मुझे ख्याल आता है—हाँ, वह ठीक कह रही है। मैंने भी हाईजीन की, कोर्स की किताब में पढ़ा था—शायद घूमने से तन्दुरुस्ती अच्छी रहा करती है।

“आप कहते थे न।” वह अजीब-सा मुँह बनाकर, दुपट्टे का छोर अँगुलियों में लपेटती है, “आप कहते थे न, अगले जाड़ों में स्कूटर खरीदेंगे। एक भूरा-सा सूट सिलवाएँगे। एक छोटा-सा सुंदर घर बनाएँगे जिसमें नीले-नीले परदे होंगे। एक नया नीला सोफा-सेट होगा, पर्दों की तरह जिसकी गदियों का रंग भी एकदम गहरा नीला होगा। एक खूबसूरत खूब गाने वाला रेडियो... और... और...”

“और कुछ नहीं।”

“कुछ भी नहीं?” वह विस्मय से देखती है।

“हाँ...।”

उसके माथे पर रेशम की लकीरों की तरह हल्की-हल्की सिलवटें पड़ जाती हैं। दबे गुस्से से वह घूरकर देखती है, “झूठे कही के। विद्या कसम कहो। नहीं कहते थे...।”

“क्या नही कहता था?”

“क्या नहीं कहता था।” वह मुँह बिगाड़ती है, “तुम झूठे हो। नहीं कहते थे कि एक बड़ा-सा पिजडा होगा। उसमें एक मुनिया होगी, एक गौरैया होगी, एक छोटी-सी खूब बोलने वाली, चीखने वाली और काली-काली मखमली मैना होगी और एक मेरे बराबर बड़ी गुड़िया—जिसकी मेरी जैसी आँखें, मेरे जैसे दाँत...।”

कहते-कहते एकाएक वह चहक उठती है। ताली पीटती हुई किलकती है, “नीरेन

दा, सच्ची आप बूढ़े हो गए। आपके सारे बालों पर सफेदी बिखर रही है। मैं सबसे कह दूँगी।" वह ही-ही-ही हँसने लगती है।

मैं उसके बया के घोंसले जैसे उलझे बालों को नोचता हूँ, "जंगली कहीं की! अभी तक अकल नहीं आई! इतनी बड़ी हो गई—बिजली के खम्भे से भी ऊँची?"

वह बालों को छुड़ाने के लिए छटपटाती है।

"बता, यहाँ क्यों आई थी?" मैं उबलकर देखता हूँ।

"बिज्जो से मिलने!" वह झटका देती है, "कसाई कहीं के!" दूर चली जाती है।

निगाहें जाड़ों की फीकी धूप की तरह फिर खिड़की पर बिखर जाती हैं—उदास। ईंटों से पटी छोटी-सी सँकरी गली—आदमी-ही-आदमी, चींटियों की कतार की तरह। इतने लोग इस मैली-सी, दम घोटने वाली अंधी-गली से होकर कहाँ आते-जाते होंगे! मैं फिर बरगद के पेड़ की चोटी की ओर देखता हूँ। छत की मेड़ रीती है, जहाँ कनु सुबह नहाकर, ढेर सारे गीले रेशम को कंधों पर बिखेर देती है। नाइलॉन धुएँ के उस पार शून्य में ताकती, पता नहीं क्या-क्या सोचती रहती है!

मुझे लगता है, कनु ठीक कहती है। सचमुच मेरे बालों पर राख बिखरती चली जा रही है। एक बार अम्मा ने देखा तो मुँह तेल वालों को कोसकर चुप हो गई थीं। पर बाबूजी जब कभी मेरे सफेद बालों की ओर देखते हैं तो उनकी धुँधली-सी पुतलियों में एक अजीब-सा रंग उभर आता है। सफेद ग्लेजी कागज की तरह, जिसमें कोई भी भाव पल-भर ठहर नहीं पाता।

बाल असमय सफेद हो जाते हैं—क्यों हो जाते हैं? आदमी समय से पहले ही बूढ़ा हो जाता है—क्यों हो जाता है! थोड़े से समय में सदियों से सँजोए सपने पता नहीं कहाँ चले जाते हैं! अभी दुनिया ही मैंने कितनी देखी है! अगर ददा होते तो क्या मैं भी अभी सबकी तरह यूनिवर्सिटी में नहीं पढ़ता! चक्की के दुहरे पाटों में यों दिन-रात पिसता रहता! ददा कहते थे—'तुम्हें पढ़ने के लिए फ़ॉरेन भेजेंगे!' मेरा दिल भर आता है। मैं झटके से मुँह मोड़ता हूँ और कुछ ठहरकर, फिर उसी काम में जुट जाता हूँ। पराग की फीस...ददा की आने वाली बरसी...हरिद्वार जाने-आने का खर्चा और बाबूजी की दवा का हिसाब लगाता हूँ—कि दरवाजे पर फिर वही परछाईं ठहर जाती है—बिज्जो से मिलने के बहाने।

"जी, यहाँ बिज्जो नहीं आई?"

"ना...।"

'ना...।' के साथ उसे चला जाना चाहिए था, लेकिन वह ठिठक पड़ती है।

"नीरेन'दा, आप बिल्कुल बदल गए हैं, सच्ची!" उसने जैसे मुझे बहुत वर्षों बाद देखा और बहुत गहरे में उतरते हुए कहा, "आप इतना सारा काम किसके लिए करते हैं! न समय पर खाते हैं, न पीते हैं, न सोते हैं। बिज्जो कहती थी, नीरेन'दा को नींद न आने की बीमारी हो गई है। सच, आपका चेहरा अजीब-अजीब-सा हो गया है। दूर से देखने

पर डर-सा लगता है...।”

मैं अपने रूखे होंठों को जीभ से भिगोता हूँ। घूरकर उसकी ओर देखता हूँ। वह सहम जाती है।

“इधर आ J...!” सरोष कहता हूँ।

वह पास आकर खड़ी हो जाती है।

“वो सामने कुर्सी खींच।”

वह कुर्सी खींचती है।

“बैठ जा।”

वह सिकुड़कर बैठ जाती है।

“अच्छा, सच-सच बता। मुझे देखकर डर लगता है?”

वह केवल सिर हिलाती है—“ना।”

“झूठ बोलती है। लगता है न।”

“नहीं तो।”

“फिर क्यों कहती थी?”

“झूठ-मूठ कहती थी।”

“झूठ-मूठ कहती थी।” मूट्टी-भर तार-तार सुनहरा सूखा रेशम हवा से उड़कर फिर माथे पर फैल जाता है। मैं उसके मासूम-मुखड़े की ओर देखता हूँ। बड़ी-बड़ी भूरी पारदर्शी आँखों की ओर।

“अच्छा बता, मुझे देखकर डर नहीं लगता तो कैसा लगता है?”

वह बिना सोचे अनायास कहती है, “अच्छा लगता है ...।”

मैं हँस पड़ता हूँ। मुझे हँसता देख वह भी यो ही हँसने लगती है।

कुछ क्षण फिर सन्नाटा रहना है।

मैं सिगरेट के सिरे की राख की लम्बी लकीर की ओर देखता हूँ। फिर बड़ी तलखी के साथ कहता हूँ, “देख, कनु।”

कनु सचमुच देखने लगती है।

“बाबूजी बूढ़े हो गए हैं न।”

वह पराग की तरह सिर हिलाती है, “हाँ।”

“तू देखती है, अम्मा को इस उमर में भी कितना काम करना पड़ता है। जब से बिज्जो गई, कोई भी हाथ बँटाने वाला नहीं रहा...।”

वह अपलक देखती रहती है।

“भाभी खुद ही दुःखी हैं। उस पर दिन-रात बच्चे नोचते रहते हैं।”

“हाँ...।” वह फिर माथा हिलाती है, जैसे यह बात भी वह जानती है।

“और फिर ददा के गुजर जाने के बाद कमाने वाला अकेला मैं ही तो हूँ न।”

“हाँ...।”

“तो सुन! तू ही बता, इतनी बड़ी गाड़ी अकेले कैसे खींची जाएगी! तुम्हारे डैडी

की तरह तो सब पैसे वाले नहीं होते न।”

कनु की बड़ी-बड़ी निश्छल आँखों में रेत का सूखा सागर सिमट आता है। बड़े-बड़े बालू के टीले बनते हैं और बिगड़ जाते हैं।

“तो नीरेन’दा।” वह बहुत देर तक सोचती रहती है, “तो आप शादी क्यों नहीं कर लेते।”

“हूँ।” मैं विस्मय से कह उठता हूँ, “शादी कर लूँ। क्यों?”

“क्यों क्या? वह सारा काम कर दिया करेगी न।”

मैं कुछ भी कह नहीं पाता, आँखें मींचे पता नहीं क्या-क्या सोचता रहता हूँ।

“हाँ, कहती तो ठीक हो।...जो घर का सारा भार उठा ले, अगर ऐसी औरत मिल पाती तो...?”

कनु बात काटती है। आश्चर्य से कहती है, “क्या कहा, औरत से शादी करोगे नीरेन’दा।...लड़के लोग तो लड़कियों से ब्याह किया करते हैं।” वह अपनी अबूझ हँसी में खिल-खिल हँसने लगती है, “सच्ची, मैं सबसे कह दूँगी...।”

वह कपास की तरह हल्की हो जाती है।

मुझे कुछ भी कहते नहीं बनता! यह क्या है। किसी भी बात को गहराई से क्यों नहीं ले सकती। मुझे उस पर हँसी आती है। दुःख होता है। कितनी बड़ी हो गई। इसकी उमर की सारी लड़कियों की शादी हो गई है, पर यह अभी तक बच्चों—जैसी उड़ी-उड़ी बातें किया करती है कि ..।

अपने सफेद बालों को पहले कुछ दिनों तक एक-एक कर नोचकर निकालता रहा। पर यह क्रम भी अब छूट गया है। चेहरे की झाइयाँ गिनने से क्या, अपनी ही आर्कृत अब मुझे अपरिचित लगती है। भय-सा महसूस होता है।

पर यह क्या। कनु अब बहुत दूर-दूर क्यों रहती है। कभी दीखती नहीं। बिज्जो कहती है, ‘इन्दौर चली गई है, मँजली बुआ के पास’।

इस घुटन-भरी बोझिल जिन्दगी से हारकर, थककर, मन अनायास जहाज के पंछी की तरह फिर-फिर उसी ओर पख छटपटाता है।

लेकिन कनु जबसे बुआ के यहाँ से लौटी है, बदली-बदली-सी लगती है। इन दो ही महीनों में उसका बचपना न जाने कहाँ चला गया है। अब न वह हँसती है, न बोलती। खोई-खोई-सी न जाने किस भँवर में डूबी रहती है।

एक दिन देखता हूँ...वह भारी-भारी डग भरती कमरे में आ रही है। इस बार यह नहीं कहती कि बिज्जो से मिलने आई है। बड़े विश्वास के साथ दरवाजा यों ही बन्द कर पास ही कुर्सी पर बैठ जाती है। जहाज के पैदों की तरह चेहरा भारी है—निराश।

“नीरेन’दा!” वह जैसे सपने में है, हवा से बातें कर रही है, “क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई एक ऐसी लड़की मिल जाय जो बाबूजी की देखभाल कर ले, माँजी के



काम में हाथ बँटा ले। भाभी को भी कुछ सहारा मिल जाय...और आपकी सेवा भी कर सके...तो आप उससे शादी कर लेंगे न नीरेन'दा... !”

मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता। मुझसे कुछ भी कहा नहीं जाता।

वह एक बार, दो बार, बार-बार अपनी बातें दुहराती है, लेकिन मेरी जुबान को लकवा मार गया है, मैं बहरा हो गया हूँ न।

वह अंत में एक गहरा निश्वास छोड़ती है और चली जाती है।

शाम को एक छोटी-सी चिट डिक्की के हाथ भिजवा देती है। और उसके बाद कनु फिर कभी दिखलाई नहीं देती। न खिड़की खोलती है, न छत पर रेशम सुखाती है।

मैं भी काम में अब बुरी तरह पिसा रहता हूँ। पता ही नहीं चलता, कब पौ फटी, कब साँझ ढली !

ददा की बरसी के दिन हम हरिद्वार होकर आए थे।...बाहर-भीतर लोगो का जमघट जुटा था। ब्राह्मणों के कर्म-धर्म से निबटकर अपने कमरे में पहुँचा तो एक बजने को था। सारा संसार सोया था। बाहर चौकीदार के चीखने की आवाज आ रही थी। पास के कमरे से भाभी के सिसकने का स्वर। पराग हफ्ते-भर से बीमार है।...मेरी कच्ची नौकरी को छूटे चार दिन हो गए...।

रोशनी जलती रहती है। मैं बल्ब की ओर देखता रहता हूँ। तभी दरवाजे का कुण्डा-सा खटकता है। दो निरीह आँखें मेरी ओर न जाने किस भाव से झाँकती हैं !

कनु।

अबीर में डूबी, सफेद हल्की-सी, राख की लकीर-साँ।

“अरी, कब से खड़ी हो ?”

आज बहरी बनने की बारी कनु की है न।

“सुना था तुम्हारा ब्याह हो गया ?”

कनु टकटकी बाँधे मेरी ओर भयभीत आँखों से देखती रहती है।

मुनिया उड़ गई, नीले पर्दों का चमकता रंग स्याह पड़ गया। घर खरीदने से पहले ही बिक गया। लगता है रेडियो अब संगीत नहीं, मर्सिया मुनाया करता है न...।

कनु के गुलाबी अधरों पर, जामुनी रंग फिर गया है। बुझे दीये की तरह उसकी आकृति संज्ञा-शून्य हो गई है।

“नीरेन'दा...।” वह आँचल में मुँह छिपकर, दाँतों से होंठ काटकर, फफक-फफककर फूट पड़ती है। कुछ क्षण उसी तरह खड़ी रहकर सिसकती हुई ओझल हो जाती है।

पराग अब अखबार नहीं नोचता। यह भी नहीं कहता कि मैं जहाज बना दूँ। वह उड़कर पापा के पास सीमा पर जाएगा।...भाभी अब चाहकर भी रो नहीं पातीं। उनकी

आँखों से आँसू ढुलकते ही नहीं। डॉक्टर कहते हैं—बाबूजी दवा नहीं पीते। कहते हैं—व्यर्थ में पैसे जाया करने से क्या। माँ अब मुँए तेल वाले को भी नहीं कोसतीं। कनु भूलकर भी एक बार नहीं देखती।

मैं दिन-भर इन धूल-भरी सड़को में मारा-मारा फिरता हूँ। घर में घुसते ही पिता जी आँगन में खड़े मिलते हैं, “कुछ मिला।”

इन ‘तीन’ शब्दों का चक्रव्यूह मैं भेद नहीं पाता। उत्तर दिए बिना ही चला जाता हूँ। छत पर लेटा-लेटा आसमान पर तनी नीली चादर की ओर देखता हूँ...।

लोग कहते हैं—कनु हर समय उदास रहती है। अब खिड़की नहीं खोलती। अब बाहर नहीं देखती। शायद कभी-कभी दूर से झलक पड़ती है तो उसके हाथी-दाँत जैसे गोरे हाथों में मेहँदी कितनी अच्छी लगती है! जब वह तार पर गीले कपड़े फैलाने के लिए झुकती है, तो उसकी सुनहरी चूड़ियों की चमक बिजली की तरह कौंध जाती है। माँग में सिन्दूर कितना सुन्दर लगता है। रेशम का लाल डोरा-सा।

लडको का ब्याह लडकियों से हुआ करता है। ब्याह के बाद सब बदल जाते हैं। कनु भी बदल गई है।

बिज्जो कहती है, कनु सचमुच बहुत बदल गई है। अब बहुत सुख से रहती है। पर उसका बचपना अभी तक भी गया नहीं।

उसने अपने कमरे में कितने ही ढेर सारे नीले-नीले पर्दे अकारण लटका रखे हैं। गहरा नीला सोफा-सेट है। खूब बोलने वाला खूबसूरत रेडियो। और कितनी ही मुनिया, गौरैया पाल रखी हैं। सुनहरे पिजरे में एक मखमली काली मैना है, जो दिन-रात बिटुर-बिटुर चीखती रहती है। जैसे कंठ में कौंटा कसक गया हो।

मैं शीशे में देखता हूँ। कुछ भी तो दिखलाई नहीं देता। केवल सिकुड़ती-सिमटती, रगहीन खोखली दीवारों का प्रतिबिम्ब एक-दूसरे से टकरा-टकराकर बिखर पड़ता है।



## बूंद पानी

“इतना सारा यह सामान किसका धरा पड़ा है कन्नी ?” ऑफिस से लौटते हुए, घर की देहरी पर पाँव रखते हुए, माथे पर उभरी पसीने की बूंदों को तिरछी अँगुलियों से समेटकर दूर छिटकते हुए विश्वेश्वर ने पूछा, “क्या बड़े भैया आए हैं गाँव से ?”

कालिन्दी ने जैसे सुना नहीं। तमतमाया मुँह झटके से फेरकर सामने से मुड़ी और दूसरे कमरे में ओझल हो गई।

विश्वेश्वर ठिठक पड़ा। जीभ की नोक को दाहिने जबड़े के दुखते दाँत पर टिकाए किंचित् अधर खोले देखता रहा, फिर वैसा ही खोया-खोया-सा आगे की ओर बढ़ा।

अदर देहरी के पास, फटे टायर के मोटे तलुवे वाले, चितकबरे बेडौल दो जूते मुँह फाड़े बैठे हैं। विश्वेश्वर समझ गया, बड़े भैया होंगे या ताऊजी। पर एकाएक कैसे ? चिड़्डी तक गेरी नहीं।

कपड़े उतार कर, पीठ के बल खटिया पर वह गिर पड़ा। छत पर तेज़ी से घूमते, घरघराते पुराने पंखे की ओर देखता रहा।

कालिन्दी कब चाय रखकर चली गई, उस पता नहीं। गुड्डो किलकती आई, लेकिन उसने देखा नहीं। किसी ने पुकारा, कुछ कहा, लेकिन उसने सुना नहीं। टकटकी बाँधे वह केवल पंखे की ओर देखता रहा, देखता रहा। पंखा तेजी से हवा काट रहा है। एकाध सूखी घास के तिनके ऊपर से लटकते हुए बुरी तरह काँप रहे हैं। पिछले जाड़ो में शायद चिड़ियों ने घोंसला बनाया था। घोंसला कहाँ गया ? चिड़ियाँ कहाँ गई ?

हट्... हट् तू चोर... तू मरजानी मुई...चुप...झूठा... कुट्टी ऑ...S...।  
आवाज-सी आई तभी।

विश्वेश्वर झटके से उठ बैठा। जैसे नींद से जागा हो। अचकचाकर इधर-उधर देखने लगा, लेकिन दीखा कुछ नहीं। कान लगाकर फिर लेट गया...हाँ, चारपाई के नीचे खटर-पटर की-सी आवाज सुनाई दी। कुछ छीना-झपटी, कुछ मार-पीट, कुछ दबा

हुआ शोरगुल...बिल्लियों की जैसी लड़ाई।

“कौन, गुड्डो!” चौककर चारपाई की पाटी के सहारे झुककर झाँका—एक-दूसरे के बाल नोचने में चार नन्हे-नन्हे हाथ व्यस्त थे। खूब गुत्थम-गुत्था हो रही थी। पर उसे देखते ही जो जहाँ था, वहीं पर रुक गया। जैसे चलती मशीन की बिजली सहसा समाप्त हो गई हो। साँस रोके चार बड़ी-बड़ी भयभीत आँखें, सहम कर उसकी ओर देखने लगीं।

“अ... र...र। ये कौन?” चारपाई से उछलते हुए विश्वेश्वर ने कहा, “उह... कालिन्दी। ये किस अजायबघर से...!”

“आपके गाँव के, और कहाँ के!” मुँह फुलाते हुए कालिन्दी ने कहा और तुनक कर धोती का पल्ला पीछे फेंकती सामने खड़ी हो गई। हाथ हवा में हिलाती हुई बोली, “देखते क्या हैं, भैयाजी जो तशरीफ लाए हैं। दो राजकुमारों को भी साथ लाए हैं। पूरे महीने-दो महीने डेरा डालकर पड़े रहेंगे। निकालो दो सौ रुपए नकद! न हों तो एकाध मेरा गहना गिरवी रखकर लाओ। भैयाजी आए हैं न गाँव से! लाओगे कैसे नहीं?”

विश्वेश्वर मुँह खोले कालिन्दी की ओर देखता रहा। कुछ कहे, इससे पहले ही एक-एक कर कुत्ते के पिल्ले की तरह बाहर घसीटकर कालिन्दी ने दोनों बच्चे निकाले और सामने खड़े कर दिए।

पत्नी का यह व्यवहार उसे भला न लगा।

घुटने तक लम्बे, स्याह मलेसिया के कुरते और फटे हुए घुमरैले मारक्तीन के पाजामे में लिपटे दोनों बच्चे डर से काँपने लगे। जैसे उनसे कोई बहुत बड़ा अपराध हो गया हो और अभी-अभी जिसकी कठोर सजा सुनाई जाने वाली हो।

दो मासूम चेहरे। खूबसूरत! उदास!

विश्वेश्वर रीझ गया। अजीब-से कुतूहल से देखता रहा—अनोखी-सी गोल-गोल आकृति, रुलाई-भरी बड़ी-बड़ी गुस्सैली, डरी हुई आँखें, भिंचे हुए नन्हें अधर!

हँसी आए बिना न रही उसे।

“अरे...यह कौन?” चहककर वह बोला, “हमाला दीनू बेता है न! औल... औल...यह बिन्दो। बिन्दो लानी...भई, तुम लोग तो पहचाने नहीं जाते...रंग कैसा हो गया...जंग लगी कील जैसा।”

दोनों बच्चे एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

“हमसे नमस्ते कहा?”

फिर दोनों की आँखें मिलीं, बात शायद समझ में आई नहीं।

छोटे बच्चे को विश्वेश्वर ने गोदी में उठा लिया। जो सिकुड़-सा आया। उसकी बहती नाक धुले तौलिए से पोंछने लगा तो कालिन्दी ने गुस्से से उसकी ओर देखा, पर उसी तरह उसका सारा मुँह पोंछता हुआ सिर हिलाकर बोला, “क्यों हज़रत, किस अजायबघर से तशरीफ लाए?”

बच्चा और छोटा हो गया।

“गाँव में धोबी भी नहीं था न। नाई भी नहीं था। कैची भी नहीं थी। कैमे भालू के जैसे बाल बना रखे हैं—यो लम्बे लम्बे। अरे, पानी तो होगा ही धोने के लिए। क्यो ? क्यो ?” दो अँगुलियों के बीच चिमटी की तरह उसकी नाक पकड़ते हुए, हिलाते हुए, विश्वेश्वर ने कहा, ‘क्यो ?’

कालिन्दी यह देखकर जलकर राख हो गई। जैसे उसके किए-कराए पर पानी ढुलक पड़ा हो। हाथ नचाती हुई बोली, “चाय पीनी है या नाटक खेलना है। छ बजे आपके दोस्त साहब अपनी धरम-पत्नी सहित, बाल-गोपालो की पल्टन लिए पधारने वाले हैं, खाने पर। बुला तो लिया बड़े रौब से। घर में है भी कुछ। बनाऊँ क्या, अपना सिर।”

विश्वेश्वर ताड़ गया। पहले तो क्षण भर गम्भीर रहा, फिर चुस्कियाँ लेता हुआ बनावटी धीमे स्वर में बोला, “क्यो आएँगे वे पल्टन लेकर, इस तरह से। हमने उनका क्या बिगाड़ा है जो वे खाने को उतारू हो ?” कह विश्वेश्वर हँस पड़ा।

कालिन्दी भी क्या करे। हँसे बिना न रह सकी। फिर भी गुस्से से बोली, “देखती हूँ, क्यो आ रहे हैं। पूछना उन्ही से।”

“अरे, तुम क्यो परेशान होती हो। कोई नवाब की औलाद तो है नहीं। आएँगे तो घर में जो होगा, खिला देंगे। बस।”

“बस्स!” हाथ नचाया कालिन्दी ने, “घर में भुनी-भाँग भी नहीं है। उस पर कुछ भी कोर-कसर रह गई तो उन्ही के सामने मुझ पर बरस पड़ेगे। जैसे मैंने ही जानबूझकर बुरा बनाया। और घर में तो जैसे सामान ढेरो पड़ा-पड़ा सड़ रहा है। दस-दस दिन तक अपने दास्तो को रोज नए-नए किस्से गढ़कर सुनाते फिरोगे। वक्त बेवक्त तरह-तरह के ताने दोगे। मैं बाज आई।” गरम तवे मा तमतमाया मुँह पोछती तेजी से कालिन्दी चली गई।

“तुम्हारे दास्तो को आज खाना खिलाया तो मेरा नाम बदल देना। बुला लाते हैं, जिसे जी में आता है। जैसे धरमशाला है।” चौंके की ओर से अंतिम चेतावनी आई।

चूल्हे पर चढी पतीली उतर गई। रसाईंघर व किवाड धडाके से बद हो गए। कालिन्दी मुँह बिदोर कर अपने कमरे में चली गई। पलंग की पाटी पर बैठकर, नीचे की ओर लटकते पाँवों को हिलाती हुई, कुछ सोचती हुई, कुछ परेशान-सी, उलझी हुई, बुनाई की सीकी में तागे पिरोंने लगी। हाथ तेजी से चल रहे हैं। हृदय तेजी से धडक रहा है। नथुने तेजी से फडक रहे हैं। होठ गुस्से में काँप रहे हैं। और बुनाई गलत हो रही है। लेकिन उसे क्या। होती रहे। लाख होती रहे—बला में।

एक ही साँस में पानी की तरह चाय पीकर विश्वेश्वर ने खाली प्याला परे रख दिया। नाश्ते की तश्तरी दोनों बच्चों के सामने धर दी। फिर पलंग पर लेट गया और छत पर लटकते पखे की ओर देखने लगा।

कुछ क्षण बाद उठः तो देखा काफी वकन गुज़र गया है।

“कन्नी। अरी ओ कालो।” बड़े प्यार से मीठी आवाज में बोला, “भई, कहाँ

चली गई हो ?”

बाहर सड़क की ओर झाँका। बंद रसोईघर की ओर झाँका। कुछ और आगे बढ़ा, “कालिन्दी !”

कालिन्दी ने मुँह फुला लिया, बैलून की तरह। कालिन्दी बोले तो वह कालिन्दी ही क्या।

“वाह, यहाँ बैठी हैं रानी साहिबा ! मैं कमरे-कमरे में विरही यक्ष की तरह बावला-सा भटक रहा हूँ। बाहर बरामदे में उदास पड़ी अँगठी के धुएँ के उमडते-धुमडते बादलों से सन्देशा भेज रहा हूँ, पर तुम सुनती नहीं।” फिर कुछ रुककर बोला, “चूऽ। चाँद तो यहाँ निकला। मैं कहूँ आज रोशनी कहाँ !”

कालिन्दी ने मुँह फेर लिया।

विश्वेश्वर उसके पास ही पलँग पर बैठ गया। कुछ और सटकर बैठ गया। कंधे पर बिखरी लटों को सहलाता हुआ बोला, “तुम मुस्कराती हो तो बरबस फूल झड़ने लगते हैं। तुम गुस्सा होती हो तो और भी अधिक सुन्दर लगती हो। सोचता हूँ, चकोर कितना मूरख प्राणी है, तुम्हारी तरफ न देखकर चाँद की ओर क्यों…… !”

“बस-बस, रहने दो। मुझे यह बकवास अच्छी नहीं लगती। मुझे छोड़ दो बस् !” गुस्से से कालिन्दी और परे हट गई।

“भई, पहले यह बतलाओ हमे कौन-सी छूत की बीमारी है ! हमें कौन-सु ऐसा भयंकर संक्रामक असाध्य-रोग है, जिसकी वजह से तुम दूर भागती हो ! सच…… !” वह और खिसका तो कालिन्दी दूर चली गई और पलँग के दूसरे सिरे पर बैठ गई।

विश्वेश्वर सोचता रहा। फिर तनिक और आगे बढ़ता हुआ भारी आवाज में बोला, “तुम्हें मुझसे नफरत है न कालिन्दी !”

कालिन्दी चुप थी।

“हाँ, कहो। कहो। बोलो। डरती क्यों हो—मैं बहुत बुरा हूँ न।” विश्वेश्वर की निगाहे सामने मेज पर टिकी थीं।

कालिन्दी फिर भी चुप रही।

“बोलो भी—मैं बहुत बुरा हूँ न।”

“हाँ…… !” कालिन्दी ने होंठो को सिकोडते हुए मिर हिलाया।

“तोऽ……लो !” जैसे उसे मनचाही बात मिल गई। उसने मेज पर रखा सब्जी छीलने वाला चाकू उठाया और उसके सामने रख दिया, “लो !……लो न। देखती क्या हो। लो !”

विश्वेश्वर उसकी भिची मुट्टी में जबरदस्ती चाकू की मूँठ दबाने लगा और वह गुस्से में झुँझलाती बचाव करने लगी। इसी छीना-झपटी में डोरा न जाने कहाँ बिखर गया। सीकें न जाने कहाँ गिर गई। चाकू फर्श पर न जाने कहाँ लुढ़क पड़ा। कालिन्दी की कलाइयों को विश्वेश्वर की कलाइयों दबोचे जा रही हैं। दबोचे जा रही हैं।—“छोड़ो भी। छोड़ो भी ! !” कालिन्दी कहती चली जा रही है।

बड़ी मुश्किल से झटके के साथ कालिन्दी ने अपने को छुड़ाया।

बिखरे कपड़ों को सँभालती हुई वह उठी। आँचल से लाल मुँह पोंछती, अधरो पर उबलती मुस्कान टबाकर गुस्से से देखती हुई बुदबुदाई, “इत्ती उमर हो गई, अब भी ..। कोई देखता तो ..। आप बड़े ‘वो’ हैं।” जमीन पर घिसटता पल्ला उठाकर वह रसोईघर की ओर चली गई।

केवल तीन रूखी रोटियाँ और थोड़ी-सी मब्जी के गीले टुकड़े पतीली की तली पर बचे थे, उन्ही को समेटकर कालिन्दी रोटियाँ तोड़ने लगी।

“मुझे मेरे मैके पहुँचा दीजिए।”

सामने पीढे पर बैठे, ठोढी को घुटने से मिलाए, विश्वेश्वर ने उसकी ओर देखा।

“आपकी तो रोज ही मेहमानदारी लगी रहती है। रोज ही पैसे-पैसे का यह झंझट अच्छा नहीं लगता। कभी छोटे भैयाजी, कभी बड़े भैयाजी, कभी मामाजी। कोई-न कोई नित लगे रहते हैं। मैं बुरी तरह ऊब चुकी हूँ, इस जिन्दगी से। कभी तो घड़ी-भर चैन मिले।”

“यही तो जिन्दगी है।” विश्वेश्वर के होठ हौले से हिले। फिर कालिन्दी की ओर देखा, शायद चिढ़ाने के लिए।

“हुँह। है तो आपको मुबारक हो। मुझे छुट्टी दे दीजिए।”

विश्वेश्वर क्षण-भर चुप रहा, फिर उसी गम्भीरता से बोला, “तो मतलब। यानी कि तुम हमें छोड़कर चली जाना चाहती हो न।”

“हाँ बाबा। हाँ।” कालिन्दी ने दोनो हाथो को झटके के साथ सामने फेका।

“तो 5 ओ 5।” विश्वेश्वर ने माथे की सिलवटो को दबाया, “तो तो तो यानी कि तलाक लेकर हमेशा हमेशा के लिए।” बड़े निरीह-भाव से विश्वेश्वर ने देखा।

कालिन्दी क्या कहे। पल-भर उसके शरारत भरे मासूम मुखड़े की ओर ताकती रही। ओठो पर आती हँसी टबाती हुई बोली, “हाँ, हाँ, यही समझिए। कहिए तो दो रुपए के स्टाम्प पर लिखकर दे दूँ आज ही।”

विश्वेश्वर की आकृत में कोई परिवर्तन न आया। “भई, हमें स्टाम्प-विस्टाम्प से क्या। व्यर्थ में सरकार का घर भरने के पक्ष में हम नहीं। स्टाम्प तुम अपने पास रखो। नकद दो रुपए हमें दे दो। कल का ऑफिस का खर्चा चल जाएगा। आगे राम मालिक।”

“हुँ।” मुँह बिचकाकर, जूठे बर्तन समेटकर कालिन्दी बाहर चली गई। विश्वेश्वर ने देखा—कालिन्दी की काली धोती तार-तार हो रही है। उससे अब इज्जत ढॉपना तक सम्भव नहीं। एक गहरी साँस भरकर वह कमरे में चला गया और बिछौने पर गिर पडा।

कालिन्दी सो गई है। बगल में नटखट नन्हीं गुड़ी सो रही है। दूसरे कमरे में बड़े भैया सो रहे हैं और पास ही अजायबघर के दो नन्हें बंदर खरटि भर रहे हैं।

विश्वेश्वर की आँखों से नींद न जाने कहां चली गई है। करवट और करवट। चारों ओर बुझे मशान-सी रात लेटी है। अँधेरा-ही-अँधेरा। कुछ सूझता नहीं।

बड़े भैया। कम-से-कम सौ-सवा सौ रुपए जाने के लिए। तनखाह के आधे से अधिक पैसे। ऊपर से सौ खरचे, सो अलग।

बड़े भैया इस बार टपके भी तो ऐसे। वह भी अकेले नहीं। यह रूप, यह रंग—पागलो का-सा भेष। न खाने की सुध, न पीने की। बिस्कुल परमहंस।

कालिन्दी की बातें। बड़े भैया की बातें। उसका माथा चकराने लगा।

शायद... अब गाँव लौटना नहीं चाहते बड़े भैया। उसे ख्याल आया—क्या सच ही लौटना नहीं चाहते। आखिर लौटें भी कैसे। बैलों की जोड़ी बिक-बिका गई। बाप-दादा के पुराने मकान की पिछली दीवार, पिछली बरसात में धँस गई। इने-गिने दो-चार रेतीले खेत, उनमें कुछ उपजता नहीं...रूखे तिनके तक नहीं।

तो फिर। फिर।

उसने माथा दबाया। करवट बदली।

“बिसेसर, भाई अपने बस का अब यह गोरखधन्धा नहीं। जबसे तुम्हारी भौजी गुजरी, अपने ताँई तो भरपूर तबाही आ गई। गोरू-बैलन का झंझट। खेती-बाड़ी की मुसीबत! अकेली फ़कत-दम जिन्दगी। दो ये तिनके जैसे परानी। भैया, इन्हें तू सँभाल। अपन तो हर-नाम भजकर जोग ले लेंगे। धरा का है, इस जिन्दगी ससुरी में। दो-चार बरस और हैं। अजुध्या, हरदुआर कहीं भी काटि देंगे।”

विश्वेश्वर को लगा, सच ही हाथ मे चिमटा-कमण्डल लिए, जोगियों के गेरुए कपड़े पहने, घुटे माथे पर त्रिपुण्ड लगाए, राम-नाम भजते बड़े भैया जा रहे हैं। दो नन्हे अबोध, अनाथ बच्चे बिलख-बिलखकर रो रहे हैं। उनका हृदय-विदारक चीत्कार वह सह न सका। तड़प उठा।

सुबह उठा तो माथा भारी था। कालिन्दी चाय लेकर आई। उसने प्याले के साथ-साथ कलाई भी थाम ली। हथेली सहलाता हुआ बोला, “बैठोगी नही।”

“छोड़िए भी। चूल्हे पर दाल चढानी है। यह वक्त-बेवक्त ठट्टा-मजाक अच्छा नहीं लगता।”

विश्वेश्वर ने जैसे सुना नहीं। जबरदस्ती खींचकर पास बिठला ही लिया। उसके मुँह की ओर ताकता हुआ बोला, “नाराज हो न।”

“नहीं तो।”

“फिर मुस्कराती क्यो नही ?”

“बाबा, मुझे छोड़ो भी। एक मुस्करानेवाली और ले आओ न। छोड़ो भी। पतीली में पानी खौल रहा है। दाल...।”



“वाह भई !” विश्वेश्वर खिल उठा, “तुमने तो आज सच ही गजब ढा दिया। तुम्हारे मुँह में मनो धी-शक्कर। तुमने तो आज सचमुच हमारे मन की बात कह डाली।” विश्वेश्वर की सारी उदासीनता न मालूम कहाँ तिरोहित हो गई, वह जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ा। कालिन्दी भी हँस पड़ी।

उसकी गरम हथेली हौले-से दबाते हुए तनिक गम्भीर होकर विश्वेश्वर ने सामने की ओर देखा, “सुनो। वे दो अजायबघर के बदर आए हैं न। उनके बाल कटवा देना। और सुनो बड़े भैया को अरहर की दाल बहुत पसंद है, आज वही बनाना। सच, तुम क्या लाजवाब...।”

वह कुछ और कहने जा रहा था कि कालिन्दी तुनकी, “हो गया, हो गया। है भी या यो ही बनाऊँ अपना सिर।”

“कुछ तो होगी ?”

“बस, कोई छटॉक-दो छटॉक।”

“तो बहुत है, बहुत है। हमें कौन कढ़ाह-भर चाहिए डुबकी लगाने के लिए।”

कालिन्दी तेज़ी से उठकर जाने लगी तो फिर पल्ला खींचकर रोक लिया, “अरी सुनो।” पलभर उसकी ओर अपलक ताकता रहा, “बच्चों से तुम प्यार से क्यो नहीं बोलतीं। देखो, कितने खूबसूरत हैं, मासूम। उनकी माँ होती तो क्या इस तरह अनाथ होते। भला माँ और चाची में कोई फरक होता है ?”

“बस बाबा।” कालिन्दी पल्ला छुड़ाकर चली गई।

“इस पहली को अगर आप धोती नहीं लाए तो मैं गुड्डो को लेकर मैके चली जाऊँगी। सच।”

“सच।” मुस्कराता हुआ विश्वेश्वर बोला।

“हँसी क्या समझ रहे हैं। इस बार मैं बिल्कुल सच्ची कह रही हूँ, बिल्कुल।”

“तो मैं कब कह रहा हूँ कि तुम बिल्कुल ‘झूठी’ कह रही हो। अरे, हम भी तुम्हारे साथ चलेगे। कुछ दिन ससुराल में ही गुलछरें उड़ाएँगे। रौब जमाएँगे। रोज-रोज की इस बक-झक से कुछ तो चैन मिलेगा।”

हँसता हुआ विश्वेश्वर चला गया। साइकिल के पहिए तेजी से घूमने लगे। कालिन्दी देखती रही, देखती।

कभी कालिन्दी को विश्वेश्वर पर झुंझलाहट होती, कभी अपने पर, कभी अपनी परिस्थितियों पर। क्या करे। दोष किसे दे।

तह बैठी बैठी अपनी झीनी धोती सीने लगी। ब्लाउज जगह जगह से उधड गया है, उममे टॉके देने लगी। विश्वेश्वर की ‘ब्रॉम-कलर’ पाँपलीन की फटी कमीज को काट-छाँटकर गुड्डो के लिए फ्राक तैयार करने लगी। सिलने के बाद जामुनी रंग में डुबो देगी। कम-से-कम दो-चार महीने तो निकल ही जाएँगे।

वह जानती है। बहुत अच्छी तरह जानती है कि विश्वेश्वर उमके लिए कुछ भी

लाएगा नहीं। हमेशा की तरह परेशान-सा आएगा और हँस देगा। आठ-दस महीने आज-आज, कल-कल में ही बीत गए। पता नहीं, संकट कब टलेगा। रोज ही कुछ-न-कुछ लगा रहता है।

साँझ को विश्वेश्वर हाथों में कागज का मोटा थैला नचाता हुआ आया तो कालिन्दी खिल उठी। मुस्कराती हुई बोली, “आज तो सूरज पश्चिम से निकल गया। सच, पता नहीं यह अनहोनी बात कैसे हो पड़ी! दिखलाओ तो जरा, किस रंग की है! मैंने धानी कहा था!”

विश्वेश्वर ने थैला पीछे छिपा लिया।

“पहले कुछ स्वागत-सत्कार करोगी या यों ही! ऐसे भी कहीं चीज़ दिखलाई जाती है!” होंठों को बड़ी शरारत से मोड़ते हुए विश्वेश्वर ने कहा।

भागती हुई कालिन्दी चाय लाई। कुछ भुने आलू के टुकड़े रखे थे, नमक डालकर उन्हें उठा लाई।

“कालिन्दी, तुमने चॉद देखा है?” आलू के टुकड़े एक के बाद एक मुँह में दूँसते, सिप्-सिप् चाय निगलते हुए विश्वेश्वर ने कहा।

“नॉ!” कालिन्दी ने सिर हिला दिया।

“नहीं देखा?”

“नॉ! नॉ! नहीं तो!”

“चुप झूठी!” फूले गालों को चबाते हुए, विश्वेश्वर ने कालिन्दी की आँखों से आँखें मिलाई, “देखा है न!... देखो, कैसी अजीब बात है! कभी कित्ता बड़ा हो जाता है, यों थाल-सा और कभी नन्हा, गुड्डो की गेंद-सा! वैसे ही कालिन्दी हमारी ज़िन्दगी भी है न!... दिन तो निकल ही जाते हैं। समय तो बीत ही जाता है...!” आखिरी घूँट भरकर प्याला उसने परे सरका दिया और मेज पर कुहनियाँ टिकाए कालिन्दी की ओर देखता रहा।

कालिन्दी देखती रही और वह कहता चला गया—“बड़े भैया बूढ़े हो गए हैं न अब! इस उमर में उन्हें आराम चाहिए। बच्चे अभागे दुधमुँहे हैं, उन्हें प्यार का साया चाहिए। पिताजी जब गुजरे तो मैं इस गुड्डो के बराबर था। भैया-भाभी ने ही पता नहीं किस तरह पाला-पोसा, बड़ा किया, पढ़ाया। यह नौकरी-वौकरी इन्हीं की बदौलत तो है! हमारे जीते जी इस उमर में इन्हें एक-एक टुकड़े का दुःख हो, यह कैसे हो सकता है...!”

“लेकिन हमें भी तो ...फिर...!” कालिन्दी कुछ कहती-कहती रुक गई।

“ठीक है, हमें भी तो! ठीक है। हमारा गुज़ारा चल ही जाता है, किसी तरह से। लेकिन यह भी तो देखो न!” विश्वेश्वर का स्वर भारी हो आया, “वे ज़िन्दगी में हर तरह से हारकर अंत में हमारे दरवाजे पर आए हैं। मुझे डर है कि कहीं आत्महत्या न कर लें। परसों संन्यास लेने की बात कहते थे। हमारे पास नहीं भी होगा तो हम सह लेंगे। पर हमारे होते हुए उनके पास न हो, यह कैसे हो सकता है! परसों स्याह फटी

धोती टाँगे, पागलों की तरह बाल बिखरे घूम रहे थे। सच...सच। बिल्कुल तार-तार फटी धोती...!"

अधिक कुछ न कह सका विश्वेश्वर। धीरे-से उठा और खड़ा हो गया। कागज़ का थैला सामने बढ़ा दिया।

कालिन्दी ने उसे खोला नहीं, चुपके से रख दिया। वह समझ गई, उसमें क्या होगा। क्या हो सकता है।

बार्तो का सिलसिला बदलते हुए विश्वेश्वर बोला, "गुड्डो कहाँ है? अजायबघर के दो बंदर कहाँ चले गए आज?"

इधर-उधर टटोलता हुआ ऊपर छत पर चला गया। वहाँ देखा...अचरज से देखा। भभकती ढिबरी के उजियाले में पाल्थी-मारे बड़े भैया ध्यानमग्न बैठे हैं और चारों ओर से उन्हें घेरे बच्चे—विस्मयभरी निगाहों से देख रहे हैं। भैया की बगल में ढेर-सी रुई बिखरी पड़ी है। घर-घर की आवाज आ रही है। सफेद पतला-सा तार खिच रहा है।

"यह क्या भैया?"

"अरे, बिसेसर।" बड़े भैया ने सामने की ओर देखा, "तू क्या समझता है, पढ-लिखकर ही पैसे कमाए जाते हैं। तू छोड़ नौकरी। मैं इसी से सारे घर का खरचा न चला दूँ तो...अरे, मैं मूरख अभी भी तुझसे दुगना कमा सकता हूँ, दुगना!" कहकहों से सारा वातावरण गूँज उठा। बड़े भैया की आकृति में एक अजब-भाव उमड़ आया, अजब। "अरे पगले, तू क्यों पैसे-पैसे के लिए इत्ता परेशान रहता है। अभी तो मैं जिन्दा हूँ। फिर मेरे होते हुए तुझे क्या चिन्ता है रे...।"

टप-टप बड़े भैया की आँखों से दो बूंद पानी अधियारे में चू पड़ा और नीचे बिखरी रुई में खो गया।



## सिमटा हुआ दुःख

चिनार का मन सचमुच आज टूट-टूट-सा आया। उसे कुछ कहते न बना। पहले तो अवाक् देखती रही। अपने कानों पर विश्वास न हुआ। फिर विस्फारित पलकें दूर कहीं टिकी की टिकी रह गई।

बाबूजी संध्या में से उठकर, हाथ में सुमरनी लिए, आज सीधे माँ के कमरे में गए। माँ रसोईघर में थीं—कुछ बड़ियों तल रही थीं। पास ही स्टोव पर पानी खौल रहा था। कुछ इस तरह की भरभराहट की आवाज थी, जैसे किवाड़ को छूती हुई पास ही नदी बह रही हो और चाहकर भी कुछ साफ सुनाई न देता हो। बाबूजी चौके के पास ही पीढ़ा खींचकर बैठ गए।

तभी थोड़ी देर में उसे माँ की जोर-जोर से बोलने की आवाज सुनाई दी। और फिर बाहर आते हुए पिताजी का भारी चेहरा—भाव-शून्य।

माँ हाथ नचा-नचाकर अभी तक भी कुछ कहे जा रही थीं। जैसे गिन-गिनकर पत्थर फेंक रही हो! लेकिन बाबूजी अपने कमरे के आगे खम्भे की तरह खड़े थे—एकदम जुप।

थोड़ी देर बाद माँ दूध का गिलास लिए रसोईघर से बाहर आईं। बाबूजी के कमरे में पाँव धरते ही उन्होंने एक बार न जाने क्यों शका से इधर-उधर झाँका और फिर हौले से किवाड़ मूँद दिए और भीतर से कुंडा लगा दी।

चिनार सिर से पाँव तक कान बन गईं। सारी दीवार कान बन गईं। लेकिन बगल वाले कमरे से पत्ता तक हिलने की आवाज न आई।

पता नहीं क्यों? आज सुबह से ही बाबूजी इतने उद्विग्न हैं! इधर चार-पाँच दिन से उनकी बूढ़ी आकृति में कितने ही भाव एक साथ आते हैं और मिट जाते हैं। एक साथ कितनी ही रेखाएँ, पानी के प्रतिबिम्बों की तरह खिचती हैं और सहसा कहीं दूर विलीन हो जाती हैं। ऑफिस से वे कुछ परेशान-से आते हैं और उससे भी अधिक परेशान घर से ऑफिस को जाते समय दीखते हैं।

चिनार जब भी स्कूल से आती है बाबूजी बरामदे में या मकान की खुली छत पर चहल-कदमी करते दिखाई देते हैं ।

बाबूजी की नौकरी के बरस अब शायद समाप्त हो गए। उसे याद आता है—इस अप्रैल में पचपन साल पूरे हो जाएंगे। पचपन के बाद नौकरी पर लोग अमूमन रखे नहीं जाते। पर जिनकी विशेष सिफारिश होती है, पुराना रिकार्ड अच्छा होता है और किसी अफसर की कोई शिकायत—किसी भी किस्म की नहीं रहती, उनको एक्स्टेशन पर रखा भी जा सकता है। बाबूजी के साथ तो खुश्चेव की जैसी खोपड़ी वाले, नाटे नाटे से आर० के० चाचा आते थे, वे एक्स्टेशन पूरा करके ही अपने गाँव देवरिया गए थे ।

चिनार अनुमान ही लगा सकती है या अनुमान ही लगाती है कि सम्भवतः बाबूजी के सामने यह भी एक सकट हो । कौन जाने अज्जो दीदी की शादी की समस्या हो। कॉलेज की पढाई समाप्त किए जिन्हे अब तीन साल पूरे होने को है। जीजी ने दो तीन जगह टीचरी के लिए प्रयास भी किए। पर हर स्थान पर, हर बार असफल रही। उन्हीं की महेली, मिस वीणा वसु उर्मिला-कॉलेज में लेक्चरर हो गई—जिन्हे जीजी से कम आता था, जो हर बात में जीजी से कम थी। कभी-कभी जीजी अपनी सहेली शुभा में गहरी साँस भरती हुई कहती—उनका भी डिवीजन आ सकता था। किसी कॉलेज में उन्हे भी पढाने का काम मिल सकता था, यदि वे किसी प्रोफेसर की 'पैट' होती तो। डॉ० शचीन्द्र कहते थे कि तुम्हें कुछ पूछना हो तो शाम को मैं खाली रहता हूँ। मेरे स्टडी-रूम में आ जाया करो। वहाँ के द्वार तुम्हारे लिए सदैव खुले हैं। किन्तु जीजी ने उन खुले द्वारों की ओर भूलकर भी झाँका नहीं कुछ भूलकर भी पूछा नहीं। शायद इसीलिए जीजी को आज कोई नहीं पूछता।

कौन जाने इसके अलावा कोई और समस्या हो। कोई और मुसीबत हो, जो सारे दिन बाबूजी को मथती रहती है।

पास के बंद कमरे से चारपाई के चरमराने की जैसी आवाज आती है। उसकी समझ में नहीं आता, इस अकेले कमरे में क्या हो रहा है। अभी बाबूजी भीतर गए हैं, दूध का गिलास थामे माँ भीतर गई है।

वह अपने अन्तर की जिज्ञासा का बाँध चाहकर भी बाँध नहीं पाती। हौले-से उठती है। दरवाजे के पास खड़ी हो जाती है और चुपके से एक दरार से झाँकती है—बाबूजी-अम्मा एक दूसरे पर गिरे हैं और दुध-मुँहे अनाथ बच्चों की तरह फफक फफक कर रो रहे हैं।

विस्मय से चिनार के पाँव खूँटी की तरह गड जाते हैं। आखिर ऐसी कौन-सी बात है, जिसके लिए इतने बूढ़े होकर भी ये बच्चों की तरह रोते हैं।

वह फिर बैठक में लौट आती है। उसकी बाँहों में 'महाजन एण्ड अग्रवाल' की लिखी फिजिक्स की पुस्तक बाँधी की बाँधी रह जाती है। वह देर तक कुर्सी पर निढाल गिरी, सामने की छोटी राउण्ड टेबिल पर पाँव पसार बैठी रहती है। छत पर सीलिंग-फैन

का राड, फर्श की ओर नब्बे-अंश का कोण बनाता हुआ लटक रहा है। उसके अन्तिम सिरे पर लोहे के पंखे नहीं, बल्कि सिर के आकार का गोल पगड़ीनुमा भाग फुटबाल की तरह लटक रहा है। जो चारों ओर से स्लेटी रंग के कपड़े से बँधा है। गर्मियाँ शुरू होते ही यह बँधा टुकड़ा उतर जाएगा और इधर-उधर से पंख चिपककर, दुबारा बाँहें पसारे हवा काटने लगेंगे....।

उसे याद आता है पिछले वर्ष इसी विनयनगर में एक प्रेमी-युगल ने पंखे के सहारे लटककर आत्महत्या की थी। उन दोनों के शव उसने अपनी आँखों से देखे थे....।

फिर अटैची के ऊपर उसकी पलकें मुड़ती हैं। कागज के भूरे थैले में कुछ भरा हुआ यानी कि सहेजकर धरा हुआ उसे दृष्टिगोचर होता है। वह उठती है और अटैची के सामने खड़ी हो जाती है।

मुड़ने से कागज जगह-जगह से फट गया है। एक परत वह हटाकर देखती है नई नाइलॉनी साड़ी !

बाबूजी आज यह किसके लिए लाए ! चिनार की समझ में नहीं आता। नाइलॉन से पता नहीं उसे क्यों इतनी चिढ़ है। नाइलॉन की साड़ी में मोटी औरतें कितनी भदी लगती हैं। धूप की ओर पीठ किए चलती हैं तो दो पाँवों के घेरे साफ झलकने लगते हैं। फिर लोग क्यों पहनते होंगे।

वह फिर छत की ईंटों की ओर देखती है—

एक ये अजित जीजी हैं ! छत पर सुबह से अपने बाल सुखाने में जुटी हैं। इन्हें दिन-दुनिया से कुछ सरोकार नहीं। दिन-भर छत पर खटिया डाले, किराए के उपन्यास पढ़ती रहती हैं। एक बार इन्होंने बाबूजी से लाइब्रेरी का मेम्बर बना देने की बात कही थी, पर बाबूजी ने झिड़ककर बात टाल दी थी। इतनी सयानी लड़की इधर-उधर आवारा बनकर घूमे, उन्हें पसन्द न था।

जिज्जी बाल पीठ पर बिखेरे एक बार कमरे में आती हैं और तेल की बड़ी शीशी और काला कंघा ले जाती हैं। फिर सीढ़ियों पर एक बार चढ़ते स्लीपरो की फट-फट आवाज आती है....और फिर छत पर चारपाई के खटखटाने की। उसे लगता है जिज्जी छत पर पहुँचकर फिर चारपाई पर बैठ गई हैं।

चिनार शीशे के सामने, कुछ परेशान-सी खड़ी हो जाती है और अपना प्रतिबिम्ब देखने लगती है। उसे आश्चर्य होता है कि कैसे फिजिक्स की किताब अभी तक भी उसकी बाँहों में बँधी है। वह सामने बिखरी लटों को पीछे धकेलती है। उसकी चुन्नी कन्धे पर से सरककर एक ओर गिर गई है।....अपने उरोजों की गोलाई देखकर उसे सहज ही विस्मय होता है। उसके सारे शरीर का विकास किस तेजी से हो रहा है ! एक ही वर्ष में धरती-आकाश का अन्तर आ गया !....कॉलेज में परसों कुमुद कालिया कहती थी कि बुरी लड़कियों के अंगों का विकास बहुत तेजी से हो जाता है। पर वह तो बुरी नहीं ! न वह राज की तरह दोस्तों के साथ पिक्चर जाती है न कभी कनाॅट-प्लेस घूमती

है, न नई दिल्ली के आधुनिक कॉफी हाउसों के अँधेरे एकान्त कमरो में बैठी-बैठी आधी रात बिताती है... न पेसी की तरह प्राइवेट-पढ़ाई के खोमचों पर बैठी, प्रभाकर पास प्राध्यापकों से छुट्टी के दिन भी (घर से इम्तहान की तैयारियों का बहाना बनाकर) पढ़ने जाती है... ।

उसे यह सब अच्छा नहीं लगता। घर में, जनम से ही बाबूजी का पूजामय वातावरण, माँ की धार्मिक-भावनाएँ, बचपन के सस्कार—इतने बन्धनों ने उनके दुर्बल पाँव जकड़े हुए थे कि वे चाहकर भी छटपटा नहीं पातीं। मच तो यह है कि वे छटपटाना चाहतीं ही नहीं। उधर मन ही नहीं जाता। विवाह एक पवित्र-सस्कार है। पति देवता है, इसके अतिरिक्त पाश्चात्य-सभ्यता की कोई भी मान्यता किसी भी तरह उन्हें स्वीकार न थी। आज घर पर वह पहली बार नाइलॉनी-वस्त्र देख रही थी। वह भी सम्भवतः बाबूजी के हाथों खरीदा। उसके आश्चर्य का ठिकाना न था।

वह बाहर आकर, बालकनी पर, टिन की पुरानी कुर्सी खींचकर बैठ जाती है। फिजिक्स की पुस्तक पर निगाहे टिकाए पता नहीं कब तक क्या-क्या देखती रहती है।

तभी दरवाजा खुलता है। अम्मा इस तरह से बाहर निकलती है नाकि चिनार न देख सके। माँ का चेहरा सूजा हुआ है। गीली आँखों में मिन्दूर की जैसी लाली बिखर गई है। वह तेजी से मुड़कर गुसलखाने में घुसती हैं और भीतर से इतनी जोर से चटखनी लगाती हैं कि उसकी आवाज चिनार को साफ सुनाई देती है।

देर तक गुसलखाने का नल तड़तड़ाता रहता है।

बाबूजी शायद सो गए हैं। क्योंकि भीतर से कोई आवाज नहीं आती।

चिनार छत पर जाती है। अजित जीजी ने अभी तक भी वैसे ही अध-गीले बाल बिखरे हैं। अभी तक भी तेल की शीशी का ढकना बन्द है। शीशा आसमान की ओर पीठ किए, फर्श पर छाती लगाए, औंधा लेटा है।

चिनार के मन में आता है कि वह जीजी से कुछ कहे, किन्तु कह नहीं पाती। क्योंकि जीजी का मूड आज बेहद ऑफ है।

भोजन के समय आज वैसा ही मातमी वातावरण है। अम्मा ने आज दिन-भर धोती नहीं पहनी। केवल ब्लाउज पर पेटीकोट बाँधे इधर-उधर फिर रही हैं। कोई और दिन होता तो बाबूजी बुरी तरह झिड़क देते। पर आज वे देखकर भी देख नहीं पा रहे और न चाहकर ही कुछ कह सकने की सामर्थ्य जुटाने में सफल हो रहे हैं। उनके गले में कुछ अटक गया है। इसलिए न वह खाते हैं, न कुछ पीते हैं और न बोल ही सकते हैं।

शाम को वह अज्जो जीजी के साथ बैठी इम्तहान के पर्चों के विषय में कुछ बातें कर रही थी कि बाबूजी उसे यो ही कोई काम का बहाना बनाकर मार्केट भेज देते हैं। अम्मा जीजी को लेकर किचन में चली जाती हैं।

चिनार लौटकर आती है तो देखती है—जीजी बेहद उत्तेजित हैं। क्रोध से उनके

अधर काँप रहे हैं। सारे अंग फड़क रहे हैं। चेहरा यख लाल है और पास ही खड़ी अम्मा दबे-स्वर में कुछ फुसफुसा रही हैं, कुछ समझा रही हैं। किन्तु वे समझने को ही तैयार नहीं। बार-बार चिल्लाती हुई फर्श पर पाँव पटक रही हैं।

चिनार दही का सकोरा रख देती है। ड्राइंग-रूम में भूरा कागजी लिफाफा फटा है। देहरी के पास जिसका गोला पाँवों से दब-दबकर पिचक गया है। नाइलॉनी साड़ी की परतें खुली हैं।

यह सारा नाटक आज क्यों हो रहा है! चिनार की आँखें बड़ी-बड़ी हो आती हैं।

वह स्वयं ही बाहर आकर बालकनी की दीवार पर कुहनियाँ टिकाए, सामने सड़क पर 28 और 12 नम्बर की बसों को मोड़ पर बड़ी तेजी से मुड़ती और फिर गोल घेरा काटती हुई, दूर निकल भागती देखती रहती है। पास ही पार्क में बच्चों का शोरगुल है।...पास-पड़ोस की कुछ लड़कियाँ बगल में पर्स दबाए, निगाहें धरती पर गड़ाए, सहमी-सहमी-सी, डरी-डरी-मी, इस तरह से बसों में से उतरकर घरों की ओर आ रही हैं—जैसे अपराध करके लौटी हों।...

उमकी निगाहें इधर-उधर अवश्य भटक रही हैं, पर ध्यान भीतर के कमरे की ओर जुटा है। अम्मा का गला भर आया है। वे गदराए, अस्पष्ट स्वर में कह रही हैं—कहे जा रही हैं—“तू ही सबसे मयानी है। अभी तेरा ही ब्याह नहीं हुआ तो औरों का कैसे होगा...! बाबूजी बूढ़े हो गए। पिछले तीन हफ्तों से वे परेशान हैं—पल-भर के लिए भी आँखे नहीं मुँदतीं। करवट-ही-करवट में रात बिता देते हैं। कहते हैं—अब पूजा-पाठ में भी मन नहीं लगता। इतनी जिम्मेदारियाँ हैं। इतने खाने-पीने वाले बच्चे-कच्चे हैं—सबका क्या होगा।...रात-भर वे पागलों की तरह बड़बड़ाते, बुदबुदाते रहते हैं...। उनका दुःख अब देखा नहीं जाता...तू ही बता, आगे से इतने सारे बच्चों का क्या होगा...।” माँ मच ही बिलखकर रोने लगती हैं।

अजित जिज्जी की ओर से कोई स्वर नहीं फूटता।...

थोड़ी देर बाद जीजी बाहर आती हैं। साबुन-तौलिया थामे हाथ-मुँह धोती हैं। बिखरे बालों को मँवारती हैं। नाइलॉनी साड़ी पहनती हैं। स्लीवलेस पारदर्शी ब्लाउज। उनके पाम कॉलेज के दिनों की बहुत खूबसूरत सुनहरी चप्पलें थीं। जो कभी उन्होंने पहनी नहीं, बड़े सहेजकर, छिपाकर रखी थी, उन्हे निकालकर पहनती हैं। आँखों में काजल लगाती हैं। माथे पर पीला-सा टीका।

वे अभी तक तैयार नहीं हो पातीं कि सामने ही दरवाजे पर स्कूटर घरघराने लगता है। जिस पर बाबूजी बैठे हैं और ऊपर सीढ़ियों की ओर देख रहे हैं, जहाँ से किसी के उतरने की आहट अभी तक भी नहीं आ रही है। इसलिए वे अधीर हैं। स्कूटर के पैसों का ही सवाल ही नहीं, वक्त की पाबन्दी का भी तो है...।

चिनार देखती है, अजित जिज्जी दल्हन की तरह बन-ठनकर बाहर निकल रही हैं। माँ पीछे-पीछे दरवाजे तक चलती हैं और फिर उसी की आड़ में ठहर जाती हैं।



जीजी बड़े शान्त-भाव से चुपचाप बाबूजी की बगल में स्कूटर में बैठी है और स्कूटर मुड़कर घरघराहट के साथ फट-फट करता, सामने के क्वार्टर की दीवार की बगल से होकर ओझल हो जाता है।

माँ सामने रीते द्वार की ओर अभी तक भी अकारण देखती रहती हैं।

“बाबूजी के साथ जिज्जी आज कहाँ जा रही हैं—अम्मा।” वह पूछती है तो माँ गुस्से से उसकी ओर देखती है और झिड़ककर कहती है—“तेरे बाबूजी के दोस्त की लड़की का ब्याह है। वहाँ गए हैं। सुन, किसी से कुछ कहना नहीं।”

चिनार कुछ और पूछना चाहती है, पर पूछ नहीं पाती—टाल जाती है।

माँ का चेहरा पानी-भरे बादलों की तरह भारी है। रोटियाँ बेलती-बेलती उनकी कलाईयाँ रुक जाती हैं। टप्-टप् खारा पानी रोटियों पर बिखरकर विलीन हो जाता है।

नौ बज गए हैं। अम्मा ने बाहर के किवाड़ बन्द कर दिए हैं। ठण्डी रोटियाँ ढक दी हैं। अभी तक भी बाबूजी जिज्जी के साथ लौटे नहीं।

दस बज गए हैं। अम्मा की पलकें छत पर चिपकी हैं। अभी तक भी कहीं से कोई आहट नहीं।

पता नहीं कब चिनार की पलकें मुँदती हैं। तभी बोलने, चलने-फिरने की आवाज से तन्द्रा टूटती है। देखती है—स्कूटर ऑगन में घरघरा रहा है। रात के बारह बजने को हैं। बाबूजी जिज्जी की बाँहें थामे सीढियाँ चढ़कर ड्राइंगरूम की ओर आ रहे हैं।

अजित जिज्जी का चेहरा उतरा हुआ है। बाल बिखरे हुए हैं। कपड़े अस्त-व्यस्त हैं। नई नाइलॉनी साड़ी किनारे से फटी है।

घर में मातमी वातावरण है। कोई कुछ नहीं बोलता। सबके होठ सिल गए हैं। जीभ तालू पर चिपक गई है।

जिज्जी धीरे-से लड़खड़ाती हुई उठती हैं और अपने अँधेरे कमरे में निढाल गिर पडती हैं।

खाना किसी से भी खाया नहीं जाता।

चिनार की बगल में जिज्जी लेटी हैं। उनके मुँह से भिन-भिन बदबू आ रही है।

पास ही कमरे में अम्मा के झगड़ने का स्वर टूट रहा है। बाबूजी ने खिड़की के शीशे तोड़ दिए हैं। एक-एक कर सारे देवी-देवता बाहर सड़क पर फेंक दिए हैं।

पर अब सन्नाटा है। एक बजने को है। शोरगुल अब नहीं सुनाई दे रहा है। माँ हौले से पूछ रही हैं—“क्यों जी, अब तो सब ठीक हो जाएगा न...।”

पर बाबूजी की ओर से कोई उत्तर नहीं। कहीं से कोई आवाज नहीं। केवल जीजी के सिसकने का स्वर व्याप रहा है।

## किनारे के लोग

इस लम्बी बीमारी और वीरानी ने ही उसे शायद इस कदर जर्जर बना दिया है, नहीं तो अभी उमर ही क्या है उसकी। अट्टाइस भी तो पूरे नहीं हुए। इस उमर के लोगों में जो जोश, जो ज़िन्दादिली, जो उमंग होनी चाहिए, वह उसमें कभी भी नहीं रही। कभी भी उसने अपने को युवा अनुभव नहीं किया। हमेशा माथे पर बिछी, सीधी-तिरछी समानान्तर रेखाएँ। आँखों में रेत की-सी उदासी। काठ-से सूखे, बेरौनक चेहरे में कोई भाव नहीं। कभी-कभी वह अपनी कलाइयों की नीली, उभरी नसों को देखता है, तो देखता रह जाता है। अपना सारा हाथ, नहीं-नहीं, सारा शरीर उसे एकदम ठण्डा लगता है—बर्फ की तरह—शान्त।

“साँब, आज खाना क्या लेंगे ?” बैरा कभी आकर पूछता है तो उसे बोलना पड़ता है—यही एकाध नपे-तुले शब्द कि उसे खाना है या नहीं। अन्यथा वह इतना भी नहीं कहता, केवल सिर हिलाकर रह जाता है।

बैरा फिर चला जाता है। तपन को लगता है, असह्य-सन्नाटा सारे कमरे में फिर व्याप गया है। वह हैण्डलूम के रंग-बिरंगे भारी पर्दों से ढकी खिड़कियों की ओर देखता है। रिग पर पर्दों की सिलवटें एक साथ इतनी अधिक गुँथी रहती हैं कि बाहर झाँकने के लिए कहीं कोई दरार नहीं रह जाती। जब बाहर कुछ भी झाँकने को नहीं रह जाता, तो वह अपने अन्दर की ओर झाँकने लगता है। स्मृतियों के अछोर सागर के बीच उसने अपनी सुविधा के लिए, अपनी रुचि के अनुसार, छोटे-छोटे अनेक द्वीप बना लिए हैं। पता नहीं, पिछले कितने वर्षों से वह पानी से घिरे इन्हीं वीरान द्वीपों में रह रहा है

“बैरा, आज यह कमरा किसने ठीक किया ?”

शाम को तपन घूमकर लौटा, तो देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। किताबें आज सब करीने से रैक पर लगी हैं। पलंग के पैताने के नीचे जूते, बाथरूम-स्लीपर, गम-बूट

पलटन के सिपाहियों की तरह कतार में दम-साधे खड़े हैं।

वह स्विच-ऑन करके, कुर्सी के पास खड़ा हो जाता है। चादर के चारों किनारे आज बराबर-बराबर दूरी पर झुके हैं। जैसे दो-फुटा लेकर नाप बैठाई गई हो। उसके ऊपर दूध के झाग-से गुदगुदे तकिये एक-दूसरे पर गिरे हैं।

वह और पास आता है, तो देखता है—सफेद चादर पर नन्हे-नन्हे जूतों के भूरे निशान पड़े हैं। वह बैरा की ओर देखता है।

बैरा अभी तक सामने खड़ा है—“हुजूर, वह जो चौबीस लम्बर में रहती हैं, जो है सो, आज वे दिन के टैम यहाँ आई थीं।”

“क्यों ?”

“यह तो पता नहीं, हुजूर।” बैरा साहब के मुँह की ओर ताकता है, “जो है सो, जब मैं सफाई कर रहा था, तो वह सामने बरॉडे में से जा रही थीं। एकाएक फाटक पर रुक गईं। भीतर आकर जो है सो पूछने लगीं, ‘बाबू हैं ?’ मैंने जवाब दिया कि वे आज घूमने लड़िया-काँटा गए हैं, तो बहुत देर तक फाटक के अगाड़ी खड़ी रहीं। कहने लगीं—‘किताब ऐसे नहीं धरते, चादर ऐसे नहीं लगाते।’ जो है सो, वे मेरे हाथ से झाड़ू लेकर खुद सफाई करने बैठ गईं।”

तपन जैसे बैरा की नहीं किसी और की, कहीं दूर की बेसिर-पैर की बातें सुन रहा हो। बोला—“और ये पलंग पर जूतों के निशान कहाँ से आए ?”

“हुजूर, जो है सो, उसके साथ एक बच्चा भी था। वह पहले तिपाई पर चढ़ा। फिर वहाँ से पलंग पर उछला और चूहे की तरह इधर-उधर बिदकता रहा, जब तक कि औरत उसे गोदी में उठाकर बाहर नहीं चली गई।”

“इस तरह से सबको कमरे में आने क्यों देते हो ?”

बैरा पहले तो चुप रहा। फिर बोला—“हुजूर जो है सो, वह आपके साथ एक दिन आपके कमरे में बैठी थीं। सो मैंने समझा कि हुजूर के घर की कोई होगी। कोई चीज-बस्त उठा ले जाती तो मैं गरीब मुफ्त में मारा जाता।”

उस पहाड़ी ‘जो है सो’ नौकर की सीधेपन की सीधी बातें सुनकर, तपन यों ही हँसा और चुप हो गया।

वह जूते उतारे बिना ही बिस्तार पर गिर पड़ा। इधर उसका स्वास्थ्य बहुत खराब रहता है। थोड़ा-सा चलने मात्र से दम फूलने लगता है। वह लड़िया-काँटा जाने की बात कह तो गया था, लेकिन अपने में पहाड़ पर चढ़ने की सामर्थ्य न पाकर, तिरछा ही पाइन्स की ओर निकल गया और वहाँ भी आधे रास्त ‘टॉल-टैक्स’ के पास से ही लौट आया।

सामने मेज पर किशतीनुमा टेबिल-लैम्प रखा रहता है। वह उसकी सुनहरी तिकोनी पालों की ओर अपलक देखता है। वह रोज सोचा करता है कि आज शाम को अवश्य ताल पर बोटिंग के लिए जाएगा। पानी में तैरने की उसकी बचपन से ही हॉबी रही है। बचपन में वह अपने गाँव की नदिया में बहते चीड़ के शहतीरों पर बैठकर

आर-पार जाया करता था। फिर यहाँ तो इतनी अधिक सुविधा है कि...। लेकिन सॉझ धिरते ही सारा उत्साह मंद पड़ जाता है। अकेले कहीं भी जाने को मन नहीं करता। बहुत-से लोग तो अकेले ही रहना पसंद करते हैं। भला कैसे करते होंगे! वह चौबीस नम्बर वाली महिला भी तो बेबी के साथ अकेली ही घूमती दिखलाई देती है। प्रातः तो अक्सर दीख जाती है। बिना-बार्डर की साड़ी, माथे पर अठन्नी के बराबर गोल लाल-टीका, माँग में हल्की-सी सिन्दूरी-लकीर और पॉवों में जीभ से भी पतली चप्पलें पहने फट्-फट् चलती है...।

उस दिन वह बारिश की तेज बौछरों में भीगता-भागता मल्ली-ताल से लौट रहा था, तो बच्चे का हाथ थामे वह देवदार के एक दरख्त के सहारे खड़ी थी। केवल बित्ते-भर की, नाम-मात्र की चौड़ी छतरी सिर पर ताने थी। छतरी के झुके तारों पर से पानी टपक-टपककर उसके कंधों पर गिर रहा था। और तब आस-पास सिर छिपाने को कोई ठौर न देखकर, वह भी वहीं एक किनारे ठिठक गया था। उसका सारा शरीर बुखार से तप रहा था। उन्नी कपड़े भीगकर भारी हो गए थे। तन का ही भार उससे सँभाला न जा रहा था।

एकाध बार शायद महिला ने यों ही उसकी ओर देखा था।

वर्षा थम गई। किन्तु कुछ छींटे अभी तक हवा में तिरछे तैर रहे थे। और वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ाई की बजरीदार सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, तो उसके पाँव कॉपने लड़ो। उसके पीछे-पीछे चलती महिला शायद स्थिति ताड़ गई। बोली—“यह छतरी ले लीजिए। आप तो बिल्कुल भीग गए हैं।”

तपन मुड़ा। पपड़ी जमे होंठों में मुस्कान लाने का प्रयास करता हुआ बोला—“थैंक यू!... अब तो पहुँच ही गया। थोड़ी-सी दूर तो है।”

“नहीं, नहीं,” कहती महिला अब उसके काफी समीप पहुँच चुकी थी, “लगता है, आपको फीवर है।”

“हॉ,” उसने बड़ी लापरवाही से कहा—“इधर ठण्ड की वजह से कुछ बढ़ गया है। नहीं तो—।”

फिर कोई कुछ नहीं बोला। तीनों चुपचाप चलते रहे। बच्चे के सिर पर बँधा भीगा स्कार्फ महिला ने रस्सी की तरह मरोड़कर निचोड़ा।

सीढ़ियाँ लॉचकर, कॉरीडोर तक वे साथ-साथ आए। इससे चन्द कदम आगे बरामदे तक भी वे साथ-साथ थे। वे इस तरह चल रहे थे, मानो तीनों साथ ही बाजार से थककर लौटे हों।

अपने कमरे के आगे क्षण-भर रुककर, तपन भीतर चला गया। कमरे के अन्दर पहुँचकर उसे लगा कि शिष्टाचार के नाते उसे महिला से कुछ तो कहना ही चाहिए था। उसने कुछ क्यों नहीं कहा...!

बुखार बढ़ गया था। दो-तीन दिन तक वह इसी तरह बिस्तर पर पड़ा रहा।

तीसरे दिन पैबन्द के बराबर धूप का टुकड़ा ऑगन में बिखरा था। खरसू के पेड़ के काँटेदार पत्तों के झुरमुट से छनकर कुछ तिरछी, पीली किरणें उसकी खिड़की के शीशे पर भी बिछ गई थीं, जो तपन को बहुत भली लग रही थीं। उसने अपना हाथ खिड़की के प्रकाश की ओर बढ़ाया, जो पीले उजियाले में और पीला लगाने लगा था। उभरी नसों के तार दूर तक खिच गए थे।

तब वह महिला एक हाथ में आइवरी-प्लास्टिक की कंडिया और दूसरे में बच्चे का हाथ थामे हौले-हौले भीतर आ रही थी। उसने बहुत हल्के ऐश-कलर की, कांजीवरम् किस्म की साड़ी पहन रखी थी। खुली, मोटी लट्टे कूल्हो को छू रही थीं। सदा की तरह चाबी का गुच्छा कन्धे के पीछे लटक रहा था। पाँव में छिलके-सी पतली चप्पलें थीं।

“आप तो सचमुच बीमार पड़ गए!” वह इस तरह से कमरे में आई, जैसे रोज ही यहाँ आती-जाती हो, “मुझे तो पता ही नहीं चला। आज बैरा ने बतलाया...”

तपन समझ गया कि ‘जो है सो’ ने बतलाया होगा। वही उसका इतना ख्याल रखता है।

वह आकर, पलंग के पास रखे स्टूल पर बिना किसी पूर्व-शिष्टाचार के बैठ गई।

“क्या फीवर है?” बिना हिचकिचाहट, तानक भी सकोच के बिना बड़े सहज-भाव से उसके माथे पर हाथ गया, “अरे! ...आँवे की तरह तप रहा है। कोई मेडिसिन नहीं ली?”

तपन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

“डॉक्टर को भी नहीं बुलाया?”

तपन चुप रहा।

“ऐसी लापरवाही बरतना क्या ठीक है?”

उसने तपन की ओर देखा कि वह कुछ बोले, कुछ कहे, किन्तु तपन की आँखें शून्य में टिकी थीं। बच्चा माँ की गोद में बैठा, दो बड़ी-बड़ी आँखें खोले, टुकर-टुकर ताक रहा था।

“आप यहाँ अकेले ही है?”

तपन से सिर तक हिलाया न गया।

“बीमार कब से हैं?”

तपन अब सामने रखे किशतीनुमा टेबिल-लैम्प की ओर देख रहा था—सुनहरी पालों की ओर। उसकी आँखो में कुछ उमड-सा आया। इतनी बड़ी दुनिया में वह अकेला है! कोई भी उसके सुख-दुःख के बारे में पूछने वाला नहीं। इतने वर्षों बाद उसे पहली बार इस तरह का अनुभव हुआ। लगा कि उसके अकेलेपन की पतली-सी शीशे की दीवार पर किसी ने पत्थर फेंक दिया है। उसके दिल के नाजुक नरम हिस्से पर किसी ने सहलाते-सहलाते नशतर लगा दिया है। उसने आँखें जोर से मूँद लीं।

महिला चुप थी। बैरा ने बाद में उसे बतलाया कि मर्ज़ पुराना है। बाबू जब से

आया है, बिस्तर पर लेटा रहता है। कभी तो सारी रात अँधेरे में बैठा-बैठा गुज़ार देता है। जब ख़ाँसी के दौरे घण्टों तक चलते हैं तो ख़ाँसते-ख़ाँसते दुहरा हो जाता है। जो है सो एक दिन तो बिस्तर से नीचे गिरा, बेहोश पाया गया था सवेरे।

महिला उस दिन चुपचाप उसके सिरहाने बैठी रही। उसके माथे को सहलाती रही, जब तक कि उसकी पलकें न मुँदी, और वह भलीभाँति सो न गया।

परन्तु उस दिन के बाद वह दिखाई न दी। कभी दूर से ही झलकती और ओझल हो जाती। चारों ओर से ऊनी कपड़ों में लिपटा, चूजे जैसा छोटा मासूम बेबी भी दीखता न था।

तपन पलंग से उठा। खिड़की के पास खड़ा हो गया। राँड पर पीतल की रिग के सहारे झूलते परदे को खड़खड़ाते हुए एक ओर समेट दिया और सामने देर तक खड़ा न जाने क्या देखता रहा।

बैरा ढका हुआ भोजन का थाल रख गया। अधिकतर ऐसा होता है कि जैसा थाल बैरा शाम को रख जाता है, प्रातः वैसा ही उठा ले जाता है। तपन छूता तक नहीं।

सामने चौबीस नम्बर में रात-भर हल्का नीला जीरो-वाँट का बल्ब प्लास्टिक के पतले शेड में घिरा टिमटिमाता रहता है। वह महिला बच्चे के साथ हमेशा अकेली ही दीखती है।

तपन खिड़की पर खड़ा-खड़ा थक जाता है तो बिस्तर की ओर लौट आता है, जहाँ सफेद चादर के बीच बच्चे के जूते के भूरे निशान एक सिरे से दूसरे सिरे तक चले गए हैं।

वह सोने का प्रयास करता है, पर नींद नहीं आती। दिन-भर तो वह सोया ही रहा। फिर बार-बार नींद आने भी क्यों लगी। वह यों ही तकिये पर सिर टिकाये सोचता रहा। उस दिन के बाद वह क्यों नहीं आई। बंगाली महिलाओं की तरह उसकी बिना-किनारी की धोती के छोर पर बँधा, पीठ पर गिरा चाबी का गुच्छा कितना अच्छा लगता है। शायद उसका पति साथ होगा, इसलिए भी। हो सकता है, कुछ और काम, कुछ और कारण, भी रहे हों। शायद अन्य औरतों की तरह एक रोगी व्यक्ति से वह भी कतराती हो। कुछ भी हो, उसे क्या। सभी औरतें समान होती हैं न। थोड़ी-सी नाममात्र की बात जिनके रूठने के लिए पर्याप्त होती है। वह अपने खादी के कुर्ते पर टँके, धागे के गोल-गोल बटनो को, दो अँगुलियों के बीच दबाए, नचाता रहता है।

आज कमरा उसे बहुत अच्छा लग रहा है। 'व्यवस्था' उसे बहुत अधिक भाती है। गन्दे कपड़ों का ढेर इधर-उधर बिखरा रहे, पुस्तकें उल्टी-सीधी पड़ी हों, जगह-जगह गर्द जमी हो, दियासलाई की जली-अधजली तीलियाँ, सिगरेट की कुचली हुई ठूठियाँ और मैले बदरंग पर्दे हवा में उड़ते या खिड़की और दरवाजों पर उदास लटके हुए—इस माहौल में उसका दम घुटने लगता है। लेकिन जब वह बहुत अधिक बीमार रहता है, यानी कि कुछ भी कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं रहता, तब अपनी बेबसी उसे बुरी तरह अखरती है। ब्याह के बाद उममें थोड़े-बहुत परिवर्तन रहे। किन्तु उसकी लम्बी

बीमारी के पश्चात्, उसे हमेशा के लिए अपनी किस्मत के सहारे अकेला छोड़कर जब 'वह' किसी अन्य के साथ चली गई, तो उसे फिर किसी वस्तु की सँवार न रही। वह हर तरह से टूटा, हर तरह से भिचा-भिचा, हर तरह से कटा-कटा रहा।

इस तरह औंधे मुँह बिस्तर पर पड़ा रहना भी उसे अब भार-सा लगने लगा। वह स्वचालित यन्त्र की तरह धीरे-से अपने-आप उठा। खूँटी पर लटका भारी कोट उतारा। किवाड़ खोले। 21, 22 23, 24 पर पाँव अपने-आप ठिठक गए।

भीतर हमेशा की तरह हल्का नीला बल्ब टिमटिमा रहा था। दबे कण्ठ से लोरी की आवाज धीमे-धीमे कॉपकर बिखर रही थी और देवदार की दीवार की दरारों से छन-छनकर प्रकाश के साथ बाहर आ रही थी।

चन्द्र क्षण वह उसी तरह खम्भे की भाँति खड़ा रहा। फिर बाएँ हाथ की उल्टी अँगुलियों की गाँठों से द्वार पर टिक्-टिक् की आवाज की।

मुँह पर बिखरे बालों को दोनो हाथों से पीछे करके, महिला किवाड़ खोलकर सामने आ खड़ी हुई।

“आइए।” बड़े सरल, सहज ढंग से उसने कहा। जैसे वह रोज ही यहाँ आता हो, या उसका आज आना स्वाभाविक हो।

वह भीतर आया, तो महिला ने किवाड़ उदका दिए। कमरे में एक ही बेंच की कुर्सी थी, जिस पर बच्चे के धुले, बिना प्रेस किए कपड़ों का ढेर लगा था। उन्हें दोनों बाँहों में भरकर पास ही अटैची के ऊपर रखती हुई बोली—“बैठिए।”

वह सामने बैठ गया। समीप ही बेबी के बिस्तरे के पास बैठकर, महिला उसे थपथपाने लगी—पहले की ही भाँति। जैसे उसके आने से वस्तु-स्थिति में तनिक भी परिवर्तन न हुआ हो।

उससे कुछ न पूछकर महिला स्वग्न बोली—“इधर फिर इसकी तबीयत बिगड़ गई है। कुछ दिन तो काफी सुधार रहा, पर अब वजन तेजी से गिर रहा है।”

“बीमारी क्या है?”

तपन ने घुटने के ऊपर घुटना टिकाकर, खादी के लम्बे कुर्ते की लम्बी जेब से पनामा का पैकेट निकाला और दियासलाई भी। डिब्बे के ऊपर सिगरेट के एक सिरे को टिक्-टिक् मारकर ओठों में दबाया और सामने की ओर देखा।

“क्या बताऊँ, किस्मत ही अपनी रूठी है।” महिला ने उत्तर दिया—“एक ही तो यह तिनका है, जिसके सहारे जी रही हूँ। लेकिन जब से यह पैदा हुआ, तभी से बीमार है।” और वह चुप हो गई।

चुप्पी तोड़ते हुए तपन ने कहा—“डॉक्टरों को तो दिखलाया ही होगा।”

“दिखलाया क्यों नहीं!” महिला का स्वर आर्द्र था—“बहुतों ने जवाब दे दिया। कहते हैं इसे टी० बी० है। रोग बहुत आगे बढ़ गया है।”

“हैं...!” विस्मय से तपन ने कहा—“इतने छोटे बच्चे को भी टी० बी० होती है।”

“होती क्यों नहीं ! बच्चों को तो और भी अधिक आसानी से हो जाती है । देखिए न, चेहरा कैसा पीला पड़ गया है—हल्दी की तरह !”

वह बच्चे के पाँवों पर पश्मीने के किनारे अच्छी तरह दबाने लगी, ताकि कहीं से भी हवा न लगने पाए ।

“किसी सेनिटोरियम में नहीं दिखलाया ?”

“भवाली में अभी थोड़े दिन पहले दिखलाया था । उससे कुछ दिन पहले दिल्ली के महारौली-सेनिटोरियम में भी दिखलाया था । कुछ महीने वहाँ रहा भी । लेकिन कोई खास नतीजा नहीं निकला । दूसरों के बच्चों का दर्द किसै होता है ! तभी यहाँ आई हूँ ।……लोग कहते थे, नैनीताल की क्लाइमेट अच्छी है । जब आए थे तो एक महीने में सवा-दो पौण्ड वजन बढ़ा था । किन्तु अब उससे भी कम हो गया है, जितना यहाँ आती बेर दिल्ली में था ।” उसके स्वर में अजीब-सी अधीरता, अजीब-सा कम्पन था ।

बच्चा सो गया है । पुलोवर की लाल-लाल धारियाँ चमक-सी रही हैं, जिसके निचले काज में उसने अपनी तर्जनी डाल रखी है ।

महिला धोती का चाबी बँधा छोर सँभालती हुई उठी । भीतर कमरे में स्विच-ऑन हुआ । फिर दियासलाई के जलने की आवाज और फिर स्टोव के भरभराने का स्वर ।

थोड़ी देर में वह तौलिए से गीले हाथ पोंछती बाहर आई । इस बीच उसने शायद अपने को सँभाल लिया था । माथे की शिकनें अब अधिक गहरी न थीं ।

“खाना तो होटल में ही खाते होंगे !”

“जी हाँ ।”

“अकेले ही हैं क्या ?”

“ऐसा ही समझ लीजिए ।”

“स्टिल बैचलर ?”

उसने हल्के भाव से कहा—“बस, ऐसा ही कुछ ।”

“यानी ?” वह हँसी ।

“यानी, यही कि बस कुछ भी नहीं ।……आज की दुनिया में कौन किसका होता है ! हम स्वयं ही खुद अपने नहीं, तो दूसरा कौन होगा अपना !”

अन्तिम वाक्य बड़ी वेदना से उभरकर आया था । शायद उसे यह बात नहीं कहनी चाहिए थी । ऐसी बातें किसी से कहने से क्या लाभ !

वह चुप था ।

महिला चाय के दो प्याले लिए आई ।

“यह कष्ट क्यों !”

“कष्ट क्या ! केवल चाय ही तो है । पहाड़ों पर तो इसके बिना गुजारा ही नहीं होता ।”

दो-चार चुस्करियों के बाद तपन ने प्याला कुर्सी के हत्थे पर रख दिया । बोला—



“मेरे एक डॉक्टर मित्र हैं, मिस्टर वाई० बी० लाल। कल ही यहाँ आए हैं। टी० बी० स्पेलशिस्ट हैं। कभी उन्हें दिखलाएँगे।” तपन ने रुककर सामने देखा, “लगता है, आप लाड़-प्यार अधिक करती हैं, नर्सिंग कम। माँ अच्छी आया हो भी नहीं सकती....!”

“यही समझ लीजिए।” और वह ठक्-ठक् खोखली हँसी हँसी।

“यहाँ तो नौ बजे ही अँधेरा हो जाता है।” तपन ने बातों का सिलसिला आगे बढ़ाते हुए कहा—“सारे कमरों में सन्नाटा छा जाता है। अभी दस पूरे नहीं हुए हैं, लेकिन आपके और मेरे अलावा कोई भी जाग नहीं रहा है। केवल इसी कमरे में उजाला है....!”

महिला ने कुछ नहीं कहा। एक गहरी साँस भरी।

तपन चाय पीकर चुपचाप उठा। महिला अभी तक भी चुप थी।

तपन फिर चला गया। महिला अभी भी चुप थी। कमरा साँय-साँय कर रहा था।

सुबह उसके उठने से पहले ही, महिला उसके सामने तश्तरी से ढका चाय का प्याला लिए खड़ी थी।

“आप अभी तक उठे नहीं।” महिला ने सहानुभूति के, शिकायत के स्वर में कहा—“तभी तो आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।”

तपन कुछ कहे, इसके पहले ही उसने प्याला सामने कर दिया। “देखिए, आपके लिए रशॉन-चाय लाई हूँ। सुबह-सुबह मुँह खट्टा करने के लिए।”

वह नहा-धोकर आई थी। बहुत भली लग रही थी।

वह झटपट बिस्तरे पर उठ बैठा और प्याला ओंठों से लगा लिया।

“आप भी खूब हैं!” महिला ने सरोष कहा—“बिना कुल्ला किए ही—।”

तपन खिसिया-सा आया।

जब तक उसने प्याला खाली कर दिया, महिला हाथ बाँधे खड़ी रही, “आपको खट्टी चाय पसन्द नहीं आई!”

उसने शायद सुना नहीं। सोचता हुआ बोला—“बेबी कैसा है?”

महिला ने भी शायद नहीं सुना। वह खाली प्याला लेकर चली गई। अधिक बातें आज, पता नहीं क्यों, किसी ओर से नहीं हुईं। दरवाजे को पार करती-करती वह क्षण-भर कुछ कहने को ठिठकी, किन्तु बिना कुछ कहे ही चुपचाप झटके के साथ बाहर चली गई।

तपन टहलकर आया। बाहर बरामदे में बेंच की आरामकुर्सी पर लेटकर कुछ पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते ग्यारह बज गए।

तभी बैरा आया—“हुजूर, जो है सो, चौबीस नम्बर में आपको बुलाया है।”

वह अधखुली मैगज़ीन कुर्सी के हत्ये पर टिकाकर, तेजी से चला गया। बेबी की तबीयत कहीं ज्यादा खराब न हो गई हो!

“कहिए, बेबी तो ठीक है न!” तपन ने पूछा।

“हाँ! लेकिन आप अब तक थे कहाँ? तीन बार आपको बुलावा भेजा। देखिए

न, खाना पड़ा-पड़ा सब ठण्डा हो गया !”

सामने ही मेज पर भोजन की थाली थी और दरवाजे के समीप महिला खड़ी थी।

“यह क्या ?” अचरज से तपन ने कहा।

“क्या-क्या कुछ नहीं। जल्दी खाओ। देखते नहीं, सब ठण्डा हो गया !” महिला का अपनत्व-भरा स्वर आवश्यकता से अधिक अधिकारयुक्त था।

“लेकिन मेरा खाना तो कमरे में कब से रखा है !” असमंजस में पड़ा, तपन अभी तक खड़ा था।

“वह खाना आपका नहीं, जानवरों का है। आपकी सेहत तभी तो इस कदर खराब हो गई है……।”

गूंगे-पशु की तरह चुपचाप तपन मेज पर बैठ गया और भोजन चुगने लगा।

सन्ध्या को जब महिला बेबी को लेकर तल्लीताल डॉक्टर साह की डिस्पेंसरी जा रही थी, तो तपन भी साथ था।

महिला ने आज एक के लिए नहीं, बल्कि दोनों रोगियों के लिए साथ-साथ दवा ली। अपने लिए भी कुछ गोलिएँ नींद आने की खरीदीं। तपन को कुछ ठण्ड की शिकायत थी, इसीलिए महिला बरस रही थी, कि उसे ठीक ढंग से रहना नहीं आता। वह हद दर्जे का लापरवाह है। उसे ठीक सवा-पाँच पर उठना, सवा छः पर टहलने जाना और सवा-सात पर नाश्ता लेना होगा। घर से बाहर निकलते समय ओवरकोट साथ होना चाहिए।

तपन चुप था।

प्रातः उसका कमरा वह स्वयं ही साफ कर गई। गन्दे कपड़ों का गट्टर बैरा के कन्धे पर लदवाकर धोबी के पास भिजवा दिया। एक अच्छा-सा गुलदस्ता माली से मँगवाकर, किशतीनुमा टेबिल-लैम्प की बगल में गोलमेज पर सजा दिया।

वह भोजन बनाने में जुटी तो तपन बेबी के साथ खेल रहा था।

उस दिन वे पाषाण-देवी से लौट रहे थे। बेबी साथ था। बहुत दिनों बाद, आज तपन को न जाने क्या सूझी ! बोला—“देखिए, अभी सवा छः भी नहीं बजे हैं। अभी से घर लौटकर क्या करेंगे ? थोड़ी देर तालाब में बोटिंग ही कर लें। आज किनारे पर कितनी नावें खाली खड़ी हैं !”

महिला ने भी पता नहीं क्या साचकर ‘ना’ नहीं की। बिना कुछ कहे वह किशतियों के अड्डे की ओर मुड़ी। बेबी भी हौले-हौले साथ चल रहा था।

बड़ी देर तक वे हिचकोले खाते इधर-उधर घूमते रहे। नाव घपटे भर के लिए थी। अतः जल्दी मल्लीताल पहुँचने अथवा वापस लौटने का प्रश्न न था। तीनों चुप थे। तपन स्वयं डॉड चला रहा था। डॉड जब पानी को चीरता, तो कभी-कभी हल्का-सा एक भँवर रच जाता, और पानी के कई छोटे-बड़े बुलबुले बुद-बुद इधर-उधर बिखर जाते।

“यहाँ के पानी का रंग बहुत गहरा हरा है न !”

“हाँ।”

बेबी एक किनारे झुका, हाथ से पानी छपछपा रहा था।

“लेक बहुत गहरी होगी न।”

“हाँ।”

दोनों फिर चुप थे।

“मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता था...!”

“पूछिए।”

“नहीं, किसी की पर्सनल बातें नहीं पूछनी चाहिए...।” तपन ने असमंजस से कहा।

“न पूछनी चाहिए तो मत पूछिए।”

वह हँसी। तपन भी।

“सुनिये, इतनी दूर परदेस में आप अकेली क्यों रहती हैं?”

“अकेली कहाँ हूँ! बेबी तो है न साथ।”

“बेबी के फादर?” कहते-कहते वह अटक गया।

“बेबी के फादर बेबी की किसी मदर के साथ कहीं मौज उड़ा रह होंगे।” वह व्यंग्य-भाव से हँसी—“ढलती उमर के लोगों को कौन पूछता है। उस पर पैसा हो तो फिर...क्यों, ठीक है न...!”

तपन समझा नहीं।

“रहने भी दीजिए,” महिला ने गम्भीर स्वर में कहा—“सब जानकर क्या करेंगे! कुछ अनजाना ही रहने दें, तो क्या हरज है, क्यों?” वह फिर हँसी। किन्तु वह हँसी बड़ी वैसी थी।

तभी कुहासा घिरने लगा। हवा चलने लगी। नाव भी इधर-उधर बहकने को हुई तो महिला ने बेबी के गीले हाथ अपने आँचल से पोंछकर, उसे गोद में ले लिया।

“कितना अच्छा होता, यदि यह नाव डूब जाती, और यहीं जल-समाधि में हमेशा के लिए हम सब सो जाते। इस ज़िन्दगी में धरा ही क्या है?” और कुहरे से भरे आसमान की ओर देखकर तपन चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद मौन तोड़ती एक गहरी साँस भरकर महिला बुदबुदाई—“लेकिन ऐसा होगा नहीं। न नाव उलटेगी। न हम डूबेंगे—भले ही इस ज़िन्दगी में कुछ भी धरा न हो। उसका इस सबसे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता।...अपना सलीब अपनी पीठ पर हमें खुद ही ढोना पड़ता है—खुद ही...।”

तपन दोनों डॉड बराबर चलाता, हॉफता रहा। बड़ी देर बाद उमे ख्याल आया कि एक घण्टा तो कब का बीत गया, और अब चारों ओर अँधेरा है।

उसने मुड़कर देखा—सोए बेबी की पीठ पर सिर टिकाए महिला सिसक-सिसक-कर चुपचाप रो रही है।



## किसी एक शहर में

मैं सहजभाव से उसका ठिठकना, यों ही मुस्कराने का प्रयास करना और फिर हाथ में थोड़े-से कागज अपनी ओर बढ़ाना, देखता रहता हूँ।

“कुल कितने मिले इस महीने ?” पूछता हूँ।

“बम, इत्ते ही 55……।” उसकी आकृति का आकस्मिक-भाव ‘इत्ते’ में ही सारी स्थिति समझा देता है।

“सौ।”

“ना।”

“तो… ?”

“नब्बे।” वह कोशिश करती हुई इस तरह से देखने लगती है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। उसके उजले गालों पर नक्शे की नदी की तरह एक नीली-सी नस है, जो ऐसे क्षणों में सहसा अधिक गहरी हो जाती है।

पहले की तरह वह फिर हौले-हौले धरती नापती फुटपाथ पर चलने लगती है, नोटों की मुड़ी-मुड़ी परतें मेरे हाथ में थमाकर।

पिछले महीने उसे एक सौ पच्चीस रुपए मिल गए थे। वह कहती थी कि मई से कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड हो गई है। गोल-कीपर (पार्टनर सेन गुप्ता को आवश्यकता से अधिक लम्बा होने के कारण वह प्रायः इसी नाम से पुकारती है) की डिक्टेटरशिप अब चलेगी नहीं। पे-स्केल भी रिवाइज हो जाएँगे। कम-मे-कम डेढ़ सौ तो मिलेंगे ही……। नहीं तो लालजी से कहूँगी। उनका बिहेव अच्छा है। लेकिन जब वे टूर पर बाहर रहते हैं तो गोल-कीपर तग करना है। कम तनख्वाह देकर अधिक पर दस्तखत करवा लेता है।

जामुन के पेड़ों की दुहरी, तिहरी कतारें जहाँ समाप्त होती हैं, सारे दुःखों का समारम्भ वहीं से होता है। वह अपनी रसहीन रोज की ज़िन्दगी दुहराती है और मैं हरे-भरे नीम के दरख्तों की ओर देखता हूँ। मुझे सब विचित्र-सा लगता है। रफ़ी-मार्ग

के दोनों ओर, काठ के फुटे के आकार की बनावटी नहरें 'शो-केस' के चित्रों का-सा भाव छोड़ती एक ओर छूट जाती हैं। लगता है—दियामलाई के खड़े डिब्बे जैसे, भूरे पत्थर के इंडियागेट की तरह, सड़क के किनारे-किनारे बित्ते-भर के बौने सफेद खम्भों की तरह, दूर स्टेडियम के पीछे पुराने किले की काली दीवारों की तरह—यहाँ की मखमली दूब, फच्चारों की नाइलॉनी-धाराएँ भी बनावटी हैं। राजपथ की जगमगाती मरकरी बत्तियाँ, तालाब में टिन के कमलों के बीच रंगीन उजियाला, मब मूक-चित्र के-से जीवन-विहीन दृश्य हैं।

“आप बोर तो नहीं हो रहे।” वह मुझसे सटकर खडी हो जाती है।

मैं उसका अबोध चेहरा देखता हूँ। कान के पास, यों ही हवा से हिलती, मुड़ी हुई, बालों की नन्हीं-सी भूरी लट देखता हूँ, “हाँ, हो तो रहा हूँ।” (यों ही कहने भर को कहता हूँ)

“हिस्स...।” वह होंठों पर हथेली रखती है—“झूठे कहीं के।” अँगुली पर अँगूठी की तरह ऑचल का किनारा लपेटती है—“मैं सोच रही थी, आप आज बेहद नाराज होंगे। कहेंगे—कब से तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। लेकिन तुम बड़ी 'वो' हो।... सच्ची कभी कितना अच्छा लगता है कि कोई हमें 'वो' कहे। कोई हमारी प्रतीक्षा करे। कभी कोई नाराज़ होकर उलाहने दे। कभी-कभी तो मन तरस उठता है...।”

वह मेरे और समीप चलने लगती है।

“आपने आज मेरी ओर गौर से देखा नहीं।”

“क्यों ? देखा तो है।”

“कहाँ देखा। मेरी आँखें आज कितनी रैंडिश हैं -।”

मैं देखता हूँ—“कुछ-कुछ हैं तो सही—ए बिट -।”

“सच, कल मैं बेहद रोई...।” वह जैसे अपने से कह रही हो।

“क्यों ?” मैं अचरज से मुड़कर देखता हूँ।

जल-तरंग का जल छलक पड़ता है। वह एकाएक हँस पड़ती है—“रोई नहीं जी। सारी रात इंतजार करती रही।”

“किसका... ?”

“किसी का भी नहीं।”

“फिर भी S।”

“नींद का।” वह फिर शरारत से हँसती है। चुप हो जाती है। मुँह बनाती है। सहमे गुस्से से देखती है और मौन होकर उसी ग़ात से चलती रहती है।

“सच, मेरी आई-साइट कमजोर हो गई है। आप किसी डॉक्टर-वाक्टर को दिखला दीजिए न।... आप तो देखते नहीं। चश्मा खरीदकर अब हम खुद आँखें चार कर लिया करेंगे।” वह शरारत से मुस्कराती है।

क्रॉसिंग पर हम रुकते हैं। नारंगी के बाद 'गो' की हरी-लाइट देखते ही, भीड़ के साथ नदी की तरह सड़क पार करते हैं और निःशब्द आगे बढ़ते हैं।

मैं उसे एक केस की तरह लेता हूँ। तटस्थ दृष्टि से उसके हर कार्य को देखता हूँ। सम्भवतः वह भी इसे समझती है। फिर भी जानबूझकर अनजान बनने की कोशिश करती है। शायद जीवन में हम सभी, किसी सीमा तक, कहीं पर ऐसा ही करते हैं।

फट-फट, मोटर, कार, स्कूटरों का एक चौड़ा-सा नाला सामने अटूट गति से बह रहा है। समझ में नहीं आता, इतने अधिक लोग, इतनी भाग-दौड़ मचाकर कहाँ पहुँचने की उतावली में हैं।

“मदर की तबीयत ठीक है?”

“जी हाँ।” वह अनदेखे ही कहती है।

“मधु स्कूल जाता है?” (उसका छोटा भाई है मधु। कमेटी के खोमचे में तीसरी में पढ़ता है।)

“हाँ!”

थोड़ी देर बाद वह सन्नाटा तोड़ती है। लम्बी साँस भरती है—“सूझता नहीं, राशनवाले का बिल इस महीने कैसे चुकाएँगे! चीजें इतनी महंगी हो गई हैं कि जीना मुश्किल हो रहा है! यहाँ आकर ऐसा होगा, सच, हमने सोचा तक न था।”

“कितने देने हैं?” मैं पूछता हूँ।

“यही कोई सिक्सटी तक!”

“कुछ मैं मदद करूँ?”

“थैंक्यू!” वह भीड़ की ओर देखती है—“भीख की आवश्यकता नहीं।” फिर हँसने की सहज चेष्टा करती है।

मुझे बुरा लगता है। मैंने कुछ और सोचकर कहा था शायद। वह मेरी आकृति का भाव ताड़कर सहम जाती है। मेरी अँगुलियों के पोर हौले से थामकर दबाती है—“आपने माइण्ड तो नहीं किया! जरूरत होने पर आपसे नहीं तो फिर किससे कहूँगी!...सुनिए!” वह अचकचाकर देखती है, जैसे कुछ सहसा याद आ गया हो, “मेरा क्वार्टर छूट गया तो फिर कहाँ रहूँगी...?”

टन्-टन्...इधर-उधर से वक्त-बेवक्त निकल भागती साइकिलें बड़ी बुरी लगती हैं। सड़क की मरकरी-बत्तियाँ दिप्-दिप् जलने लगती हैं। उसका मन भीग आता है।

“मेरी बात का आप बुरा तो नहीं मानते!” एक अधूरा-सा वाक्य फिर दुहराकर वह चुप हो जाती है।

मुझे उस पर तरस आता है। यद्यपि मैं जतलाकर सारा वातावरण बोझिल नहीं बनने देना चाहता। वह आज क्या-क्या कहेगी, क्या-क्या नहीं—यह सब मैं पहले से ही सोच लेता हूँ और जो कुछ होता है, मौन-भाव से उसे देखता रहता हूँ, जैसे पुल पर खड़ा कोई पाँवों के नीचे बहते पानी को देख रहा हो।

“सुनिए, आप चुप क्यों हो गए?” वह अब अपने को तनिक हल्का-सा अनुभव करती है।

“चुप कहाँ हूँ!”

“आज आप कॉफी पिलाएंगे न।”

मैं कुछ नहीं कहता तो उसे जैसे शह मिलती है। वह मुस्कराती है—“अच्छा, कॉफी के साथ क्या-क्या खिलाएंगे?”

“कुछ नहीं।”

“कुछ्छ...नहीं।” वह मुँह बनाती है, “एक दिन तो ‘हॉ’ कहिए। रोज ‘कुछ्छ नहीं’, ‘कुछ्छ नहीं’। हमें यह सब अच्छा नहीं लगता जी 5।”

“तो क्या अच्छा लगता है आपको।” मैं अब कुछ हँसी के मूड में होता हूँ और वह जब बैलून की तरह हल्की हो जाती है तो ‘मै’ को ‘हम’ कहने लगती है।

वे सिधिया-हाउस के मोड पर असमंजस से रुकते हैं।

‘कॉफी तो आज आपसे पीनी ही है, चाहे कुछ भी हो।’ साधिकार वह कहती है।

“भई, पैसे-वैसे बेकार करने के फेवर मे हम नहीं।” मैं न चाहते हुए भी जानबूझकर मना करता हूँ और जानता हूँ—उसका अगला वाक्य क्या होगा। शायद उससे वही कहलाना चाहता हूँ।

सचमुच उसका वाक्य वही होता है, जो मैं सोच रहा था—“आज आपको कहानी का एक डीसेण्ट प्लाट बता दूँगी...।”

“प्लाट-व्लाट से क्या करना है।”

“हद् हो गई...।” वह कपाल पर दुहती मारने को होती है—“इतने सैल्फिश।”

वह फिर तुनककर मेरी ओर देखती है—“अच्छा हम पिलाएंगे।”

“लाओ पैसे।” मैं हथेली बढाता हूँ।

“सब दे तो दिए। चीन की तरह सब हड़पने पर भी आँखें दिखाओगे...।”

लाल नियॉन-लाइट के नीचे से होकर हम कनाॅट-प्लेस के एक बहुत बड़े एयर-कण्डीशण्ड डिब्बे में घुसते हैं। घुटते हुए कोलाहल के बीच एक किनारे, एकान्त की टेबिल पर धँस जाते हैं। दीवार में धँसा हमारी ओर अँगुलियों की ओट लगाए एक नीला, धुँधला बल्ब टिमटिमा रहा है—जिसका जलना, न जलना समान है।

वह मेज पर झुकती हुई, स्लीवलेस ब्लाउज से बाहर निकली दोनों नगी कलाइयों को सामने फैलाती है। भूरे रोंयों के बीच हाथ पर उभरी हल्की-सी नसें बडी सुन्दर लगती हैं।

“हाथों में कुछ पहनती क्यो नहीं।”

विफरकर वह देखती है—“आपने कभी पहनने को कुछ दिया?” (यह जानते हुए भी कि उसका ऐसा कहना कहाँ तक उचित है।)

“मैं सोच रही थी आज आप जनपथ की दुकानों से कुछ खरीद देंगे। मेरे पास सिर्फ दो ही साड़ियाँ बची हैं अब। किसी दिन फटी हुई पहनूँगी तो आपको बुरा नहीं लगेगा।”

“ना—तनिक भी नहीं।”

वह सरोष देखती है—“आपके पास हृदय नाम की कोई चीज नहीं।”

“हाँ, लगता तो मुझे भी ऐसा ही है।”

काँफी आती है। एस्प्रेसो के भूरे घने झाग के ऊपर चीनी के बारीक कण कुछ क्षण तक तैरने के पश्चात् डूबने लगते हैं। वह जानबूझकर आधी-आधी चम्मच चीनी और डालती है—“जब से चीनी का अकाल हुआ है, कितनी ही चीनी गेरो, काँफी फीकी ही रहती है। कभी भी काँफी का-सा जायका नहीं आता। मुई दुनिया ही डूबने वाली है अब।”

वह इस तरह से चम्मच घुमाती रहती है जैसे साबूदाने की ऋढ़ाई में करछी चला रही हो।

“सुना आपने !”

“क्या ?” मैं उसकी ओर देखता हूँ। वह करछी, नहीं-नहीं, चम्मच चलाती रहती है।

“गोल-कीपर ने आज मुझे लंच में अपनी केबिन में बुलाया।” उसकी अँगुलियाँ ठिठक जाती हैं—“जानते हैं क्या कहा होगा ?”

मैं मुस्कराता हूँ—“यही कि...तनख्वाह में दस और बढ़वा के सौ पूरे कर लो...।”

वह किलककर बच्चों की तरह हँसती है, जैसे मैंने उसके होंठों की बात छीन ली हो। “सच्ची !” वह वेग से कहती है, “किटि ने उसकी आदत खराब कर रखी है। पहले तो कहने लगा, चाय बनाओ। बनाकर प्याला आगे बढ़ाया तो बोला, वह कैप्टन मेरे होंठों पर लगाओ। लगाई तो भीतर-ही-भीतर गीली लकड़ी की तरह घुटने लगा। बोला—पास आओ...।”

मैं नहीं गई तो अँगुली हिलाते हुए पुकारने लगा, जैसे कुत्ते को बुला रहा हो—‘कम नियर।’ मैं नहीं गई तो फिर उबला। फिर शान्त हुआ। फिर बोला—‘हण्ड्रेड पूरे हो जाएँगे !’ मैं टस-से-मस न हुई। मैंने सोचा क्या कर लेगा—

“कम्पनी अब बनिए की दूकान नहीं, प्राइवेट लिमिटेड फर्म है सर !”

“तो तुम्हें भी तो... !”

अजीब-सा मुँह बनाकर कहती-कहती वह चुप हो जाती है।

“तो फिर क्या हुआ आगे ?” अब मेरी पूछने की बारी है।

“कुछ भी नहीं।”

वह उबाले गए पानी का ठण्डा गिलास अपने होंठों पर लगाती है। केवल एक अधूरा घूँट भरकर रख देती है। मैं उसकी कुछ-कुछ रक्तिम आँखों को देखता हूँ। अधिक पीने के पश्चात् पलकें जैसे बोझिल हो गई हों।

सिप्-सिप् कर मैं एस्प्रेसो का घना झाग निगलता हूँ, जिसमें अभी भी कहीं-कहीं चीनी के बारीक कण घुलने से रह गए हैं।

“अरे, च S ! मैंने आपको बतलाया नहीं !” वह साश्चर्य कहती है एकाएक।



जैसे मुझे इतना भी मालूम नहीं, “किट आज मेरे पास आकर रो रही थी……।” मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए वह देखती है, मुँह लम्बा कर गरदन खींचती है। फिर हौले-से फुसफुसाती है—“किसी से कहना नहीं, ‘प्रेग्नेण्ट’ हो गई है……।”

मैं देर तक चुप रहता हूँ। क्या सोचता हूँ, पता नहीं। गोल-कीपर, लहरा, अपादरे और होतीप्रसाद का नाम बार-बार दुहराता हूँ। फिर न जाने क्यों पूछता हूँ—

“लालजी कैसा आदमी है?”

“अच्छा है।”

“तुमसे कैसे रिलेशन हैं?”

“ठीक हैं।……पर उसे अपनी कजिन्स से ही फुरसत नहीं……” वह तौलने के लिए मेरी ओर देखती है—“वैसे बिना मरजी के वह कुछ नहीं करता। केवल घुमाने ले जाता है……।”

मैं अँगड़ाई लेकर कोच पर झुकता हूँ। वह मेरे चश्मे में टेबिल पर बिखरे प्यालों का प्रतिबिम्ब देखती है।

“कॉफी आपने क्यों छोड़ दी?” मेरे प्याले में वह इस तरह देखती है, जैसे कुएँ में कुछ झाँक रही हो।

“बस, अब मन नहीं।” जम्हाई लेता हुआ मैं अपने खुले मुँह को उल्टे हाथ से ढकता हूँ।

वह प्याला अपनी ओर खींचती है। “मैं पी लूँ!” यों ही कहने के लिए कहकर, छोटे-छोटे घूँट भरने लगती है चुपचाप। उसकी न मालूम क्या आदत है। पानी पीकर ज्योंही गिलास परे रखता हूँ, वह तलहटी में बची दो-चार बूँदें अपने गले में निथार लेती है। मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्तु वह कहीं बुरा न माने, इसलिए कुछ कह नहीं पाता।

वह दीवार-घड़ी की ओर देखती है—“कहीं आपका आज शाम का अपाइण्टमेंट तो नहीं!”

मैं गरदन हिलाता हूँ।

“सच, मैं आपको बेहद परेशान करती हूँ। कभी-कभी तो अपने पर ही झुँझलाहट होती है। क्या करूँ!” वह जैसे स्वयं से कहती है—“लालजी एक दिन मुझसे पूछते थे—‘दिल्ली में और किसे जानती हो’? मैंने आपका नाम लिया तो मेरे चेहरे की ओर ताकने लगे। बोले—‘कैसे जानती हो!’ मैंने सरलता से कहा—‘उनसे हमारे फेमिली-रिलेशन हैं।’ उस दिन से सच, उन्होंने मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।” वह दाँतों के बीच अपनी उँगली रखती है। काटती नहीं, यों ही किट्-किट दबाती है।

“तो राशन वाले को कुछ कम दे दूँ हों!” वह इस तरह से पूछती है, जैसे मुझसे पूछे बिना चारा नहीं। मुझे उस पर, उसके स्वभाव पर, झुँझलाहट नहीं होती, करुणा आती है।

“हाँ, ऐसा ही करो।”;

“ऐलाटी को किराया पूरा चुका दूँ?”

“हाँ।”

“पैसे बचेंगे तो मेरे लिए कुछ पर्वेज कर दोगे हाँ!”

मैं सिर हिलाता हूँ—यह जानते हुए भी कि धेला भी बचने वाला नहीं है।

बैरा बिल लेकर आता है। मैं पैसे चुकाता हूँ। बाहर कॉरीडोर पर दो ठो पान खरीदता हूँ।

पाँच नम्बर के बस-स्टाप पर मैं उसे छोड़ने जाता हूँ। वह और पास-पास चिपककर चलती है।……बस-स्टाप अब रीता है। सवा नौ बजने वाले हैं। फिर भी कुछ लोग तो होने ही चाहिएँ। शायद अभी कोई बस गुजरी हो!

मैं उसके सारे नोट ज्यों-के-त्यों उसे थमा देता हूँ।

“कॉफी के पैसे मेरे अकाउण्ट से दे देते!” यह जानते हुए भी वह कहती है कि मैं कभी भी उसके पैसे नहीं खर्च सकता।

“परसों सेकिण्ड सेटरडे है। हमारे यहाँ आइएगा!……प्लीज—!”

“मुश्किल है।”

“थोड़ा-सा समय निकालकर। दस मिनट के लिए ही सही……!” वह कुछ और कहने के लिए होंठ खोलती है।

दूर अंधेरी सड़क चीरती दो उजियाली आँखें हमारी ओर बढ़ती दीखती हैं। उसे लगता है, उसी की बस है—“तो सुनिए। आइएगा हाँ! आपके आने से हमें कितनी खुशी होती है, आप सोच भी नहीं सकते!……हमें लगता है, हम निपट-निसहाय नहीं। हम भी किसी के सहारे हैं। पास-पड़ोस के लोग भी हमें हिकारत की नज़र से नहीं देखते। अच्छे कपड़ों में किसी अच्छे आदमी के आने-जाने से उन्हें लगता है, हमारे भी अच्छे रिलेशन हैं। जिस दिन उन्हें लगेगा, इस पराए शहर में हम एकदम अकेले हैं—वे हमें दिन-दोपहर नोच-नोचकर खा डालेंगे!”……वह सफेद हो जाती है।

कोई एक बस हॉफती हुई सामने ठिठकती है।

“तो……आइएगा न 5……!” उसकी आवाज तांत की तरह खिच आती है। वह बिना बस का नम्बर देखे ही फुट-बोर्ड पर चढ़ती है और ओझल हो जाती है।

□

## सज़ा

वह फिर आई थी आज ।

कल ही तो तार मिला था । क्षण-भर वह हत्प्रभ-सी खड़ी रह गई थी । अपनी आँखों पर विश्वास ही न हुआ—जो कुछ लिखा गया है, क्या वह सच है ?

गुलाबी रंग का कागज मरते हुए पक्षी के डैने की तरह उसकी कॉपती अंगुलियों में थरथरा रहा था । होंठ खुले थे । आँखें पत्थर की तरह ठोस—निश्चल !

“क्या हुआ दीदी ?” श्रुति भागती हुई आई, पर भावना जैसे शून्य में कहीं खो गई थी ।

धम्म से पल्लंग की पाटी पर बैठ गई—निचला होंठ दाँतों के बीच दबकर नीला हो आया था ।

स्थिति की भयावहता देखकर श्रुति को साहस न हुआ कि आगे बढ़कर कुछ और पूछे । वह जड़वत खड़ी रही—क्षण-भर ।

भावना न जाने कब तक यों ही पाषाण-शिना-सी पल्लंग पर बैठी रही ।

“क्या हुआ दीदी ?”

“कुछ नहीं... ।”

“किसका तार है ?”

कोई उत्तर नहीं दिया भावना ने ।

“मामा जी का ?”

“नहीं ।”

“फिर... ?”

भावना ने इस ‘फिर’ का उत्तर देने की भी आवश्यकता न समझी । वह वैसी ही लेटी रही ।

देर तक कमरे में असह्य सन्नाटा रहा । अन्त में चारों ओर जमी बर्फ की विशाल चट्टान को तोड़ती, किसी तरह भावना बोली, “सुरि, मेरी अटैची में कपड़े रख दे । आज

ही शाम की गाड़ी से चली जाऊँगी।”

“कहाँ दीदी?”

“अरे, अभी बतलाया नहीं—दिल्ली जा रही हूँ। हमारी हैडमिस्ट्रेस को इन्फॉर्म कर देना।”

भावना की दृष्टि अब बार-बार घड़ी के डायल की ओर जा रही थी। सवा नौ बजे गाड़ी जाएगी, इस समय आठ पच्चीस हैं।

“रात को अकेली न रहना सुरु! जमाना बुरा है। सुबको मौसी को जरूर बुला लेना। तुम खाना खा लेना। मुझे भूख नहीं...।

“तू अपने एकजाम की तैयारी क्यों नहीं करती! फाइनल ईयर है। अरी, खड़ी-खड़ी मुँह क्या देख रही है?”

तनिक तुनककर भावना ने कहा तो श्रुति सहम-सी गई। डरती-डरती बोली, “बिना खाना खाए ही चली जाओगी दीदी!”

“हाँ—कह तो दिया!”

“कुछ बाँध दूँ...?”

“नहीं!”

यों ही हड़बड़ी में भावना चली गई तो श्रुति को सब अजीब-अजीब-सा लगा—एक विचित्र-सी पहेली।

दीदी ने यह भी नहीं बतलाया कि तार किसका था? क्या लिखा था...?

सुबको मौसी बड़े कमरे में खरटे भरती हुई सो गई, पर श्रुति भावना के कमरे में बैठी देर तक पढ़ती रही।

तभी पन्ने पलटते-पलटते पता नहीं किस तरह पेन जमीन पर गिर पड़ा। उसे उठाने के लिए वह झुकी ही थी कि नीचे, वही गुलाबी रंग का कागज, मुड़ा-तुड़ा पड़ा था।

बड़ी सावधानी से फटे कागज की सलवटें ठीक करके पढ़ने का प्रयास किया। लिखा था—‘रतन एक्सपायर्ड।’ नीचे दस्तखतों की जगह किन्हीं ‘विनोद’ नामक सज्जन का नाम अंकित था।

—तो जीजा जी चल बसे! श्रुति बुदबुदाई।

फिर लाख कोशिश करने के बाद भी पढ़ने में मन न लगा। दीदी की आन्तरिक व्यथा साकार होकर आँखों के आगे घूमती रही।

सारी रात पड़ी-पड़ी सोचती रही—जीवन-भर दीदी को क्या मिला? जीजा जी द्वारा अपमानित होकर, घर से निकाली जाने के पश्चात्, उन्होंने कितना कुछ नहीं सहा!

उसे याद आया—वह बालकनी में बैठी, जाड़ों की पीली, पथराई धूप में गीले बाल सुखा रही थी, तभी किसी ने बतलाया, “सुनो बिटिया, रतन ने दूसरी शादी कर ली है।”

दीदी ने सुने का अनसुना कर दिया, जैसे पहले से सब जानती हों। उन्हे तनिक भी अचरज न हुआ।

दीदी चाहती तो क्या क्या नहीं कर सकती थी। कानून साथ था। बड़े मौसा जी जाने माने वकील। किन्तु न जाने क्या सोचकर वह होठ मिए चुप बैठी रही।

—मेरे प्रारब्ध मे इत्ता ही सुख था तो अधिक कहाँ से आता। दीदी उडी उडी-सी कभी दुहरा दिया करती थी।

बड़े चाचा जी, मामा जी, बुआ जी—सबने कहा—दूसरी शादी करने के लिए, पर यहाँ भी भावना दीदी पहेली बनी चुप बैठी रही।

कितना सहा दीदी ने। कितना। कितना।। श्रुति बिछौने मे मुँह छिपाकर सिसकने लगी।

“कौन, भावना बहू। कब आई। ससुराल के रिश्ते की किन्ही वृद्धा ने ऑगन में पाँव धरते ही पूछा।

“अभी मॉजी ।”

“तार दिया था—बिन्नु ने ।”

“जो हॉ।”

अटैची धामे भावना क्षण भर वेसी ही खडी रही—दरवाजे के पल्लू के सहारे फिर चुपचाप भीतर चली गई।

घर मे कुहराम मचा था, परन्तु भावना गूंगी, बहरी सी चुप बैठी रही। न रोई, न चिल्लाई। मूक दर्शक की तरह यत्रवत सब देखती रही।

वह औरत रो रहा थी—जिमे अब रतन की पत्नी कहते है, रतन जिसे ब्याहकर लाया था, जिसकी सूनी माँग मे अब सूखे घाव की दरार सी पड गई है।

भावना देखती रही—दुबला पतला सूखा शरीर। पीली देह।

इसी के प्यार मे पागल होकर रतन ने उसे। कतनी यत्रणाएँ दी थी। क्या क्या नहीं कहा था, क्या-क्या नहीं किया था। जब सब असह्य हो गया तो एक दिन घर से भी निकाल बाहर किया था।

पापा नहीं रहे तो फिर किसी का भी भय न रहा।

दो बच्चे बाहर खडे थे। एक नन्हा सा किसी की गोदी मे खरगोश की तरह दुबका बैठा था। अपनी माँ को रोती दखता तो स्वय भी मुँह फाडकर रोने लगता।

यह वही घर था, जहाँ भावना एक दिन दुल्हन बनकर आई थी। पापा कहते थे—अपनी भावना को हमने चन्दा और करुणा से भी अच्छा घर दिया है। खूब सुख से रहेगी राज रचेगी।

कैसा राज रचाया। कितने सुख से बिताए चार साल। भावना का हृदय यह सोचने मात्र से सिहर उठा।

ढेर सारे गन्दे कपडे, जिन्हे यहाँ बिस्तर की, सजा दी जा रही है, एक ओर पडे है।

पलंग टूटा हुआ है। मेज के एक पाँव के नीचे ईंट का आधा टुकड़ा पड़ा है।

“रतन की बीमारी ने हमें कहीं का न रख छोड़ा। बर्तन-भाँडे तक बिक गए।” वृद्धा सास माँ कपाल पर हाथ रखे, अपने टूटे करम को रो रही थीं। किसी से कह रही थीं, “अन्त में भाई तक मुँह बिरा गए मौसी। मरते समय मेरे रतू के घर कफन तक के लिए पैसे नहीं थे……।”

भावना सुनती रही।

एक-दो दिन तक चुप देखती रही।

तीसरे दिन अपने घर लौटते समय जब रहा न गया तो बूढ़ी सास को एकान्त में ले जाकर बोली, “ये कुछ रुपये हैं माँजी! क्रिया-कर्म में लगा देना। बच्चों को दुख न देना। विनोद कह रहे थे—बच्चों का स्कूल जाना छुड़वा दिया है। उन्हें फिर स्कूल भिजवा देना।……जो कुछ बन सकेगा, मैं करूँगी……।”

“बहू, यह तू क्या कह रही है? तेरे साथ उसने जो कुछ किया, उसके बाद तो……!”

“जो कुछ उन्होंने किया, उनके साथ ही चला गया माँजी। पर इन अबोध बच्चों का क्या दोष?”

साथ लाई दो-तीन साड़ियाँ भावना छोड़ गई। बच्चों के लिए कुछ रुपये भी।

रिक्शे पर बैठती-बैठती बोली, “माँजी, कभी उधर चली आना। मन बेहल जाएगा। हमें भी खुशी होगी। माँ तो बचपन में ही हमें छोड़कर चल बसी थीं। जब से होश सँभाला आपको ही माँ की ठौर पर पाया।”

“बहू, अब तू इत्ता दुख न दे। हमारे किए की इत्ती बड़ी सजा नहीं!” बूढ़ी सास का अब तक थमा बाँध टूट बहा, “उसके ऐसे धन्न भाग कहाँ थे। अपने किए पापो की सारी सजा भुगत गया बहू……।”

रिक्शे पर टूटी टहनी की तरह निढाल पड़ी भावना बैठी रही। माँग का सिन्दूर न जाने कब, कैसे पुँछ गया था। उसका अब कोई निशान न था। पर हाँ, नौ साल लम्बी थकान उसके मुरझाए मुखड़े पर आज अवश्य उभर आई थी।

□

## स्मृतया

“तो इत्ती-सी बात थी ?”

“और क्या ?”

मैं हँस पड़ा और वह भी ।

एक बहुत ऊँचे वृक्ष पर कहीं चील का घोंसला था, उसके ऊपर नीला आसमान और इधर-उधर बिखरे कहीं-कहीं सफेद मटमैले बादल ।

आज भी कभी सोचता हूँ तो सब सपना-सा लगता है । लगता है—वह सब घटित नहीं हुआ था । कभी-कभी बहुत कुछ हम यों ही सोच लेते हैं न । और चाहे या अनचाहे, जाने या अनजाने, इतनी बार दुहराते हैं कि सब यथार्थ-सा लगने लगता है ।

मेरे हाथ में अभी भी वह नीला कागज है, और उसके साथ रंग-बिरंगा पारदर्शी पतला लिफाफा—

—जो चीजे छूट गयी, जिनसे अब कोई वास्ता नहीं, वे ही बार-बार घेरकर क्यों खडी हो जाती हैं ? बार-बार मैं क्यों परेशान हो उठ ती हूँ और...

पत्र बंद करके मैं कुछ और सोचने लगता हूँ । मेरी आँखों के आगे तब एक दूसरा ही चित्र घूमने लगता है—

चंदन-सा चेहरा, गहरे पाँगर के रंग के बाल, दूर तक फैली बड़ी-बड़ी दो कजरारी आँखें । इतनी बड़ी आँखें भी क्या किसी की हो सकती है ?

मेरा ध्यान सहसा उस ओर गया तो चौंक पड़ा । वे दो बड़ी-बड़ी आँखें अपलक मेरी ओर देख रही थीं । मुझे उनका इस तरह से देखना बड़ा अटपटा-सा लग रहा था । इतने बड़े समारोह में, लोग क्या कहेंगे ? ‘लोग क्या कहेंगे ?’ मेरी जिदगी की सबसे बड़ी कमजोरी रही है, जो अब तक है ।...मैंने उड़ती निगाहों से उसकी ओर फिर देखा, वह अब तक भी उसी तरह देखे जा रही थी... ।

समारोह के बाद घर आया तो बड़ी देर तक वे दोनों आँखें मेरा पीछा करती रहीं । लग रहा था जैसे मेरी पीठ पर धधकते अंगूरे की तरह चिपक गयी हैं ।

उस दिन बड़ी सर्दी थी। ओले गिरने से शाम तक ठण्ड कुछ और बढ़ गई थी। उस ढलवाँ सड़क पर, लबा ऊनी कोट पहने अकेला वह चल रहा था। तभी गरम कपड़ों से ढकी, वह अपने पति के साथ, नन्हीं बच्ची का हाथ थामे, लंबे-लंबे डग भरती दिखाई दी। बच्ची के छोटे-से हाथ में पतली जंजीर थी, जिससे बँधा एक बौना झबरैला कुत्ता उछल-उछलकर दौड़ता हुआ, उनका साथ देने का असफल प्रयास कर रहा था।

वे चुपचाप चल रहे थे। पास ही झील पर से उठती हल्की-हल्की हरी लहरों की ओर वह उड़ती नजरों से देख रही थी।

ज्योंही उसने सामने देखा, उसका चेहरा सहसा चम्क उठा। अपने प्रति वह सचेत हो आयी। दूर से ही उसके दुबले-पतले सफेद हाथ यंत्रवत जुड़ गये।

“उस दिन आप कहाँ चले गए थे?” उसने इस तरह पूछा जैसे बहुत पहले से जानती हो।

“अपने डेरे में……।” मैंने मुस्कराने की चेष्टा की।

“आप शायद हमें पहचान नहीं पा रहे हैं, पर हम आपको अच्छी तरह जानते हैं। अक्सर हम लोग आपके विषय में बातें करते रहते हैं।……हाँ, ये मेरे पति हैं,” तनिक घूमकर उसने कहा, “और यह हमारी बिटिया। इसे हम ‘बेबी’ कहते हैं।”

प्रत्युत्तर में मेरे कुछ कहने से पहले ही वह फिर बोल उठी, “इत्ती सर्दी में आप जा कहाँ रहे हैं?”

“यों ही टहलने……।”

“आज काफी घना कुहरा है।” उसने बड़ी परेशानी से कहा, “लगता है, इस साल बहुत बर्फ गिरेगी।”

सचमुच घना कुहरा चारों ओर घिरने लगा था। झील की सतह से ठण्डा धुआँ-सा जैसा ऊपर उठ रहा था। घास पर गिरी ओस की बूँदें जम चुकी थी। वातावरण में अजीब-सी मनहूसियत छाई हुई थी। लगता था, सारा शहर वीरान हो गया है। बड़ी मुश्किल से कहीं-कहीं कोई आदमी दीखता था। अधिकतर मकान, होटल बंद हो चुके थे। इक्का-दुक्का कारें बस-स्टैंड पर दीखतीं या फिर रोडवेज़ की बसें।

“आपको जल्दी न हो तो……मेरा मतलब……एक प्याला कॉफी पीकर जाते। हम यहीं पास ही तो रहते हैं—उस सामने वाले मकान में, जहाँ कत्थई छत दीख रही है……।”

मैंने कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखा।

“अभी तो सेनितोरियम जाना है……।”

“तो शाम को आइये, छह-सात तक, कॉफी हमारे साथ पीजिए। आप हमारे घर आ सके तो हमें बड़ी खुशी होगी, सच!” वह इतनी बड़ी होकर भी अबोध बच्ची की तरह कह रही थी।

अपना पता देकर वह चली गई। मुझे आश्चर्य हुआ, न मैं उसके पति से कोई बात कर सका, न बेबी से ही। दरअसल वह इतना कुछ बोल गयी कि दूसरों को समय



ही न मिला ।

शाम को सेनिटोरियम से लौटा तो काफी थका हुआ था । मन नहीं था कहीं जाने को । आरामकुर्सी पर आँखें बन्द किए निढाल पड़ा रहा ।

बाहर सनसनाती हुई हवा चल रही थी । सूरज के ढलते ही पहाड़ों में कैसा घुप्प अंधकार छा जाता है । घाटियाँ अंधे कुओं जैसी लगती हैं । तब हाथ को हाथ नहीं सूझता ।

बालकनी पर झुका मैं झील के चारो ओर झिलमिलाती ठण्डी रोशनी की ओर देख रहा था । मरकरी बल्बों की नीली-नीली, हरी रोशनी एकदम सर्द लग रही थी । पेड़ों से लदे पहाड़ के ढलानों पर कहीं-कहीं पीले बीमार बल्ब अपने अस्तित्व का अहसास जता रहे थे ।

मेरी निगाहें अँधेरे में कुछ खोजने का असफल प्रयास कर रही थीं कि तभी नीचे से किसी ने आवाज दी ।

सींक जैसा दुबला-पतला काला लडका ठण्ड में ठिठुरता हुआ सीढ़ियों पर खड़ा कह रहा था, “जी... आपको बुलाया है... ।”

मुझे समझने में ममय न लगा कि किमने बुलाया है । क्षण-भर असमंजस में कुछ सोचता रहा, “कितनी दूर होगा यहाँ से ?”

“बस, यहीं पास ही... ।” अगुली उठाकर उसने अँधेरे में इस तरह इशारा किया, जैसे पास ही छूकर बतला रहा हो ।

ओवरकोट पहनकर मैं उसके पीछे पीछे चल पड़ा । लडके के पाँवों पर मात्र फटी हुई चप्पले थी । वह बजरी से ढकी ढलवाँ मडक पर बड़े जतन से सम्हल-सम्हलकर चल रहा था । पर मेरे अनभ्यस्त पॉन् बार बार रपट पडते । कई बार तो मैं गिरते-गिरते बचा ।

मुझे बड़ा अटपटा-सा, अजीब-सा लग रहा था । जिन लोगो को मैं भलीभाँति जानता-पहचानता नहीं, उनके घर जाना मेरे लिए कम असमंजस का कारण नहीं था । फिर भी मेरे पाँव बढ़ रहे थे और मैं चल रहा था ।

जब घर पहुँचा तो देखा—वह दरवाजे पर खड़ी है ।

“आपने इत्ती देर कर दी ।” वह उलाहने से बोली, “सब आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं ।”

‘सब’ शब्द से मेरे मन की परेशानी कुछ आर बढ गयी ।

उसने गहरे नीले रंग की साडी पहनी थी । उसी रंग का अन्य परिधान था । इस समय उसका चेहरा सुबह की तरह जर्द नहीं, ताजे फूल की तरह खिला था ।

“आज बेबी का जन्मदिन है न ।” मुस्कराती हुई वह बोली, “आप नहीं आते तो हमें बहुत बुरा लगता ।”

एक सजे-सँवरे कमरे में वह मुझे ले गयी । उसने सबसे मेरा परिचय कराया ।

मेरी सुविधाओं का वह इतना ख्याल रख रही थी कि कभी-कभी मुझे असुविधा-सी अनुभव होने लगती।

भोजन के बाद सारे मेहमान एक-एक कर कम होने लगे, पर वह पास की कुर्सी पर बैठी बातें करती रही। उसके पति कई बार कमरे से गुज़रे। काफी मेहमान भी अब तक जा चुके थे, लेकिन उसकी बातों का सिलसिला समाप्त होता लगता न था।

कई बार वह बोलती-बोलती सहसा चुप हो जाती। मैं बाहर कहीं दूर अँधेरे में टिमटिमाते पीले उदास बल्बों की ओर देखने लगता तो वह भी उसी ओर देखने लगती।

“आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं?” उसने न जाने क्या सोचकर कहा तो मैंने सहसा चौंककर उसकी ओर देखा। उसकी गहरी नीली आँखों में एक अजीब-सी वेदना थी।

वक्त काफी बीत चुका था।

“अच्छा, अब चलूँ?” मैंने उसकी ओर देखा।

उसे जैसे समय का भान हुआ। उसने घड़ी की ओर देखा और फिर भागती हुई भीतर गयी।

“इन्हें गेट तक छोड़ आँ।” बड़ी मासूमियत से उसने अपने पति से कहा, “थक तो आप भी बहुत गए हैं आज।”

वह अपने पति के कोट का मुड़ा हुआ कॉलर ठीक कर रही थी, “अरे, आपके हाथ बहुत गरम क्यों हैं?” उसने चौंककर कहा।

सचमुच उसके पति की तबीयत ठीक नहीं लग रही थी।

“खैर चलिए, इन्हें छोड़ आँ। फिर आपको दवा दे दूँगी। अभी तो काफी काम समेटना है।”

वह सफेद शॉल ओढ़े हुए थी। हाथ में टॉर्च लिए आगे-आगे चलकर, पीछे मुड़ रही थी, ताकि सबको रास्ता साफ दिखायी दे।

हम गेट तक पहुँचे तो वह बोली, “आपको बहुत कष्ट दिया आज, लेकिन आपके आने से हमें कितनी खुशी हुई, आप सोच भी नहीं सकते।”

मैं चलने लगा, तब भी वह अपने पति का हाथ थामे, बुत की तरह खड़ी उस अंधकार में न जाने क्या टटोल रही थी!

मैंने चेखव की जीवनी में ऐसा ही एक प्रसंग पढ़ा था कभी। मैं उस सारी रात सोचता रहा। जैसा एक के जीवन में घटित हुआ वैसा ही, ठीक उसी तरह, क्या किसी और की ज़िन्दगी में भी घटित हो सकता है?

जिस दिन चलने लगा, वह लेकब्रिज पर खड़ी थी—बच्ची का हाथ थामे। उसके पति भी छोड़ने आए थे। बस चलने लगी तो उसकी आँखों में कुछ अजीब-सा भाव तैरने लगा था।

आये दिन की यात्राओं से इधर बहुत थक गया था। तपेदिक के साथ-साथ और

भी बहुत-सी परेशानियाँ बढ़ गयी थीं। इतने लंबे अंतराल में उसे केवल एक बार और देखा था। वे ही हरे-भरे पहाड़, वैसी ही सड़कें थीं, लेकिन लगता था, कहीं बहुत कुछ बदल गया है……।

एक दिन वर्षों बाद अकस्मात् एक पत्र मिला। उसी की लिखावट में था—‘सत्रह तारीख को पचमढ़ी जा रही हूँ। रेलवे स्टेशन पर मिल सकेंगे?’

निश्चित समय पर मैं स्टेशन पहुँचा तो वह वेटिंगरूम के आगे खड़ी थी। उसका चेहरा कितना बदल गया था। छोटी-सी बच्ची साथ थी, जो मुझे देखते ही चहक उठी।

“यह तो उतनी ही छोटी है, जितनी मैंने इसे तब देखा था!”

मैं अभी कह ही रहा था कि वह जोर से हँस पड़ी, “यह वह नहीं, उसकी छोटी बहन है।”

“हू-ब-हू वैसी ही है। हाँ, क्या नाम रखा इसका?” मैंने यों ही पूछने के लिए पूछा।

वह हँस पड़ी। उसकी हँसी वैसी ही थी—निश्चल, निर्मल।

“कुछ भी तो नहीं।” उसने मेरी ओर देखा।

“कुछ तो …।”

“बस्स, बेबी कहते हैं। आप कुछ सुझाइये, वह रख लेंगे। क्यों बेबी?” उसने बेबी को समेटते हुए चूम लिया।

पास ही काउटर से मैंने टॉफियों का रंग-बिरंगा डब्बा खरीदा तो बेबी खिल उठी। उसी मे से टॉफियाँ निकाल-निकालकर मुझे और अपनी मम्मी को देने लगी।

लगभग तीन घंटे उसे स्टेशन पर रुकना था। इतने थोड़े समय में जैसे वह सारी बातें समाप्त कर लेना चाहती थी। मुझे आश्चर्य हुआ यह देखकर कि वह अपने साथ कुछ खाना भी बनाकर लाई थी।

“आपको यह पसंद है न।” उसने मेरी ओर देखते हुए कहा, “जब भी खाने के लिए बैठती, पता नहीं क्या-क्या याद आने लगता। अनायास हाथ रुक जाते।……हमारे ऑगन में अब भी वे ही फूल खिलते हैं। आपको कितने अच्छे लगते थे! एक भी फूल मैं उनमें से तोड़ती न थी……आप कितनी दूर रहते हैं यहाँ से? बहुत घूमना-फिरना पड़ता है न। ट्रेनों का सफर कितना खतरनाक है। आप दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं……। ‘वे’ स्टेशन तक छोड़ने आए थे। आपको जो पत्र भजा था, वह उन्हीं को लेटरबॉक्स में डालने को दिया था। मैंने उसे स्वयं बंद तक नहीं किया। अपने जीवन में मैंने कुछ भी तो नहीं रखा, छिपाने के लिए। मैंने कभी कोई गुनाह नहीं किया, ईश्वर साक्षी है……।” खाते-खाते उसका हाथ अनायास ठिठक पड़ा।

मैं तटस्थभाव से उसे देखता रहा—उसके सिर पर कहीं-कहीं सफेद बाल चमक रहे थे।

पहले वह हँसती रहती थी। साधारण-सी छोटी-छोटी बातों पर भी देर तक हँसती चली जाती। लगता था, हँसी का अदृश्य फव्वारा कहीं से फूट रहा है। हँसती अभी भी वह उसी तरह थी, लेकिन अब वह बात न थी। हँसते-हँसते उसका चेहरा कोरे कागज की तरह सफेद हो आता।

पिछले सात-आठ महीने वह बहुत बीमार रही थी। पर उसकी रुग्णता ने उसकी कंचन-सी काया को और भी तपा दिया था। उसकी आँखों की चमक पहले की अपेक्षा बढ़ आई थी।

“देखिए न! खाने की जो-जो चीजें मुझे पसंद थीं, डॉक्टर ने सब मना कर दी हैं।” वह सामने बिखरा सामान समेटने लगी। उसके कहने में कहीं कोई शिकायत न थी। बड़े सहज ढंग से वह जैसे यों ही कह रही हो।

मुझे पहले से पता था कि बेबी उसके साथ होगी। अतः उसके लिए कुछ खिलौने लाया था। पास ही बेंच पर वह अकेली बैठी, निर्द्वन्द्व भाव से खेल रही थी।

बार-बार उसकी निगाहें अपनी दुबली-पतली कलाई पर बाँधी घड़ी की सुई पर अटक जातीं। एक-एक क्षण गुजरने का उसे अहसास था। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, उसकी अधीरता बढ़ती चली जा रही थी। जैसे भागते समय को बाँध लेना चाहती हो।

“तब मर जाती तो आज आपको कैसे देखती?”

कंडिया में वह सामान समेटने लगी।

रेल की यात्रा और अनिद्रा से वह बहुत थकी-थकी-सी लग रही थी। सामान उठाते समय उसकी अंगुलियाँ काँप रही थीं।

“अभी तो लंबा सफर तय करना है। आज यहीं आराम कर लेती!” मैंने कहा तो वह बिना मेरी ओर देखे, उसी तरह सामान समेटती रही। फिर कुछ सोचती हुई बोली, “तीन घंटे यहाँ ठहरने की बात ‘उन’ से कही थी। यों रुक भी सकती हूँ, वे कुछ कहेंगे नहीं, लेकिन....”

इस ‘लेकिन’ के साथ उसने एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न खींच दिया था। तभी बेबी का एक खिलौना नीचे गिर पड़ा। मैं उठाने ही वाला था कि उसने लपककर उठा लिया।

समय हो गया था, लेकिन अब तक ट्रेन आई न थी। इसलिए हम प्लेटफॉर्म पर टहलने लगे। स्टेशन की चहल-पहल देखकर बेबी बहुत खुश थी। बार-बार तरह-तरह के प्रश्न पूछ रही थी, पर वह उनका संतुलित-संयत उत्तर न दे पा रही थी।

“बड़े शहरों से डर-सा लगता है....” वह कुछ सोचती हुई बोली, “याद है, उस साल कितनी बर्फ पड़ी थी! आप रोज सुबह टहलने जाते थे। वह सड़क अब पक्की हो गयी है। आप कभी उधर फिर आये नहीं न! क्यों नहीं आये....? मैं रोज सुबह आँगन में खड़ी, उस सूनी सड़क पर न जाने क्या-क्या खोजा करती थी! आप सच नहीं मानेंगे....” वह कहती-कहती अटक आई थी।

सामने के प्लेटफॉर्म पर खड़ी कोई मालगाड़ी अजगर की तरह धीरे-धीरे सरक

रही थी। इंजन की तेज सीटी से सहसा बेबी चौंकी। उसने अपनी मम्मी की अंगुली और कसकर पकड़ ली।

“पहले बहुत सपने आते थे। मैं खिड़की पर खड़ी देखती—आप हौले-हौले बर्फ पर चल रहे हैं। बर्फ की फुहारों से आपके कपड़े ढक गये हैं, चिट्टे सफेद हो आए हैं, लेकिन आपका चलना थमता नहीं……।”

बातों की दिशा बदलने के लिए मैंने कहा, “अब कब आओगी इधर?”

“बस्स, यह अंतिम यात्रा है……।” उसका स्वर लड़खड़ा आया था, होंठ कॉप रहे थे।

मुझे लगा, वह बहुत भावुक हो आई है। इस तरह की बहकी-बहकी, उखड़ी-उखड़ी बातें उसने पहले कभी नहीं की थीं। शायद इस लंबी, भयंकर बीमारी ने उसे हिला दिया हो। यों भावुक वह पहले भी कम न थी, लेकिन कभी भी उसने कुछ व्यक्त न होने दिया था।

उसके मना करने के बावजूद उसके लिए कुछ फल खरीदता हूँ। लिफाफा थामते हुए उसके हाथ कॉपने लगते हैं।

तभी ट्रेन प्लेटफॉर्म पर लगती है।

वह खिड़की के साथ वाली सीट पर बैठी है। उस शोरगुल में, उस भीड़भाड़ में न जाने शून्य की ओर ताकती क्या खोजने लगती है। उसके होंठ कुछ कहने के लिए फड़कते हैं, लेकिन कुछ बोल नहीं पाती। जब ट्रेन चलने लगी तो खिड़की पर झुकी अपना पीला हाथ हिलाती रही। खिड़की से बाहर मुँह निकालकर तब तक बाहर देखती रही, जब तक प्लेटफॉर्म ओझल न हो गया।

## काला दरिया

अभी वह काला सॉप आया। दैत-जैसा। चेहरे पर जैसे तारकोल चुपड़ रखा हो। अपनी लाल-लाल शराबी आँखों से घूरकर देखेगा। फटे बाँस की-सी भर्नायी, कर्कश आवाज में कहेगा—“बा-ई-ई, किते की आमद हुई? —च्च, हरामजादी, बदजात! खुदा का शुकर समझ...।”

अभी आज फिर हरुका आया। घिघियाता हुआ, खोपड़ी खुजाता हुआ कहेगा—“द वे, ओ उदुली, तेरे सिर पर राख पड़े। कुछ नोन-तेल के लिए धेला-टका देती है या बाल-बच्चों को जहर खिला दूँ! इस काली मन-मन माल-भाभर से घर कैसे लौटूँ? सब पहाड़ चले गए हैं, गाय-डंगर, कच्चा-काकड़ तक। लेकिन मैं टूटी कपालि का मरने के लिए यहाँ रह गया हूँ...। जाड़ों-भर धेले की आमद नहीं हुई तेरी कसम!”

रोएगा, गिड़गिड़ाएगा। बेशरम। पाँवों पर हाथ धरके कपाल टिका देगा। कहेगा—“अपने उस्ताद से माँग ले। रोज कमाई कर रही है, मुझे ही कुछ करजा दे दे। अगले साल बनवसा-चकरपुर जाऊँगा तो पाई-पाई चुका दूँगा। तेरी बलै हो ओ उदी!” कहकर मन की पूरी कर लेगा। पैसे भी झाड़कर ठग ले जाएगा, सो अलग।

उदुली का मन भीज-भीज आया। आँखों पर न मालूम किस रेतीले ज़हर का धुआँ घुट गया है। रोकर भी एक बूँद पानी नहीं टपकता।

सस्ते पाउडर की राख से पुता झुर्रियों-झाँड़ियों से ढका चेहरा एक बार वह फिर बुझे शीशे में देखती है—जिसका पारा भीतर से उखड़ गया है। किनारों पर पानी के भीगने के छीटे-से उभर आए हैं—दही के जैसे छीटे।

न जाने क्या सोचकर उसने फिर मुँह फेर लिया।

हाँ तो...! उसने एक गहरी साँस भरी—तो फिर आज—हरुका...!

हरुका, शराब के नशे में झूमता, लड़खड़ाता, बड़बड़ाता हरुका, जिसने कल कमरे में पाँव धरते ही कुत्ते की तरह कै कर डाली थी।

उदुली ने रोष में भड़ककर तब खूब डाँटा-फटकारा, यहाँ तक कि उसके कपड़े

नोच-नोचकर फाड़ डाले थे। दाँत पीसते हुए गाल पर चॉटा जड़ दिया था—“अब फिर मुँह दिखलाने चला आया है ओ हरूँका, अपनी दीदी के पास। इजा (अम्मा) के पास! कका कहती थी न तुझ कलमुँहे राकस को। लेकिन तूने सरेआम, भरी बाजार में मुझे नंगी कर टके-टके के मोल बेच डाला। कहीं की भी नहीं रख छोड़ा। तेरे दुःख के मारे, तेरे गाँव-गिराम वालों के वचन-बाणों से बिधकर, अपने टूटे करम को रोने के लिए इत्ती दूर, इस नरक में चली आई। लेकिन, तू यहाँ भी खोज-खबर लेकर चला आया मुझे फिर लूटने।”

उसने तब एक-एक कर अपने कपड़ों को उतारकर, उसे एक-एक घाव गिनाए।

“देख, देख रॉडका, यह सब तेरी बदौलत हुआ। उस्ताद डडे से पीटता है—जिस दिन कम मजूरी होती है। तूने जिन्दा ही मुझे इस घोर पीब के कुण्ड में धकेल दिया। कसाई, तुझ पर कीड़े पड़ेंगे, कीड़े।” वह फूट-फूटकर रो पड़ी थी।

और, तब पता नहीं कैसे आवेश में उबलकर उसने हरूँका के मुँह पर थूक दिया था। लेकिन वह बेशरम, चाट गया।

उदुली का बेडौल गात आँधी-पानी में डोलता, पीले मालू के पात की तरह कॉप आया। वह ईंटों से पटे, तार की पत्तियों वाले बरामदे में निकल आई। जैसे अन्दर-ही-अन्दर उसका दम घुट रहा हो।

उसने अचरज-भरी उदास बुझी आँखों से चारों ओर इस तरह देखा, जैसे यह सब जीवन में पहली बार देख रही हो। बड़ी अजीब-सी, भुरजा के भाड़ की तरह अँचती धरती, गरम लू के सनसनाते थपेड़े, चहचहाकर दूर कहीं उड़ती चिड़िया, सामने के बंजर मैदान में चरते एक-आध मरियल गधे, रेत का आसमान की ओर उठता हुआ धुँधला गुबार।

वह फिर कमरे में लौट आई

लगता है, आज कोई भी आएगा नहीं। उसने सोचा—इस गरम में अच्छा-चंगा आदमी भला आने भी क्यों लगा? कहते हैं, नफ़टे रज्जन म्यों की अकल में पाथर पड़ गया। लकड़ी का ठेका अधूरा छोड़कर पीलीभँत भाग गया। शराब-भट्टी का मालिक वह थुलथुलिया थोकदार ज्यू भी सुना पहाड़ चला गया। वह टेसनिया मास्टर पीनक के नशे में कभी चट्-चट् सीढ़ियाँ चढ़ लेता था। वह कलमुँहा भी पता नहीं कहाँ चला गया। दरवाजे से ही हॉक लगाता था। सारी रात सोने नहीं देता था। रेल की ही कलमुँही बातें दुहराता था। और बाकी तो सब एमे ही बन के बनाड़ हैं, कुकुर-काकड़ों की तरह छाती लूछते ही रहते हैं। ईंटों के भट्टों में काम करने वाला चमार-सा काला, झक्क-सफेद दाढ़ी वाला, लँगड़ा बूढ़ा मुनसी। कत्था बनाने वाला पुरबिया चाई। उदोर-उदोरकर बोलने वाला चौकीदार—मुँह से सड़ी बास आती है। हाँ, आज फिर.... !

एक तस्वीर धिनौनी-सी फिर खिच गई।

लू का तभी एक जलता झोंका आया। उसने किवाड़ फटाक से बन्द किए। मुँह

का पसीना आँचल से पोंछा। कटे केले के तने की तरह बिछौने पर लुढ़क गई।

धोती एक ओर बिखरकर सिमट गई, लेकिन उसने ध्यान नहीं दिया। सबसे यहाँ आई है, नारी-जन्म की सारी लाज-शरम समेटकर, उसने छत पर टॉग दी है। अब उसे कुछ भी करने, कुछ भी कहने में हिचक मालूम नहीं होती। शायद वह अब औरत रही ही नहीं। औरत की केवल एक लाश है, मरी हुई, सड़ी हुई, गली हुई लाश—जिसे गली-मुहल्ले के सियार-कुत्ते वक्त-बेवक्त नोचते रहते हैं। जिसे खाते भी हैं—जिस पर थूकते भी हैं।

उसकी आँखों में धुआँ-सा घिर आया।

उसे अपना नन्हा-सा वह पहाड़ी गाँव याद आया, जिसकी बगल से कलकलाती छोटी-सी खोली (नदी) बहती थी। संखमरूड़ की एक सफेद लकीर-सी खिंच जाती थी—दूर तक। सामने देवदार के पेड़ों की ओट में बड़ा-सा गंगनाथ ज्यू का थान, जहाँ वह कभी अपनी बूढ़ी आमा के साथ तीज-त्यौहारों पर गंगाजल चढ़ाने जाती थी। हजारी के लाल-पीले फूल, ताँबे के पंच-पात्र में वही समेटकर ले जाती थी। उसके ठीक सामने, परली पार बनतोली का इसकूल। टिकाराम पण्डत ज्यू। ककराली के एक खूटिया बुड़ पण्डत ज्यू।

“द वे ओ उदुली, तेरी खोरी मे कोरे अकास से बजर बरसे। तेरी झोगली झोड़ झुके। अरि, इसकूल नहीं चलती। मुकिया, खिलिया, जई सब चले गए हैं। टिकाराम पण्डत ज्यू की टन-टन घाँट खनखना रही है, गंगनाथ के मन्दिर की तरह। गोरू-बछिया सब बन-बेत चले गए हैं। घँसारियाँ घास को चली गई हैं। द, तेरी कपाली में आग लगे....।”

दूसरी ओर से देर तक आवाज नहीं लौटती।

हरु'का बिजौरै की तरह तमतमाया मुँह बनाता है। जैसे झिभाड़े (बर) ने काट खाया हो।

उदुली तब भी नहीं आती तो झन्नाकर पाटी-बस्ता धूप से बचने के लिए सिर पर रख लेता है। धमाधम बनतोली के इसकूल की बेत-भर चौड़ी बटिया पार करता है—“न आ। न आ तिथाड़ीजानी। न आ....” अपने-आप बुदबुदाता है—“न आ।”

वह मन-ही-मन कुढ़ता है, झुंझलाता है और तो कोई उसे साथ नहीं ले जाते। चेलि (लड़की) है करके, वह रुकता है तो इज़ार नखरं दिखाती है।

वह चलता चला जाता है।

“हरु'का। हँ, हो हरु'का। तमरा पौ (पाँव) की बलै। रुकौ हों।” पीछे से बेतहाशा भागती उदुली चिल्लाती है। पर, हरु'का मुनी-अनसुनी कर देता है। वह जानता है, उदुली की बच्ची जरूर आएगी। आगे अँधियारा, मिसाला जंगल है। लमजुगिया भूत और उल्टे पैतानेवाली अंधी आँचरी के हजार किस्सों से उसके रोंगटे वैसे ही खड़े हो जाते हैं। उस पर छन-छन, मन-मन करता गधेरा आएगा तो रोने लगेगी, चुड़ैल! वह रुकने के बदले और तेज चाल से, शिकारी की दुनाली की नोक में भागने



वाले घुरुण की तरह चौकडी भरने लगा ।

उदुली दौडती-भागती, हॉफनी उम तक पहुँचती है, तब तक वन का खराब रास्ता कट जाता है ।

हरु'का वन-खण्डी के राजा शेर की तरह रौब से उसकी ओर देखता है । कहता है—“ले, ओ उदुली मरजानी, उठा यह मेरा बस्ता ।” अपनी तख्ती भी वह उसके मिर पर लाद देता है । “तेरे लिए रुक जो गया, नहीं तो लमजुगिया तेरी आँते गाज्यो की रस्सी की तरह निकालकर वही पर ढेर कर डालता ।”

चुपचाप बछिया की नाई उदुली चलती है ।

“मेरे लिए ककडी नहीं लाई ?”

“घौल (गरम राख) मे सिके आलू पिनालू भी नहीं ?”

“अपने टुल बौज्यू के ऑगन से दाडम भी चोरकर नहीं ?”

“अरी, खममखानी, रॉड, देखती क्या है ? मेरे पाँव की मालिश कर, यो कर, यो ।  
.. अच्छा, अब मैं करूँ तेरी मालिश ।”

वह लजाकर लाल हो जाती है ।

एक दिन उदुली के पाँव पर पत्थर मे चोट लग गई थी । हरु'का घुटने पर बहता खून देखकर उसकी ओर लपका । पहले तो हथेली से ढेर नक दबाए रहा, पर जब खून का बहना रुका नहीं तो घाव पर मुँह लगाकर चूसने लगा ।

“द, वे हो हरु'का, तुमने मेरा खून पी लिया । अब तुम मनस खात, आदमखोर हो गए ।”

हरु'का अट्टहास कर उठता है । उसके होठो पर लगा खून देखकर उदुली डरती है । लेकिन वह और जोर से खिलखिलाता है—“डरती क्या है, मैं जोगी-बाघ हो गया । एक दिन तुझे ही नोच-नोचकर खाऊँगा, मझ ई ई ।”

वह भी हँस पडती है उसके साथ ।

फिर एक दिन स्कूल से लौटते वक्त पहले तो उसे मूँगफली खिलाता है फिर छेडखानी करता है ।

उदुली की समझ मे कुछ नहीं आता । फिर भी उसका अबोध मन जानता है, यह बात भली नहीं ।

“मैं सबसे कह दूँगी, घर जाकर—हॉ ऑ-ऑ ।” और थू थू वह मूँगफली थूक देती है ।

हरु'का मारने दौडता है । उसकी चोटी पकडकर एक धौल जमाना है । वह लुढक पडती है । अँगूठे मे गहरी चोट लग जाती है तो वह खुद भी रोने लगता है और कसम खाता है—अब ऐसी-वैसी बात नहीं करेगा ।

उदुली के पिता हरबल्लभ पधान जब मरे तो वह सवा तीन साल की थी । विधवा माँ ने पाला-पोसा । न जाने कहाँ-कहाँ, किस-किसके खेतो पर चाकरी करके । ध्यौंताली का जैसा एक नन्हा-सा घोसला बनाया—दाँतो से तिनका बटोर-बटोरकर ।

किसी तरह उसके हाथों कन्यादान हो जाए। चारों धाम के सारे तीरथ-बरत आँगन में बैठे ही हो जाएँ। कोख-जायी कन्या के दान से महादान इस जग में और ठहरा भी क्या? अपनी हथेली का मांस खाकर पता नहीं किस तरह से, बत्तीस दाँतों के बीच अकेली जीभ की तरह डरते रहकर उसने अपने कुल-पितरों की आन रखी। कोई कह तो दे कि किसी की तरफ कभी बुरी आँख से देखा तक हो। औरतें हजार राँड होकर भी क्या-क्या करम-कुकरम नहीं करतीं! लेकिन वह....!

पर एक दिन खुले आकाश में धूल-भरी आँधी उमड़ आई। देखते-देखते वन में आग लग गई। उदुली का स्कूल जाना बन्द हो गया। आँधी रात को, खूँटे पर हाथ बाँधकर, मुँह में कपड़ा दूँसकर खूब मारा था। “कलमुँही, तुझे उस चाण्डाल के साथ अब देखा तो जलते मलखुए से मुँह झुलस दूँगी। गधेरे में बहा दूँगी। मल्लेघर खिमुली की काकी कहती है कि उसने अपनी आँखों से देखा है। कितने दिन देखा है। भरी दोपहरी में वह....।”

कई दिनों तक उदुली बाहर न निकली। अन्दर-ही-अन्दर रोती रही। वह जानती है, हरूका बुरा है। उसके मना करने पर भी जोर-जबरदस्ती करता है। लेकिन उसकी लाख बुराई के बावजूद वह कौन-सी अच्छाई है जो उसे भली लगती है!

जब माँ खेत गई होती तो वह चुपके से आता। बाहर से ही झाँककर रुआँसा-सा चला जाता।

ग्यारह खतम और बारह शुरू होते-होते उदुली का ब्याह हो गया था।

तब हरूका खूब रोया था। उसने खूब भाँग पी थी। जब वह घर आई तो पनघट पर टकरा पड़ा था। उसकी आँखों पर से इत्ती-इत्ती बड़ी खारे पानी की बूँदें झरती उसने खुद देखी थीं।

उसी साल हेमन्त में बरफ से दबकर माँ मरी। और, सवा बरस बाद पलटन से खबर आई कि पति आनदेव भी कूच कर गया है।

उदुली सबको रो-रोकर सुनाती रही कि उसने एक बार भी पति का मुख नहीं देखा।

चौदह की उमर से, वैधव्य के दस साल उसने देवर-जेठ के जूठे बर्तन माँजने में, चौका-चाकरी करने में लगा दिए। रूखा-सूखा, फटा-पुराना जो मिल गया उसी को बहुत मानकर सन्तोष किया। लेकिन धीरे-धीरे जेठ-देवर की वंश-बेल बढ़ने लगी तो कलह शुरू हुई, मार-पीट शुरू हुई। जेठ-देवर ने निर्लज्ज होकर बहू पर हाथ उठाना शुरू किया और एक दिन मार-पीटकर, ‘कुलच्छनी’ कहकर घर की देहरी से बाहर निकाल दिया। तब मजबूर होकर, हारकर, कातर होकर उसने फिर मैके के टूटे घर की ओर देखा।

हरूका ने तब भरपूर सहानुभूति जतलाई। अपनी छिपकली-सी पतली, चिड़चिड़ी पत्नी और दो-तीन बाल-बच्चों के साथ-साथ गुमसुम तौर पर उसकी भी परवरिश करने लगा।

उदुली खेत से देर से लौटती। हरु'का चुपचाप अन्दर बैठा बीड़ी की लम्बी कशें लेता रहता—“उदुली, कहाँ मर गई थी ? तेरी राह देखते-देखते रात हो गई। इती रात तक क्या कर रही थी ?”

वह रूखा-सूखा खा भी न पाती कि हरु'का उससे जोंक की तरह जा लगता। मन की पूरी कर चुपचाप निकल भागता।

वह रोती, लड़ती-झगड़ती, कोसती—“तुम्हारी नाक घौल (गरम राख) में चली जाए—हो हरु'का ! वक्त-बेवक्त परमेसुर के लिए कुछ तो देखो। तुमने मेरा धरम भ्रष्ट कर डाला, किसी दिन कुछ हो गया तो।”

पर, दूसरी ओर हरु'का सुनी-अनसुनी कर देता। कहता—“हँ, ओ उदुली, तू तो जनम की ऐसी है। पिनालू के पात में भी क्या कभी पानी ठहरता है ? अरे, ठहर भी गया तो क्या हुआ। मैं रख लूँगा। तेरे मुख पर कोइला नहीं पुतने दूँगा।”

“ना, ना। नाता-रिश्ता पास का होकर भी दूर का है। ब्याह भी इस कलजुग में चल सकता है। लेकिन नौ मुखों की बात कौन सुनेगा ?”

“अरी, कह तो रहा हूँ, मरद के हजार ब्याह होते हैं। फिर।”

“लेकिन, हरु'का, रहने दो हो। छोड़ो, बदनामी होगी। नाक कट जाएगी।”

हरु'का अपने को रोक नहीं पाता। तिलमिला पड़ता—“तेरी खोरी में पाथर पड़े। रॉड, तेरी ही बदनामी होगी या मेरी भी। तुझे कौन पूछता है। तू किस गिनती में है। मुझे अपनी फिकर नहीं, फिर तुझे……।” वह फिर मिसरी घोल देता, “उदि……।”

उदुली को सूझता क्या। उसे लगता, वह भँवर में डूब रही है। डूबती चली जा रही है। दूर कहीं रस्सी तैर रही है, नहीं-नहीं, सॉप है। चाहकर भी उसके हाथ बढ नहीं पाते।

“लेकिन हरु'का।” वह कुछ क्षण बाद न जाने क्या सोचकर कहती—“तुम आते हो तो कभी मंगल, छनिच्चर को आओ। पर इन लौंडो का भीड़-भड़क्का क्यों हॉक लाते हो। मेरा तन कच्चे फोडे की तरह दुखता है, टूट-टूट जाता है। अगले दिन फिर खेत पर काम नहीं हो पाता। काम नहीं करूँगी तो खाऊँगी क्या ?”

हरु'का चुपचाप अठन्नी-चवन्नी जेब से निकालकर उसकी गरम हथेरी में थमा देता—“अरी बदजात, जैसा एक, वैसे दो, वैसे तीन। फरक क्या पड़ता है ? भाई लोग तेरे गुन गाते हैं। तुझसे छीन क्या लेते हैं।”

एक दिन उससे रहा नहीं जाता।

“तुम्हारे पाँव पड़ूँ हो हरु'का। तुम इधर न आओ। गौ-गिराम मे घाँट बजा-बजाकर बदनामी हो रही है। मुझे फाँसी लगाने को……।”

“धत्त तेरी की। अच्छा, आज सही……।”

लेकिन एक दिन पूरे गौ-गिराम में हो-हल्ला। हरु'का नदारद।

“अरे अन्धेर हो गया, अन्धेर। बिधौरी उदुली रॉड के……।”

“पहले तो नकटी आनसिंह, प्रताप, गोबिन्दिया का भी नाम लेती थी। अब कहती

है, हरू'का का ही है।”

उदुली को कुछ सूझा नहीं तो बच्चे को लेकर नामकरण के लिए हरू'का की देहरी पर बैठ गई। लेकिन हरू'का की बूढ़ी माँ ने उस पर थूक-थूककर उसका और उसके पुरखों का श्राद्ध करना शुरू कर दिया।

वह सोचकर आई थी कि या तो हरू'का नामकरण करेगा या बच्चे की परवरस करेगा या वह वहीं पर जीभ ढूंगकर आत्मघात कर लेगी, पर पंचाइत ने कुछ भी सुलझाया नहीं। तिनके को तिनाड़ तक नहीं कहा।

भरी आधी रात को हरू'का ने उसका झोंटा पकड़ा। उसकी औरत सुबली ने मार-मारकर मरी लाश की तरह बाहर घसीट दिया।

कहते हैं, बूढ़े किसनबल्लभ ने भी पीटा। केशव के लड़के लछमन ने भी। लँगड़ा निलुआ भी सुना हाथ उठाने पर उतर आया।

रो-रोकर दूसरे दिन उदुली लोहाघाट की कचहरी में चली गई।

“हजूर, माई-बाप, मेरा 'न्या' करो हो।” बच्चे को सा'ब के सामने रखकर वह फूट पड़ी।

सवा बरस केस चला।

“कोई सबूत?”

“हजूर, इसकी सूरत उससे मिलती है या नहीं?”

हरू'का की नाक नीची।

“सरकार, यह मेरी बदनामी पर उतरी है। मेरे दुश्मनों ने इसे पट्टी पढ़ा रखी है। अगर मैं झूठ बोलूँ तो मेरा सत्यानाश हो जाए। मेरी आन-औलाद मेरे लिए न रहे। बच्चा मेरा कैसे हो सकता है? मैं नाते-रिश्ते में इसका कका लगता हूँ। मैंने कुछ किया हो तो अपनी बहन से किया हो। माँ से किया हो।”

हलफनामा उठाकर, जीतकर वह निकल भागा।

लेकिन अब कहाँ निकल भागे उदुली! उसका काला मुख खुला का खुला रह गया।

“रण्डी ने किसी को खराब करने से नहीं छोड़ा। इलाके का नाम डुबा दिया।”

“अच्छा हुआ रण्डी भाग गई कहीं दूर परदेस। बच्चा सुना मर गया। अरे, डाइन ने मार दिया होगा।”

“अरे, भाभर चली गई है। पहले किसी कूँजड़े ने रखा, बाद में नाई भगा ले गया।”

“कहाँ! लोग कहते हैं, चकरपुर चली गई। कोठे पर है राँड! अब सरेआम बैठती है मसुल्टिए के घर...।”

दूर कहीं से 'कहाँ-कहाँ' बच्चे के रोने की आवाज आई। उदुली को लगा, उसकी कोख का बच्चा अभी मरा नहीं, जिन्दा है। उसने कानों पर हाथ रख दिया।

तभी टक्-टक् की आहट हुई।

किवाड़ खोलकर कोई अन्दर आया।

“उदि, तू रो रही है !...कल नशे में जाने क्या-क्या कह गया !”

उदुली ने देखा नहीं।

“कल घर जाने की सोच रहा हूँ। एक भी टका पास नहीं !” खों-खों कर उसने खाँसा और फर्श के एक कोने में थूका तो उदुली ने देखा—कफ में खून के लाल-लाल चकत्ते-मे हैं।

एक गहरी साँस भरकर उसने कहा—“दो बच्चे पिछले साल हैजे में चल बसे। औरत को मरे तीन साल से ऊपर हो गया। डाक्टर कहते हैं कि टनकपुर मण्डी से ऊपर पहुँचता हूँ...कि नहीं !”

उदुली के मुँह से अब भी कोई शब्द न फूटा।

“टिकट का किराया माल-असबाब बेचकर निकल आया। पर हॉ, मर गया तो कप्फन !”

उदुली को लगा, दुनिया घूम रही है। अपने को किसी तरह सम्हालकर वह उठी। पूरे दिन की कमाई एक-एक के दो-तीन गन्दे नोट, कुछ फुटकर रेजगारी, कुछ पैसे उसके सामने रख दिए।

वह मुड़ा। दरवाजे से बाहर पहुँचा भी नहीं कि तभी उस्ताद की लाल-लाल माथे पर चढ़ी आँखों ने गुस्से से उसे देखा—“हरामजादी, ला सब ! आज कित्ता कमाया ? खुदा की कसम, तेरी बोटी-बोटी नोच लूँगा। बताती क्यों नहीं, अभी जाने वाला कित्ते रुपये दे गया ?”



## अथाह

करीब पाँच बजे होंगे शाम के। कुसुम ऑफिस से घर लौटी, पसीने से भीगी। उमस ज्यादा है आज। आसमान ढका है। हवा बहती नहीं, इसीलिए घुटन-सी पैदा हो रही है।

पसीने से भीगे गीले कपड़े बदलकर, पंखा हाथ में झलती हुई वह 'धम्म' से चारपाई पर बैठ गई। तभी सामने निगाह पड़ी—किताबों के ऊपर एक लिफाफा पड़ा दीखा औंधे मुँह।

क्षणभर के लिए उमे उलट-पुलटकर देखती रही—एक्सप्रेस लिफाफा है। 'जरूरी' ऊपर लिखा है। अक्षरों की बनावट संतुलित नहीं। लगता है, जल्दी में लिखा गया है या जानबूझकर लापरवाही से।

लिफाफा जल्दी-जल्दी खोला उसने। पढ़ा। एक बार। दो बार। दस बार। बीस बार। न जाने कितनी बार वह पढ़ती चली गई। अंत में परेशान होकर उसने पत्र नोचकर फाड़ डाला और कूड़े के ढेर में फेंक दिया।

'हूँ!' मन ही-मन वह बुदबुदाई, 'दो, गिने-चुने दो अक्षर लिखे हैं लाट साहब ने... 'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूँ। दिल्ली मेन पर मिलना।' पाँच-सात साल से अधिक ही अर्सा हुआ होगा न अब। पर कभी खबर भी ली कि हम दुनिया में अभी जिन्दा भी हैं या मर गए। कटे पर नमक छिड़कने के लिए अब...।

अरे, तुम पैसे वाले हो, अमीर हो तो होते रहो। हमें इससे क्या? अपनी गरीबी ही प्यारी है हमें तो। और फिर किसी की पैसों की शेखी किसी का कर भी क्या लेगी! जब ठुकराना था, ठुकरा दिया बेरहमी से। अब क्या जरूरत है मिलने की! पूछने की।

लेकिन नहीं, नहीं, यहाँ भी हमें चैन से नहीं जीने दोगे। सूखे घावों को फिर कुरेदकर नमक-मिर्च छिड़कते रहोगे। दूसरों को यों सताने में किसी को क्या सुख मिलता होगा! सेडिस्टिक कहीं के!

....'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूँ...। रोज ही तो 'जनता एक्सप्रेस' जाती

होगी। हजारो-लाखो लोग आते-जाते होंगे। कोई कही आए, कही जाए—हमे क्या ?

झुंझलाकर कुसुम ने माथे पर उभरी पसीने की बूँदे पोछी। पखा कुछ तेज किया। इतने में नीली चाय का प्याला लेकर आ पहुँची।

—किसकी चिट्ठी थी दीदी ?

—शाम को घूमने चलोगी न ?

—तेरी सहेली चद्रा आई थी। जानती हो, क्या कहती थी ?

दीदी के मुँह की ओर नीली ताक रही थी। पर, दीदी कही और। चुप। जैसे उसने कुछ भी सुना नहीं। जैसे किसी ने कुछ भी कहा नहीं। सिप्, सिप् कर बिना चीनी की सारी चाय एक ही साँस में पी गई। फिर एकाएक उठी और बरामदे में चली गई।

सूरज 'अगारे की तरह धधकता जलता' डूबने को है। आसमान तॉबे की-सी ललाई लिए तप रहा है। कुसुम बरामदे में खड़ी देखती रही—सामने ऑगन में नटखट बच्चे शोरगुल मचा रहे हैं। सडक पर चहल पहल शुरू हो गई है। मोटर-स्कूटरो की लकीर-सी बँधी है। लोग आ जा रहे हैं। मार्केटिंग के लिए बन ठनकर जाने वालों की सख्या अधिक है।

कुसुम वहाँ भी देर तक खड़ी न रह पाई। अदर आई। पढ़ने के लिए कोई पत्रिका उठाई। उसे पटककर फिर किताब खोली। दो-चार पन्नों से अधिक उसके भी पलट न पाई। सिलाई की मशीन कुछ देर खडखडाती रही। जी नहीं लगा तो बाथरूम में चली गई, नहाने।

नहाने के बाद कुछ हल्कापन, कुछ ताजगी उसने अनुभव की। गीले रेशमी बालों को कंधे पर बिखेरे, हल्के-फुल्के कपड़े पहने छत पर अकेली टहलती रही।

'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूँ न चाहने पर भी बार बार उसके अधर यही वाक्य दुहराते रहे। अनायाम दुहराते चले गए।

कल लगभग इसी समय, ठीक इसी समय साढे छह बजे, 'जनता एक्सप्रेस' दिल्ली के प्लेटफॉर्म पर कुछ क्षणों के लिए रुकी होगी। खूब भीड भडक्का होगा। आने-जाने वालों की भरमार होगी। उस जन-सागर में किसी की दो आँखें खिडकी की राह बाहर झाँक रही होगी। कुछ ढूँढने खोजने को आतुर होगी।

पर नहीं नहीं, किसी की भी आँखें नहीं होगी। आखिर हो भी क्यों ? विवशता की ओर कौन झाँकता है ? लाचारी की ओर कौन देखता है ? अपने से ऊँचाई की तरफ ही तो हर इन्सान की निगाहे होती हैं न। दुनिया का दस्तूर है तो फिर किसी का क्या कसूर।

फिर वह जाए भी क्यों ? यही जतलाने के लिए न कि अब वह यूनिवर्सिटी की छात्रा नहीं, किसी अर्द्धसरकारी ऑफिस में एक साधारण-सी टाइपिस्ट है। अपने सुनहरे सपने कुचलकर किसी तरह दिन बिता रही है। बूढ़ी माँ है, बहन है। किसी प्रकार अपने इस छोटे-से परिवार की नाव बिना पतवार के, खे रही है।

नहीं, नहीं, वह इस तरह दयनीय-दीन बनकर उसके सामने नहीं जाएगी। मरकर भी नहीं। कभी भी नहीं...

वह परेशान-सी तेजी से चक्कर काटने लगी।

आखिर वह होता ही कौन है, जो उसके सामने अपना दुखड़ा रोए! गिड़गिड़ाए। वह सोचती रही। बचपन का साधारण-सा परिचय ही तो था न! अंधी भावुकता थी या महज बचपना था, जो अपना सब-कुछ समझकर, सब-कुछ मानकर उसे पूजती रही।

जो कुछ भी उसने कहा, सिर झुकाकर सब मान लिया। धानी रंग से बचपन से नफरत थी, लेकिन जब एक दिन उसने कहा कि इस रंग की साड़ी उसे बेहद पसंद है, तो उस दिन से हमेशा वैसी ही साड़ी पहनती रही...। 'तुम्हें बाँब-कट बड़े सुन्दर लगेंगे, क्योंकि तुम्हारे चेहरे की बनावट ही कुछ ऐसी है।' यह सुनते ही अपने नागिन-से लहलहाते रेशमी बाल, जिन पर उसे नाज़ था, कटवा दिए। न चाहते हुए भी ऊँची एड़ी की सैडिल पहनती रही। जब उसे पसंद था तो फिर क्यों न पहनती! लेकिन...वह था कि...।

इससे आगे वह कुछ सोच न पाई। सिर चकराने-सा लगा।

तभी नीचे से आवाज पड़ी—“रोटियाँ ठंडी हो गई हैं कुसुम!”

वैसी ही खोई-खोई कुसुम खाने बैठी तो दो टुकड़े तोड़कर उठ खड़ी हुई। सिर-दर्द का बहाना बनाकर छत पर चारपाई डाले पड़ी रही। करवट पर करवट बदलती रही, पर न जाने नींद कहाँ खो गई थी!

—‘जनता एक्सप्रेस’ से जा रहा हूँ...अभी तक भी आँखों के आगे वे ही अक्षर काले-काले, जल्दी में या जानबूझकर लापरवाही से लिखे टेढ़े, सफेद कागज पर कीड़ों की तरह रेंगते घूम रहे थे।

वह एकाएक झटके से उठी। नीचे कमरे में पहुँचकर कागज के उन बिखरे टुकड़ों को जोड़-जोड़कर मिलाने लगी। बहुत-से टुकड़े हवा में उड़ गए थे, इसलिए वह अधूरा पत्र, अधूरा ही रह गया।

बिखरी चिदियों को हाथ में थामे वह बार-बार देखती। खोई-खोई-सी देखती चली गई।

उसने चुपके से फिर अपने कपड़ों का बक्स बाहर खींचा। एक-एक करके सारे कपड़े टटोलने लगी, पर धानी रंग की कोई साड़ी कहीं भी मिल न पाई। दूसरा बक्स, फिर पुराने कपड़ों का तीसरा बक्स टटोला तो एक पाँच-छह साल पुरानी साड़ी निकल ही आई। तह खोल-खोलकर उसने झाँका। जगह-जगह कीड़ों ने काटकर छेद कर दिए हैं। एक दिन भी क्या यह काम नहीं दे सकेगी? कुसुम खड़ी-खड़ी देखती रही।

माँ सो गई है। नीली सो गई है। लेकिन कुसुम हाथ में बारीक सुई और हरा डोरा लिए आधी रात के समय अभी तक भी बैठी है।

—सुना है, वह बड़ा अफसर हो गया है अब। बड़ा आदमी। एयरकंडीशण्ड डिब्बे में बैठा होगा। कुसुम सोचती रही—शायद उसके साथ उसी ओहदे के और भी



बड़े आदमी हों। उनके सामने ऐसे कपड़ों में वह किस तरह खड़ी होगी ! उसकी बीवी भी साथ हुई तो उसे कितनी झेंप होगी। उसका परिचय वह उसे किस तरह देगा ! क्या कहकर !

कुसुम के हाथ कॉपने लगे। साड़ी वैसी ही मेज पर पटककर, खीझकर छत पर चली गई और सो गई।

“कुम्मी, ऑफिस नहीं जाना है आज ? आठ तो कब के बज गए !” माँ ने सुबह जगाया।

कुसुम ने आँखें मलते हुए अचकचाकर देखा—सूरज छत पर चढ़ आया है और खुली छत पर अभी तक भी वह लापरवाही से सो रही है। सिमटकर वह एकाएक उठ बैठी और वैसी ही अनमनी-सी नीचे उतरकर कमरे में फिर निढाल लेट गई।

“तबीयत ठीक नहीं है माँ ! आज छुट्टी ले लूँगी।” कहकर फिर सो गई।

चाय नहीं पी। कुछ देर बाद माँ ने फिर जगाया तो उठते ही फिर वही धानी साड़ी, सुई और उसमें उलझा वही हरा डोरा दिखलाई दिया।

माथे पर हाथ रखे देर तक बैठी रही। वैसी ही उठकर फिर रसोईघर की ओर बढ़ी। माँ की नाराज़गी का ख्याल रखकर दो-चार टुकड़े सब्जी के खाए और बाहर आई तो फिर वही साड़ी सामने। वह झुंझला उठी।

चारपाई पर औंधे मुँह लेटी-लेटी सोचती रही। ऐसे पड़ी-पड़ी भी क्या कोगी दिन भर ! ऑफिस चली जाए तो शायद काम में जी बहल जाएगा। समय आसानी से कट जाएगा। भूले रहने से कुछ राहत ही मिलेगी न !

रूखे बालो पर हाथ फेरती हुई वह उठ खड़ी हुई। झटपट कपड़े बदलकर वह ऑफिस जाने की तैयारी करने लगी।

ऑफिस में भी आज जी नहीं लगा। लाल स्लिप लगी ‘जरूरी’ टाइप की पहली ही कार्पा गलत कर दी। बाँस ने झिड़कियाँ दीं तो उसका नन्हा-सा मुँह निकल आया। सूरत रोनी हो आई। तबीयत खराब होने का बहाना बनाकर फाइलें उसने वैसी ही पटक दीं और दोपहर को ही घर लौट आई। पर, बेचैनी ने किसी तरह साथ छोड़ा नहीं।

कमरे में घुसते ही चारपाई पर उलझी उसी साड़ी ने फिर स्वागत किया तो वह बुरी तरह परेशान हो उठी।

पत्थर की तरह देर तक पड़ी रही। विचार घूमते रहे, तेज़ी से चागे ओर—जाए, न जाए ? क्यों जाए, क्यों न जाए ?

“दीदी, चाय।” नीली ने जगाया।

अचकचाती हुई जागी, जैसे सपना टूटा हो।

“क्या समय है नीलू ?” पसीने से भीगे मुँह को ऑचल से पोंछती हुई बोली।

“पौने छह।”

“क्या कहा, पौने छह !” वह उठ खड़ी हुई, “पौने छह बज गए ! अभी तक मुझे जगाया क्यों नहीं ?” परेशान-सी वह जोर से चिल्लाई ।

“सो जो रही थीं । हमें क्या सपना था ?” नीली ने मुँह बिचकाते हुए कहा और चाय रखकर चलने लगी ।

“अरी, सुन तो— !”

“क्या ?” दरवाजे पर ठिठकती हुई नीली बोली ।

“देख, बाहर स्कूटर तो नहीं है ?”

“क्या कहा, स्कूटर ! कहीं सपना तो नहीं देख रही हो ?”

“शटअप ! कलमुँही ! सुनती है, मैं क्या कह रही हूँ ?” वह इतनी तीखी आवाज में चीखी कि नीली पीली पड़ गई ।

“खड़ी क्यों है ? जा !”

वैसे ही बालों में कंधा फेरती हुई कुसुम जल्दी-जल्दी तैयार होने लगी, बिना चाय पिए ।

नीली खिसियाती हुई न जाने कहाँ अंतर्धान हो गई !

थोड़ी देर बाद ऑगन में घरघराहट की आवाज सुनाई दी । फट्-फट् कुसुम सीढ़ियों पर उतर पड़ी । सिलवट पड़ी साड़ी, वैसा ही ब्लाउज । रूखे बाल । टूटी सैंडिल । उसे कुछ भी ख्याल न रहा कपड़ों का ।

“मेन स्टेशन, जरा जल्दी !” स्कूटर वाले से कहने के बाद एकाएक ख्याल आया । चलते-चलते स्कूटर से मुड़कर झाँकती हुई बोली, “सहेली के घर जा रही हूँ । जरा देर से लौटूँगी, सुना !”

उसे कुछ भी पता न चला कब चार-पाँच मील की दूरी तय हुई । स्कूटर वाले को पैसे चुकाए या नहीं ? या कितने चुकाए ? समय क्या हुआ ?

प्लेटफॉर्म पर हाँफती हुई ठिठककर, कुली को रोककर बोली, “जनता-एक्सप्रेस’ इसी प्लेटफॉर्म से जाती है ?”

“हाँ ।”

“अभी आई नहीं क्या ?”

“वह तो गाज़ियाबाद से भी आगे निकल गई होगी अब तक....” कुली चलता-चलता इतना कहकर, भीड़ में न जाने कहाँ गुम हो गया ।

कुसुम सन्न खड़ी-की-खड़ी रह गई, जैसे काठ मार गया हो ।

तभी किसी रेलगाड़ी की चिघाड़ती सीटी से वह अचकचाती हुई होश में आई । खोई-खोई सूनी निगाहों से चारों ओर कुछ देखने लगी, पर दिखलाई कुछ भी न दे रहा था । क्या करे ? किधर जाए ? कहीं भी जाने के लिए पाँव न बढ़ पा रहे थे । एकान्त में खूब फूट-फूटकर रोने को जी हो रहा था, लेकिन रोए भी कैसे ? कहाँ ?

बाहर लालकिले के बस-स्टॉप पर आकर वह ठिठकी । पटेलनगर वाली एक बस

खाली दीखी, उसी में लपककर बैठ गई। किसी भी कीमत पर घर जाने को मन न हो रहा था।

रात को सवा दस बजे हारी-थकी घर लौटी तो नीली बरस पड़ी, “कहाँ चली गई थी दीदी? तुम्हे खोजने तुम्हारी सहेली के यहाँ फोन किया। वह कहती थी कि यहाँ तो आई ही नहीं।”

“ऐसा क्या हो गया? क्यों चीख रही है?” कुसुम गुस्से से उफनती हुई बोली, “पटेलनगर वाली मौसी के घर चली गई थी...हुआ क्या है?”

“हुआ क्या है कहती है?” नीली ने मुँह बनाया, “तुमसे मिलने तुम्हारा क्लासफैलो दिवाकर आया था। कहता था, तुमसे मिलने की खातिर गाड़ी मिस कर दी। ‘जनता एक्सप्रेस’ से कही जा रहा था। पूरे तीन घण्टे इन्तजार कर, अभी-अभी गया है। ग्यारह बजे वाली ‘तूफान एक्सप्रेस’ से निकल जाएगा...”

कुसुम माथा पकड़कर धम्म से बैठ गई।

“लो, तुम्हारे लिए यह प्रेजेण्ट छोड गया है...” नीली खाकी लिफाफा खोलती है।

धानी रंग की एक चमचमाती साड़ी। साड़ी की तह मे एक छोटा-सा कागज का टुकडा रखा है। लिखा है—उन हरे-भरे दिनों की याद में।



## नंगे पाँवों के निशान

पूरा मन-भर सामान लादे ले जा रहा था वह। चिट्ठी पहले ही भेज दी थी कि वह छुट्टियों में घर आ रहा है। दस गते को खाना होगा। तेरह को टनकपुर और चौदह को खेतीखान—मोटर से। मुँहनियाँ या सोहन को खेतीखान भेज देना। हो सके तो घोड़े का बन्दोबस्त कर लेना....।

लेकिन कोई भी तो उसे लेने नहीं आया। दो साल बाद परदेस से घर लौटने पर....। उसका जी उदास हो आया। ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ।

दिन-भर वह मारा बाजार टटोलता रहा पर घर की तरफ का कोई भी दीखा नहीं।

दिन ढलते-ढलते घाटियों में साँझ के माए उतरने लगे। तब झुँझलाकर मिलिट्री का लम्बा गोल थैला कन्धे पर उठाया और भारी-भरकम बूटों से ऊबड़-खाबड़ धरती को रौंदता हुआ निकल पड़ा वह।

कभी-कभी ख्याल आने पर इधर-उधर देखना न भूलता। शायद उस तरफ का कोई टकरा ही पड़े। 'हौल्दार सैप, कैमे हो ? कब आए पलटन से ... ?' उसे यो सामान उठाए चलते हुए कोई कहेगा तो कितनी फजीहत होगी। तब वह कुमाऊँ रेजिमेंट का हौल्दार डिक्करदेव नहीं, मात्र डिक्करुवा रह जाएगा, जो कभी बेत-भर लम्बी धोती पहने भेड-बकरियाँ चुगाता था। हल जोतता था। मडक की रोड़ा तोड़ता या साँकार पधान ज्यु का हुक्का भरता था।

एक अजीब-सी, बिना बान की उधेड़बुन में वह उलझता चला जा रहा था। लपालप तेजी में पाँव फेक रहा था—खिचा हुआ-सा।

अठारह गते को मुँहनियाँ का साग-भात। उन्नीस को ब्या। कुछ दिन घर पर, कुछ दिन ससुराल, गोपुल के साथ। दों-चार दिन चम्पावत, लोहाघाट की हवाखोरी। छक के ठरुवा पीएगा। नरदेव और हरकासिह के साथ खूब जमकर ताश खेलेगा। लधिया से मछली पकड़कर लाएगा। हो सका तो नैनुवाँ से कहकर बकरा कटवाएगा

और ऐश करेगा ।

अम्मा, बाबू के लिए ही नहीं, गोपुलि के लिए भी, ढेर सारे कपडे लाया है । गोपुलि देखेगी तो कितनी खुश होगी ।

गोपुलि का नाम लेते ही उसके सारे शरीर में झुरझुरी-मी होने लगी । पहले भी वह अच्छे कद की थी, पर अब कुछ और लम्बी हो गई होगी—सल्ल के पेड-सी । भरे पूरे बदन की ।

सच, कितनी अच्छी है वह, बिना सीग की गाय जैसी । आज के जमाने में क्या कोई औरत इतनी भली, इतनी भोली भी कही होती है । जब जो कहा, कभी भी उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया । उसकी बातों की याद से ही उसका रोम रोम भीग आया ।

पथरीली पगडडी पर तभी एकाएक पाँव लचक आया । ठोकर लगी तो मुँह के बल गिरता गिरता बचा ।

अँधियारा अब सच में काफी घिर आया था । आसमान पर तने पुराने कम्बल पर छलनी की तरह अनगिनत छेद उभर आए थे । उमर-भर का जाना-पहचाना रास्ता टटोलना ही उसे भारी लग रहा था । तीन चार दिन का लम्बा सफर । अनिद्रा, उस पर मन-सवा मन का भारी बोझ ।

पहाड के डाँडे तक पहुँचते पहुँचते वह उम सर्दों में भी पसीने से नहा आया था । पल-भर सुस्ताने के लिए वह सडक के किनारे थैले के ऊपर ही बैठ गया ।

डाँडे के उस पार अँधियारे में डूबा एक गाँव । कही-कही घरों में टिमटिमाते दीये या आग की रोशनी । उम ओर नई आबाद जमीन । आलू के खेत । देवदार का वन, जो चारों ओर से कट-छँटकर मात्र एक गुच्छे की तरह रह गया है । नीचे कमलोकियों की पनचक्की । दूर एक हल्की-सी नदी की धारा ।

पनचक्की के पास आग जलती मी नजर आई उसे । उसे याद आया—बड़े पत्थरों के पिछवाड़े यहाँ का मसान था कभी । क्या अब भी होगा ? हो सकता है, आग वही जल रही हो । उमका दिल अनायास अ-कारण धडकने-सा लगा । 'तभी याद आया, आजकल आलू का मौसम है । हो सकता है, जगली जानवरों से रखवाली के लिए खेतों में आग जला रखी हो ।

उसने मिट्टी पाथर के घरों में टिमटिमाते दीयों की ओर फिर देखा । उस सघन अधिकार में कुछ न दीखने पर भी उसे बहुत कुछ दीख रहा था ।

सबसे नीचे का घर । मिट्टी का, पत्थर का, न्याल में छँहा ।

उसकी आँखों के आगे घूमने-सा लगा कुछ ।

पिता आँगन के चौड़े पाथर पर बैठे चिलम गुडगुडा रहे होंगे । अम्मा गाय-भैसों के गोठ में घास-पात डाल रही होगी । आज सारे दिन उसी की चर्चा हो रही होगी । गाँव-गिराम के आदमी उसी की बातें करते होंगे—डिकरदेव पलटन से छुट्टी में घर आ रहा है आज... ।

गोपुलि के लिए सारी दीवार कान बन गई होगी। बार-बार उसकी निगाहें राह देख रही होंगी। कहीं सामने की पहाड़ी पगडंडी पर कोई आ तो नहीं रहा है! दो साल, पूरे दो साल का अर्सा इस दो दिन की जिंदगी में कुछ कम तो नहीं होता! फिर इस उमर में तो एक-एक दिन, एक-एक युग बन जाता है! कई मीठी स्मृतियाँ सहलाती, छूती हुई-सी कहीं निकल गई—एक सिहरन-सी छोड़ती हुई।

कहीं सियारों के हुई-हुई उदास स्वर से, उस अंधकार में उसकी तन्द्रा-सी टूटी। समय का अहसास हुआ। थैला कंधे पर धर, बुझी बीड़ी की झूठी सुलगाकर वह फिर तेज़-तेज़ कदमों से उतार उतरने लगा। वैसे 'पासिंग-सो' के चार-छह डिब्बे वह टनकपुर मण्डी से खरीदकर लाया है, जिन्हें वह गाँव पहुँचकर ही सबके सामने खोलेगा। यहाँ इस अँधेरे में कौन देख रहा है उसे!

नीचे गहरी घाटी में भयावना, भिसाला जंगल आया। नदी के साथ-साथ डरावना गधेरा। छन्-छन्, मन्-मन् करता पानी, सूखे पत्तों के नीचे से बहता। 'चं चं चं' करते बरसाती कीड़े। घुप्प अंधकार में हाथ को भी हाथ सूझता न था।

गुनमुन की-सी आवाज आई तभी। यहाँ के भूत-प्रेतों की रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानियाँ सुनी थीं उसने बचपन में। एक क्षण भय-सा लगा। फिर झट से 'हनुमान चालीसा' याद कर झटके से आगे बढ़ा। पल्टन की तरह धमाधम लैफ्ट-रैट।

मोड़ के उस पार तभी आवाज़ कुछ और जोर से टकराई। जैसे कोई हवा में खाँसा। हवा में बोला। हौले से हवा में रुदन का कँपकँपाता स्वर व्यापा।

उसके प्राण सूखने लगे।

“कौन-न?” सशंकित भाव से इधर-उधर ताकता हुआ वह चिल्लाया।

“.....?”

“कौन-न?”

“अरे, हम हैं, हम! कौन, पोस्टमैन सैप! गस्त में जा रहे हैं क्या? इती रात!”

“न्नों! मैं हूँ मैं।”

“मैं कौन—?”

“मैं—डिकरदेव....।”

“अरे, हमारा डिकरू!....तू आ गया रे। तेरी ही इन्जारी में इती रात हो गई यार....।” आहत होकर, भरे कण्ठ से कहा किसी ने, “हरे राम! यह है परमेसर की लीला! थोड़ी देर पहले आता तो....!”

“कौन, ठुल काका! किसका जिक्र कर रहे हैं....?” अंधकार में ही आवाज पहचानने की कोशिश की डिकरदेव ने। वैसे ही नमस्कार किया, “कका, इतने जने कहाँ से आ रहे हो? नाज पीसने या खेतीखान की बजार से....या....।”

“अरे, यार....!”

“.....।”

तभी कोई पीछे से, अपने धुटे हुए सिर पर हाथ फेरता हुआ, गहरी साँस भरकर

बोला, “क्या कहें ? दाज्यू फौत हो गए हो डिकरू ।”

डिकरदेव के कंधों पर से थैला गिर पड़ा। अपने कानो पर उसे विश्वास नहीं हुआ, “क्या कहा कका — ?”

“यही यार... ।”

“बौज्यू (पिताजी) खत्म हो गए ? कब ? कैसे... ?”

“आज सुबह... । करनी की रेख भी क्या कोई टाल सकता है ! परमों आँगन में बैठे कह रहे थे—हमारा डिकर आने वाला है। पिछले महीने से सुना हौल्दार हो गया है... उन्नीस को हमारी मुँहनियों का ब्या है। बम, फिर सिर से मारा बोझ टल जाएगा। लडके कमाएँगे, खाएँगे। हमारा क्या। जो दिन जैसे बीत जाए... ।”

डिकरदेव की कमर टूट गई। कवायदी पाँव काँपने लगे।

“कका, क्या हुआ... ?” उसकी जीभ तालू पर चिपक गई।

“क्या कहें यार। बुढ़ापे में न जाने क्या मती हरी गई। बिना बात गले पर रस्सी बाँधकर दाड़िम के पेड़ पर लटक गए... ।”

डिकरदेव को अब तक विश्वास नहीं हो पा रहा था।

बटिया पर ही बैठ गया वह—माथे पर दुहती मारकर। कपाल थामकर।

उसे याद नहीं कब और कैसे लोगो ने उसे घर के आँगन में खड़ा किया।

घर में घटाटोप अधियारा था। सुबह से रो-रोकर सब थक गए थे। केवल बरामदे में किसी की सिसकियाँ सुनाई दे रही थीं। वह समझ गया—माँ होगी।

उसे देखते ही घर के सारे लोग फफक-फफक कर रोने लगे। बूढ़ी अम्मा उसे सीने से लगाकर फूट पड़ी। नन्हे बच्चे बिलख पड़े—जोर से।

डिकरदेव को अब तक होश न था। वह आँखें मीचे पत्थर की तरह बैठा था। एक भी आँसू आँखो से दुलकता न था, केवल अन्तर में आग उमड रही थी। धुआँ घुट रहा था।

—अरे, बौरा गए क्या ? रोते क्यों हो ? कका भागवान हुए। इती लम्बी उमर खाकर कौन जाता है ? अपने पीछे इता फलता फूलता परिवार छोड़ गए। खाने-कमाने वाले चार ज्वान-जवान लड़के हो जिसके... ।

—तुल बबा जैसे पुन्नवान सदेह स्वरग जाते हैं। कितनी पूजा-पाठ करते थे रोज। ऐसा नेम-नियम वाला आज की दुनिया में क्या कोई हो सकता है... । तुल आमा, तू भी नदान हो गई है क्या ? तू ही रोने लगेगी तो बच्चों का क्या होगा... ?

—हँ ओ मुँहनियों, जा बेटा, आग बाल। डिकर के बाल उतार। बामनों की जुगत जुटा। बाती जलाकर करम पर बैठ... ।

—अरे डिकरू, जा भीतर। इतना दाना-सयाना होकर तू ही ऐसा करेगा तो औरों का क्या होगा यार ?

डिकरदेव की बाँह पकड़कर कोई भीतर ले जाता है—“अरे, कुछ देर पहले आ जाता तो पितर का मुँह देख लेता। चिता पर अपने हाथ से काठ देता। सन्तान के हाथ

का काठ किसी पुन्नवान को ही मिल पाता है....।”

डिकरदेव ने जैसे सुना नहीं...वह सबका मुँह ताकने लगा।

धीरे-धीरे गाँव के लोग छूट गए।

ज्यों-ज्यों रात ढलने लगी, श्मशान की सी असह्य उदासी चारो ओर छाने लगी। डिकरदेव बाहर आँगन में उतरकर, दाड़िम के पेड़ के सहारे खड़ा होकर ताकने लगा। दूर मसान में अंगारे अब तक धधक रहे थे।

सच, पिता जी चले गए। उसका मन मानता न था।

रात अब तक काफी ढल चुकी थी। ‘खर्कवाल तारा’ डोंडे के उस पार छिपने ही वाला था। तीन त्याड़ियाँ उतार पर उतर रही थीं। घर के सारे लोग सो गए थे, केवल भीतर से किसी के निरन्तर सिसकने की आवाज आ रही थी।

पास ही रखे, काँसे के लोटे से उसने जल पिया। कुछ साँस आई।

अपने घुटे मिर पर हाथ रखे, वह वैसा ही बैठ गया। अम्मा के हाथों की चूड़ियाँ...रोते-बिलखते लोग...पिता का बिना किसी कारण यों फाँसी खा लेना...उसे कुछ भी समझ में न आ पा रहा था।

सहसा उसे याद आया, इस भीड़ में हॉ, गोपुलि तो कहीं दीखी नहीं।...शायद• मैके गई हो। मैके कैसे जा सकती है, इसी उन्नीस को लगान ठहरा है। फिर वह आने वाला है, चिड्डी-पतरी एक महीने पहले से भेज रखी थी।...फिर कहीं बीमार तो नहीं... ? फिर ! फिर—उसका माथा घूमने लगा।/पूछे भी किससे ? कैसे... ?

फिर कहीं से उसे सिसकने की जैसी आवाज आई।

करवट बदलते हुए उसने आँखें खोलीं। देखा। लेकिन, दीखा कुछ नहीं।

पलकें मीचकर वह फिर लेट गया। एक झपकी-सी अभी लगी ही थी कि किसी के चहककर चीखने का जैसा स्वर टकराया। वह हड़बड़ाकर बिस्तर से उठा। पलटन का खाकी कम्बल छिटककर दूर फेंका। भीतर घुसा, हड़बड़ाता हुआ, परन्तु वहाँ कुछ नहीं, सब जहाँ-तहाँ फर्श पर बिखरे सोए हैं।

कानों का भ्रम होगा शायद ! अपने पर बहुत झल्लाया वह और फिर कम्बल तानकर लेट गया।

लेकिन कुछ क्षण पश्चात् फिर वैसा हाँ रोने-कराहने का स्वर फूटा।

उसने इस बार ध्यान से आवाज पकड़ने की कोशिश की। जमीन पर कान लगाकर सुना। सिसकने की आवाज जैसे नीचे से आ रही थी—जानवरों के गोठ से।

ब्रामदे की तीन-चार सीढ़ियाँ एक साथ लॉधकर वह गोली की तरह भागता नीचे पहुँचा। भीतर से बन्द दरवाजा। अन्दर धीमा-धीमा शोरगुल। खुसर-पुसर। रह-रहकर किसी का रोना-सिसकना...।

डिकरदेव ने दरवाजा खटखटाया।

भीतर सब चुप। चनक बंद।



सॉकल पकड़कर फिर खट्-खट् !

“.... ।”

फिर—

“.... ।”

वह आपे से बाहर हो उठा। बटूक थामने वाले हाथो ने इतनी जोर से किवाड़ झकझोरे कि चौखट हिलने लगी। तमाम मिट्टी भर-भर नीचे गिरने लगी। भीतर बँधे जानवर बिदकने लगे।

तभी खट्-से किवाड़ खुले।

ढिबरी के धुँधलके में देखा—सब सन्न खड़े हैं, खम्भे की तरह। एक ओर जानवर भयभीत-से देख रहे हैं। दूसरी ओर मुँहनियाँ आस्तीन चढ़ाए, हाथ में बाँज का भारी-सा लक्कड़ लिए यमदूत की तरह खड़ा है। उसके बाल बिखरे हैं। लाल-लाल आँखें माथे पर चढ़ी हैं ! कुमनियाँ के हाथ में रस्सी है। अम्मा काल-भैरवी का विकराल रूप बनी....।

दो-तीन कदम आगे बढ़कर देखा...सूखी घास के ढेर के पास कच्ची जमीन पर एक गठरी-सी पड़ी है। तन के कपड़े जगह-जगह फटे...चिथड़े-से। सिर से लहू बह रहा है। घुटने बुरी तरह छिले हैं। पाँवों में सिर छिपाए वह सिसक-सिसककर, रह-रहकर रो रही है....।

“यह क्या अम्मा.... ! क्यों रे मुँहनियाँ, कुमनियाँ ...।”

कुमनियाँ कुछ कहने के लिए आगे बढ़ा, पर शब्द फूटकर बाहर न आ पाया।

मुँहनियाँ के होंठ भी जैसे सिल गए। उसकी आँखें अभी तक माथे पर चढ़ी थीं।

अम्मा अपने को रोक न पाई, फूट-फूटकर रोने लगी। अपने कपाल पर दोनों हाथ पटकते हुए, “क्या करें इजु, करम ही फूट गए हमारे तो।...जब से यह डाइन घर आई है, इसने सब-कुछ भता भंग कर दिया है। इसी रंडी के दुख के कारण तेरे पिता ने फाँसी लगाई है। शरम के मारे कपाल तक ऊपर उठा न सके।...बेटा परदेस...पलटन में। इस पर जोबन चढ़ा है। इस पातर ने हमारी नाक कटा दी है। रोज-रोज अब इसी का रोना है।” माथा पकड़कर वह जोर-जोर से रोने लगी।

मुँहनियाँ ने समझाया, “इस तरह जोर-जोर से न रो अम्मा ! देखती नहीं, मेहमान, बामन आए हुए है। कहीं जाग गए तो उल्टी अपन ही फजीहत होगी...इस रॉड का क्या है ? हम सबको गाँव छोड़कर भागना पड़ेगा।”

“क्या हुआ ? क्या हुआ ?” डिकरदेव ने हड़बड़ाकर दो-तीन बार पूछा।

“क्या हुआ पूछता है !” अम्मा तुनकी, “अरे, देखता नहीं, यह बदजात तीन महीने का पाप लिए बैठी है। पता नहीं किसका है ?”

डिकरदेव के पाँवों तले की जमीन धँस गई।

तभी मुँहनियाँ दाँत पीसकर गरजा, “रॉड अब रोती है ! उस समय नहीं रोती थी,

अपने कुकर्मों के लिए... ।” उसने लात से ठोकर मारकर भावज का झोटा घसीटा—  
“बदजात । बदफेल । तूने हमारे खानदान की ही नाक घौल मे डाल दी है... ।”

मुँहनियों अपनी भावज के लिए ऐसे अपशब्द कहे, डिकरदेव को अच्छा नहीं लगा । वह हत्प्रभ-सा सामने देखता रहा—गोपुलि की तार-तार फटी घाघरी के चाल से नंगे घुटने, नगी छाती साफ दीख रही है । उसमें स्याह डोरे साफ झलक रहे हैं । कपड़े तमाग रक्त में मने । कपाल पर भी एक-दो गहरे घाव । पास ही टूटी चूड़ियाँ । टूटा चरेऊ ।

वह काठ-सा खड़ा रहा, होठ भींचे । फिर एक गहरी साँस भरता हुआ बोला, बड़ी मुश्किल से, “तो... अब क्या कर रहे हो... ?”

“क्या करना है ?” माँ धधकती हुई बोली, “इसका पथरी पर घिस-घिसकर चंदन बनाना है । देवाल मे धरकर इस राकसनी की पूजा करनी है ।... अरे, ज्वान-जवान लडका होकर कहता है, क्या करना है । हाथों में रस्मी बाँधकर किसी चट्टान से लुढ़का दे... नदी मे बहा दे या जगल मे गड्डा खोदकर पत्थर से दबा दे... काट-काटकर, टुकड़े-टुकड़े करके भिए लगा दे... बदजात कहीं की... ।”

डिकरदेव क्या करे ? क्या न करे ? इतने असें बाद, इतनी लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् घर आया और यहाँ यह महाभारत ।

अभी बाप को जलाए कुछ घण्टे भी नहीं बीते, अब एक नई लाश ।

“तो क्या मार देते हो इसे ? हत्या कर देते हो ?” डिकरदेव कॉप उठा, “पूरमेसर के लिए ऐसा न करो माँ । यह पाप... ।”

“पाप की बात करता है, इसके लिए तू ।” माँ के सिर मे चण्डी चढी थी, “क्या इस पातर को घर मे रखने को कहता है तू ? ~~बना~~ इसे रानी । पटरानी । हमे नही चाहिए यह डाइन । यह यहाँ रहेगी तो हम गाँव छोडकर चले जाएँगे । यह मुलक ही छोड देंगे ।”

अम्मा ने अपना अन्तिम अमोघ अस्त्र छोड़ा । दोनों हाथों से माथा पीट-पीटकर बिलखने लगी, “उनके गए का दुख इतना नहीं, जितना इस रॉड का । इस नागन का क्या करे । कल से ही लोग मुँह पर थूकना शुरू कर देंगे । हाय राम, मुझे उनके साथ ही चिता पर क्यो नही जला दिया । कल सुबह तक मैंने भी रस्मी लगाकर फाँसी न खाई तो... ।”

डिकरदेव का दिल दहल उठा । वह कॉपते हुए स्वर में बोला, “तू रो न माँ । जो तू कहेगी, वही करेंगे । लेकिन, जरा समय तो देख... ।”

“जरा समय तो देख कहता है कपूत । अरे, जब नाक में गोबर पुत जाएगा, फिर देखेगा । लोग हमारे मुँह पर थू-थू थूकेंगे । परदेस में रहकर तेरी भी मति मारी गई है । अरे, इस कुलच्छनी को घर मे रखने की कहता है । छिः-छिः । हे राम ।”

‘हे राम’ के साथ ही माँ का सप्तम स्वर में रुदन फिर शुरू हो गया ।

“अम्मा, ऐसे जोर से न रो ।” मुँहनियों ने झिड़का, “लोग जाग जाएँगे... ।”

डिकरदेव की आँखों में ढेर सारा धुंध समा गया । उसे लगा, धरती घूम रही है, उसका सिर बुरी तरह चकरा रहा है ।

“मुँहनियाँ, जरा सुन—।” डिकरदेव उसे कोठरी से बाहर ले गया।

थोड़ी देर बाद दोनों लौटे।

“माँ, ददा ठीक कहते हैं। तू जानती नहीं।”

“ददा ठीक कहते हैं, कहता है। तू जानती नहीं, कहता है...। तू भी पगला गया है मुँहनियाँ...!” ढीं-ढीं वह फिर से रोने लगी।

“जरा सुन भी तो अम्मा।” मुँहनियाँ ने किंचित् झिड़का, “अभी, इसी समय क्या करने को कहती है।” मुँहनियाँ झल्लाकर बोला, “देखती नहीं, सुबह से गाँव में पटवारी-पुलस घूम रही है। पिता जी ने फाँसी लगाई, क्यों लगाई, अभी तो उसी की छानबीन है, उस पर इस हत्या की...हम सब हथगेड़ी लगाकर लोहाघाट हौलात में दिखलाई देगे।”

पर, वह अभी तक भी उसी तरह रोए चली जा रही थी।

मुँहनियाँ ने सबको बाहर धकेलकर, बाहर से कुण्डा लगा दिया।

जहाँ आज ‘फाग’ गाए जाने थे, वहाँ ‘गरुण-पुराण’ का पाठ हो रहा था। आज तीसरा दिन है। करम पर अन्त में सुहनियाँ को बिठलाया गया। वैसे बैठना तो डिकरदेव को चाहिए था, वह सबसे सयाना था। किन्तु बामनो के कहने पर कि वह गरम खौलते पतीले से निकलकर इस ठण्डे मुल्क में आया है। दिन में दो बार गधेरे के बर्फीले ठण्डे पानी में बाहर नहाना होगा, केवल एक बखत खुद बनाकर खाना। चौबीस घण्टे दीये के पास घास-पयाल की चटाई पर सोना होगा—इतना सब उससे न हो पाएगा...। कहीं जर-बुखार आ गया तो और परेशानी।

‘गरुण-पुराण’ की कथा सुनने सारा इलाका उलट आया था। पटवारी-पेशकार तक चले आए, लगे हाथ पुन्न लूटने।

पर, डिकरदेव सबसे दूर, सबसे अकेला बैठा ऊँघता रहता। करम की रेख इसी को कहते हैं। क्या सोचकर आया था, क्या हो रहा है।

वह सोचता था, घर जाने पर सबको कितनी खुशी होगी। पिता सत्यनारायण की कथा कराएँगे। सारे गाँव में गुड बॉटिंगे।

गोपुलि के लिए रेशम की जामुनी रंग की साडी लाया था। माथे पर लगाने के लिए नये फैशन की बिदिया। लाल, पीले फुन्दे। उभरी हुई रेशमी चोली। उसके पके, रसभरे लाल-लाल सेब जैसे गालों पर काला तिल कितना अच्छा लगता है। उसके लिए ‘पौडर’ का डब्बा लाया था। सच, ‘पौडर’ लगाकर, रानीखेत के गोरे सैप की मीम से कम न लगेगी...।

क्या-क्या तमन्नाएँ नहीं थी उसकी।

किन्तु यह सब होगा, कब सोचा था। वह तो सीधी-सादी थी, दुधमुँही बछिया की तरह। रोज बरत रखती। मंदिर जाती। लड़ाई के दिनों में जब वह लाम पर था, रोज हरनाथ के मंदिर में जल चढ़ाती थी...देवाल की सीढियाँ लीपती...किन्तु माँ जो कहती हैं...छिः-छिः। पशु जात।

‘इन तीन दिनों में शायद ही किसी ने गोठ की ओर झाँका हो ।

साँझ के समय अम्मा दूर से आए रिश्तेदारों के साथ रोने में व्यस्त थी । मुँहनियाँ अनाज पिसाने पनचक्की घर गया था । कुमनियाँ क्रिया-करम का सामान खरीदने लोहाघाट बाजार ।

डिकरदेव से रहा न गया । उसने चुपके से गोठ का कुण्डा खोला, पर कोई आवाज न सुनाई दी उसे ।

वह घबराया, कहीं मर तो नहीं पड़ी !

हौले से पुकारा, किन्तु फिर भी कोई शब्द नहीं ।

हाथ-पाँवों के सहारे अँधियारे में जमीन टटोलता-टटोलता वह एक सिरे पर पहुँचा तो कहीं भी वह दीखी नहीं ।

उसका कलेजा धक् से रह गया । दियासलाई जलाकर आसपास टटोलने लगा । वह दूर दीवार के सहारे, वैसी ही बँधी गठरी की तरह दुलकी पड़ी थी । सारा शरीर सुन्न । साँस भी हौले-हौले चलती ।

डिकरदेव ने झकझोरा, पुकारा, लेकिन वह हिली-डुली नहीं, वैसी ही निश्चेष्ट पड़ी रही ।

वह निकलकर बाहर आया ।

लोटा थामे, मिसरी की कुंजी मुट्ठी में दबाए, फिर दबे पाँव भीतर घुसा ।

पानी के छीटे देने पर वह कराही ।

मिसरी के मीठे पानी की दो बूँदें गले से उतरतीं तो डिकरदेव को कुछ आशा बँधी । उसके परानों में परान आए ।

किवाड़ भीतर से भेड़कर वह बैठ गया । उसके ठण्डे हाथों को, पाँवों को सहलाने लगा । कहीं यह मर गई तो सबको उमर कैद हो जाएगी । पटवारी-पुलिस कब किसे छोड़ती है । धीरे-धीरे वह उसके सारे शरीर पर हाथ फेरने लगा । हाथ-पाँव सूखे हुए । पेट थोड़ा उभरा-उभरा । छातियाँ भी लटकी हुई । शरीर ठण्डा ।

कुछ देर बाद वह बाहर निकला और बासी दाल-भात एक थाली में डालकर उसके मुँह के सामने रख आया । बाहर से फिर कुण्डा लगा दिया ।

बाहर पाँव धरा ही था कि दो-तीन पुराने यार-दोस्त टकरा पड़े ।

—हौल्दार ददा, तेरे तो दरसनों के लिए तरस गए यार ! क्या भौजी बाहर निकलने ही नहीं देती तुझे ।

—अच्छा हुआ, किरिया-करम के वक्त ही आ गया । माँ-बाप बड़े पुन्न से मिलते हैं यार ।

—हाँ, देस-परदेस की तो तूने कुछ सुनाई ही नहीं । पलटन में हमें भी ले चल यार । यहाँ तो घोड़े लादते-लादते हाथों की खाल निकल गई है !

—भौजी से हम रोज पूछते थे—दाज्यू की चिट्ठी-पतरी तो नहीं आई ? कब तक लौटने वाले हैं ? पर यार, लौटते-लौटते भी तुमने इतना समय लगा दिया । भौजी

बेचारी बरत रखती-रखती बुढ़िया हो गई। नौकरी तो फिर भी मिल जाएगी यार, पर यह उमर थोड़े ही फिर लौटकर आएगी साली !

डिकरदेव के सीने पर खौलता लावा लोट रहा था। किसी काम के लिए वह भीतर घुसा तो फिर लौटा ही नहीं।

आधी रात को जब सब सो गए तो डिकरदेव छिपकर बाहर निकला। गोठ में जाकर लोटा भर पानी और चार-छह टुकड़े रोटी के फेंक आया।

दस दिन बीत गए ! फिर एकादस ! फिर पीपल !

फिरिया-करम का झंझट छूटा, तो फिर वही टंटा !

इन चन्द दिनों में ही डिकरदेव बूढ़ा हो गया था। किसी ने कुछ पूछा तो उसके मुँह से आवाज ही न निकल पाती। लोगों से घबराता, कटता, एकान्त में छिपा रहता, आँखें मूँद।

सपने की तरह उसे दिखलाइ देती, बाढ़ आई नदी-सी उमड़ती-उछलती गोपुलि ! गोरी-गोरी संगमरमर जैसी बहें, बुराज के झक लाल फूल ! चिड़िया की तरह कुहकती ...चहकती... ।

कौन-कौन रिश्तेदार इस बीच आए, उसे पता नहीं। उसे पता नहीं मेहमानों को खिलाने-पिलाने का काम कौन देखता रहा। पिताजी के क्रिया-कर्म में क्या-क्या लगाया। उसकी आँखों की नींद, पेट की भूख न जाने कहाँ बिरा गई थी ?

आँखों-ही-आँखों में रात बीत जाती। दिन बीत जाता। बीड़ी में गाँजा भरकर पीता और कम्बल ताने लेटा रहता।

एक दिन अम्मा ने कम्बल परे पटककर झकझोरा, "इस कलमुँही रॉड का क्या करें ? तू तो अजगर की तरह लेटा रहता है ! न जाने क्या हो गया है तुझे !"

डिकरदेव ने अचकचाकर देखा।

".... ।"

"....मैं क्या कहूँ ! जो जी मे आए करो !" झुँझलाकर बोला।

"मैं क्या करूँ, कहता है। जो जी में आए करो, कहता है !" अम्मा अंगारे की तरह धधकी, "तू कुछ नहीं करेगा ? तू कुछ नहीं कहेगा ?"

डिकरदेव बौखला उठा, "जो मैं कहूँगा, करेगी ?"

"हाँ, हाँ !"

"तो जा, उठा वह कुल्हाड़ी। उसके माथे पर मार दे ! कर दे चार टुकड़े ! और मुझसे क्या चाहती है ? हत्या पर तुली है तो कर दे हत्या ! यह रोज-रोज का झंझट तो छूटे ! जो होगा, देखा जाएगा। फाँसी होगी तो मैं चला जाऊँगा। कह दूँगा, हत्या मैंने की थी...बोल, और क्या चाहती है मुझसे .. ?"

अम्मा को काटो तो खून नहीं ! डिकरदेव ऐसा टका-सा उत्तर देगा, उसने कभी सोचा न था। जब कुछ न सूझा तो फिर वही रुदन, "मेरे रामऽअँ ! मेरे करम ही फूट

गए। ऐसी सन्तान निकली। उस कुलच्छनी का साथ देने पर तुला है...मेरे भगवान। उठा क्यों नहीं लेता मुझे...‘उन्हीं’ की चिता के साथ बाँधकर क्यों नहीं जला दिया था मुझे...।”

डिकरदेव उठकर बाहर चला गया। कुछ देर बाद लौटा, तब भी वैसा ही वातावरण।

“अम्मा, इस तरह तू रोती क्यों है ?” डिकरदेव माँ का यों बार-बार रोना देख न पाया, “जो तू कहेगी, वही होगा। बस।”

लेकिन माँ के रुदन में अब भी कमी नहीं थी।

डिकरदेव मुँहनियाँ को साथ लेकर टुल कका के घर गया। कका सयाने हैं। उन से क्या छिपाना ! जो भी वे सलाह देंगे, भले के लिए ही।

रात को देर तक बातें चलती रहीं। किसी भी निर्णय पर पहुँचना उनके लिए आसान न था। अन्त में कुछ तय करके जब वे घर लौटे, तो किवाड़ पर खड़े होने से पहले ही सोहनियों ने पलटन से आई जरूरी चिट्ठी उसे पकड़ा दी। “पोस्टमैन सैप लाए थे...।”

डिकरदेव ने चिट्ठी खोली और चुपचाप रख दी।

“क्या लिखा है ददा ? क्या ?” सब उत्सुकता से घेरकर खड़े हो गए।

“कुछ नहीं यार।” गहरी साँस भरकर डिकरदेव बैठ गया।

“ऐसा जरूरी काम क्या आ पड़ा... ?” सबने फिर दुहराया तो डिकरदेव ने मुँह निचोड़ते हुए तिवक्तता के साथ कहा, “अरे यार, साला पलटन का मामला ठैरा ! सारी ज़िन्दगी ‘लैफ्ट-रैट’ मे ही बीत जाती है। घर आया कि कुछ दिन आराम करूँगा, पर यहाँ भी वही ‘लैफ्ट-रैट’ हो रही है।”

“लिखा क्या है पलटन से ?” टुल कका ने पूछा।

इस बार डिकरदेव टाल न सका। कुछ मोचता हुआ बोला, “यही कि चिट्ठी मिलते ही बटालियन में हाजिर हो जाओ...।”

“क्यो ? क्यो ?”

“लडाई की जैसी कुछ खबर तो थी, पर इत्ती जल्दी कुठ होगा, ऐसी उम्मीद नहीं थी। फौज में होता ही ऐमा है...।” डिकरदेव ने कागज़ परे पटक दिया।

रात को सब सो गए, पर डिकरदेव की आँखों में नींद कहाँ। कका की बातें, अपनी बातें, गोपुलि की बातें, पलटन की बातें—उसका दिमाग ठिकाने न था। फिर नींद कहाँ से आने लगी ?

उसने कम्बल परे फेंका और उठकर झटपट अपना सारा सामान टटोलने लगा।

कप्तान की बीबी की जैसी साडी थैले मे निकाली। सुनहरी, लाल, पीली चूड़ियाँ। लाल रोली। उभरी चोलियाँ, नये फैशन की। सारा सामान यों ही कफन की तरह लपेटकर धीरे-से गोठ में घुसा। गोपुलि के मुँह पर उन्हें फेंकता हुआ बोला, “ले, तेरे लिए लाया था, तू पहनेगी करके...अब ये तेरे कफन के काम आएँगे...।” इससे

अधिक डिकरदेव कुछ कह न पाया।

गोपुलि ने एक बार मुड़कर, रुलाईभरी जिन आँखों से झाँका, डिकरदेव उसे सह न सका।

गोपुलि, गोपुलि नहीं, सचमुच अधेड़ बुढ़िया-सी लग रही थी। काली-काली झाँझियाँ। झुर्रियाँ। बाल सँवार की तरह उलझे। हाथ-पाँव बाँज की छाल जैसे।

गोपुलि जमीन पर सरक-सरककर आगे बढ़ी। उसके बूटों पर माथा टिकाकर फूट पड़ी, “मेरा कसूर नहीं……मेरा नहीं……परमेसर की सौँ खा कर कहती हूँ……भगपती माई की……।”

पाँव पीछे हटाकर वह झटके के साथ बाहर निकल गया।

रात का तीसरा पहर बीत रहा था। गोपुलि अधीर होकर सिसक रही थी, जैसे उसके प्राण निकले जा रहे हों। पीट-पीटकर, जबरदस्ती नई साड़ी पहनाई जा रही थी। माथे पर कुमकुम। गले पर सुहाग का चरेऊ। हाथों में ढेर सारी चूड़ियाँ।

चौथी घड़ी रात अब शुरू हो रही थी।

सारा संसार सोया था, पर कुछ जने जागे थे। मुँहनियाँ कपड़े तैयार कर रहा था। हाथ में लाठी। पीठ पर सामान की पोटली। कन्धे पर कम्बल—बरखा, घाम, जाड़े से बचाव के लिए।

कुमनियाँ, सुहनियाँ, डिकरदेव—तीनों अम्मा के सामने अँधियारे में प्रेतों की तरह खड़े थे।

अम्मा मुँहनियाँ के कान के पास मुँह ले जाकर कह रही थी—“इस रंडी को रास्ते में कूटना-पीटना नहीं, नहीं तो अड़ जाएगी। आगे नहीं चलेगी। दिन-दिन बैठे रहना, रात को चलना। देखना, किसी को पता न चले।……कालि गंगा पार, डोटि-नेपाल के इलाके में इस पातर-रॉड को ले जाकर कहीं छोड़ आना और तुम चुपके से लौट आना……हाँ, कहीं किसी को भनक तक नहीं पड़नी चाहिए……।”

ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, गोपुलि की सिसकियाँ भी बढ़ती चली जा रही थीं। डिकरदेव से देखा न गया तो वह पीछे हट गया।

पर, अम्मा उसे खींचकर पास लाई। उसके और समीप जाकर बोली, “सुन रहा है? तू भी रात को ही घर से निकल जा। गाँव वालों से कह देंगे, बहू बेटे के साथ देस चली गई है। वहाँ से दो-तीन महीने बाद चिट्ठी गेरना। लिख देना, वह रंडी बीमार हो गई और मर गई! हम उसका क्रिया-कर्म करवा देंगे! गाँव वालों को शक-संदेह नहीं होगा।”

डिकरदेव ने कानों पर हाथ धर लिया। वह भीतर चला गया, पर उस अंधकार में दरवाजा बंद होने के बावजूद भीतर की आवाजें उसे साफ सुनाई दे रही थीं। अम्मा मौसी से कह रही थीं, “दीदी, किससे क्या कहें? खुद तो मर मुके और हमें इस जंजाल में डाल गए! बुढ़ापे में पता नहीं क्या मति हरी गई थी, इस डायन के फेर में पड़

गए 'इसी बदनामी के डर से तो.... ।'

डिकरदेव जैसे चीख पड़ा।

पौ फटने वाली थी अब।

डिकरदेव का सामान बँध चुका था। मुँहनियों कब के चला गया है।

पर, अभी तक भी कहीं दूर से चीखने-चिल्लाने की जैसी आवाज रह-रहकर उसके कानों से टकग रही थी। वह देखता इधर-उधर, पर कुछ दीखता न था।

अपना जरूरी सामान समेटकर वह निकल पड़ा। न उसने अम्मा को प्रणाम किया, न किसी से कुछ बोला। चुपचाप पीठ पर पिट्टू बाँधे भारी-भारी कदमों से वह आगे बढ़ता रहा। रात बारिश हुई थी, और अभी तक भी हल्की-हल्की बूँदा-बौँदी हो रही थी। घना कुहरा सफेद चादर की तरह चारों ओर फैला था। कच्ची बटिया पर तमाम कीचड़।

उसने देखा—बटिया पर चार पाँवों के ताजे-ताजे निशान अभी तक भी उभरे हुए हैं। दो पर फटे जूतों के जैसे, और दो नगे।

इन्हीं निशानों के सहारे थोड़ी दूर तक गरदन लटकाए वह हारे हुए जुआरी की तरह बढ़ता रहा। उसका सिर भारी था। आँखें बोझिल। जैसे कितने लम्बे असें से वह सोया न हो।

चढ़ाई के बाद, फिर तिराहा आया तो उसने रास्ता बदल दिया।

यहाँ भी कीचड़ था, पर उसमें धँसे उसे एक नहीं, अनेक नगे पाँवों के निशान एक साथ उभरे दीख रहे थे। कही दूर से सिसकने-रोने की जैसी कई आवाजें सुनाई दे रही थीं। कराहने के जैसे कई करुण स्वर!\*

□



## एक पारमिता

बाबूजी आँखों पर चश्मा चढ़ाए चुपचाप कमरे में आते हैं और मेज पर टाइमपीस के नीचे कागज का एक छोटा-सा टुकड़ा दबाकर लौट जाते हैं।

पारमिता की निगाहे किताब से उठकर कागज पर जा अटकती हैं। वह हौले-से उठकर कागज खोलती हैं और फिर उसी तरह मोड़कर रख देती हैं।

“हूँ।” अजीब-सा मुँह बनाकर वह खिड़की में बैठ जाती हैं।

अम्मा ने आज सारे घर की उथल-पुथल शुरू कर डाली है। ऑगन में मेहतरानी कब की बुहारी लगाकर लौट गई हैं। फर्श को तीन बार धोया गया है। बाबूजी को बापते का कुरता, अण्डी की जवाहरकट के साथ बक्स में से निकाल दिया है। टेबल पर धुला मेजपोश और सोफे पर नई गद्दियाँ बिछा डाली हैं। तारो, कनिका, चच्चन और बडी बुआ ने भी कपड़े बदलने शुरू कर दिए हैं।

अम्मा सुबह से परेशान हैं। बार-बार कमरे में आकर झिड़क जाती हैं—“पारो, नहाती धोती क्यो नहीं? बाल काढ़ ले और वो पीली वाली सिल्क की साड़ी पहन ले।”

पारमिता को कुछ सुनाई नहीं देता। मेज पर धरा कागज एक बार और पढ़ती हैं। फिर किताब के काले पन्ने एक के बाद एक उलटती रहती हैं—यो ही—बार-बार। उमें लगता है, पारमिता वह नहीं, बल्कि कोई दूसरी ही लड़की हैं—जिसे उसने देखा है, जिसे वह जानती है।

गुड़ी मुड़ी सी वह बैठक में बेठी है। उसका दिल धक् धक् कर रहा है। लजाकर वह ओर सिकुड़ जाती हैं।

अम्मा, बाबू जी सब एक एक कर काम के बहाने उठकर बाहर चले जाते हैं और कमरे में एक असह्य सन्नाटा छा जाता है।

“तुमने बी०ए० पास किया है?”

“जी।”

“एम० ए० क्यों नहीं कर लिया ?”

वह चुप रहती है।

“लिट्रेचर में इन्स्टेड हो ?”

“जी।”

“गाना भी गा लेती हो ?”

“जी।”

“कोई गाना सुना सकती हो अभी ?”

वह चुप रहती है।

“तुम्हारा फोटो तो बड़ा सुन्दर था...जरा देखो इधर...।”

वह और सिकुड़ जाती है। उसका शरीर काँपने लगता है। रंग लाल पड़ जाता है। फिर भी वह आँचल हटाती है।

क्षण-भर सन्नाटा रहता है।

“हँ ! तो तुम खूबसूरत तो बहुत हो...अच्छा, एक बात बताओ...।”

वह जिज्ञासा से देखती है।

“किसी से लव-अफेयर्स भी चले थे कभी ?”

वह अवाक् देखती है।

“उमर के साथ-साथ कुछ तो चलता रहता है न ! कॉलेज में पढ़ते समय...झा...  
या...फिर...इतनी खूबसूरत होकर न चले, असम्भव है।”

पारमिता क्या कहे।

“बोलती क्यों नहीं ?”

वह केवल चुपचाप रो देती है और कमरे से उठकर चली जाती है।

तीन महीने तक बाबूजी खत की राह देखते रहते हैं। अन्त में छोटा-सा पत्र आता है और सबके चेहरों पर हमेशा की तरह राख फैल जाती है।

एक दिन कहीं से फिर पत्र आता है। घर की नए सिरे से सफाई होती है। बाबूजी बक्स में से फिर बाफ्ते का कुरता और अण्डी की जवाहरकट निकालते हैं। तारो, कनिका सब एक-एक कर कपड़े बदलने शुरू कर देते हैं।

“ज्वाइण्ट फैमिली है। रह सकोगी ?”

“जी।”

“पहली वाइफ गुजर गई। उससे केवल एक बच्चा है। प्यार कर सकोगी ?”

“जी।”

“आमदनी थोड़ी-सी है। बिसाते की दुकान है छोटी-सी। गुजारा चला सकोगी ?”

“जी।”

बस, इसी ‘जी’ के साथ बात समाप्त हो जाती है। इस बार सब खुश हैं।

अम्मा-बाबूजी डाकिए की राह देखते हैं। सवा महीने के भीतर सूचना आती

है—इतनी पढ़ी-लिखी बहू से काम नहीं चल सकेगा। और सब फिर चुप हो जाते हैं।

इसी तरह हर दूसरे-तीसरे महीने एक नुमाइश लगती है और खत्म हो जाती है।

पर अब उसे सारे प्रश्नों के उत्तर देने आते हैं। अम्मा-बाबूजी को सिखलाने की आवश्यकता नहीं रहती। अब उसका मुँह लज्जा से लाल भी नहीं होता। अब वह अधिक सिमटती भी नहीं। मशीन की तरह प्रश्नों का उत्तर देती जाती है। ले...कि...न ...

“पारो, तू क्या कर रही है? यह पढ़ने का समय है। सवा आठ बज गए।”

पारो किताब बन्द करती है। नहाती-धोती है और सिल्क की साड़ी पहनकर हमेशा की तरह ड्राइंगरूम में जाती है।

सबके हट जाने पर फिर मौन व्याप जाता है।

इस बार पहल उसी की ओर से है, “देखिए, आप मुझे देखने आए हैं! है न?”

अजनबी उसकी ओर देखता है।

“तो देखिए। लोगों की निगाह में मैं सुन्दर हूँ, शायद आपकी निगाह में भी सुन्दर होऊँ! इसीलिए हो सकता है, कभी मेरे लव अफेयर्स भी चले हों शायद—वास्तव में चले नहीं। लोग मुझे कुछ पढ़ी-लिखी भी मानते हैं और बहुतों का कहना है कि साधारण घराने में मेरा गुजारा चल नहीं सकता। वैसे मैं आपको बताती हूँ...यह कीमती साड़ी मेरी नहीं, मेरी जीजी की है...जो इसी काम के लिए हमने उधार माँग रखी है...तो बतलाइए, आप अब भी मुझसे शादी करना चाहते हैं?”

अजनबी को अपने कानों पर विश्वास नहीं होता, पर वह कहती जाती है, “अच्छा बतलाइए, आपने अब तक कितनी लड़कियाँ देखी हैं? आप पढ़े-लिखे हैं। होनहार हैं। शरीफ घराने के हैं। फिर घर-घर जाकर नुमाइश लगवाना आपको अच्छा लगता है? सुनिए, मुझे भी किसी के साथ अपनी ज़िन्दगी बसर करनी है। और फिर मेरी भी अपनी पसन्द है...और सुनिए, आप मुझे कतई पसन्द नहीं हैं...।”

उठकर वह बाहर चली जाती है।

घर में सब विस्मित रह जाते हैं।

बाबूजी की बूढ़ी आँखों पर बेबसी का जल छलक आता है। अम्मा माथा पीटने लगती हैं, “तुझे क्या हो गया है पारो? तूने क्या कर दिया? तेरे लिए यह रोज़-रोज़ का नाटक कब तक रचते रहें? तुझे अब तीस साल पूरे होने को हैं...।” माँ जोर से रो पड़ती है।

गूंगी-सी पारमिता सब सुनती रहती है। अपने कमरे में जाकर किवाड़ बन्द कर लेती है, कागज़ टटोलती है, फिर कैलेण्डर की आर देखती है।

क्या उसे अभी बी०एड० में प्रवेश नहीं मिल सकता? क्या उसे कोई नौकरी नहीं मिल सकती? क्या वह अपना भार इस उम्र में भी खुद नहीं उठा सकती...क्यों नहीं उठा सकती...क्यों?

उसकी आँखें ‘क्यों’ के साथ शून्य में निराधार अटक जाती हैं, जिनसे बूँद-बूँद कर जल टपकता रहता है।



## सफेद सपने

आज सारा दिन वह इतनी उदास रही। अब तक की जिंदगी में यह उसका इस तरह का पहला ही अनुभव नहीं था। इतना कुछ देख, सुन लिया था कि उसी के सहारे शेष जिंदगी गुजारी जा सकती थी।

वह खिड़की पर कुछ और झुकती है। कुहनियों पर भार कुछ अधिक पड़ता है। देखती है सामने—बादल का एक ऊनी टुकड़ा भीगी छतरी की तरह आसमान पर झुक आया है...

हवा में बिखरे बाल। दो उजली स्वच्छ आँखें। प्रायः हर शनिवार को वह चित्र की तरह काउण्टर पर खड़ा हो जाता—

“कोई हैण्डलूम की प्रिंटेड छीट दिखलाएँ।” वह जैसे सिनेमा का कोई डायलॉग दुहरा रहा हो।

वह पूरी-की-पूरी गड्डी उसके सामने कुतुबमीनार की तरह खड़ी कर देती। सामने दीवार पर लगे शीशे में निगाहे टकराती है। लगता, उम्र आधी ढल चुकी है।

वह रगीन कपड़े के टुकड़े उलटता-पुलटता है।

“किस परपज के लिए चाहिए?” वह कुछ सम्हलकर पूछती है।

“ऐसे ही। सिर्फ एक मीटर।”

“क्या ब्लाउज बनाना है?”

वह सामने काउण्टर पर झुकी महिला की ओर, नहीं नहीं, लडकी की ओर देखता है। फिर कुछ घबराया हुआ-सा थूक निगलता है और किंचित् हल्का होने का प्रयास करता है, “जी हाँ।”

दोनों की निगाहे मिलती है और फिर कपड़ों के टुकड़ों पर उलझ आती है।

“तो बतलाइए, किसमें से दूँ—?”

“कोई भी।” वह सामने की ओर देखता है।

तीन-चार टुकड़े छोटकर, वह आगे की ओर बढ़ाती है।

उनमें से भालू के पंजे जैसी डिजाइन वाले कपड़े को वह सबसे ऊपर रखता है।

उसकी अबोध आकृति की ओर वह देखती है, सहज आत्मीयता से, “यह तो अच्छा नहीं लगेगा !”

“तो आप ही दीजिए न अपनी पसंद का।”

“जिनके लिए चाहिए, उन्हें ही ले आते न। स्वयं छॉट लेती....”

उसकी आवाज में स्वाभाविकता के साथ-साथ कुछ शरारत भी है, किन्तु वह उसी भोले भाव से उत्तर देता है, “मैंने कहा तो था, पर मानी नहीं। कहती है—साथ-साथ चलने से बदनामी होती है।”

वह हँस पड़ती है। कपड़ा नापती हुई कहती है, “एक मीटर तो अधिक रहेगा। क्या उमर है उनकी ?”

“बस्स, समझ लीजिए, मुझे अपने लिए चाहिए। हम दोनों का कद करीब-करीब बराबर है....”

वह और जोर से हँसती हुई कपड़ा फाड़ती है।

इतने ब्लाउज के टुकड़ों से वह क्या करेगा, उसे सूझता नहीं।

एक दिन लंच के बाद वह काउण्टर पर आई ही थी कि देखा, वही लड़का छोटी मोहरी की पैंट पहने खड़ा है और समीप ही एक लड़की—उसी के बराबर।

“देखिए, एक अच्छा-सा पीस....”

वह ढेर सारे कपड़े बिखेर देती है।

“आपने जितने भी दिए, इन्हे एक भी पसंद नहीं आया.... इसलिए आज इन्हें ही ले आया हूँ.... कल रात की ट्रेन से ये शिमला जा रही है, अपने पापा के साथ। इसलिए इनके लिए एक अच्छा-सा प्लओवर भी खरीदना है।” बड़े सयानेपन के साथ वह अपने कर्तव्य का बोध कराता है।

साथ आई लड़की को यह अच्छा नहीं लगता कि किसी से इस तरह अपनी व्यक्तिगत बातें कहे। पर उसे जैसे चिन्ता नहीं, वह उसी गति में कहता है, “सुनिए, एक अच्छी-सी साड़ी भी दीजिए।” वह सामने की ओर देखता है, “इनका रंग गोरा है न। काली या स्लेटी रंग की खूब फबेगी।”

लड़की कुछ देर तक चुप रहती है। फिर कुछ सोचती हुई अपना मुँह लम्बा करती है। हौले से उसकी अंगुलियाँ दबाती है। फुसफुसाती है, “पैसे हैं या....”

“पैसे की तुम्हें क्या ?” वह छोटा-सा, जिसका दाढ़ी के बाल भी अभी उगे नहीं, बड़े आत्मविश्वास के साथ, तुनककर कहता है।

काउण्टरवाली महिला को विचित्र सा लगता है। कुतूहल भी होता है। इतना छोटा होने पर भी इसका व्यवहार।

साड़ी भी खरीदी जाती है। पैसे भी चुकाए जाते हैं। साथ आई लड़की की बाँहों को सहारा देकर वह बाहर जाता है और सिगरेट सुलगाकर जोर का कश खींचता है।

हवा का तेज झोंका-सा। उसकी झुकी हुई कुहनियों में दर्द होने लगता है—एक तरह की झनझनाहट-सी, जैसे असंख्य सुइयाँ एक साथ चुभ रही हों।

खिड़की के पर्दे हौले से नीचे लटका देती है। पलंग पर थकी-थकी-सी औंधी गिर पड़ती है और देखती है, वह फिर काउण्टर पर खड़ी है और वह फिर सामने।

एक तस्वीर-सी उलझती है। वह फिर देखती है। फिर—

उसके बाल बहुत अस्त-व्यस्त हैं। कपड़े भी ऐसे ही। आकृति में गहरी उदासी का भाव। चेहरे के भूरे रोएँ और लम्बे हो आए हैं।

“क्या चाहिए था?” वह जिज्ञासा से पूछती है।

“कुछ नहीं।”

अपने रूखे होंठों को वह चबाता है। बड़ी तल्खी से काउण्टर पर बिखरे कपड़ों को देखता है। वास्तव में उसका ध्यान कहीं और है। वह देखकर भी कुछ नहीं देख पा रहा है।

“सुनो।” वह अपना मुँह आगे बढ़ाता है। शायद बेहद परेशान है—आपे से बाहर।

वह उत्सुकता से देखती है—

“शाम को छुट्टी के बाद ‘वोला’ या कहीं मिलो। तुमसे कुछ जरूरी काम है।” वह साधिकार कहता है, जैसे किसी बच्ची पर हुक्म चला रहा हो।

उससे इस तरह के अप्रत्याशित कथन की आशा नहीं थी उसे।

प्रत्युत्तर में वह कुछ कहे, बोले, उससे पहले ही वह अपनी बात आगे बढ़ाता है, “मैं बाहर कॉरीडोर में खड़ा हूँ।” सिगरेट का धुआँ वह जैसे भीतर-ही-भीतर निगल लेता है। फिर आँखे गड़ाकर देखता है, “वहाँ से हम दोनों साथ-साथ चलेंगे।”

वह कुछ कहे, उससे पहले ही वह चला जाता है।

शाम को छुट्टी के बाद हाथ में पर्स झुलाती वह बाहर आती है। देखती है, सचमुच वह रेलिंग के सहारे खड़ा है। रेल के इंजन की तरह सिगरेट का धुआँ चारों ओर बिखेर रहा है।

“चलो।” लपककर वह पास आता है और उसके उत्तर का इन्तजार किए बिना साथ-साथ चलने लगता है।

वह कुछ भी कह नहीं पाती। केवल हैरान-सी होकर रह जाती है।

एक किनारे की सीट पर वे बैठते हैं। एक ही साँस में वह पानी का गिलास रीता कर देता है। ठण्डे गिलास के बाहर ओस की सी कुछ बूँदें झलक रही हैं।

अगुलियों के बीच दबी तीन-चौथाई सिगरेट वह ऐश-ट्रे में डुबो देता है और फिर रूमाल से होठों को पोंछता हुआ गम्भीरता से कहता है, “देखा, मैंने उसके लिए कितना कुछ नहीं किया, किन्तु शिमला से लौटने के बाद....।”

वह आँखें मिचमिचाकर देखता है। यों ही देखता है, “अब वह अपने लेक्चरार के साथ घूमती है—दिन-रात उसी के साथ। कहती है, वह उसका भविष्य बना रहा

है...।”

स्वर टूटा-टूटा-सा। मायूसी का जैसा भाव। वह जीभ अपने होंठो पर फेरता है, “मैंने इधर बहुत ‘ड्रिंक’ किया। देखो न, मेरी आँखें कितनी सूज गई हैं। कितनी ही रातें मैंने पार्को में पड़े-पड़े गुजार दीं। पढ़ने में भी अब मन नहीं लगता, कहीं भी तो नहीं। कितनी बार सोचता हूँ, आत्महत्या कर लूँ। मैं बुरी तरह टूट गया हूँ।”

उसका हाथ वह अपने हाथों में लेता है। नन्हीं-नन्ही अगुलियों को सहलाता है। फिर अपना माथा उन पर टिका देता है।

वह सशंकित भाव से इधर-उधर देखती है। कहीं कोई देख तो नहीं रहा। उसकी समझ में नहीं आता, यह क्या कर रहा है।

“पिछले तीन महीने से मैंने किताब के पन्ने तक नहीं पलटे।” वह जैसे अपने से कह रहा हो, “कॉलेज की फीस तक के पैसे उस पर खर्च डाले। अपने सूट के रुपये उस पर लगा दिए, पर उसने कहीं का भी नहीं रख छोड़ा मुझे। अब कहती है, मुझमें बचपना है। ढंग से प्यार करना नहीं आता मुझे...।” वह कहीं भी न देखकर पलकें मूँद लेता है।

कॉफी आती है। कुछ खाने के लिए भी।

“घरवाले इस सबसे तुम्हें रोकते नहीं?” वह कुछ सोचती हुई कहती है।

“है ही कौन घर पर...।” उसका स्वर बड़ा वैसा हो आता है, “अम्मा को गुजरे अब बारह साल हो गए। बड़ी दिदी शादी के बाद ससुराल चली गईं। पिता जी बिजनेस टूर पर बाहर रहते हैं। उनकी सारी आशाएँ मुझ पर केन्द्रित हैं। वास्तव में मेरे लिए ही उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। मेरे अलावा परिवार में अब है ही कौन...?” वह कहते-कहते जैसे हॉफने-सा लगा।

कुछ समय तक सन्नाटा रहता है। पास ही किसी कमरे से पाश्चात्य सगीत की हल्की-हल्की धुन।

“तुम्हें देर तो नहीं हो रही—?”

“ना।” वह कहती है।

“इन चक्करों में पड़ते ही क्यों हो?” वह मन-ही-मन कुछ दुहराती है। सोचती है। कहती है, “पढ़ने में लगे रहो। इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ...?”

सामने रखे रीते गिलास को वह बड़ी तल्खी से देखता है, “मैं कहाँ पडा। उसी ने मेरे साथ जबर्दस्ती घूमना शुरू किया। कित्त ब का बहाना बनाकर हमारे घर आई। पहले ही दिन मेरी ‘रिस्ट्रॉच’ पहनकर ले गई। लोग कहते हैं, वह तो पहले से ही बुरी थी। अपने हाथों जोर देकर मुझे ‘बीयर’ पिलाती थी और फिर बुरी तरह नोचती थी...।” अपने सफेद गाल पर उसने काला-सा खरोच का निशान दिखलाया।

“अब भी क्या बिगड़ा है...?” वह कहना चाहती है, पर कह नहीं पाती। शायद कुछ सोचकर चुप हो जाती है।

“तुम्हारे कॉलेज खुल गए?”

“हाँ।”

“अटैंड करते हो ?”

“कभी-कभी....” वह उसकी ओर देखता है, “हायर सेकण्डरी में मेरी पहली पोजीशन थी, पर अब पास होना ही कठिन हो गया है।”

बैठे-बैठे बहुत समय गुजर जाता है। वह घड़ी की ओर देखती है।

लड़का खोया-खोया-सा है। पता नहीं बिल के कितने पैसे चुकाता है। बाहर पान वाले से सिगरेट का बीस वाला पैकेट खरीदता है।

दोनों चुपचाप चलते रहते हैं।

“आज सुबह मे मेरा मूड ऑफ था।” वह जैसे स्वयं को सुना रहा हो, “विचित्र-सी बेचैनी अनुभव कर रहा था। मुझे सूझता नहीं था कि क्या करूँ ? किधर जाऊँ ?....पर अब पहले से बैटर फील कर रहा हूँ।”

वह कुछ नहीं कहती।

बस-स्टॉप पर अब कोई भी नहीं। लगता है, अधिक समय बीत गया है। इतनी रात तक भी कहीं बसें चला करती है ?

“तुम कैसे जाओगी ?”

“कुछ मिल जाएगा।”

“क्या अकेली जाओगी ?” वह गुस्से से कहता है। सामने भाग रहा एक खाली स्कूटर रुकवाता है, “बैठो।”

वह बैठ जाती है। और वह भी एक किनारे पर धँस पडता है, “तुम्हें छोडकर इसी से वापस आ जाऊँगा....।”

पुराना स्कूटर सूनी सडक पर लडखडाता, खडखडाता बूढे खरगोश की तरह उछलता हुआ भागने लगता है।

मोड़ पर हवा के झोके के साथ वह सम्हलता है, “मेरी बात का तुम बुरा तो नहीं मानती।” वह जैसे किसी दुधमूँही बच्ची को समझा रहा हो।

“नही तो—।”

“तुमसे कुछ ऐसा-वैसा कह बैठा हूँ तो फील न करना। मैं तुम्हे केवल एक मित्र के रूप में लेता हूँ....।” वह दूर मे आती गाडी की ओर देखता है, “वास्तव में उस लडकी ने मुझे पागल बना दिया है। उसके लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।... सच, अब मेरे पास कुछ भी तो नही है।” उसकी आवाज जैसे भँवर मे डूब जाती है।

मोड़ पर स्कूटर का झटका उन्हे और पास ले आता है। वह उसके दुबले-पतले हाथो को अपनी गोद मे रख लेती है। उसके बिखरे बालो को अपनी अंगुलियो की कंधी से सहलाती है।

“तुम्हारा माथा तप रहा है। ‘फीवर’ तो नही ?” अँधियारे में उसके चेहरे के भावों को पढ़ने के लिए वह अपनी पलकें फैलाती है।



“सच, न जाने क्या हो गया है मुझे।” वह जैसे उसी परिधि पर अब तक घूम रहा है, “कभी-कभी तो अपने से ही डर लगने लगता है। घर लौटने को मन नहीं। सोचता हूँ, कुछ खा लूँ और—।”

वह उसके होंठों पर अपनी हथेली धर देती है। उसे पास खींचती है और वह सिमटकर और छोटा हो आता है।

“ऐसा नहीं कहते, हॉ।” वह उमे सम्हालती है।

वह कुछ नहीं कह पाता।

घर से पहले ही उतर जाती है वह। पर्स से पैसे निकालने लगती है, पर वह मना कर देता है।

लगभग दो सप्ताह तक फिर वह कहीं दीखता नहीं। एक दिन छुट्टी के बाद बस-स्टॉप पर खड़ी रहती है तो देखे का अनदेखा कर वह सामने से निकल जाता है।

पहले के मुकाबले वह चुस्त-दुरुस्त नजर आता है। कपड़े सँवरे, दाढ़ी बनी, हाथ में सदा की तरह सुलगती सिगरेट। दो-तीन हमउम्र दोस्त और हल्की-हल्की हँसी—निर्दोष, निश्चिन्त।

उसे बड़ा भला लगता है। अभी उमर ही क्या है। जिसने जिधर बहका दिया।

थोड़ी देर बाद उसे लगता है, कोई उसके सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

“मैंने पहले ही देख लिया था तुम्हे, पर दोस्तों के बीच कैसे बाते करता। उन्हे ‘रीगल’ तक छोड़ आया हूँ...। कहो, ठीक तो हो न?” वह बड़े सरल भाव से हँसता है। संगमरमर से सफेद दाँतों की पाटी चमकती है।

वह कुछ नहीं कह पाती, उसकी ओर अपलक देखती मुस्कराती रहती है।

“यहाँ खड़े-खड़े घण्टा बीत गयः। तुम्हें कब से ढूँढ रहा हूँ। सुनो, मेरे लिए कुछ कपड़ा-वपडा खरीद दो न। तुम्हारी ‘च्वॉयस’ बड़ी अच्छी है।”

“तो वहीं चले आते—‘भवन’ में।”

“वहाँ—।” वह उसकी ओर देखता है, “वह भी कोई कपडा खरीदने की जगह है। ‘वह’ कहती थी न, यह बूढ़े लोगो की दुकान है। इसीलिए शायद उसने मेरा खरीदा कोई भी ब्लाउज़ कभी नहीं पहना...।”

वह मुस्कराती है।

“चलो न।” वह साधिकार कहता है।

उसे आज जल्दी घर पहुँचना था, मेहमान आने वाले थे। परन्तु वह मना नहीं कर पाती। साथ-साथ चलने लगती है।

लगभग तीस-चालीस कदम वे चलते रहे, चुपचाप। बस-स्टॉप की सीमा-रेखा को पार करने के पश्चात् वह हौले से, उसकी ओर देखता हुआ बोला, “मैंने अब सारे चक्कर छोड़ दिए हैं। पिता जी कहते हैं, मेरी तन्दुरुस्ती गिर गई है। इस साल मैंने फिर ‘टॉप’ करने का निश्चय किया है। पिता जी ने कहा है कि दो वर्ष यहाँ पूरे करने के

पश्चात् वे मुझे 'फ़रैन भेज देंगे' ।”

उसे खुशी होती है कि अब वह समझदार हो रहा है ।

अब वे कनाट मर्कस के भीतर वाले गोल दायरे में है । हौले-हौले चल रहे हैं, दूकान की खोज में । जबकि वे भलीभाँति जानते हैं कि दूकाने कब की बंद हो चुकी हैं । फिर कपड़ा कहाँ से खरीदेंगे । फिर भी चल रहे हैं । चलते चले जा रहे हैं ।

“तुम्हें क्या 'पे' मिलती है ?”

“लगभग तेरह सौ ।”

“कब से हो यहाँ ?”

“कोई पाँचेक साल में ।”

“खदर बेचती-बेचती बुढ़िया हो जाओगी एक दिन ..” वह हल्के ढंग से कहता है ।

“हो तो गई हूँ ।” वह हँस पड़ती है ।

वह 'कॉफी हाउस' की ओर मुड़ता है । वह भी मौन भाव से चलती रहती है ।

दोनों भीतर जाकर कुछ हल्के से हो आते हैं । वह छोटे बच्चों की तरह उसे समझाती है कि इस कच्ची उम्र में इस ओर नहीं बढ़ना चाहिए । शुरू-शुरू में अच्छा लगता है । लगता है, यही सब-कुछ है । पर धीरे-धीरे ये सारी वस्तुएँ एक व्युत्पन्न बन जाती हैं .. । काम करने वाली कुँवारी लडकियों की तो आजीवन विवशता होती है—कभी प्यार की, कभी रोजी-रोटी की... । बाद में उम्र ढलने पर एकान्त की । एक अवस्था ऐसी आती है जब आदमी बहुत अकेलापन अनुभव करता है । उम्र बढ़ जाती है । शादी की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं । तब औरत की जिदगी कैसी-कैसी हो जाती है, कल्पना भी नहीं कर सकते । मेरी उम्र भले ही अभी उतनी नहीं...मुझे ही देख लो .. ।” वह उसकी ओर न जाने किस भाव से देखती है और सामने मेज पर दोनों कहानियाँ टिका देती है ।

आज दोनों को जल्दी है । दोनों ही अधिक बैठने के मूड में नहीं हैं । बाहर निकलकर वह चलते-चलते कहता है, “कभी घर आना । माँ के फोटोवाला अलबम तुम्हें दिखलाऊँगा । समय मिला तो करौलबाग से कुछ कपड़े खरीद दोगी ? मेरे पास अब एक भी अच्छा कपड़ा नहीं ।”

वह सिर हिलाती है ।

“परसो 'सन-डे' दोपहर । खाना साथ-साथ ..”

“..”

“तुम्हें घर ढूँढने में परेशानी होगी ..मैं ले आऊँगा...” ।”

किसी निश्चित समय के साथ किसी निश्चित बस-स्टॉप का नाम लेकर वह चली जाती है ।

सचमुच बस-स्टॉप पर उस दिन वह प्रतीक्षा में खड़ी रहती है । दोनों साथ-साथ

घर आत है।

बहुत बड़ा घर, खुला खुला मा। ऐसे मकान दिल्ली में रहने के लिए कितनों को मिल पाते हैं। वह बड़े कुतूहल से हर वस्तु को देखती परखती है।

वह बाथरूम में नहाने के लिए चला जाता है।

हमेशा की तरह मात्र तौलिया पहने बाहर आता है।

“खाली बैठी बैठी क्या कर रही हो। जब तक मैं कपड़े पहनकर तैयार होता हूँ, तुम अलबम देखो।” वह जल्दी जल्दी अलमारी से अलबम निकालता है।

“ये देखो ये बचपन में मैं ऐसा था” वह जल्दी से एक-दो पृष्ठ पलटता है। परन्तु वह चाहकर भी अलबम पर दृष्टि टिका नहीं पाती। उसके कुँवारे सुकोमल शरीर से गंध सी फूट रही है। नहाने के बाद वह और ताजा लग रहा है।

वह स्वप्नमयी आँखों से देख रही है। उसके होठों पर कितनी पवित्र मुस्कान खेल रही है।

वह कह रहा है—“सात साल की अवस्था तक भी अम्मा मुझे गोटेवाली टोपी पहनाया करती थी अच्छा, तुम देखो।” उसे जाने की जल्दी है।

“जरा ठीक से समझाओ न। जल्दी में कुछ दीखता नहीं।” वह शिकायत से कहती है। और वह कुछ उत्तर दे, उससे पहले ही फिर बोल पड़ती है, “ये तुम्हारी माता जी हैं न। और वह बगल में पानी की बाल्टी में नगा बैठा।” वह शरारत से हँसती है तो वह झेप जाता है।

“पहले मैं कपड़े तो बदल लूँ।”

“अलबम तो पूरा दिखलाया नहीं, जिसके लिए बुलाया था।”

“तुम देख लो न।”

“ना, ऐसे नहीं।”

‘तो—?’

‘तुम दिखलाओ न पास बैठकर। हमें बना बतलाए क्या पता चलेगा कि कौन क्या है?’ वह उससे और सटकर बैठ जाती है। उसका दिल कुछ और धड़कने लगता है। गंध कुछ और बढ़ जाती है।

वह उठने लगता है तो उसका हाथ पकड़कर वह और समीप खींच लेती है। बनावटी गुस्से से देखती है, “ऐसी भी जल्दी क्या है।”

वह विवश होकर वैसा ही बैठा रहता है जल्दी-जल्दी पन्ने पलटता हुआ।

पर उसे कुछ दीखता नहीं। केवल पन्ने एक के बाद एक। और फिर दोनों हथेलियों में अपना मुँह जोर से छिपा लेती है। उसकी साँस रुकने सी लगती है।

तभी पट्टू दरवाजा खटखटाता है। वह अचकचाकर जैसे नींद से जागती है। देखती है—अम्मा दूध की लस्सी का गिलास थामे खड़ी है, “अरी, क्या सारा दिन सोती रहोगी?”

वह कुछ कह नहीं पाती।

“अभी बाजार भी तो चलना है। राशन खरीदने ।”

“पाँच भी तो अभी बजे नहीं। छह-सवा छह तक चलेगे। तब तक तुम भी तैयार हो लो।”

अम्मा पट्टू को घसीटती हुई ले जाती है। उसे लगता है, जैसे शीशे का-सा सुन्दर, पारदर्शी सपना अम्मा ने पत्थर फेककर तोड़ दिया हो। लस्सी का गिलास एक ही साँस में पीकर फिर निढाल हो जाती है।

पर विचारों की कडी फिर देर तक जुड़ नहीं पाती वह फिर पलके मूँद लेती है, गँदले पानी में झाँकती, कुछ अकारण टटोलने लगती है।

एक झोका-सा आता है। उसे लगने लगता है, जैसे वह सामने खड़ा है। उसकी ओर न जाने किन निगाहों से ताक रहा है। उसकी दाढ़ी बड़ी है, आँखों के कोर सजल है। कपड़े भी पागलो जैसे। एक किनारे ले जाता है वह।

“वह लडकी फिर आई थी मेरे पाम। सच, वह जार-जार रो रही थी। कहती थी, वह मुसीबत में पड़ गई है। बड़ी बदनामी हो रही है। सबको पता चल गया है। इसलिए अबॉर्शन की भी सम्भावना नहीं। बस, आत्महत्या के अलावा अब और कोई रास्ता नहीं ।”

“बतलाती किसका है ?”

“पता नहीं। वैसे उसका इशारा लेक्चरार की तरफ था।”

“तो वह क्या कहता है ?”

“सुना है, चुप है। कहता है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो पहले से ही बाल बच्चों वाला है ।”

“तो फिर ?”

“यही कि कल लेक्चरार मेरे पाँवों पर गिरकर कह रहा था कि यदि मैं कह दूँ कि यह दोष मेरा है, तो सारी समस्या सुलझ जाएगी। वह मेरे लिए कुछ भी करने को तैयार है। कहता था, उसके मामा ‘एमपी’ है। कहीं अच्छी नौकरी दिलवा देगा। घरवाले निकाल भी दे तो कोई बात नहीं। लडकी की देख-रेख वह पहले की तरह अब भी करेगा। लडकी भी यही कहती है। एकान्त में ले जाकर, मुझे से लिपट लिपटकर रोती थी। कहती थी—वह तो केवल मुझे ही प्यार करती रही है। लेक्चरार ने तो कुछ लालच देकर मात्र बहका दिया था। ऐसा कोई दिन नहीं, जब उसने मुझे याद नहीं किया हो और याद करके खूब रोई न हो।”

“तो फिर ?”

“क्या करता। मैंने बात मान ली।”

“क्यों ?”

“आखिर मेरा उसके प्रति प्यार तो रहा ही है न। क्या प्यार का ही दूसरा नाम ‘सेक्रिफाइस’ नहीं ?”

उसे लगा, उसने जैसे पुस्तक में लिखा कोई वाक्य दुहरा दिया हो।

“तुम्हारे घरवाले क्या कहते हैं ?”

“कहते क्या है। पिता जी ने खाना-पीना सब छुड़ दिया है। कहते हैं, उनकी लाश पर ही यह सब होगा।”

“इस बुढ़ापे में उन्हें काट दे रहे हो। खुदा न खास्ता उन्हें कुछ हो गया तो तुम क्या करोगे ? तुमसे इना बड़ा कारोबार सम्हाला जाएगा ? एक ही दिन में भिखारी बन जाओगे लल्लू मियाँ।”

“तो क्या करूँ ?” विवश होकर वह कनारा टयोलता है।

“।”

“पिताजी कहते हैं, ” वह कुछ सोचना हुआ दुहराता है, “कि मैं यहाँ से बम्बई चला जाऊँ और वही मज़ली बुआ के पास रहकर पढ़ूँ।”

“फिर तुमने क्या सोचा ?”

“सोचना क्या है ?” वह झटक कर साथ सिर हिलाता है, ‘क्या करूँ ? वही चला जाऊँ ? सच, पिता जी का दुख देखा नहीं जाता। इस बुढ़ापे में बच्चों की तरह रोते हैं। कहते हैं, मैंने उन्हें कहीं का भी नहीं रख छोड़ा।”

वह देखती रहती है, यह भी बेमा व्यक्त है। जिसने जो कहा, उसे ही ठीक मान लेता है।

दोनों देर तक चुप रहते हैं।

वह सहसा सन्नाटा तोड़ता हुई कहती है, “उमका तो खैर कुछ न कुछ हो ही जाएगा, पर मेरा क्या होगा ?”

“क्यों, तुम्हारा क्या होना है ?” वह आँखें गिरा मचाता है, आश्चर्य से।

“मेरा क्यों कुछ नहीं होना है ?” वह कुछ गुरमे से कहती है, “मेरे साथ तुमने जो कुछ किया है, उसका भी कुछ प्रबन्ध करागे या मीधे बम्बई भाग जाओगे ? मेरे पास तो कोई ऐसा लेक्चरग भी नहीं है, जिसका नाम ले सकूँ। तुम्हें ही उसका कुछ करना है।”

“हे भगवान ।” वह जैसे सातवे आसमान में नीचे गिर पड़ता है।

“सच कह रही हो ?” उमका आवाज बैठ जाती है। रक्त जमने सा लगता है। उसके ओंठों पर वह अपनी हथेली रख देता है, परमात्मा के लिए ऐसा न कहो। लोग सुनेगे तो क्या कहेंगे। पिताजी तो वही पर दम तोड़ देंगे।” उमका गला सूख आता है। वह हॉफने सा लगता है।

वह ठहाका मारकर हँस पड़ती है “अरे, मर्दों के एक नहीं, इक्कोम विवाह होते हैं। फिर तुम दो चार में ही घबरा जाओगे तो कैसे चलेगा।”

वह कुछ कह नहीं पाता। उसके पाँव लडखड़ाने लगते हैं।

सामने पार्क की तरी दृष्टि पर दोनों बठ जाते हैं।

“बेबी का नाम क्या रखेंगे ?”

“बम्बई चलो तो दो टिकट खरीदना। मैं भी बुआ के पास रहूँगी……।”

उसके हाथों को वह कसकर दबाता है। दबाता चला जाता है, जैसे गला घोंट रहा हो।

“अरे र……ये क्या? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे! सोचेंगे, पता नहीं ये क्या कर रहे हैं!” अपने को छुड़ाती हुई वह जोर से हँस पड़ती है। अधियारे में देखती है, “बस, घबरा गए!” वह मुस्कराती है, “अच्छा बाबा, जाओ माफ किया! जो होगा, हम खुद भुगत लेंगे। तुम आराम से जाओ बम्बई……।”

उसकी साँस में साँस आती है।

“वहाँ जाकर खूब मेहनत से पढोगे न?”

“हाँ।”

“कभी दिल्ली नहीं आओगे?”

“नहीं।”

• “मुझे बम्बई नहीं बुलाओगे?”

“क्यों?”

“क्यों क्या, सुना है वहाँ बहुत बड़ा समुद्र है। डूब मरने में सहूलियत होगी!”

वह हँस पड़ती है तो उसके गाल पर वह यों ही हल्की-सी चपत लगाता है। उसे लगता है, उसका गाल अभी तक भी झनझना रहा है। अभी तक भी लाल है। वह फिर कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखती है। सोचती है—बम्बई के रास्ते पर उसकी ट्रेन अब कहाँ तक पहुँची होगी!

□

## जीना-मरना

“कितनी बार कह चुका हूँ, पर मानती ही नहीं। कुछ और पहन लिया करो न। यह सब अच्छा लगता है ? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे।”

सीपी-जैसी रीती पलके ऊपर उठाकर बरखा देखती है और दुधमुँहे बच्चे की तरह हँस देती है—फीकी फीकी उदास हँसी।

अम्मा की कुछ बची-बचाई धोतियाँ हैं, फटी पुरानी, जिन्हे अब बरखा पहन लेती है। जब तक माँ जिदा थी, वह कुछ बोलती थी, हँसती थी। पर लगता है, जब से अम्मा मरी, बरखा भी कही मर गई है।

जया समझाती है। बरखा रुलाई भरी आँखों से शून्य में ताकती रहती है। कुन्नु को गोदी में उठाए सारा दिन छत पर बैठी जाने क्या मोचती रहती है। अम्मा सचमुच मर गई—उसे अब तक विश्वास नहीं है।

मैं चलता चलता ठिठक पड़ता हूँ। एक दिन अम्मा की टूटी-पिचकी डिब्बिया-सी पेटो ताली से खोलता हूँ। देखता हूँ, उसमें टूटे फूटे चाँदी के गहनो के अलावा आने-दो आने के ढेर सारे पुराने सिक्के पड़े हैं जिनका चलन पिछले कुछ वर्षों से बंद हो गया है। जब जो पैसा बचा अम्मा ने बूँद बूँद महेजकर छिपा दिया। शायद बरखा के ब्याह में काम आएगा कभी।

मेरे विरोध के बावजूद जया सब कुछ वैसा ही रहने देती है। ऊपर से काठ का अटैचीनुमा दूसरा बक्स और फिर फटे पुराने कागड़ों की पोतली रख देती है—जैसे अम्मा मर गई हो और अब आने ही वाली हो।

बरखा को इस फागुन में कितने वर्ष पूरे हो जाएँगे—मैं अर्गुलियों पर हिसाब लगाता हूँ। इस उम्र तक अधिकतर सभी लड़कियों के ब्याह हो जाते हैं।

कुन्नु के लिए रोज उबली सब्जी बनानी पड़ती है। डॉ० अस्थाना कहते हैं, जैसे सफ़दरजग अस्पताल में भी दिखलाया था, कुन्नु का जिगर काम नहीं करता...खून नहीं बनता, इसलिए उबली सब्जियाँ और फलों का रस देते हैं। फिर भी विशेष अंतर नहीं

झलकता। दिन पर दिन वह कमजोर होता चला जा रहा है और थकता-थकता एक रोज बिस्तरे पर जा गिरता है। हर पाँचवे-छठे महीने खून की एक बोतल।

डॉक्टर कहते हैं—इसका अब कोई इलाज नहीं।

बोतल-भर खून के सहारे जिदगी कब तक टिकेगी? जिस दिन खून चुक जाएगा, उस दिन क्या होगा?

तब और अब की जया मे बड़ा अंतर लगता है। पहले से वह कुछ कमजोर लगती है। थकी हुई-सी उदास। जिदगी में जैसे बहुत बड़ा ठहराव आ गया है कही।

उसकी दुबली पतली गोरी कलाइयों में प्लास्टिक की तार जैसी पतली डोरीदार दो चूड़ियाँ हैं। उन्हें ही वह टोंगे फिरती है। काँच की चूड़ियाँ टूट जाती हैं। हर महीने पैसे जाया करने से क्या।

और एक बरखा है। उम्र ही क्या है अभी। खेलने खाने के दिन हैं। बोलती-बोलती रुक जाती है। लगता है, रो पड़ेगी।

पिछली बार काका आए थे—गाँव से। जाते समय पाँच रुपये हाथ पर रख गए थे। उन्हें बरखा ने खरचा नहीं, कुनू के लिए सूत मिले ऊन का आधी बाँहवाला स्वेटर बना दिया था। कुनू अब जिमे बाहर जाते समय पहना करता है। जया कहती है—कुनू के पास अब एक भी कपड़ा ऐसा नहीं जो वक्न पर काम आ सके।

दिन-भर बैठी-बैठी जया क्या करे। मेरी फटी पैट को काट छॉटकर कुनू के लिए कपड़े तैयार करती है। रग में डुबो देगी। काम चल जाएगा। गर्मियों में घर जाएँगे तो काम आएँगे।

रक्षा-बधन, दीपावली, दशहरा पर विमल जो पैसे भेजता है, जया उन्हें मेरी डाकखाने की पासबुक में जमा करवा देती है—बरखा के ब्याह में कभी काम आएँगे शायद।

हर वर्ष तीन रुपये की तरक्की होती है। साल में कुल मिलाकर छत्तीस रुपये बढ़ते हैं। गत तीन-चार साल से मैंने गरम कपड़े नहीं बनवाए। विवाह में जो मिले थे, उन्ही से दिन निकल रहे हैं।

साइकिल की सवारी से पैट पीछे से अधिक फटती है। टोकन हर साल बदलवाना पड़ता है। लाइट न हाने के कारण हर सीजन में चालान होता है—पाँच-पाँच, दस दस रुपये। कभी उससे भी अधिक। सरकार को लोगों के मरने जीने की कितनी चिंता है।

मैं ऑफिस में घर लाई फाइलो में उलझता हूँ। अको का जोड़ अकसर गलन निकलता है। बूढ़ा एकाउण्टेंट चश्मा माथे पर टिकाकर मेरी ओर देखता है। कुर्सी के हथ्ये पर बीड़ी बुझाता हुआ अपने पीले दाँत दिखाता है। मैं तब क्या कहता हूँ, मुझे याद नहीं रहता। हमेशा भूल जाता हूँ। हर रोज हाजिरी के रजिस्टर पर दस्ताखत करते समय मुझे दो मिनट कलम का कुदा माथे पर ठोकना पड़ता है—आज आज आज... कौन-सी तारीख होगी।



एल के उस दिन कहता था, पत्नी को कल पत्र लिखते समय वह उसका नाम भूल गया था। पाँच मिनट तक सोचने के बाद बड़ी मुश्किल से लिफाफे पर पता लिख पाया था। मुझे यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ था। पता नहीं कौन आदमी किस स्थिति से गुजर रहा है।

फाइले बाँधकर मैं सिरहाने के पास तिपाई पर रखता हूँ। जया गीले हाथ आँचल से पोछती हुई पलंग की पाटी पर बैठ जाती है। मैं उमकी हाथों-दाँत-सी गोरी कलाइयों पर प्लास्टिक की दो चूड़ियों की ओर देखता हूँ और वह पास लेटे कुन्नु का मुँह न जाने किस भाव से निहारती है।

कुन्नु खेलता-खेलता पसीने में नहा आता है। अगले महीने शायद फिर खून की आवश्यकता पड़े।

और फिर वह विमल का अतर्देशीय पत्र मेरी ओर बढ़ानी है। विमल बुलाने के लिए आने को लिखता है। गत दो वर्षों में जया मैंके नहीं गई। मेरे माथे पर बिखरे बालों को जया अगुलियों की कधी से सहलाती है और फिर चुपचाप एक गहरी साँस भरती माथा टिका देती है।

मामने दीवार पर टँगें चौखटे क वृक्ष की तरह बरखा बहुत लबी हो गई है। इसीलिए झुक झुककर चलती है।

मैं समाचार-पत्र परे रखता हूँ, जिसमें वीएतनाम की लडाई की तस्वीरें हैं। पाकिस्तान की ओर से सीमा पर निरंतर चलने वाली गोर्लियों की खबरें पिता जी कहते थे—हर व्यक्ति स्वयं में एक 'महाभारत' होता है।

मैं रिबडकी में झॉक रहा हूँ—सामने की दोहरी सड़क पर एक लाल बस धुआँ छोड़ती भाग रही है। उसके पीछे पीछे तीन पहिये वाला स्कूटर—जैसे मुर्गी के पीछे चूजा फुदक रहा हो।

जया प्रातः जल्दी उठ नहीं पाती। उसे बुख रहता है। उमसे पहले बरखा जाग जाती है। रात के जूठे बरतन मॉजती है। अँगीठी सुलगाकर चाय के लिए पाणी चढाती है और फिर प्लास्टिक की टूटी कान्डिया में दूध की दो गीती बोटले और कार्ड रखकर 'मिल्क डिपो' की तरफ जाती है। जया की हवाई चप्पले वह भी इस्तेमाल कर लेती है।

काठ की प्रतिमा की तरह बरखा अम्मा के जाफरीवाले कमरे में दिन-भर अकेली बैठी कुछ न कुछ करती रहता है। अम्मा के पूजा के सारे देवता वह हमेशा की तरह नहलाती हैं। जाफरी के छेदों पर हमेशा की तरह उरुन इस वर्ष भी गत्ते के टुकड़े लगा दिए हैं। जाड़ा शुरू होते ही अम्मा हर माल इन्हे ढकवा देती थी। अम्मा को बुढापे के कारण ठण्ड अधिक लगती थी।

एक लिफाफा मेज पर पडा है। टिकट पर मशाल का मा चित्र है। पते पर 'नयी दिल्ली' के नीचे 'ईंडिया' लिखा हुआ है। मैं उलट पलटकर देखता हूँ—बिंदो का पत्र है। जया के नाम। कैलिफोर्निया से लिखा है।

बिदो जया की बड़ी बहिन है। उसके पति फिजिक्स में रिसर्च करने के लिए अमेरिका गए थे। फिर बिदो को भी किसी तरह वहीं बुला लिया था।

हमारी शादी से कुछ महीने पहले वे लोग चले गए थे और अब लगभग चार-पाँच वर्ष बाद लौट रहे हैं। उन्होंने लिखा है कि दिल्ली होकर ही घर जाएँगे। दिल्ली में हमसे मिलकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी।

जहाँ पैसा ही हर वस्तु का पैमाना रह गया है, वहाँ हमसे मिलकर किसी को क्या प्रसन्नता होगी—मैं सोच नहीं पाता।

जया कहती है—यदि किसी अच्छी लोकेलिटि में अच्छा-सा मकान मिल पाता, उनके ठहरने काबिल...परंतु उतना किराया कहाँ से आएगा।

मैं सामने नक्शे में देखता हूँ—बीस तारीख को पानी के जहाज से रवाना होने के लिए उन्होंने लिखा है और आज तीस है। उनका जहाज अब कहाँ तक पहुँचा होगा। ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे हैं, कहीं पर भार बढ़ता चला जा रहा है।

जया और जया के घर के बारे में वे क्या सोचेंगे? बिदो अपने मैके जाकर जया की किस्मत के बारे में अपनी अम्मा से क्या-क्या कहेगी?

कभी कुछ महसूस भी तो नहीं करती जया। स्पज की तरह सारा दुख भीतर ही भीतर स्वयं में सोख लेती है। बी ए तक पढा है उसने। कहती है, कहीं पार्टटाइम काम कर लेगी। किसी प्राइवेट स्कूल में तो जॉब मिल ही जाएगा।

मैं मना कर देता हूँ।

कुन्नु हाथ-पाँव पसारे फर्श पर लेटा है। हँस रहा है। कहता है कि वह मछली बन गया है। लौकी को वह बोतल कहता है।

आज फिर लौकी की सब्जी बन रही है। मैं समझ जाता हूँ—कुन्नु फिर क्या कहेगा। इस बार उसकी 'आण्टी' कहती थी कि वह बड़ा होनहार है।

मुझे ख्याल आता है, अधिक होनहार बच्चे अधिक जीते नहीं। मैं चुप हो जाता हूँ—पत्थर की तरह।

सामने के क्वार्टर का किरायेदार आज फिर बदल गया है। नीम का पौधा कुछ ही दिनों में कितना लंबा हो गया है। सरकारी मकानों के नंबर इस कॉलोनी में भी बदलने शुरू हो गए हैं। बरखा घोंघे की तरह सिमट आई है। कमरे की खिडकी दिन-रात बंद रखती है। अँधेरे में बैठे रहना क्या अच्छा लगता है।

“बिखी, तू हँसती बोलती क्यों नहीं। गुमसुम बैठी रहती है। अपनी भाभी से ही बाते कर लिया कर। अम्मा गुजर गई तो क्या हुआ। हम सब तो अभी जिंदा हैं।”

बरखा प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कह पाती। घुटनों में मुँह छिपाए चुपचाप रो देती है।

□

## इति

वह सोचता था—इति टेनिस के कोर्ट-यार्ड की बगल में पड़ी सीमेंट की चितकबरी चौकी पर सिमटी-सी बैठी, कुछ पढ़ती मिलेगी। गीले बालों को कंधे पर बिखेरे, प्रातः की ठण्डी धूप में सुखाती हुई। ओस की-सी निथरती, दुलकती बूंदों पर जब सतरंगी किरणों का प्रतिबिम्ब फूटेगा तो वे मोती की तरह जगमगाने लगेंगी और पहाड़ों के उस पार से, बादलो के हटते ही, सुनहली लटों पर ढेर सारा पिघला सोना एक साथ बिखर पड़ेगा...। तब वह पहले की तरह, ठीक बचपन के दिनों की भाँति, बिल्ली के जैसे दबे पाँवों से, पंजों के बल लचक-लचककर, छिप-छिपकर पीछे से आएगा और पट्-से उसकी दोनों आँखों को मूँद लेगा।

“अ र र।” वह अचकचाती हुई तड़फड़ाएगी। तब किताब दूर छिटक पड़ेगी, “मुँई ममता है नहीं, नहीं, मरी कापला सूद... अरि अरि ओ फियरी च्च...!” फिर उसका हाथ आँखों पर पड़ी हाथों की पट्टी पर पड़ेगा, तो चौंकेगी। सहमेगी। कुछ स्वाभाविक लज्जा से सिमटेगी, “अरे पप्पू, छोड़-छोड़ न। मैं अम्मा से कह दूँगी। ददा से भी! इना बड़ा हो गया खजूर-जैसा। धंले-भर की भी अक्ल नहीं! अरे, कहीं जिज्जी से भी ‘किस्सी’ माँगी जाती है रे...।”

वह स्वयं को छुड़ाने के लिए पूरी ताकत से छटपटाएगी। गुस्से से लम्बे-लम्बे नाखूनों से हाथ कुरेदेगी। अन्त में जब कुछ भी न बन पाएगा तो अपने पैने दूधिया दाँत गड़ा देगी, “बोल।... अब... अब्ब।”

तब वह गुदगुदी रोक न पाएगा। जोर में खिलखिलाकर फूट पड़ेगा, “अरि ओ कैट। ‘अब-अब’ की बच्ची। नोच-नोचकर खा डालेगी क्या...?”

बिजली के नंगे तारों से जैसे सारा गीला बदन झनझना आया हो। सिहरकर वह एकदम सकुचा जाएगी। अजीब-सा मुँह बनाएगी और उसके हाथों को जोर से जकड़ लेगी। देर तक जकड़े रखेगी। और फिर अनायास अपनी स्वाभाविक हँसी में खिल-खिल हँसने लगेगी, जैसे खूँटी पर कच्चे धागों के सहारे टँगी पायल हवा के हल्के से

झोके से टूटकर, सगमरमर के फर्श पर एक साथ बिखर पडी हो । और फिर शरारत से हँसी रोककर कहेगी—“समझी । समझी । डी-यू-आर-जे-ए एन । दुर्जन । नही नही सज्जन भैया । सज्जन ।”

इतने वर्षों बाद भी वह आवाज से ही उसे पहचान गई ? कितना आश्चर्य ! वह पलको पर लगी हथेलियों की पट्टी खोलेगा तो जैसे खिडकी खुली—पूनम की चाँदनी का सारा उजला आकाश सामने उतर आया हो ।

कागज की छोटी-सी डिबिया में तैरती, कचे की तरह पारदर्शी, चमकीली पुतलियाँ । पके पाँगर-सी रेशमी लटो के बीच, मखमली गोरे गालो पर, न जाने कैसे चुटकी भर अबीर बिखर पडा हो । उमकी सीपी जैसी चोडी पलके सहसा गिर पडी, जैसे झरोखा मुँद गया । और सामने सफेद चादर तन गई ।

लेकिन, तब भी वह देखता रहेगा ।

तब वह पानी में गिरी छोटी-सी गठरी की तरह सिकुडकर और छोटी हो आएगी । कनखियों से झॉककर, रेशमी ओठो को कुछ मोडकर, हमेशा की तरह घूरती हुई कहेगी, “अरे, यो क्या देख रहे हो ।” और दो गुलाबी पखुडियाँ थिरकेगी और सफेद दाँतो की सगमरमर-सी समान्तर पाटियाँ चमक उठेगी—“बे-श-र-म कही के ।”

और तब भी वह ताकता रहेगा ।

“बेशरम । बेशरम ।” वह एक नही, एक हजार बार कहे, वह बुरा नही मानेगा । केवल यो ही गुम्मे से देखकर मुस्करा भर देगा ।

उमकी नस नस में मीठी लहर सी दौड़ जाएगी ।

वह भूल गया, वह कहाँ पर है । क्यो ऐम्मी बात सोच रहा है । क्या उसे अब ऐसी बातें सोचनी चाहिएँ । ‘नही । नही ।’ उसने माथे की सलवटो को जोर से दबाया—ऐसा मोचना क्या अब ठीक है ?

उसे याद आया, बचपन से ही वह ऐसा है । हमेशा कुछ अजीबोगीब सा कुछ करता आया है । जब अजो के बराबर अदना बच्चा था, तब ऑँगन में उसने पखुडियाँ बिखेरकर फूल बोए थे ।

स्वयं पर उसे हँसी आ गई—अरे, फूल भी कहीं ऐंमे बोए जाते हैं ।

उसने जिज्ञासा में सामने देखा—हाँ वही तो कमरा है यह । वही दीवारे जिन्हे उसने बरसो तक देखा था । यही तो छत है थोर के सुनहरे बादलो की जिसके किंसाँ एक कोने में वह आँखे मुँदे बरसो तक परियो की राजकुमारी के साथ रहा था । यही वह हरा हरा गोल ऑँगन, जहाँ वह आँख मिचानी खेला करता था । यही अलादीन का जादुई फर्श जहाँ केरमबोर्ड के बाडे में घिमी बकगियो’ को स्ट्रावर से मारा करता था ।

उमके आगे से दो खडिया-सी, तराशाँ हुई लम्बी अगुलियाँ घूमी । नेल पॉलश लगा लम्बा नाखून । कलफ लगे कॉलर पर धूल झाडने के लिए, सुलटे अँगूठे की नोक पर, कमान की तरह अगुली टिकाकर टिक टिक । फिर काँसे की थाली पर गिरी ककणी

की तरह हल्की-सी हँसी की लहर।

उस लहर का अहसास वह अब तक अनुभव कर रहा है। अब भी उसे वह आवाज साफ सुनाई दे रही है।

तभी खट् ! खट् !

सामने से किमी के चलने की आहट हुई। साड़ी के सरसराने की जैसी आवाज। सचमुच सामने से कोई निकल गया।

उसने जैसे उधर ध्यान ही नहीं दिया। उसके मस्तिष्क में अभी तक भी कोई दूसरी ही आवाज गूँज रही थी—बार बार सुई की चुभन की तरह—

“अच्छा, तो मज्जन भाई साँब है। बैठिए भी न। आप तो एकदम बदल गए। पहचाने तक नहीं जाते।”

उसका माथा पत्थर की दीवार से जा टकराया। कॉच की नाजुक वस्तु की तरह कुछ खनखनाता हुआ, चूर-चूर होकर बिखर गया। कुछ भी तो वह कह न पाया था। अवाक-सा ताकता रहा, इस लडकी की ओर। नहीं-नहीं, उमकी ओर नहीं, जिसे कभी व्हाइट कैट कहा करते थे—“इति, द एण्ड।”

पर होठ वैसे ही पतले गुलाबी हों, कुछ और सुख हो गए थे—थरके, “यो क्या देख रहे है ? अरे, आपने अभी तक पहचाना नहीं। मैं इति हूँ। पप्पू भैया आपके दोस्त थे। आपके साथ इण्टर कॉलेज तक।”

उसने जैसे सिर हिलाया। जैसे वह कहना चाह रहा हो—हाँ, शायद तुम्हे इति कहते हैं। तुम्हारे पप्पू भैया शायद मेरे दोस्त थे। इटर कॉलेज तक हम साथ-साथ पढते थे।

“अरे, आप खडे क्यो है। तू पीफ लाइए न।” वह हँसी। ठहरे पानी पर पडे हल्के भँवर की तरह कपोलो पर दो नन्हे नन्हे गड्डे चमके। पर न जाने क्यो आज उतने भले न लगे।

उससे कुछ भी बोला न गया। चुपचाप यत्र की तरह वह आग बढ़ा और सोफे पर बैठ गया।

“आप कित्ते बदल गए है।”

गूँगे की तरह वह सामने देखता रहा।

“आजकल कहाँ है ?”

“दिल्ली।”

“अरे, हॉ।” जैसे उसे आज तक पता ही नहीं था। जैसे अभी अभी याद आ गया हो—“पप्पू भैया ने कभी बतलाया था कि आप माइटिस्ट बनते-बनते जर्नलिस्ट बन गए। इन लिस्टो में यो आजकल क्या धरा है। ठाठ तो केवल इंडस्ट्रियलिस्टो के है या फिर बडे-बडे बिजनेसमैनो के, शेष सारी तो घास-कटाई है।”

उसने जीभ की नोक से सूखे होठो को भिगोया। क्या उत्तर दे। कुछ सूझ न पा

रहा था।

“आपको याद है, बचपन में भी तुकबंदी जोड़ लेती थी। कित्ता बचपना था, अब सोच-सोचकर हँसी आती है। अधिक सेंटीमेंट भी तो……!” कहते-कहते वह अटक-सी आई थी।

“चा तो लेंगे न?” उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह फिर झटके से ओझल हो गई और वह न जाने किस सोच में डूब गया।

उसका माथा दुखने लगा था। वह क्यों चला आया यहाँ!

उसके मन में विचार कौंधा—उठे और चुपचाप वापस चला जाए। यहाँ रुककर क्या होगा! उससे चाहकर भी रुका नहीं जाएगा। परन्तु उससे न उठा गया, न चलने की ही हिम्मत रही। वह वैसा ही सोफे पर धँसा ताकता रहा।

वह सोचता था, उसके घर में घुसते ही तूफान उमड़ जाएगा। इति फूली न समाएगी। पप्पू उसे बाँहों में कसकर, पहले एक-दो चक्कर घुमाएगा, फिर पीठ पर धौल जमाता हुआ, बड़ी-सी गाली देगा। तू-तड़ाक से नीचे उतरकर बात नहीं करेगा।

“अम्मा, देख ये कौन सज्जन तशरीफ लाए हैं, तुमसे मिलने—?” देहरी से ही चीखकर कहेगा।

अम्मा भागती हुई आएँगी, “अरे, मैं जो कहूँ, कौन सज्जन हैं……? तू तो बहुत बड़ा हो गया रे……!”

“अम्मा, यह बड़ा नहीं, दहीबड़ा हो गया है। जर्नलिस्ट बन गया है।……हम तो बस यों ही सरकार की मुशीगिरी करते रह गए। कभी मिलिट्री में कमीशन-वमीशन भी तो मिलता नहीं। वही लैफ्ट-राइट करते……लेकिन जरा इससे पूछ। चाँदी तो इसी साले की हो रही है। बड़े-बड़े लोग इससे डरते हैं……।”

इति मन-ही-मन मुस्कराएगी। मुँह भींचकर हँसती हुई कहेगी, “चाँदी प्योर नहीं, चौदह कैरेट की है अम्मा……।” किलककर हँसने लगेगी। बचपन में भी तो ऐसे ही हँसती थी—खिल-खिल करती, जैसे सीटी बजा रही हो……।

बदले में तब वह भी कोई ऐसी ही चुभती हुई बात कहेगा, शरारतभरी, तो गुस्से से घूरकर देखेगी—बिल्ली की बच्ची। जैसे निगल जाना चाहती हो। फिर सबकी निगाहें बचाकर, जीभ दिखलाती हुई फुसफुसाकर कहेगी—बे-श-र-म……।

और फिर ताई कभी उसकी ओर देखने लगेगी, कभी इति की ओर। और तभी पप्पू चिल्ला उठेगा, “अरि, देखती क्या है अम्मा। कलाकार है, कलाकार। चाहे तो मुझ पर, तुम पर, सब पर साला परचे लिखकर छपवा दे! बड़े-बड़े लोग डरते हैं, तो हमारी क्या बिसात।” हो-हो-हो। सब एक साथ हँस पड़ते हैं।

इस अनगूँज हँसी का स्वर, उसे लगता है, सचमुच गूँज रहा है। उसे भय-सा लगता है। झुँझलाहट-सी होती है। ऐसी व्यर्थ की बातें वह क्यों सोचता है? ऐसी बातों का क्या अर्थ……?

जैसे कहीं गँदले पानी में कुछ खो गया हो, और वह दूँढता-दूँढता पस्त हो गया

हो। वह हथेली से आँखों को जोर से दबाता है और फिर शून्य में कुछ टटोलने लगता है।

सामने एक चौखटा है—एक तस्वीर। इतनी बड़ी, इतनी चुलबुली इस चौखटे में कैसे समाई होगी... उसे आश्चर्य होता है।

कुछ-कुछ वैसी ही बड़ी-बड़ी आँखें। दो चोटियों में से एक, गाय की पूँछ की तरह सामने बिखरी है, जिस पर बँधा रिबन कहीं निकल गया है। केवल धागे की तरह, रबड़ का छल्ला लपेटकर, चार अंगुल ऊपर बँधा है, ताकि अर्तम सिर पर मुट्ठी-भर बिखरे केश सुन्दर लगें...। छाती पर दो उल्टी कटोरियों की हलकी-सी छाया...। यह फोटो तब खिचवाया होगा, जब वह कम उम्र की रही होगी। अब तो सयानी हो गई है...।

चौखटे से हटकर उसकी निगाहें न जाने कब दीवार की ओर, दरवाजे की ओर मुड़ी। सब-कुछ बदला-बदला-सा लगा। पहले इतनी सजावट न थी, फिर भी न जाने क्यों इतना अच्छा-अच्छा-सा लगता था। पर, वैसा ही अब क्यों नहीं लगता!

अँगीठी के ऊपर धानी रंग का सुराहीनुमा बड़ा जार है, मोम-सी चिकनी रंग-बिरंगी छोटी-छोटी मछलियाँ बड़े कलात्मक ढग से फिसल रही हैं...। मध्य भाग में हाथीदाँत की एक नारी-प्रतिमा—वस्त्रविहीन। और पास ही 'कैजिल' की टाइमपीस। रेशमी तिनके की तरह सरकती दो सुइयाँ...। टिक टिक। और एक...।

तभी बड़े दरवाजे पर टँगा, खादी का भूरा परदा सरका। साड़ी की-सी सरसराहट। लाख कोशिश करने पर भी उससे मुड़कर पीछे न देखा जा सका।

दो पतली-सी लम्बी नाजुक अगुलियों ने दो नाजुक प्याले बड़ी नजाकत के साथ मेज पर रखे और उसी मुद्रा में एक तनिक और आगे सरका दिया।

क्या बातें करें? जैसे दोनों यही सोच रहे थे। अन्त में यों ही ठहरे पानी पर हल्की-सी कंकणी फेंकी इति ने, "पप्पू भैया पिछले शनीचर को लखनऊ गए हैं...।"

पप्पू लखनऊ क्यों गया? कब तक वापस लौटेगा? उसने कोई प्रश्न नहीं पूछा। 'सिप्-सिप्' एक साथ दो चुस्कियाँ लेकर गर्म प्याला हौले-से सामने रख दिया।

"चाय, कुछ अधिक गर्म तो नहीं हो गई?" इति ने पूछने-भर के लिए पूछा।

"नहीं, नहीं, मुझे गर्म ही अच्छी लगती है...।" कहकर वह चुप हो गया। उसे ध्यान आया, बचपन में तो वह हमेशा पानी जैसी ठण्डी चाय ही पिया करता था। उसे लगा, शायद इति ऐसा कुछ अवश्य कहेगी, परन्तु वह चुप रहती है। जैसे सुना ही न हो।

फिर सन्नाटा छाया रहा। इति प्याले के ऊपर उठती भाप देखती रही। सज्जन की पलकें शून्य में निराधार।

"आप अकेले ही आए...?"

"हाँ...।"

"भाभी जी को साथ नहीं लाए?" बिना सोचे ही इति के मुँह से निकल पड़ा।

वह चौंका। जैसे तन्द्रा टूटी—“कौन भाभी... ?”

“मेरा मतलब—।”

दोनों आयास हँस पड़े एक साथ।

इस हँसी से कुछ बोझिलता कम हुई।

इति फिर जैसे कहीं कोई और किनारा खोजने लगी।

काली मेज पर बिखरी पानी की बूंदों को वह अंगुली की नोक से समेटती-बिखेरती अजीबोगरीब शक्ले बनाने लगी।

इतने में बिना किनारी की खादी की सफेद धोती का पल्ला धसीटती सामने से ताई गुजरी। देखकर भी जैसे देखा न हो।

इति से रहा न गया। बोल पड़ी, “अम्मा, तुमने पहचाना नहीं। सज्जी भैया हैं—सज्जन।”

“हँ सज्जन—।” सलवटे पड़े माथे पर बल पड़ा, जैसे प्रयत्न करके भी कुछ समझ में न आ पा रहा हो।

“सज्जन। कौन स-ज्ज-न ?”

“अरे, वही जो अपने पड़ोस में ‘राइट लॉज’ में रहते थे...।” तनिक ऊँचे स्वर में बोली वह, “काकी थी न। काकी। आलू की खीर खिलती थीं।... रतौंधी के कारण रात को कम देग्व पाती थीं न। एक दिन कढ़ी में नमक के बदले फिनायल का पाउडर डाल दिया था...।” वह जोर से हँस पड़ी।

“अच्छा, अच्छा—।” इग बाग जैसे सचमुच में कुछ याद आ पड़ा हो, “हाँ-हाँ बेटा। रजनी की अम्मा न।”

उमने केवल सिग हिलाया।

“कहाँ हो बेटा अब ? अम्मा कहाँ हैं ? अच्छे तो हो न सब ?”

सज्जन का उत्तर अभी पूरा भी नहीं हो पाया कि बाहर से आवाज पड़ी। इति से ‘चा’ के लिए कहकर, वह मंदिर जाने की बात दुहराकर, हडबडाती हुई निकल गई...।

कुल मिलाकर यह सब बड़ा अमह्य सा लगा सज्जन को। वे खुले दिल की बाते, अपनेपन का आत्मीयता भरा व्यवहार, कही भी लग नहीं रहा था। उसे लग रहा था, जैसे कहीं धुंध-सी छा गई है। लाग्ब चाहते हुए भी जो जैसा है, वह वैसा लग नहीं पा रहा है। उमकी अपनी ‘अच्छी’ नाई। झगडालू पप्पू। नटखट इति कहीं दीख नहीं पा रहे थे। उसका मन बर्फाले पानी में गिरे अगारे की तरह बुझ-सा आया था।

उमने कुछ टटोलती निगाहों से इधर उधर देखा—इती बड़ी दुनिया में भला कौन, किसे याद करने लगा। मेले में मिले यात्रियों की तरह...हाँ, पड़ोस में उनके जाने के बाद कितने और पड़ोसी आए होंगे...। उनके साथ भी इनका व्यवहार उतना ही आत्मीय रहा होगा...। उमकी तरह इति उनके साथ भी कैरम खेलती होगी। चाँदनी रात में आँखमिचौनी...। किलकभरी हँसी...गुदगुदी...छीना-झपटी...और...। उमके मन में विचार आया कि पूछूँ—‘फिर कौन-कौन लोग यहाँ आए थे ? कब तक रहे ?



कैसे-कैसे थे ।' लेकिन लाख प्रयत्न करने पर भी होठ खुले नहीं। ये भी क्या कोई पृछने की बात है। उसके अन्तर में एक खिंचान मा आया और वह सहमकर रह गया।

रखी-रखी चाय ठण्डी हो गई। उम्के ऊपर कन्थई रग की एक मोटी-सी परत जम गई।

“अरे, आप पी क्यो नहीं रहे हे ? इति ने पृछा तो वह जैमे नीद में जागा। यो ही हँस पडा।

दो-चार घूटो में ही उसन प्याला रीता कर दिया।

इति जब प्याला लेकर जाने लगी तो उसके पीछे में मिर में पाँवो तक कुछ नौलते हुए उसने झँका। वह अब पहले की तरह मेंम की बेल में दुबली पतली नहीं थी, और न पारदर्शी ही। तन में अब भराव था, रग में निखार। मनरे की भरी डाल की तरह।

उसने जम्हाई लेते हुए, एक घुटने के ऊपर दूसरा घुटना रखा और फिर खट-खट हिलाने लगा। गर्दन सोफे की पीठ पर झुका ली। फिर भी कुछ सृझा नहीं तो मेज के नीचे औधे मुँह पडी कोई किताब निकाल ली। पहला ही पृष्ठ खोला कि बाय कोने में, एक लाल लकीर-सी खिची दीग्री। ऊपर बहुत बारीक कलम में लिखा था—ईति के लिए नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट नहीं थे। कुछ भी पता नहीं चल पा रहा था।

अम्मा-ताई जब धूप तापने के लिए बाहर आँगन में बैठती तो ताई अम्मा से अक्सर कहा करती—“सजी और इति की जनमराशि में समानता है न। पडतजी कैने है ।”

अम्मा तिन्नी की चोटी पर गबन बाँधती हुई, ऊँधती-ऊँधती कहती—“हाँ।”

“दोनो है भी तो एक से।”

माँ हँस पडती।

और—

ताई, ये इति मुझसे झगड रही है ।” ताई के गले में बाँह डालवर वह झूलने लगता।

“देखो न अम्मा, बिना बात इमने मेरा मुँह जूठा कर दिया है।” इति सहज आवेश में बोल पडती।

“और तूने जो ये चाँटा मारा। कटोर बिल्ली क्ही की।” वह अपना लाल गाल ताई के मुँह के पाम ले जाता। ताई बडे दुलार से उस चूमकर गोदी में भीच लेती “अरी, मुँहजरी, कही इस तरह हाथ उठाते है ।”

और आज जैसे उसी ताई ने पहचानने से ही इन्कार कर दिया। क्यो कर दिया ? पप्पू ने पिछले कई सालो से पत्र देना बंद कर दिया। क्यो कर दिया ? अपने हर पत्र में उसने घुमा-फिराकर अम्मा-ताई के साथ-साथ इति का भी जिक्र किया था, परन्तु प्रत्युत्तर में व्यर्थ की बहुत-सी बातें वह गिन गिनकर लिखता था, परन्तु एक बार भी ईति का

जिन्न उसने क्यों नहीं किया ?

इति फिर दो प्याले गरम-गरम चाय के लिए आई। हथेली में अपनी ठुड्डी टिकाए क्षण-भर सामने की ओर देखती रही। कुछ सोचती रही। फिर अपनी कलाई मोड़कर देखती हुई बोली, “आप चाय शुरू कीजिए। मैं अभी आई...। बस्स।” और तेजी से लपककर भीतर चली गई। जैसे सहसा कोई महत्वपूर्ण बात याद आ गई हो!

देर तक जय वह नहीं आई तो प्याला रीता कर, वह बाहर बरामदे में टहलने लगा। उसे लगा, जैसे अपने किसी जनम की बात आज महसा याद आ गई हो। “यह सब किमी सपने में उसने देखा हो। हो सकता है, कभी रहा भी हो यहाँ। यहाँ के कण-कण में धुंधली स्मृतियों के कितने ही रुपहले प्रतिबिम्ब थे। समय की बारिश ने बहाकर जिन्हे विस्मृति की बाढ़ में डुबो दिया हो...।

यहाँ वे बैठा करते थे...अभी इति आएगी तो बतलाएगा—यहाँ उसने पंखुडियों बोई थी... इस पत्थर पर खड़ा होकर वह चकई चलाया करता था...। यहाँ पर एक दिन झूठ-मूठ के झगड़े में इति ने उसके गाल पर काट खाया था...उसने इसी तरह एक दिन किसी को चूमते हुए देखा था। ऐसा करके क्या होता है, बहुत दिनों तक उसकी समझ में नहीं आ पाया था।...बरसात के दिनों में एक बार इति तालाब से उठकर, नहीं-नहीं, स्कूल से भीगकर आ रही थी...और फिर उस दिन से, उससे क्यों झेंपती थी।

कोर्ट-यार्ड की बगल में पड़ी उसी सीमेंट की चितकबरी टूटी पाटी पर वह स्वयं बैठ गया, जिसके किनारे दूब में, दूर तक धँसे हुए थे। सॉझ से सूरज की रंगीन किरणों का झीना आवरण सिमटने लगा था। कुछ दुबली-पतली ठण्डी किरणें देवदार के तने से सरक-सरककर चोटी तक बढ़ आई थीं।

इतने लम्बे अर्से में वह कितना कुछ नहीं भूला, फिर गड़े कोंटे की तरह कोई बात बार-बार भुलाए जाने पर भी क्यों नहीं भूली जाती? क्यों याद रहकर, बार-बार चुभती रहती है? मन अकारण उमी और क्यों खिच-खिच आता है? जो दाँत टूट जाता है, जीभ उसी रीती ठौर को बार-बार क्यों सहलाती है?

अभी इति आएगी तो एक-एक बात, एक एक घटना उसे विस्तार से बतलाएगा। कितने उलाहने देगा। कितनी शिकायतें—देखो, हममें कितनी समानता थी! एक-सी आदते। एक-सा स्वभाव! कहीं भी, किसी भी रूप में हम दो होते हुए भी दो कहाँ थे। पर तुमने...।

वह पहले हमेशा के अपने स्वभाव के अनुसार, गम्भीर मुद्रा में खड़ी सुनती रहेगी। फिर शरारत से कपास की तरह खिली हुई हँसी में खिल-खिल हँस देगी... एकदम हल्की होकर।

वह भी एकदम तनावमुक्त होकर हँसने लगेगी।

“अच्छा, एक बात बतलाओ।”

“क्या?”

“सच-सच कहना...।”

“क्या— ?”

“अब किसे प्यार करती हो... ?”

वह और जोर से हँसती हुई फट पड़ेगी।

“...अभी-अभी कुछ समय पहले जो तुम्हारे पड़ोस में रहता था। घुँघराले बालों वाला...तुम्हारा क्लासफैलो...।”

वह ताली पीटती हुई हँसने लगेगी, “अरे, वाह! उसके बालों का भी पता लगा लिया। और क्लास का भी...।” वह चिढ़ाने के लिए शरारत से देखेगी, “मैं गर्ल्स कॉलेज में पढ़ रही हूँ तो वह मेरा क्लासफैलो कैसे हो सकता है। और फिर जो मेरे पड़ोस का मकान था न, वह अब सरकारी गोदाम है। वहाँ कोई कैसे रहता होगा!” हँसी की लहर फिर सामने बिखरने लगेगी।

वह कुछ संयत होकर कहेगा—“अच्छा, क्लासफैलो छोड़ो,” वह समझौता करता है, “पप्पू का कोई दोस्त होगा...वह रोज तुम्हारे घर आता होगा...कोई-न-कोई जरूरी काम उसे रोज निकल आता होगा...या फिर तुम्हारी सहेली का बड़ा भाई, इंजीनियरिंग की तैयारी में लगा...जब तुम उसके घर जाती होगी, वह हाथ का काम छोड़कर, भागता-भागता उसी कमरे में आ जाता होगा, जहाँ तुम एकान्त में, अपनी सहेली के साथ खिलखिला रही होगी। उसे एकाएक उस काम की याद आ पड़ी होगी, जिसे उसकी बहन यानी तुम्हारी सहेली ने अब तक पूरा न किया हो।...आते ही आसमान सिर पर उठा लेता होगा कि उस काम के न होने से उसका कितना हर्ज़ हो गया।... फिर एकाएक उसे प्यास लग पड़ती होगी। पास ही बगल के कमरे में, रसोईघर तक भी पहुँच पाने की हिम्मत न रह पाती होगी। तब वह तुम्हारी सहेली को पुकारता होगा। हज़ार मना करने पर भी अन्त में उसे जाना ही पड़ता होगा...उसके जाते ही उस होने वाले होनहार इंजीनियर की आँखें तुम पर अटक आती होंगी। तुमसे चाहकर भी उसकी ओर देखा न जाता होगा। तब वह पानी का गिलास जूठाकर, बड़बड़ाता हुआ चला जाता होगा! ...दूसरे दिन फिर तुम्हारी सहेली से पूछता होगा, ‘शीला, आज तुम्हारी तीन-बटा-चार दिखलाई नहीं दे रही है।’ उससे तुम्हारा कद कुछ कम होने के कारण, इसी नाम से तुम्हें चिढ़ाता होगा।...तुम्हें उस पर गुस्सा भी आता होगा और तुम्हें अच्छा भी लगता होगा...सारी-सारी रात नींद न आ पाती होगी...। फिर एक दिन फिर एक दिन...।”

इति अपना धीरज अब तक खो चुकेगी। “गुनो मैं कहे देती हूँ...कुछ ऐसा-वैसा कह बैठी तो मुँह फुला लगे। इत्ते बड़े होकर, इत्ती बेशरम बात...।”

सचमुच इत्ते बड़े होकर...वह डूब-सा जाएगा, किसी गहरे में...।

एक सफेद बादल का दूधिया टुकड़ा, धुनी हुई रूई के फाहे की तरह, जैसे सिन्दूरी शीशी में डूबकर लाल हो गया हो...। देर तक उसे वह देखता रहा। उसके झुके हुए कोने उसे भेड़ के सींगों की तरह मुँड़े हुए लगे...। उसने इधर-उधर पलकें दौड़ाई—और भी पैबन्दनुमा कई टुकड़े दिखलाई दिए...जैसे छोटी-छोटी पालदार कई

नावें एक साथ भागी जा रही हों।

मुँदे दरवाजे की तरफ से आहट-सी आई। पर्दे की रिंगें सिहरीं—हाँ, इति ही तो है। पकी खुबानी के रंग की झकझक साड़ी! हाथ में नाचता हल्का-सा कलात्मक बैग और आँखों में सुन्दर-सा धूप का चश्मा! बाहर से इतनी खिली-खिली होने के बावजूद, भीतर से बोझिल! पानीभरे बादलों की तरह भारी....।

“चलें—!” उसने इस तरह से कहा, जैसे वह इसी शब्द की प्रतीक्षा में इतनी देर से बैठा हो।

दोनों चलने लगते हैं, चुप।

“कहाँ ठहरे हैं?”

“ग्रीन लॉज....।”

“यहाँ भी आ सकते थे!”

वह कुछ न बोला।

“चलिए, आपको कुछ दूर तक छोड़ आऊँ....।” वह यों ही मुस्कराने का प्रयास करने लगी।

“हाँ, कहीं मैं फिर न लौट आऊँ!” इस बार वह भी अकारण हँस पड़ा।

फिर देर तक दोनों अपरिचितों की तरह चलते रहे। ‘कर्-कर्—’ केवल स्लेटी बजरी पर जूतों के चलने से आवाज़ आती रही....तीखी ढलान पर बार-बार पाँव रपट पड़ते....इति सड़क के किनारे लगे तारों को छूती हुई चल रही थी।

सज्जन ने देखा, तो उसने झटके के साथ गीले तार पर से हाथ हटा लिया।

ऐसे ही एक बार पहले भी....तब भी....। उन्हीं दिनों इन्हीं गीले तारों को छूने से हॉस्टल के वार्डन की ग्यारह वर्षीया बिटिया मर गई थी। सज्जन ने जो डॉटा तो उसकी रुलाई फूट पड़ी थी।

अगले मोड़ पर ‘व्यू कॉटेज’ के साथ लगी गोल टंकी के नीचे, सड़क के बाईं ओर बूढ़ा देवदार का पेड़ आया। सज्जन ने उसे ऊपर से नीचे तक पूरा देखा....। यहाँ तक दोनों घूमने से साथ-साथ आकर, अलग-अलग हो जाया करते थे। जैसे दोनों दो विपरीत दिशाओं से आ रहे हों, इस तरह अपने-अपने घरों में घुसते थे। उसके जाने से कुछ दिन पहले इसी उतार पर एक दिन वह फिसल पड़ी थी।....चोट मामूली थी, फिर भी पता नहीं क्यों वह इतना रोई थी।....जिस दिन सचमुच वे घर खाली करके जाने लगे थे, वह कितनी उदास थी।....वे यहाँ तक घूमने आए तो वह बिना बात दुल-दुल रोने लगी थी, जैसे दुधमुँही बच्ची हो।....तब वह कुछ भी कह न पाया था। आज की तरह, उस दिन भी उसके होंठ सिले हुए थे।

“तुम्हें मालूम है....?” उसने नहीं, जैसे किसी तीसरे ने कहा हो।

सज्जन चलता-चलता घाटी से उभरते कुहरे की ओर चुप देखता रहा।

“मेरी मैरेज हो गई है।”

“....।”

“वे डॉक्टर हैं, कपूरथला में।”

वह फिर भी चुप था।

“गाड़ी है...कोठी है...”

“....।”

“तुम सोचते होगे कि मैं दुखी रहती हूँगी...। जो बीत गया, उसी को याद कर-करके घुट रही हूँ। लेकिन, सच, ऐसी बात नहीं है।” तौलने की दृष्टि से उसने सज्जन की ओर देखा, जिसके चेहरे पर कोई भाव न था।

“हमारा जीवन बहुत सुखी है। एक-दूसरे को हम बहुत प्यार करते हैं। मेरा अनुमान है कि कोई भी युवा स्त्री-पुरुष कुछ दिनों तक साथ रहें—एकसाथ, तो निश्चित ही एक-दूसरे के लिए स्थान बना लेते हैं। क्यों, ठीक है न?”

वह निर्निमेष सामने की ओर ताक रहा था।

चलते-चलते एक चौराहे पर पॉव 1ठठक पड़े। कुहासा, गहरा कुहासा...धुनी रुई की तरह चारों ओर घिर चुका था। बाँज के पेड़ों की निष्ठुर पातियों से टप्-टप् बूँदें टपक रही थीं। कुहासा झर रहा था। इति तार के खम्भे के सहारे किनारे पर खड़ी थी। सज्जन ने दोनों ठण्डी मुट्टियाँ जेबों में भर ली थीं, जो सीसे के भारी टुकड़ों की तरह नीचे लटक रही थीं...। इति की साड़ी का पल्ला तेज हवा में उड़ा जा रहा था। उसकी आकृति में कोई विशेष भाव न था। जो था भी, वह पहले ही बिखर चुका था, हवा की तरह।...उसके सुनहरे प्रेम के चश्मे के शीशे पर धुंध की धुंधली-सी परत जम गई थी, जैसी अक्सर बर्फाले ठण्डे पानी के गिलास के बाहर जम जाती है।

“वे आज सवा आठ की बस से यहाँ पहुँचने वाले हैं...।”

सज्जन की निगाहें कुहरे की अनिश्चित गहराई से उतरकर, बजरी पर धँस पड़ीं। बर्छी की तरह छेदती न जाने, कितनी दूर, धरती पार कर गई।

“तुम्हें मेरी शादी का कार्ड पप्पू न भेजा था, पर तुमने फॉर्मल कांप्रेचुलेशन का एक तार तक नहीं भेजा...।” वह जैसे अपने आपसे उलाहना कर रही हो।

उसका स्वर सूख गया। इस सबके लिए वह तैयार नहीं था शायद। क्या कहे, क्या न कहे—कुछ सूझ नहीं रहा था।

“तुम मुझे बहुत प्यार करते हो न।” पना नहीं उसने क्या सोचकर कहा, “तो बताओ, मेरे लिए क्या लाए हो? मुना है, तुम्हारा दिल्ली बहुत बड़ा शहर है। वहाँ सब-कुछ मिलता है।” वह हँस पड़ी। एकदम सूखी हँसी में।

हाँ, इति ठीक ही कहती है। दिल्ली बहुत बड़ा शहर है। उसे कुछ तो लाना चाहिए था उसके लिए।

“इते साल बीत गए, कभी पूछा तुमने कि मैं क्या कर रही हूँ? आगे क्या करना है मुझे? आज अचानक आ गए हो देवदास बनकर। अरे, बिना कर्तव्य की भावना के भी कहीं प्यार होता है?” कहती-कहती इति स्वयं ही ठहर-सी आई, “हम देश में, व्यक्ति से—सबसे मात्र मौखिक प्यार करते हैं। हवा में जीने की हमारी हजारों साल

पुरानी आदत....।”

तभी कहीं सायरन-सा बजा।

—यह सायरन पहले की तरह शाम पाँच बजे अब भी बजता है क्या? सज्जन पूछना चाहता था, पर पूछ न पाया। इति का प्रवचन शायद अधिक भारी हो गया था। इति बुझ-सी आई। उसे यह सब नहीं कहना चाहिए था। इतने वर्षों बाद तो मिले हैं।

जब वह सचमुच ही जाने लगा तो अपनी मोम-सी नाजूक, सफेद अंगुलियों से, उसने सज्जन की ठण्डी अंगुलियाँ बड़े स्नेह से थाम लीं। देर तक यों ही उन्हें सहलाती रही। फिर धीरे से दबाती हुई बोली, “तुम इतने सेण्टीमेण्टल होकर कैसे जीओगे?....हाँ, मेरी बात का बुरा न मानना। मैंने तुम्हें बहुत चाहा, उसी अपनेपन से कुछ कह गई हूँ तो अन्यथा न ले.... ना....।” उसका गला भर आया।

कुहरे के अथाह सागर में जैसे औंधे मुँह वह गिर पड़ा।

‘फिर मिलेंगे’, ‘कब लौट रहे हो?’, ‘फिर आना घर’ ऐसी कोई भी औपचारिक बातें नहीं हुईं।

समय के साथ-साथ सब-कुछ कितना बदल जाता है। एक ही सेब को दोनो दाँतों से काटकर साथ-साथ खाते थे एक ही गिलाम में, सबकी नजरे बचाकर चाय पीते थे। निमिषा की शादी के लड्डू आए थे। इति चुपके से आकर आधा लड्डू उसके मुँह में डाल गई थी और शेष आधा अपने मुँह में दूँसकर दौड़ती हुई भाग निकली थी....। ताई पर्दे की आड़ से देख रही थी...और शर्म के मारे वह पानी-पानी दिनों तक उनसे नजरें चुराना रहा था।

झटके के साथ वह मुड़ा और ढलान की तरफ लुढ़कता हुआ, तेज-तेज कदमों से भागने लगा। वह सोचता जा रहा था—वह क्यों इतना भावुक है? क्यों वह सब सोचता है, जो सम्भव नहीं है। इति अपनी दुनिया में खुश है, और वह... वह....।

खम्भे से टकराता-टकराता वह बचा।

**टिप्पणी :** सज्जन और इति की यह कहानी यही समाप्त हो जाती है। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। शायद कहानी को कहानी न कहलाकर सत्य होने के लिए एक और मोड़ लेना पड़ा। उसी का शेष अंश प्रस्तुत कर रहे हैं—

चलते-चलते सज्जन दूर निकल गया तो उसे पीछे से किसी नारी-कण्ठ के पुकारने का स्वर सुनाई दिया। वह सहसा चौककर ठिठका। ध्यान से सुनने का प्रयास किया। इति का ही स्वर था।

“सज्जी, रुको। रुको।” इति कुछ ही क्षण पश्चात् भागती हुई सामने खड़ी थी। वह बुरी तरह हॉफ रही थी।

“तुम अजीब इन्सान हो। सिर झुकाए भागे जा रहे हो……।”

“तो फिर क्या करूँ—?” गुस्से से झुंझलाकर उसने कहा।

“अरे, तुम मर्द हो। तुमने इतना प्यार किया है मुझसे। तुम्हारा क्या कुछ भी हक नहीं मुझ पर?”

“हक होने मात्र से क्या होता है……।”

“अरे, क्या नहीं होता। मेरा हाथ तो पकड़ सकते थे। कह सकते थे, तुमने इतना जुल्म क्यों किया? कम-से-कम एक चॉटा ही जड़ देते……। तुम्हारे इस अपनेपन पर मुझे कितनी खुशी होती! जीवन-भर मुझे सन्तोष होता कि मैंने किसी अपने से प्यार किया……।” कहते-कहते इति की आँखों में आँसू उमड़ आए।

सज्जन ने आगे बढ़कर, दोनों हाथों में उसका आँसुओं से भीगा मुखड़ा उठा लिया। प्यार से उसे सहलाता हुआ बोला, “ऐसा नहीं कहते। तुम पागल हो गई हो क्या?”

“हाँ! सचमुच मैं पागल हो गई हूँ। तुमने कहीं का भी तो नहीं रख छोड़ा मुझे……।”

वे आगे बढ़कर किञ्चित् एकान्त में एक बड़े-से पत्थर पर बैठ जाते हैं।

“इतने वर्ष तुम्हारी याद में मैंने किस तरह निकाले, तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। एक-एक पल गिनकर……। क्या-क्या नहीं सहा मैंने……पिता जी मेरी शादी की चिन्ता में घुल-घुलकर चल बसे……अम्मा के ये हाल हैं……तुमसे मिलकर जब कमरे से बाहर आई तो मुझसे पूछ रही थी—कौन है यह? क्या ‘जनगणनावाला’ आज फिर आया है। यह परसों भी तो आया था न।”

सज्जन कुछ कह नहीं पा रहा था, प्रत्युत्तर में। इति ही बोल रही थी, बोले चली जा रही थी—“मेरी सहेली थी न कपिता……कपिला गूढ़……उसकी शादी भी दिल्ली हुई थी। उसके पति वहाँ ‘डेसू’ में इंजीनियर हैं। तुम्हारी ही कार्लोनी में, पास ही कहीं रहते हैं। वह तुम्हारे घर भी गई थी, कई बार। अम्मा से मिलने। परन्तु नैनीताल के परिचय का उसने कभी हवाला नहीं दिया था, मेरे ही कहन पर। हर महीने वह पत्र भेजती थी, आधी से अधिक बातें तुम्हारी। उसी ने मुझे बतलाया था कि तुम्हारे ड्राइंगरूम में वह चित्र फ्रेम करके अब तक रखा है, जो नैनीताल से जाते समय तुमने मेरा खींचा था……। उसी ने बतलाया था कि तुम नैनीताल आने वाले हो……।”

सज्जन विस्मय में उसकी ओर देखने लग, जैसे वह कोई रोचक कहानी सुना रही हो—अविश्वसनीय……काल्पनिक।

“तुम बुद्धू थे, बुद्धू ही रहोगे। मैंने जो-जो कहा, तुमने सच-सच मान लिया……।” इति ने गुस्से से कहा।

“तो क्या तुम्हारी शादी नहीं हुई……?” वह अभी कुछ कह ही रहा था कि इति बात काटती हुई हँस पड़ी, यों ही, “अरे, मेरी शादी होती तो मेरी माँग में सिंदूर नहीं होता? कहीं मेरे गले में मंगलसूत्र दीखा तुम्हें? शादीशुदा औरत और कुँवारी में तुम्हें

कोई भेद नहीं दीखता ? तुम कैसे पत्रकार हो। कहते हो, बड़े समझदार हो। बड़े-बड़े तुमसे डरते हैं....।”

वह उसकी ओर निर्निमेष ताकती रही, “तुम्हें क्रॉम कलर की साड़ी में मैं बहुत अच्छी लगती थी न। मेरा हँसना, मुस्कराना तुम्हें बहुत भाता था न। मैं तुम्हें दुनिया में सबसे अधिक पसन्द थी न! सुनो, मुझे अपने साथ नहीं ले चलोगे दिल्ली! तुम्हारे कपड़े धो दूँगी। तुम्हारे बर्तन मॉज दूँगी। दो टुकड़े रोटी तो दे ही दोगे न....।”

वह हँस पड़ा। जोर से उसे भींचता हुआ बोला, “हाँ, हाँ, तनख्वाह ही नहीं, ऊपर से बोनस भी....बोलो कितनी तनख्वाह लोगी?”

“तुम्हारे सारे सपने—।” उसकी आँखों के कोर भीग आए थे।

जब वे उठकर चले तब तक काफी बरसात हो चुकी थी।





## रथ-चक्र

पीली-पीली धूप निखरने लगी है। चीड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ और भी ऊँचे लग रहे हैं। बर्फ से ढकी पहाड़ों की चोटियाँ पिघले सोने की तरह चमक रही हैं। धुँधलके के उ पार मैं कुछ खोज रहा हूँ, पर स्पष्ट कुछ दीखता नहीं।

आज इतने लम्बे असें बाद मैं फिर आया हूँ यहाँ। उस जगह, जिसे घर कह हैं। यहाँ के कण-कण में कितने ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब बनते-बिगड़ते देखे हैं मैंने ! शैश की कितनी ही हर्ष-विषाद-मिश्रित स्मृतियाँ।

पिताजी जब गुजरे, हम छोटे थे। माँ का बिलख-बिलखकर रोना, दीदी के कः न थमने वाले आँसू, बाबा का कोरा कागज-सा सफेद चेहरा—आज भी अनायास य आता है तो अजीब सिहरन-सी होती है और मैं कॉप-कॉप उठता हूँ।

मैं तब मनु के बराबर था। देहरी के पास बैठी माँ चूड़ियाँ तोड़ रही थीं। बा पत्थर की तरह गुम-सुम हो गए थे। एक भी शब्द बोल न पा रहे थे। दीदी मुझे गो में उठाए, चुपचाप रो रही थी—रोए जा रही थी।

पिताजी की अकाल-मृत्यु ने बाबा को और भी बूढ़ा बना दिया था। हाथ-पं अब अधिक चल न पाते थे। स्मृति भी अब किसी सीमा तक साथ छोड़ रही थी। ब करते-करते बहक उठते। बार-बार बताने पर भी कोई बात जल्दी भूल जाते।

जिनके पास दूकान का जितना उधार था, उन सबने ठेंगे दिखला दिए थे रिश्तेदारों ने मदद देना तो अलग रहा, पिताजी की आकस्मिक मौत का पूरा-पूरा फाय उठा लिया था। दुबारा अपनी रकमें वसूल करने से भी वे चूके न थे।

किसी पड़ोसी दूकानदार ने ग्राहक तोड़ लिए थे। किसी ने अपने बगल व हमारी जमीन दबा ली थी। घर-बाहर के सभी लोग जैसे हमें नोचने के लिए उठ ख हो गए थे। मंकट की ऐसी घड़ी में कोई भी तो नहीं दीखता था अपना !

किसी से कुछ कहा नहीं कि लोग हाथापाई करने पर उतारू हो जाते। बाबा ब थे, हम छोटे !

एक दिन बड़े भैया को बाबा ने बुलाया। पता नहीं क्या कहा कि बड़े भैया सारा दिन उदास रहे। शाम को हम खेत से लौट रहे थे कि भैया बोले, “जित्तू, मैं पढ़ने अल्मोड़ा जाऊँ तो तू घर का काम देख लेगा ?”

मेरी समझ में बात आई नहीं। भैया पढ़ने जाएँ, यह ठीक है, लेकिन घर में मुझे क्या सँभालना है—कैसे ?

“तू सारा दिन आवारागर्दी करता रहता है। देख न, बाबा बूढ़े हो गए। इतना बड़ा कारोबार है। दूकान में उनसे अधिक काम हो नहीं पड़ता। मुनीम रखते हैं, लेकिन वे भी लूट-खसोट करने में कसर नहीं रखते। तू स्कूल से लौटकर सीधा घर आया करना। कभी किसी काम में मदद कर देना। इससे बाबा को बड़ा सहारा मिलेगा।”

बड़े भैया का स्वर भीग आया था। वह उसी बहाव में आगे बोले, “ऐसा कोई भी तो नहीं दीखता, जिसकी हम सहायता ले सकें। हमें खाता-पीता देखकर सब जलते हैं...। पिताजी हमें खूब पढ़ाना-लिखाना चाहते थे न। बाबा कहते हैं कि मैं आगे पढ़ूँ।...लोग यह न कह सकें कि पिताजी के गुजरते ही सारा कारोबार चौपट हो गया। पिताजी जिस तरह सारे काम चलाना चाहते थे, वैसे ही सब चलें। बाबा का दिल नहीं दुखाना।...मैं खूब मेहनत करूँगा। तू भी पढ़ने में मेहनत कर। बेकार का घूमना-फिरना छोड़कर, खाली समय में घर का काम देख। छुट्टियाँ मिलते ही मैं भी घर आ जाया करूँगा।”

बड़े भैया सचमुच एक दिन चलने लगे। घोड़े पर उनका सामान लादा गया। पुल पार तक बाबा लाठी टेकते-टेकते उन्हें पहुँचाने गए। बड़े भैया से पता नहीं क्या-क्या बाते करते रहे।

बड़े भैया उम्र में मुझसे केवल तीन साल बड़े थे, लेकिन लगता था—पिताजी की अकाल-मृत्यु ने उन्हें बहुत कुछ सिखा दिया है।

फिर काम में डूब गए थे बाबा। न दिन देखते, न रात। कहीं कुछ भी कमी न आने दी उन्होंने। जिस तरह मेहमान पहले आते थे, उसी तरह फिर आने लगे। बहू-बेटियाँ जो भी घर आती, बाबा उन्हें उसी तरह देते, जिस तरह पिताजी दिया करते थे। पाठशाला और अस्पताल के चन्दों में अब भी उतनी ही रकमें दी जातीं, जितनी पहले दी जाती थी।

लगभग माल-भर बाद बड़े भैया का रिजल्ट आया तो बाबा की बूढ़ी आँखों में खुशी के आँसू छलक आए। कॉलेज भर में पहली पोजीशन थी उनकी। वजीफा भी मिलने लगा था।

मैं स्कूल जाता। घर का, दूकान का, खेतों का काम भी देखता। खाली समय में पढ़ता और एक के बाद एक सीढ़ी पार करता चला गया। कभी एक पैसा भी फिजूल में खरचते मुझे किसी ने नहीं देखा था।

“बॉस की खूँट पर बॉस ही उगेगा...नरेन्द्र गुजर गया तो क्या हुआ ? दो बच्चे होनहार निकल गए तो मेरी जिन्दगी-भर की तपस्या सफल हो जाएगी।” बाबा जब-तब

दुहराते रहते ।

पास-पड़ोस के लोगों ने बगीचे लगवाने शुरू कर दिए थे । बाबा ने भी खेतों में पौधे लगाने के लिए गड्डे खुदवा दिए थे । दूकान की मरम्मत करवाई, गौशाला के आगे लम्बा-चौड़ा ऑगन बनवा दिया था ।

बड़े भैया छुट्टियों में उन दिनों घर आए हुए थे । शायद उन दिनों बाबा ने सेब और नाशपाती के पौधे लगवाए थे, “अरे, इनके फलने-फूलने तक मैं जिन्दा न भी रहूँ... बच्चे तो खाएँगे । हमारा नरेन्द्र फलो का बड़ा शौकीन था । ऑगन के आगे लगे माल्टा के पौधे वही लाया था चौबटिया से ।”

धीरे-धीरे पौधे बढ़ने लगे, फूलने लगे, फलने लगे । इस बीच कितना कुछ नहीं हो गया था ।

बड़े भैया मिलिटरी में चले गए । बहुत अच्छा ओहदा उन्हे मिल गया । मैंने दिल्ली में नौकरी कर ली । बाबा भी बहुत बरम हुए चल बसे । घर में केवल मॉ रह गई—अकेली ।

पिछली बार घर आया तो बाबा का धूल और धुएँ से ढका फोटो साफ करके मैंने देवताओं के पास रख दिया था ।

“तुम अकेली क्यों रहती हो, मॉ ?” मैंने पूछा तो माँ बोली, “तो कहॉ जाऊँ ? तपन का कोई भरोसा नहीं । आज यहाँ, तो कल वहाँ । तू शादी करता नहीं । मुझे तो ये डाँडे-पहाड ही अच्छे लगते हैं । जिन्दगी के कुछ दिन और रह गए हैं—वे भी बीत जाएँगे ।”

“माँ, तुम अपनी पसन्द की बहू ढूँढ लो, जो तुम्हारी खूब सेवा कर सके । अगली बार घर आऊँगा तो तुम्हें निराश न करूँगा । भैया को भी तब छुट्टी मिल जाएगी ।” कहकर मैं चला गया ।

बड़े भैया ने मिलिटरी में ही काम कर रहे अपने किसी बड़े अफसर की लडकी से शादी कर ली थी । भाभी केरल की थी । पहाड की जिन्दगी क्या होती है उन्हें पता न था । एक बार अम्मा उनके साथ कुछ महीने बिताने के लिए गई, लेकिन थोड़े दिनों में लौट आई । वहाँ की जिन्दगी उन्हे राम न आ पाई ।

मेरे दिल्ली लौटने के कुछ महीनों बाद माँ का लिखवाया पत्र मिला था, “तेरे लिए बहू ढूँढ ली है । तपन को लिख दिया है । वह भी आएगा । चैत में शादी होगी ।”

चेत से पहले ही देश की स्थिति बिगडने लगी । पाकिस्तान से युद्ध शुरू हो गया था । भैया उन दिनों बांग्ला देश के मार्च पर थे—जैस्सोर की तरफ कहीं ।

युद्ध पर जाने से पहले भैया मिलने आए थे । एक दिन मेरे साथ रहे । उस सारी रात वह सो न पाए । घर की, बाहर की—पता नहीं कहाँ-कहाँ की बातें करते रहे । मेरे लिए कुछ कपड़े खरीद गए । अपने हाथ की कीमती घड़ी उतारकर मुझे दे गए ।

भाभी और बच्चों से जान-बूझकर न मिले । बोले, इससे दिल कमजोर हो जाता

है। जो होगा देखा जाएगा।

त्रिवेन्द्रम से जब तक भाभी यहाँ पहुँची, वह कलकत्ता के लिए रवाना हो चुके थे।

रेलवे-स्टेशन तक मैं छोड़ने गया तो भैया देर तक मेरा हाथ थामे रहे।

“जित्तू तू बहुत कमजोर है। अपना ध्यान रखाकर। लौटने पर, अब की बार खूब लम्बी छुट्टी लेंगे। एक-दो महीने आराम से घर पर बिताएँगे।……बंगलानुमा नया मकान बनवाएँगे……।”

ट्रेन जब चलने लगी, भैया के चेहरे पर अजीब-सा भाव था।

धमासान युद्ध की खबरें आतीं। भारतीय सेनाएँ, मुक्तिवाहिनी के साथ निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, पर मेरी आँखों की नींद न जाने कहाँ खो गई थी।

तभी एक रात तार मिला। लिखा था—मेजर तपनकुमार जैस्सोर के मोर्चे पर शत्रु से लड़ते हुए, वीरगति को प्राप्त हो गए।

यह वज्रपात असह्य था हम लोगों के लिए!

माँ पागलों की तरह दिन-रात रोती रहती।

मैं घर आया तो भाभी साथ थीं और बच्चे भी।

“तप्पी ने तो अब आने को लिखा था……चैत मे लगन तय किया था……।” माँ सुबक-सुबककर रोने लगी।

“तुम्हे बहू चाहिए थी न, साथ रहने के लिए? लो, भाभी आ गई। ये छोटे-छोटे बच्चे हैं। इनकी परवरिश करनी है। भैया चल बसे तो क्या हुआ, हम तो हैं। साल-दो साल बाद फिर लगन ढूँढ लेना। कही भागा तो नहीं जा रहा विवाह।”

माँ चुप हो गई। अपनी होने वाली चॉद-सी बहू का जिक्र उन्होने फिर कभी भी न किया……।

धूप में चमकता हरा भरा बगीचा दीख रहा है सामने। वे पेड़ अब बहुत बड़े हो गए हैं, जिन्हें बाबा ने लगाया था। तीन-चार साल पहले बड़े भैया भी छुट्टियों में घर आए थे, कुछ पेड़ वह लगा गए थे—जो अब मेरे बराबर ऊँचे हो गए हैं।

दूर कुछ गड़्डे और चमक रहे हैं, जिन्हें अम्मा ने जाड़ों में खुदवाया था, जिन पर पौधे अब मुझे लगाने हैं।



## कोई एक मसीहा

आकाश कुछ झुक-सा गया था। इमारत इस वर्ष कुछ और ऊपर उठ गई थी। जगला आगे की ओर निकला-सा। कुल मिलाकर वह टूटा मकान एक बँगला-सा लग रहा था।

पर सुरेश भाई की दीर्घ-दृष्टि इस परिचय से परे थी। इधर-उधर वह देर तक टहलते-घूमते रहे। बोले, “इस वर्ष सरकार की ओर से ग्राण्ट कुछ अधिक मिली होगी। मैंने योजना-विभाग में बात चलाई थी। लगता है, आगे अब कठिनाइयाँ नहीं रहेगी।”

“जी, हाँ।” लाभु बेन ने उनकी ओर बाल-सुलभ जिज्ञासा से देखा, “ग्राण्ट के अलावा सरकार ने कुछ बहनो को बुनाई-ट्रेनिंग के लिए वजीफा देना स्वीकार किया है। सब आपकी दया है, सुरेश भाई। आप न होते, तो यह शिविर कब का टूट गया होता।”

कृतज्ञता से लाभु बेन की पलके झुक आईं।

“अब कुल कितनी बहने हैं यहाँ?” सुरेश भाई ने फिर पूछा।

“कुल बत्तीस हैं। सख्या शायद और बढ़ जाएगी। रंगाई-विभाग का काम शुरू हो गया, तो यह सेप्टर तरक्की करेगा।” लाभु बेन कह ही रही थीं कि सुरेश भाई ने फिर उत्सुकता से पूछा, “क्या कुछ नई लडकियाँ नहीं आईं इस वर्ष? उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए।” आगे उन्हीं के बल-बूते पर यह केट चलने वाला है, यह क्यो भूल जाती हो?”

लाभु बेन अब कुछ और ममीप थी, “कोशिश कर रही हूँ, पर जरा मुश्किल-सा है। आजकल की लडकियों का ध्यान आश्रम की ओर उतना नहीं, जितना....।”

सुरेश भाई कुछ आगे मुड़े। लाभु बेन एक-एक कर उन्हें हर विभाग का निरीक्षण करवाती जा रही थीं। इस वर्ष अम्बर-चरखो की सख्या में वृद्धि थी। सिलाई-विभाग में भी नई मशीनें। लाभु बेन को लगता था, सब उनकी ही कृपा का परिणाम है। अतः इस कृतज्ञता के लिए वह पानी की तरह बिछ जाना चाहती थीं।

वे अब मेन-गेट पर खड़े थे। आश्रम की सारी सदस्याएँ दम साधे अपने कार्य में संलग्न थीं, मानो बच्चों की शाला में आज 'डिप्टी साहब' का मुआयना हो रहा हो।

“व्यवस्था ठीक तो लगी न?” लाभु बेन ने जैसे परीक्षा का परिणाम पूछा।

“हाँ।” बुझे भाव से सुरेश भाई बोले, “ये मनहूस चेहरे कहां से भर लिए? सब भिखारियों-जैसी लगती हैं।”

लाभु बेन को इस प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा नहीं थी। बात को संभालती हुई बोलीं, “कुछ बेचारी विधवाएँ हैं, सुरेश भाई! रोज घर पर आकर रोती थीं। रोजी-रोटी के लिए कुछ तो चाहिए!” कुछ रुककर बोलीं, “सुरेश भाई, आप लोगों के राज में यह कैसा हो रहा है! सुबह से शाम तक काम करने पर भी दो वक्त की रोटी नहीं……।”

लाभु बेन कहती-कहती रुक गई, शायद सुरेश भाई की आकृति पर उतरते-झलकते भावों के कारण।

सामने क्यारियों में कुछ फूल थे और उनके पीछे फलों के पौधे, जिन्हें आश्रम की सदस्याओं ने अपने हाथों उगाया था।

लाभु बेन उन्हें डेरे की तरफ ले चलती हैं। चाय का समय हो गया है। सुरेश भाई हजारों मील की यात्रा कर इन केन्द्रों का निरीक्षण करने आए हैं। थके हैं। उन्हें आराम करना चाहिए। कल या परसों फिर अगली यात्रा, और वहाँ से फिर अगली।

चाय की व्यवस्था वह पहले ही कर आई थीं। उन्होंने समय के हिसाब से स्वयं अनुमान लगा लिया था कि अब चाय ख़ौल कर पाट में उड़ेल दी गई होगी। अतः उनके कदम तेजी से बढ़ने लगे।

“वह लड़की इम बार नहीं दिखाई दे रही है, लाभु बेन। क्या आश्रम छोड़कर चली गई?”

“कौन, लछमी की बात कर रहे हैं न?”

“हाँ, लछमी-जैसा था कुछ नाम! उस हरिजन कन्या में बहुत गुण थे। उसने हमारी बहुत सेवा की थी। उसे तरक्की मिलनी चाहिए थी।”

“ऐमैले साहब ने उसे शहर में कोई अच्छी-सी नौकरी दिला दी है। अब उन्हीं की देख-रेख में कुछ ट्रेनिंग भी ले रही है।” लाभु बेन ने सहजभाव से कहा, ‘ऐमैले साहब उससे बहुत खुश हैं। अपनी बेटी की तरह मानते हैं और दिन-रात अपने ही साथ रखते हैं।’

“यही कोई अच्छा-सा काम दिलवा देतीं। तुममें यही तो समझ नहीं, लाभु बेन! हम उसका यहीं पर अच्छा फ्यूचर बनवा देते।”

पश्चाताप और खीझ के साथ सुरेश भाई कह रहे थे और अपराधिनी की तरह लाभु बेन सुन रही थीं। उन्हें लग रहा था, सुरेश भाई ठीक ही तो कहते हैं। लछमी को यहीं तरक्की देनी चाहिए थी। उसका अच्छा फ्यूचर यहीं बनना चाहिए था। सुरेश भाई की बड़ी पहुँच है—दिल्ली तक। वे किसी का भी फ्यूचर बनाकर कृतार्थ कर सकते

हैं... ।

कमरे में चाय के बरतन सजे थे। सुरेश भाई की मण्डली में कुछ और लोग भी थे। उनको भी बुलवाया गया। चाय पीने-पिलाने की रस्म शुरू हुई। लाभु बेन एक कोने में बैठीं, जैसे निरीक्षण कर रही हों। इस समय उन्हें पूछने का प्रश्न न था, सब नाश्ते की प्लेटों पर टूट पड़े थे।

आश्रम की अच्छी कन्याओं को चाय पिलाने का भार मँपा गया था। दो-तीन स्थानीय सज्जन भी सुशोभित थे। पॉलिटिक्स और आगामी आम चुनावों के लिए सम्भावित सदस्यों के टिकटों पर विचार-विमर्श कर रहे थे।

सुरेश भाई का ध्यान शायद उन बातों पर न था, क्योंकि उनकी डिप्टी-मिनिस्टरशिप प्रायः निश्चित हो चुकी थी, इसलिए वह चाय पिलाने वाली लड़की को ध्यान से देख रहे थे।

धीरे-धीरे सब चले गए। जब कुछ एकान्त हुआ, तो लाभु बेन उनके पास आई। विनीत शब्दों में पूछा, “सुरेश भाई, शाम को क्या लगे ?”

“जो खिला दोगी।”

लाभु बेन जैसे कृत-कृत हो उठीं।

“भोजन तो सन्ध्या को नहीं लेते न।”

“हाँ, चल तो अभी तक वैसा ही रहा है।”

लाभु बेन मुस्कराई, “तो आज भी शबरी के बेर चखोगे न।”

सुरेश भाई कुछ न कहकर हँसभर दिए।

देश में अन्न की कमी के कारण इधर असें से सुरेश भाई ने शाम को फलाहार ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की है।

शाम को आश्रम की प्रार्थना हुई। बहनों ने भजन सुनाए। आश्रम में हाल ही में आई एक बहन ने मीरा ने भजनों के साथ साथ लोक-नृत्य का प्रदर्शन भी किया। सुरेश भाई ने जिसकी बहुत प्रशंसा की। अपने प्रवचन में उन्होंने उसका जिक्र किया और अन्त में कहा, “कन्याओं को मती सीता, सावित्री तथा मीरा आदि अमर नारिणों से प्रेरणा लेनी चाहिए और अपनी लोक-कला की हर कीमत पर रक्षा करनी चाहिए।”

भाषण के पश्चात् सुरेश भाई कुछ स्थानीय कार्यकर्ताओं की मीटिंग में भाग लेने चले गए, और लाभु बेन उनके खाने-पीने-रहने की व्यवस्था में जुट गईं। गाय का घी, असली शहद आदि वस्तुओं का प्रबन्ध पहले ही कर चुकी थीं। जिस कमरे में सुरेश भाई रात को ठहरेंगे, उसकी पुताई कब की हो चुकी थी! सफाई आदि का इन्तजाम भी, ताकि यहाँ से जाते समय सुरेश भाई को कोई शिकायत न रह जाए, क्योंकि आश्रम को हर हालत में चलाना था और वह तभी सम्भव था जब... ।

देश की खाद्य-समस्या और आत्मनिर्भरता पर जब लम्बा भाषण देकर लौटे, तो सुरेश भाई कुछ थके-थके थे।

लाभु बेन ने एकान्त का लाभ उठाकर उनके माथे पर हाथ लगाया, तो उन्हें लगा

कि बुरी तरह तप रहा है।

“आपकी तबियत तो ठीक है न।” तनिक अतिरिक्त आत्मीयता से लाभु बेन ने पूछा।

“दिन-रात इधर-उधर आश्रमों में घूमते रहने से तबियत खराब हो ही जाती है, लाभु बेन।” सुरेश भाई ने कहा, “देश-सेवा का व्रत कितना कठिन है, तुम कल्पना नहीं कर सकतीं।”

लाभु बेन हथेलियों को सहलाती हैं, माथे को दबाती हैं। सुरेश भाई को अच्छा लगता है। वह लाभु बेन के कुछ और समीप खिसकते हैं।

“तुम्हारा खर्च चल जाता है, लाभु बेन।” वह पूछते हैं।

“हाँ, हाँ। क्यों नहीं?”

“बड़ी लड़की अब कहाँ है?”

“पढ़ रही है।”

“अब तो वह सयानी हो गई होगी न।” सुरेश भाई को याद आया जब वह पहले वहाँ आया करते थे, तो लाभु बेन उनकी सारी सेवा का भार उसी पर डालती थीं। मुबह से शाम तक छाया की तरह उनके साथ रहती थी।

“हाँ, काफी बड़ी है।” लाभु बेन मोचती हुई बोलीं।

“कभी उसे भी बुलाओ न। मुदत हुई देखा नहीं। वह बहुत मधुर ढडकी थीं……।”

इतने में बाहर से कुछ आहट-सी आती है। लाभु बेन पीछे हटकर कुर्सी पर बड़े स्वाभाविक ढग से बैठ जाती है।

सुरेश भाई की कमर तकिए से लग जाती है।

कुछ देर सन्नाटा रहता है। कोई कुछ बोलता नहीं।

बाहर बरतना की आवाज आती है। कमरे के पाम ही रमोईघर लगता है।

“आपकी तबियत हमेशा ऐसी ही रहती है, सुरेश भाई। दिल्ली-कलकत्ता तो आए दिन जाते रहते हैं, फिर कभी इलाज क्यों नहीं करवा लेंते?”

“समय कहाँ मिलता है। दिन-रात यही भाग-दौड़ तुम देख तो रही हो। जिम दिन खादी के कपड़े पहले-पहल धारण किए थे, उसी दिन बहुत कुछ त्याग दिया था, लाभु बेन।” वैगम्य-भाव से सुरेश भाई ने कहा और कुछ देर के लिए पलके मूँद लीं।

सुरेश भाई सचमुच बहुत थक गए हैं। दा कन्याएँ महारा देकर उन्हें उनके कमरे तक ले जाती हैं।

यह पहले ही निर्ाश्चन हो चुका था कि सुरेश भाई फलाहार किया करते हैं। अतः उसी की व्यवस्था थी। लडाकियाँ सामान लाने के लिए बाहर जाती हैं।

“ये नई भरती की है, सुरेश भाई।” लाभु बेन बोलीं, “छुट्टियों में घर जाना चाहती थीं। इसी बीच आपका इधर आने का कार्यक्रम-पत्र मिला। आपकी सेवा में



कोई कमर रहे, यह कैसे हो सकता है। आप आते ही कब-कब है, सुरेश भाई।”

“तुम्हारी बड़ी लड़की-जैसी कौन हो सकती है।” सुरेश भाई दार्शनिक लहजे में बोले, “इतनी सेवा-भावी मैंने आज तक नहीं देखी....”

‘सब आप लोगों की दया-दृष्टि है।’ लाभु बेन कहना चाँती थीं, पर कह न पाई।

“दूसरी लड़की भी वहीं है।” कुछ सोचते हुए सुरेश भाई ने कहा।

“हाँ, उन्हीं के लिए तो यह सब कर रही हूँ। सुरेश भाई, बच्चे किसी तरह कामयाब हो गए, तो मेरी उम्र भर की मेहनत सफल हो जाएगी।” लाभु बेन की आवाज भारी थी।

आश्रम की दो लड़कियाँ फलों की प्लेट लिए आती हैं। गाय का शुद्ध दूध और एक कटोरे में कार्तिकी शुद्ध शहद है।

लाभु बेन किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाती हैं और लड़कियाँ अपने हाथों से छील-छीलकर फलों का रस-भग टुकड़ा सुरेश भाई के ओठों की तरफ ले जाती हैं। सुरेश भाई फलों के साथ-साथ मीठी-मीठी अँगुलियाँ भी चखते चले जाते हैं।

भोजन कर चुकने के बाद सुरेश भाई आराम से बिस्तर पर पसर जाते हैं। दोनो लड़कियाँ उनके दोनों थके पाँवों को अपनी गरम गोटाटियों में रखकर दबाने लगती हैं।

कोमल हथेलियों का बार-बार स्पर्श उन्हें विचलित कर देता है। परन्तु आँखे मूँदे मुँदे की तरह तटस्थ पड़े रहते हैं।

इतने में प्लेट लिए लाभु बेन आती हैं, “ये अहिसक अण्डे है, सुरेश भाई। ये भी फलों की ‘कैटेगरी’ में आते हैं।”

सुरेश भाई कोई बहस न कर प्लेट थाम लेते हैं।

“दवाई की बोतल भी तो पहुँचा जाना, लाभु बेन। आज शरीर बुरी तरह टूटा जा रहा है।” सुरेश भाई करवट बदलते हैं।

कुछ देर बाद कपड़े में लिपटी दवाई की बोतल भी आ जाती है।

“टवा मैं पिला जाऊँ....” डरती-डरती लाभु बेन पूछती हैं।

“चूऽ। तुम क्यों कष्ट उठाती हो?” सुरेश भाई न बोलना चाहकर भी बोल रहे थे, “ये दोनों बहनें यहीं तो हैं, पिला देंगी। अब तुम मो जाओ, लाभु बेन। दिन भर की थकी होगी।”

लाभु बेन जाने लगती है, तो सुरेश भाई आवाज़ देकर बुलाते हैं, “हमारे सभी सार्थियों की ठीक-ठीक व्यवस्था करवा देना, उन्हें शि०प्रत नहीं होनी चाहिए।”

“जी, हाँ।” कहती लाभु बेन चली जाती हैं।

दोनों लड़कियाँ अब तक उसी मौन-मन्थर से पाँवों को दबाती चली जा रही थीं। सुरेश भाई ने करवट बदली।

“तुम कब से यहाँ हो, बिटिया?”

“अभी एक ही महीना गुजरा है।” दोनों ने एक-सा उत्तर दिया, एक साथ।

“इससे पहले क्या करती थी ?”

“गाँव के मिडिल स्कूल में पढती थी ।”

“तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं ।”

“नाऽ !”

“कोई शिकायत हो, तो हमसे कहना, अच्छा ।”

“जी ।”

“तुम्हारी उमर क्या है ?” कुछ सोचते हुए एक से पूछते हैं ।

“सतरह... ।”

“और तुम्हारी ?”

“इस चैत में पन्द्रह पूरे होंगे ।”

सुरेश भाई अब बिस्तरे पर ही बैठ गए हैं ।

“तुम्हें नींद लग रही है, तो तुम सो जाओ ।” वह बड़ी लडकी से कहते हैं ।

“जी, नहीं... ।”

“अरी, हम कहते हैं, सो जाओ । जत इसे नींद लगने लगेगी, यह भी जाकर सो जाएगी ।”

वह बहस नहीं करती, सहमती-सी चली जाती है ।

“बाहर से हवा आ रही है... ।” सुरेश भाई अपना दुखता सिर दबाते हैं ।\*

वह दरवाजा बन्द कर देती है, और उसी तरह फिर पाँव को दबाने लगती है ।

“तुम्हारा नाम क्या है, बिटिया ?”

“सावितरीऽ ।”

“नाम तो बहुत अच्छा है । छोटों को बड़ों की सेवा करनी चाहिए, पाठशाला में यह तो तुम्हें पढाया गया होगा न ।”

“जी, हाँ ।”

“बड़ों की सेवा करने से पुण्य मिलता है । यह और वह, दोनों जनम सफल होते हैं । गीता-महाभारत में पढा होगा न ।”

“जी, हाँ ।”

सुरेश भाई के पाँवों में आज बड़ा दर्द है, इसलिए वह ऊपर तक पाँव दबाने को कहते हैं ।

“तुमने आगे क्यों नहीं पढा... ।” सुरेश भाई बड़ी आत्मीयता से पूछते हैं ।

“जी, घर की हालत ठीक नहीं थी ।”

सुरेश भाई को दुख होता है ।

“गाधीजी की जीवनी पढा करो ।” सुरेश भाई प्रवचन के से स्वर में कहते हैं, “उससे सत्य की खोज में सहायता मिलती है । हम सब लोग सत्य की उसी खोज में अब तक लगे हैं । विनोबाजी ने तो देखो, अपना जीवन समर्पित कर दिया !”

सावित्री की समझ में अधिक नहीं आता । वह केवल सिर हिलाती रहती है, “हाँ,

ज्जी ।”

“जरा, दवा पिला दो, बिटिया ..।”

सावित्री कपड़े से ढकी दवा की बोतल निकालती है। गिलास में उड़ेलकर पिलाने लगती है, तो सुरेश भाई कहते हैं, “तुम भी तो पियो न। यह ताकत की दवा है। दोनों साथ-साथ पिएँगे।”

दवा की पहली घूंट सावित्री के गले को आग की लकीर की तरह छीलती पार हो जाती है। ...वह मुँह बिचकाकर अचरज से देखती है।

सुरेश भाई जोर से हँस पड़ते हैं।

सावित्री अब कुछ और पास थी। उसका सिर घूम रहा था। अब उसे सुरेश भाई-जैसे बड़े आदमी से भय नहीं लग रहा था।

सुरेश भाई की तरह तकिए के सहारे अब वह लेटी थी। सुरेश भाई उसके पाँवों के पास बैठे, उन्हें दबा रहे थे। दवा की रीती बोतल पलग के नीचे गिरी थी।।

सुबह सुरेश भाई की पलकें खुलती हैं, तो बड़ा अच्छा लगता है उन्हें। लाभु बेन स्वयं चाय लाई थीं। मुस्करा रही थीं। उसी तरह अकारण सुरेश भाई भी मुस्करा रहे थे। उनकी आँखों में अभी तक शरारत थी।

खादी के शुभ्र-वस्त्र धारण किए सुरेश भाई प्रार्थना के लिए जाने लगे, तो सावित्री सीढ़ियों के पास मुँह धो रही थी। उसका चेहरा उतरा हुआ था।

सुरेश भाई का आज का प्रार्थना-प्रवचन बहुत लम्बा नहीं चला। उन्हें आज दूसरे केन्द्र का निरीक्षण करना है। लगभग चालीस मील की यात्रा।

आश्रम की सभी बहनों ने चलते समय सुरेश भाई की आरती उतारी और फूलों की सुगन्धित मालाओं से उन्हें सुशोभित किया।

वह जीप में बैठने वाले थे कि उन्होंने पास खड़ी सावित्री के कन्धो को थपथपाया। लाभु बेन की ओर देखा, “बडी सेवा-भावी बिटिया है यह, लाभु बेन। इसे खादी की एक धोती हमारी तरफ से पुरस्कार में दे दना...।”

“सब आपकी दया है, सुरेश भाई।” लाभु बेन बोली, “आपकी सेवा का सौभाग्य कब-कब किसको मिल पाता है...।”

□

## देखे हुए दिन

झील की ओर चलने वाली हवा इस समय यद्यपि उतनी ठंडी नहीं, फिर भी लगता है दिल्ली से चलते समय साथ में गरम कपड़े रखकर मैंने कोई गलत काम नहीं किया। लाल कहता था, “इत्ते गरम कपड़े ढोकर क्या करोगे? प्लेन्स में लू से झुलसकर लोग मर गए हैं, फिर नैनीताल में इस जून-जुलाई के महीने में इतनी सर्दी कहाँ से आएगी?”

लाल ऐसी ही बेतुकी बातें किया करता है।

सामने हजारों मलवटों वाली रेशम्री चादर की तरह हरी झील फैली है, सूखने की-जैसी प्रक्रिया से गुज़रती हुई। मेरी बगल से कुछ घोड़े धूल उड़ाते हुए निकल जाते हैं। इस रात में भी लोग घुडसवारी से बाज नहीं आते। कैसा अंधेर है।

मैं देखता हूँ—मुँह से सफेद झाग उगलते हुए तीन-चार घोड़े एक-दूसरे के पीछे कतार में भाग रहे हैं। उनकी पीठ पर पहाड़ की तरह लदी रंग-बिरंगी आधुनिकाएँ लगभग उसी क्रम से, उसी लय से (जीन पर), अपनी ही जगह पर बार-बार उछलती-गिरती घुडसवारी का पूरा आनन्द ले रही हैं। और पीछे से घोड़े की पूँछ पकड़े सईस घोड़े की ही गति से हॉफते हुए दौड़ रहे हैं।

सर्कस का-जैसा यह दृश्य बड़ा विचित्र लगता है। मैं सोचता हूँ, ये सभी लोग जो यहाँ आए हैं न दिन में विश्राम करते हैं, न रात को सोते। जीवन का सारा सुख जैसे चन्द दिनों में, चन्द पैसों के बदले खरीदकर ले जाना चाहते हैं। यहाँ आकर लगता नहीं कि हमारा सम्बन्ध किसी ऐसे देश से है, जहाँ के करोड़ों लोगों को एक वक्त का भोजन आज भी नहीं मिल पाता।

बजरीवाली कच्ची सड़क मुझे अब कुछ और आगे ले जाती है—जापानी ढंग से सजाई गई झील के उस किनारे, जहाँ ठंडी बेंचों पर कुछ जोड़े एक-दूसरे से गुँथे अब तक बैठे हैं। सड़क के किनारे खड़े लोहे के सफेद खम्भों पर मर्करी बल्ब कहीं-कहीं चमक रहे हैं, शेष रंगहीन, ठंडा धुंधलका-सा है।

बम्बई से आया इन्श्योरेम वाला कृष्ण वर्ण का नाटा स्वामी आज सुबह भोजन के बाद अपनी कफनी पहनते हुए किशन में कह रहा था, 'होपलेम्स' । ये शहर अपने मार्फिक नहीं अपन मुम्बई में तोऽ ।'

स्वामी का आक्रोश गलत नहीं। आखिर जब मुम्बई में तो फिर नैनीताल में क्यों नहीं।

पर गहाँ ऐसा नहीं। क्यों नहीं? मुझे याद आता है, स्वामी के बिस्तर के बगल वाले अफगान विद्यार्थी (जो शायद भारत सरकार के वजीफे पर इलाहाबाद के बमरौली हवाई अड्डे में कोई तकनीकी शिक्षा ले रहा है) की भी शिकायत कुछ ऐसी ही थी। वह महीने भर यहाँ रहने के विचार में आया था, पर एक ही सप्ताह में ऊबकर चला गया।

स्वामी 'नब्बे' रुपए की ऐश-ट्रे में चारमीनार की राख झाड़ता हुआ बतलाना है कि वह (अफगान) हॉस्टल के किसी नेटिव ईसाई नौकर को लेकर रोज शाम को जंगल जाता था। वही नौकर 'बुडजू' के साथ आजकल हमारे लिए बेड टी लाता है और अग्रेजी में 'नमस्ते' करता है।

मैं थककर किमी अधकटे पेड़ के नीचे पड़ी, सीमेण्ट की ठंडी, खाली बेच पर बैठ जाता हूँ। इधर मैं अपने में बहुत अधिक थकान अनुभव करता हूँ। जबमें नैनीताल आया हूँ, पता नहीं क्यों मैंने सिगरेट पीना आरम्भ कर दिया है। किशन को आश्चर्य होता है कि मैं इतनी ज्यादा सिगरेट कैसे पी लेता हूँ, जिसकी वजह से मेरा गला खराब रहता है ।

किशन का एक डॉक्टर मित्र एक दिन उससे कह रहा था, "कैल्शियम की कमी और फ्रस्ट्रेशन की हालत में यह सब स्वभाविक है ।"

पर यह कारण मुझे अपने अधिक अनुकूल नजर नहीं आया। यहाँ आकर एकाएक कुछ हो गया हो, मुझे नहीं लगता।

समाने तारकोल से ढकी तालाब की काली लहरो की ओर देखता हूँ, जिनमें मैंने कई बार अपना प्रतिबिम्ब देखा है। दर अन्धकार में कब्रगाह जैसी लगने वाली दूधिया इमारतों की ओर भी, जिनमें कभी मेरा कुछ सम्बन्ध था। हाँ, सम्बन्ध ही तो था एक तरह से ।

गत बारह वर्षों के लम्बे जीवन में अपने मिरर में कितने पहाड़, कितनी नदियाँ, कितनी झीले और छोटे बड़े पता नहीं कितने शहर मैं लादे फिरा हूँ। फीते की तरह लिपटी बहुत सी सड़के मैंने अब मिरर पर से उतार फेकी हैं। इसलिए शायद मैं कभी कभी कुछ हल्कापन में अनुभव करता हूँ।

मुझे लगता है इन वर्षों बाद यहाँ आकर मैं सचमुच कुछ भावुक तो नहीं हो गया, नहीं तो जो बीत गया उसके बारे में अकारण इस तरह से बार-बार क्यों सोचता हूँ?

दिल्ली की भीड़ में से बूँद की तरह छिटककर यहाँ आने में मुझे कुछ अधिक प्रसन्न दीखना चाहिए था।……किशन कहता था—शिमला चलेंगे, वहाँ 'भापे' के यहाँ ठहरेंगे तो खर्चा कुछ कम आएगा। पर जानबूझकर नैनीताल के लिए ज़िद मैंने ही की थी। मेरे ही कहने पर……।

ग्यारह से अधिक समय हो गया होगा अब। किशन कब का सो चुका होगा। पहाड़ों पर चढ़ने का उसे अभ्यास नहीं, अतः जल्दी हॉफने लगता है। रात को सोते समय अपनी दुखती पिण्डलियाँ दबाता हुआ कहता है, “यहाँ लोग सेहत बनाने के लिए आते हैं, पर अपना हिसाब उल्टा हो रहा है। कल 'कैपिटल' में वेट लिया, पूरा एक पाँड कम निकला।”

पिछले तीन-सवा तीन साल से किशन को 'फ्रेंच' का बुखार चढ़ा है। वह नई दिल्ली में फ्रांसीसी दूतावास द्वारा चलाई जाने वाले किसी इंस्टीट्यूट में बड़ी मेहनत से फ्रेंच सीख रहा है। फ्रांस की बातें उसे बहुत अच्छी लगती हैं। फ्रांस जाने का उसने पता नहीं कब से इरादा कर रखा है। पर मैं समझ नहीं पाता, जिसे नैनीताल रास नहीं आया, उसे फ्रांस कैसे रास आएगा!

कल 'टिफिन टाप' पर चढ़ते समय कोई नव-विवाहिता-सी लगनेवाली महाराष्ट्रीयन लड़की मेरी ओर इंगित करती हुई, बड़ी गम्भीर मुद्रा में अपने पति<sup>०</sup> मे कुछ कह रही थी, 'हयों माणसा चा चेहरा पाहले ला माहित पणतो……'।

इसी तरह एक दम्पति उस दिन 'चीना-पीक' में टकरा गए थे। हम लोग एक ऊँचे पत्थर पर बैठे, सामने झलकती बर्फोली चोटियाँ देख रहे थे। पास ही बैठा कोई मिलिटरी का रिटायर्ड अफसर गले में माला की तरह दूरबीन लटकाने अपने कपाल पर हाथ रखे चीन के आक्रमण के विषय में अपने 'व्यक्तिगत' अनुभव बतला रहा था और उसी बहस में वे लोग भी न जाने कब, कैसे सम्मिलित हो गए थे। (वे यानी पति कम और पत्नी अधिक)। फिर नीचे उतरते समय वे हमारे ही साथ हो लिए थे। न जाने हम चारों कहाँ-कहाँ की, कितनी-कितनी बातें करते रहे।……इतना लम्बा रास्ता कब, किम तरह कटा, पता ही न चला।

पिकनिक या सैलानियों की तरह पहाड़ों पर यों ही घूमते समय साथ में किसी महिला का होना कितना अच्छा लगता है। भले ही वह कोई भी हो, और उससे किसी भी किस्म का सम्बन्ध न हो। नागी की मात्र उपस्थिति ही सारा वातावरण कितना जीवन्त बना देती है।

हाँ, तो मल्लीताल में फव्वारे के पास अलग होते समय जब हम हाथ मिलाने लगे तो उन्होंने हमें शाम को अपने साथ बोटिंग के लिए हमें 'इनवाइट' किया और मेरे बहुत निकट आकर धीरे से कहा, “शाम का खाना हम साथ-साथ लें तो कैसा रहेगा? कुछ पीने-पिलाने का प्रोग्राम भी……सारी व्यवस्था है।” पर प्रत्युत्तर में प्रसन्न होने के

बदले यह जानकर उन्हें सचमुच बहुत निराशा होती है कि मैं 'पीता' नहीं।

मैं कहता हूँ, "किशन कभी कभी पी लेता है। मैं बैठा साथ दूंगा। कुछ और ले लूंगा। क्या हर्ज है...?"

किशन चुप है। इसका अर्थ है, उसे आपत्ति नहीं।

उस समय सब 'हाँ' कर विदा होते हैं, पर शाम का कार्यक्रम कुछ इस तरह का बनता है कि न हम बोटिंग के लिए जा पाते हैं और न भोजन के लिए ही।

रात को सोते समय किशन मुझसे शिकायत करता है कि मैं यहाँ आकर कुछ अधिक रोमांटिक हो गया हूँ। वह 'लड़की' अपने पति की निगाहें बचा-बचाकर बार-बार मेरी ओर देख रही थी। बहस में जानबूझकर मेरा साथ दे रही थी। देवदार की जो टहनियाँ मैंने पानी की टंकी के पास यों ही तोड़कर फेंकी थी, उसने बाद में चुपके से उठा ली थी और उसे अपने गालों से सहला रही थी।

"आज हम नहीं गए न! अपने पति को लेकर कल वह अवश्य आएगी। तुम देख लेना।" किशन के शब्दों में व्यंग्य-भरी चुनौती का-सा भाव है।

असल में बात ऐसी नहीं। किशन का यह मात्र भ्रम है। वह चिढ़ाने के लिए ऐसा कह रहा है, यह मैं जानता हूँ। इसलिए ठहाका लगाकर हँसने लगता हूँ।

पर दूसरे दिन सचमुच मुझसे अधिक आश्चर्य किशन को होता है जब वे दोनों आ धमकते हैं। पता नहीं कितने उलाहने देते हैं और फिर हमें साथ ले जाते हैं।

इस बार 'लेण्डस-ऐण्ड' का प्रोग्राम बनता है। स्वामी और किशन साथ-साथ चलते हैं और उन्हीं के आगे या कुछ पीछे हम तीनों।

हम हर टापिक पर मुक्त-भाव से बातें करते हैं। किसी भी बात पर, भले ही वह कितनी ही विवादास्पद क्यों न हो, वे बहस नहीं करते। सच तो यह है कि बहस का उनका स्वभाव नहीं। वे हर बात बच्चों की तरह मुग्ध-भाव से सुनते चले जाते हैं। वह 'लड़की' कभी-कभी अपलक मेरी ओर देखती है। उसकी बड़ी बड़ी निरीह आँखों में कभी कोई भाव नहीं होता।

मुझे अब कुछ सर्दों-सी अनुभव हो रही है। लगता है अँधेरा पहले की अपेक्षा अधिक गहरा हो गया है। हरी हरी, कुछ-कुछ नीली, ठंडी रोशनी कहीं खम्भो के आसपास झलकती है। शेष अँधेरा। अँधेरा ही अँधेरा।

अपनी जगह से मैं उठ खड़ा होता हूँ, मेरी टैरीवूल की पैण्ट पीछे से बर्फ की तरह ठंडी हो गई है। मुझे विस्मय होता है कि मैं इतनी सिगरेट कैसे पी गया हूँ!

किशन 'ऐश' शब्द का उच्चारण ठीक पंजाबियों की तरह करता है तो मुझे अजीब-सा लगता है।

कहीं-कहीं अँधियारे में परस्पर एक-दूसरे से चिपके जोड़े अब तक दीख रहे हैं।

आज सुबह पता नहीं फोटोग्राफरो की कितनी दूकाने टटोलकर झील का एक रंगीन व्यू खरीदकर लाया हूँ।

—षा को भेजने के लिए।

पिछले दिनों नीना भी नैनीताल आई थी। एम्पायर-होटल के पते से उसका पत्र आया था—“कजिन की शादी में पिताजी के साथ कल ही यहाँ आई हूँ। आज दिनभर आपके ही बारे में सोचती रही। यदि मैं बुलाती तो आते? मैं जानती हूँ नहीं आते। कभी नहीं। कभी भी नहीं न।”

यह पत्र फिर न जाने किस तरह से पत्नी के हाथ लग गया था। मुझे याद है उसके कुछ दिन बाद लगातार दिल्ली में भूचाल के झटके आते रहे। एक-दो सरकारी इमारतों में दरारें भी पड़ गई थीं। हाँ, नीना अब पत्र नहीं भेजती। यानी कि एक तरह से मैंने ही पत्र देना बन्द कर दिया है। उससे एक तरह से सारे सम्बन्ध टूट-से गए हैं। मैं उससे, बस एक बार मिला था—केवल पाँच मिनट के लिए। इतने ही कुछ समय में उसने कम-से-कम हज़ार बार कहा था, “आप चश्मा क्यों पहनते हैं? शुभादी के पास आपका जो चित्र था उसमें तो चश्मा नहीं था।”

……फिर चश्मा……चश्मा और चश्मा……।

उसकी मूर्खता-भरी ऐसी ही बातों से सच मैं बुरी तरह ऊब गया था। फिर एक क्षण गुजारना तक मुझे मुश्किल लगता था।……पता नहीं मेरा स्वभाव ऐसा क्यों है। मुझे इस तरह की बातें कभी जँचती नहीं, चूहे वे किसी की भी क्यों न हो……। पत्थर के खम्भों के पायों पर खड़ी नगरपालिका की लाइब्रेरी के नीचे, झील की लहरो का पानी कभी-कभी छलककर ऊपर तक पहुँच जाता है। वहीं जल-मुर्गियों का दरवा है। नाव से उतरकर, उनके इर्द-गिर्द अकड़कर खड़े होकर फोटो खिचवाने में कुछ सैलानी कितना गर्व अनुभव करते हैं……।

इस बार नैनीताल से लौटने के बाद कण्ठन् पिल्लई (कालीकट का एक मित्र) मुझसे कहता था, “नैनीताल एक कुआँ है, जिसमें बहुत-से रंगीन मेंढक रहते हैं। कुछ मेंढक बरसात में बहकर बाहर भी चले जाते हैं। कभी-कभी ठंडे पानी में भीगने पर कुछ को जुकाम भी होता हुआ देखा गया है……।”

मेंढक को जुकाम होनेवाली बात अपने-आप में काफी वज़नदार लगती है। पर मैं समझ नहीं पाता, पिछले कुछ महीनों से कण्ठन् मछली की कम, मेंढक की बाते आधिक क्यों करता है?

अब मुर्गी और मुर्गियों को शरण देने वाली लाइब्रेरी भी पीछे छूट गई है। बजरी पर जूतों की रगड़ से पैदा होने वाली कर्-कर् की आवाज बहुत ऊँची सुनाई दे रही है।……सड़क पर अब कहीं कोई भी नहीं। फिर मैं इस आधी रात में अकेला कहाँ भटक रहा हूँ……?



कल रात भी हम ऐसे ही निरुद्देश्य इधर-उधर घूमते रहे थे। फ्लैट और बोट-हाउस क्लब के कितने ही चक्कर लगा गए थे। 'मल्लीताल—रिक्शा स्टैंड के पास से डारमेटरी में रहने वाले मित्रों ने वर्मा का जुलूस निकाला था। वर्मा के गले में ताजे मोतियों वाला सफेद हार था। उसे डॉडी पर बिठलाकर मालरोड की भीड़ में सब साथ-साथ चले थे—एक जुलूस की शक्ल में।

भीड़ के छंटने के बाद अन्त में शेष रह गए थे हम तीनों।

स्वामी आज कुछ मूड में था। इसी मूड में वह अनायास बहुत कुछ कह जाता है। यही कि वह बम्बई के पास समुद्र तट का रहने वाला है—मूलतः मछुआरे परिवार का। उसने घोरतम गरीबी में अपने बचपन के दिन गुजारे हैं। अपनी विधवा मामी के यहाँ रहकर उसने पढ़ा है। अपनी खूबसूरत, जवान विधवा मछुआरिन मामी के रंगीन किम्से वह इस तरह से सुनाता है कि किशन के होठ खुले के खुले रह जाते हैं। अपने परिवार की इतनी अतरंग बातें कोई बाहर के दो दिन के मित्रों से इस तरह से कर सकता है, मुझे विश्वास नहीं होता। या तो स्वामी सचमुच महान है या हृदय दर्जों का मूर्ख, इन दो में से तीसरी बात हो नहीं सकती।

वह कहता है कि वह उल्टा पैदा हुआ है और निरूपा राय को व्यक्तिगत रूप से जानता है। भोजन के बाद वह नित्य 'बामकुवशी' किया करता है।

भले ही स्वामी स्वयं कितना ही दिलचस्प क्यों न हो, पर मैं जानता हूँ, यहाँ से जान के बाद मैं जल्दी ही सबकुछ भूल जाऊँगा—केवल दो शब्दों के अतिरिक्त, जिनका सम्बन्ध 'बामकुवशी' और 'कफनी' में है।

किशन भी कुछ ऐसा ही साचना है। स्वामी से जब से उसकी मित्रता हुई, उसने भीमताल और रानीखेत जाने का इरादा छोड़ दिया है। दिन रात ताश के अतिरिक्त जैसे और शेष कुछ रहा ही न हो। ताश तो दिल्ली में भी खेले जा सकते हैं, फिर यहाँ आकर।

अधिक दूर जाने की अब मुझे अपने में हिम्मत नहीं लगती। सिगरेट अधिक पीने से गला आज कुछ और अधिक खराब हो गया है। मैं लौटकर फिर मि गल्टन की 'सराय' की पैतालीस डिग्री की चढाई चढ़ने लगता हूँ, जहाँ आदमियों के दरबे हैं—एक एक दरबे में आठ आठ, दस दस, पन्द्रह पन्द्रह तक। जो दोंपाए इनमें नहीं समा सकते, वे बाहर बरामदे में चादर तानकर रात गुजारते हैं।

ज्योही तिराहा पार करता हूँ, मेरे स्मिर के ऊपर 'वाईएमसीए' का बड़ा धनुषाकार बोर्ड चमकना है। मुझे बारह तेरह साल पहले की एक घटना याद हो आती है, जो किसी छोटी आँखों वाली उस दूधिया रंग की लडकी से सम्बन्धित है, जिसे मैंने यहाँ अन्तिम बार देखा था। शायद वे दशहरा या उसके बाद के दिन थे। उसके बाद उसके डॉक्टर पिता का ट्रांसफर मिर्जापुर या मुजफ्फरपुर—कही हो गया था। उसके बाद मैंने

उसे फिर कभी नहीं देखा। हाँ, एक बार राजेन्द्र कहता था, अब वह बहुत बड़ी हो गई है, ठीक माला सिन्हा-जैसी लगती है।

‘होटल एवरेस्ट’ के पास किसी का पालतू कुत्ता बड़ी बेरहमी से भौंक रहा है।……इतनी रात इस मुक्त-भाव से इधर-उधर घूमने में मुझे अजीब-सा न लगा। न किसी ने मेरे इस तरह घूमने के विषय में अपनी चिन्ता ही व्यक्त की।

मैं जानता हूँ, सुबह उठते ही किशन कहेगा, “रात को तुम करीब एक बजे लौटे थे……।”

“डॉक्टर मिसेज मित्रा को साथ लेकर तीसरी बार ‘गाइड’ देखने गया है।……ह्रीलर कल फिर तीन बजे रात को ‘बोट हाउस क्लब’ से लौटा था। उसकी बहन रोजी रात-भर नहीं लौटी।”

किशन को शायद सारी रात नींद नहीं आती। मुझे लगता है, अब वह जल्दी ही यहाँ से जाने की स्थिति तक पहुँचने वाला है। कहते हैं, यहाँ से जाते समय लोग ऐसा ही व्यवहार करने लगते हैं।



## रास्ता रुक गया है !

सारी रात नींद नहीं आती ।

लालटेन जल रही है । चारो ओर घना अँधेरा है । मूसलाधार पानी गिर रहा है । पास ही घनी झाड़ियो से सीटी की जैसी आवाजें आ रही हैं । ऊँचे-ऊँचे पहाड़, डरावने जगल—जहाँ आज भी कभी-कभी मानवभक्षी शेरों का आतक छाया रहता है ।

मेरी पलकें भारी हैं । न जाने क्यो मन में एक अजीब-सी दहशत घर करती चली जा रही है । ये बड़े-बड़े पहाड़ मुझे अब और भी भयावने लगते हैं ।

छोलदारी के बाहर आकर झाँकता हूँ—दूर, अथाह अँधियारों में, सूनी घाटी से उफनती नदी का शोर उमड़ रहा है । बाढ़ का पानी प्रतिक्षण बढ़ता चला जा रहा है । यदि तीन-चार फुट पानी अभी और बढ़ा तो पुल बह जाएगा—इतना निश्चित है ।

प्रलय का तूफान सामने सीना ताने खड़ा है । नींद न जाने कहाँ खो गई है । बार-बार मैं इधर-उधर झाँक रहा हूँ ।

‘इजीनियर साहब, सागी इजीनियरी ताव पर धरी-की-धरी रह जाएगी । काली नदी की यह काली घाटी, काले कारनामों के लिए ही नहीं, काले साँपों के लिए भी बदनाम है । काली नदी का पानी कैसा होगा—काला । फिर सोच लीजिए, ‘काले पानी’ की सजा आप बिना अपराध क्यो भुगते ? इसीलिए अपना तबादला रुकवा लीजिए, अभी कुछ बिगडा नहीं ।’ साथियो ने भले ही कुछ सोचकर कहा हो, लेकिन अब मुझे उस कहने का ‘अर्थ’ समझ मे आने लगा है । पर अब क्या हो सकता है ।

मैं विवश भाव से सामने की ओर देखता हूँ—रास्ते के किनारे-किनारे सड़क पर काम करने वाले कुलियो की टूटी-फूटी झोपडियो बिखरी हैं । आस-पास बिच्छू के काँटेदार पौधों का झाड़-झँखाड़ । आग मे कहीं-कहीं उपले झोंके जा रहे हैं । कहते हैं—इसकी गन्ध से साँप पास नहीं फटकते । इतने बचाव के बावजूद सारी रात—‘साँप । साँप । बचाओ । बचाओ !’ की आवाजें गूँजती रहती हैं... ।

इसी रफ्तार से सुबह तक पानी बरसता रहा है। घाटी के ऊपर उठता हुआ कुहरा भी कम घना नहीं। रास्ते, पगडंडियाँ, सब कीचड़ से सने हैं। गैंती, कुदाली, फावड़े लिए, पानी से भीगते हुए नंगे-भूखे मजदूरों के झुण्ड-के-झुण्ड—शिव के बारातियों की तरह काम पर बड़े चले जा रहे हैं। बारिश ज्यादा होने से पहाड़ धँस गए हैं। शिवालिक की पहाड़ियों के सीने पर साँप की तरह लेटी मोटर की सड़क खिसककर घाटी में चली गई है। चम्पावत की तरफ से आने वाली यात्री-गाड़ियाँ जंगल में रुकी हैं। आज तीन दिन हो गए हैं। यही हालत रही तो यात्रियों के भूखे मरने की स्थिति पैदा हो जाएगी। सारा यातायात ठप्प हो गया है।

“इंजीनियर साहब, गैंग तैयार है। चल्थी के उस पार की सड़क शायद आज तैयार हो जाएगी।” ओवरसियर सिर झुकाता हुआ सलामी देता है।

“काम बड़ी स्लो-स्पीड से हो रहा है, रतीराम। क्या बात है?”

“हुजूर, बरसात जोरों पर है। आधे से ज्यादा मजदूर बीमार पड़े हैं।”

ठेकेदार ने शायद मिलावट वाला राशन दे दिया है... मजदूर भी अधमरे-से हैं, साहब। काम करते-करते ऊँघने लगते हैं। एक बुढ़िया कल मलबे के साथ-साथ लुढ़कती खड्ड में चली गई थी। यदि बाँज की जड़ हाथ में न आती तो उसकी हाँडुयाँ तक नज़र न आतीं।”

“इन्हे मजदूरी कितनी मिलती है?” मैं कुछ सोचता हुआ पूछता हूँ।

“सवा दो रुपए मर्दों को, दो रुपए औरतो को, और एक रुपया बच्चों को...। यही यहाँ का खुला रेट है। ठेकेदार इससे भी कम मजदूर ढूँढ लाते हैं। गरीब इलाका है, अकाल-महामारी का जोर। मरता क्या न करता, हुजूर।”

पता नहीं वह कब चला जाता है। मैं वैसा ही लेट जाता हूँ। सीटी की जैसी आवाजे दिन में भी गूँजती सुनाई देती है। इस सबके बावजूद मैं निश्चित पड़ा हूँ—जैसे मुझे दीन-दुनिया से कोई वास्ता नहीं।

पानी दो फुट और ऊपर चढ़ गया है। पुल पर पहले से ही दरारे हैं। सीमेण्ट के बदले ठेकेदारों ने रेत मिला दी है।

इस मुल्क का क्या बनेगा? मुझे सूझता नहीं।

“चाय।” श्रीमतीजी सहसा जगाती है।

मैं वैसा ही अनमने-भाव से चुपचाप चाय की चुस्कियाँ लेता हूँ।

“यह मुसीबत कब तक है?” श्रीमतीजी के चेहरे पर चिन्ता के भाव स्पष्ट झलक रहे हैं, लगता है हम पर ‘शनीचर’ का अमर है।”

“हम पर ही नहीं, पूरे देश पर...।” कहना चाहता हूँ, पर कह नहीं पाता।

वह वैसी ही अविचल खड़ी रहती है।

“पता नहीं, ये कैसे पोले पहाड़ हैं—खाँडिया के। एक ही रात की बरसात में मीलों लम्बी सड़क न जाने कहाँ चली जाती है!” कुछ रुककर वह फिर कहती है, ‘या तो पहाड़ पोले हैं, मिट्टी कच्ची है या सड़कें ही ठीक ढंग से नहीं बनतीं! मुझे तो

लगता है—नीव कच्ची है ।’

श्रीमतीजी रीता प्याला लेकर चली गई है। दूरबीन चढाकर मैं देख रहा हूँ—काली नदी की नागिन सी लहरे फन हिलाती, जीभ लपलपाती, खतरे के बिन्दु के ऊपर झॉक रही है। दूसरी ओर कीडो से भी छोटे-छोटे आदमी छिछली चट्टानो पर छिपकलियो की तरह चिपके हुए है। बार-बार सुरगो के फटने की आवाजे आ रही है।

सम्पर्क चारो ओर से टूट गया है। मैं द्वीप की तरह घिर गया हूँ। कुछ सूझता नहीं कि क्या करूँ ? क्या न करूँ ? फिर भी कुर्सी पर लेट जाता हूँ। दूरबीन बिस्तर पर पटककर आँखे मूँद लेता हूँ। रात-भर नीद न आने से पलके भारी है। तबीयत भारी है। किसी भी काम मे मन नहीं लगता।

यो ही पडे पडे एक झपकी आई ही थी कि फिर शोरगुल सुनाई देता है—पास के मोड से किसी औरत के चीखने चिल्लाने की आवाज।

अचकचाता हुआ जागता हूँ। बिना बरसाती या छतरी लिए हडबडाता हुआ उस ओर लपकता हूँ। पीछे पीछे कुत्ता भौकता हुआ दौडता है। किसी अप्रत्याशित दुर्घटना की सूचना पाकर श्रीमतीजी भी एकाएक भागने लगती है। पीछे पीछे बच्चे और नौकर भी।

कुछ कदम चलने पर देखता हूँ—काले, मैले-कुचैले चीथडो मे लिपटी एक मजदूरन अपने बच्चे को सीने से लगाए रो रही है। एक मजदूर उसे सोटी से तडातड पीट रहा है। गन्दी गन्दी गालियाँ दे रहा है। सारे मजदूर खडे है। जमादार, ओवरसियर, ठेकेदार सब तमाशा देख रहे है।

मेरे पहुँचते ही सब एकाएक सहमकर खडे हो जाते है।

‘क्या बात हे ?’ पृछने पर किसी के गले से भी आवाज नहीं निकलती। ओवरसियर सिर खुजाता हुआ सामने आता है, “हुजूर, इस एक औरत के लिए सारा गैंग रुकी पडी हे ।”

“यह आदमी कौन है ? ऐसी बेरहमी से क्यों पीट रहा है ?”

“इसका आदमी है, सरकार।”

“तमाशा क्या है यह सब ?” कडककर पृछता हूँ तो ओवरसियर का मुँह निकल आता है। अपने सूखे होठ चाटता हुआ कहता है, “गोदी मे यह इसका बच्चा है सरकार। इसे अकेला छोडकर यह काम पर जाना नहीं चाहनी।”

“तो साथ क्यों नहीं ले जाती फिर ?” बात काटता हुआ पूछता हूँ।

“हुजूर, वहाँ ऊपर पहाडी पर से पत्थर लुढकते रहते है। एक बच्चा कुछ दिन पहले घायल हो गया था ।”

“कल तक क्या हाता था ?”

“माथवाले की नन्ही बच्ची देखभाल कर देती थी। कल शाम वह अपने मामा के घर चली गई है।”

“तो काम पर न जाए ?”

“काम पर नहीं जाएगी तो खाएगी क्या सरकार? यही तो इसका पति कह रहा है। पर यह अपने बच्चे को कलेजे से हटाकर जमीन पर नहीं रखना चाहती। कहती है—बच्चा यहाँ अकेला पड़ा रहेगा तो साँप खा जाएगा।”

साँप खा जाएगा !

तो क्या हो? असमंजस में डूबा मैं सोचता रहता हूँ कि तभी श्रीमतीजी मेरे परेशान चेहरे की ओर देखती हुई कहती हैं—“बच्चे को हमारे कैम्प में भेज दो !”

“हाँ-हाँ ! ठीक कहती हो।” इस समाधान से सचमुच मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, “चपरसी दिन-भर खाली बैठा ऊँघता रहता है, वह देख लेगा। बीच में दूध पिलाने के लिए आ जाना।...जाओ ! अब काम पर जाओ सब लोग। सड़क आज हर हालत में तैयार होनी है, समझे !”

देखता हूँ—उस औरत पर जैसे मेरी बात का रंचमात्र भी असर नहीं हुआ। वह उसी तरह निश्चल खड़ी है।

“अब क्या बात है?” इस बार सच ही मैं झुँझला उठता हूँ।

औरत आँचल में मुँह छिपा लेती है, “सरकार, बच्चा बीमार है।”

“बीमार है? क्या बीमार है?”

“सूखे का-जैसा पता नहीं क्या रोग लग गया है इसे!” वह रो पड़ती है। फटे आँचल में लिपटे बच्चे को मेरे पाँव पर, यानी गीली धरती पर लिटा देती है। फिर झटके से मुँह फेरती हुई जोर से आँखें मूँद लेती है।

बच्चे को देखते ही मैं झट पीछे हट जाता हूँ—जैसे बिजली का करेण्ट छू गया हो! कुछ कहते बनता नहीं। बच्चे का हिलना-डुलना बंद है। साँस रुकी हुई है। आँखें मुँदी हैं। मुँह खुला है। नन्हें-नन्हें दूधियाँ दाँत बाहर झाँक रहे हैं। जैसे हँस रहा हो!

मैं कुछ भी कह नहीं पाता। रक्त जमने-सा लगता है मेरा। किसी तरह मैं उदास-मन डेरे की तरफ मुड़ता हूँ। सुनता हूँ—गैंग काम पर चली गई है। वह औरत मरे हुए बच्चे को सीने से लगाए बावली-सी फिर रही है और अब पुल के सहारे खड़ी फूट-फूटकर रो रही है।

“क्या बात थी? बच्चा जिंदा नहीं था न?” श्रीमतीजी पूछती हैं।

“शायद।”

“क्या साँप ने डस लिया था?”

“हो सकता है...।”

कुछ सोचती हुई वह फिर पूछती है, “जहर ज्यादा था क्या? साँप जहरीला होगा !”

मैं चुप रहता हूँ।

“कौन जाने गेहुआँ या बेतिया हो! सुना है ऐसे साँप यहाँ होते हैं।” वह जैसे अपने को ही सुना रही हों!

मैं कहना चाहता हूँ—सॉप बेतिया ही नहीं, ज़हरीला भी होता है। तुम नहीं जानती, उससे भी तेज ज़हर होता है आदमी का...। तुम नहीं समझ सकती यह सब।

पता नहीं, कब रात घिर आई है। अभी तक भी बारिश है। अभी तक भी मजदूर गैस जलाकर छिछली चट्टानों से चिपके हुए हैं। कुछ घर लौट आए हैं, कुछ घर लौट रहे हैं। लेकिन चारों ओर शोरगुल उसी तरह मच रहा है। हाहाकर मच रहा है। चीत्कार मच रहा है। झाड़ियों से सीटी की-जैसी आवाज़ें आ रही हैं। अँधेरे में काली-काली आँखें चमक रही हैं। फन हिल रहे हैं—सॉप ! सॉप ! जागो ! जागो !

अँधेरी रात जैसे पागल हो गई है !

मैं आँखें मूँदकर, माथा दबाकर बैठ जाता हूँ। न जाने कब तक बैठा रहता हूँ ! तभी कोई बताता है कि मोर्चा फतह कर लिया है। रास्ता बन गया है। सड़क खुल गई है।

लेकिन मुझे यह सुनकर रंचमात्र भी खुशी नहीं होती, क्योंकि उससे पहले ही मैं सुन चुका हूँ—“पुल बह गया है और रास्ता रुक गया है हमेशा हमेशा के लिए !”

## एक दिन

तेज हवा के बाद चीलों का झुण्ड काले बादलों की तह में एक गोल दायरे में मँडराने लगा तो उसे लगा, हो न हो आज जरूर बारिश होगी।

पिछले महीने से डिपो में एक बहुत घने भूरे बालों वाली लम्बी लड़की आई है, जो जैसे चुकाते समय जान-बूझकर रोज उसकी अंगुलियाँ छू लेती है। अंगुलियों के पोरों का गरम-गरम स्पर्श उसे बहुत अच्छा लगता है। अतः वह प्रायः फुटकर जैसे सीमेण्ट की गीली पाटी पर रखने की बजाय उसके हाथों में ही देना अधिक पसन्द करता है। और वह भी बिना गिने टॉफी के रीते डिब्बे में ऊपर से पानी की धार की तरह गेरकर चुपचाप रख देती है, और कभी-कभी मुस्कराकर भी देख लेती है जब उसका मूड बहुत अच्छा होता है।

स्टोव में तेल और धूल ने मिलकर एक नये किस्म के काले, लिसलिसे वार्निश का रंग ले लिया है। वह रोज सोचता है—गरम पानी में कपड़े का फटा टुकड़ा भिगोकर वह घण्टे-भर तक रगड़-रगड़कर इस बत्तियों वाले जग लगे टिन के स्टोव का कायाकल्प कर देगा, पर पिछले दो साल से वह मुहूर्त अब तक तो आया नहीं।

और आज जब वह पतीली में चाय के लिए पानी रखकर स्टोव जलाने का इरादा कर ही रहा था कि उसे पता चला, दियासलाई की डिब्बिया कल से रीती है, उसमें अब एक भी तीली शेष नहीं।

सामने वाले पड़ोसी में वह मॉगना नहीं चाहता। पिछली मई से कॉमन बाथरूम को लेकर जो शीत-युद्ध शुरू हुआ था, वह अब तक चल रहा है। बाथरूम के संघर्ष के अतिरिक्त उसके पड़ोसों (माधव मोहन्ती, जिसे आसपास के सब लोग मात्र 'मोहन्ती' के ही नाम से जानते हैं) को शक है कि वह उसकी एम. ए. में पढ़ने वाली जवान लड़की से ताक-झॉक कर लेता है। इसलिए वह हर समय मुँह फुलाए रहता है, बोलता नहीं।

दरअसल सच बात तो यह है कि वह कभी कुछ नहीं करता। बस, कभी



भूले-भटके से, दूर से देख भर लेता है, केवल पड़ोसी होने के नाते। अधिकतर जब वह सुबह बाथरूम जाती है, नहाने के लिए, तो वह सामने वाली अपनी अधखुली खिड़की की दरार कुछ और बड़ी कर लेता है और टकटकी बाँधे अबोध बच्चे की तरह ताकता रहता है। बाथरूम के दरवाजे के ऊपर बालिशत-भर जगह छूटी है। उसके ऊपर पहले एक कमीज लटकती दीखती है। फिर सलवार। फिर...

कुछ ही क्षण बाद महसा नल पूरा खुल जाता है और गुसलखाने से गुनगुनाने की टूटी आवाज़ पानी की आवाज़ में विलीन होकर एक विचित्र-से मोहक संगीत का स्वरूप ले लेती है। उसकी मुँदी पलकों के उस पार कहीं कोई चित्र-सा खिच आता है।

धीरे-धीरे पानी का सीमेण्ट के पक्के फर्श पर छटपटाना, बाथरूम की दीवारों का अपने-आप गुनगुनाना और एक-एक कर टँगे हुए कपड़ों का गायब होना... और फिर कुछ ही क्षणों में भीतर लगी चिटखनी के खटकने के कर्कश स्वर के साथ वह सचेत हो जाता है। अपने अध-पहने, अगत-व्यस्त कपड़ों के साथ ढेर सारे निथरते बालों को समेटे सामने के बरामदे से लपककर वह सर-से अपने कमरे में गायब हो जाती है... तो एक नशा-सा छा जाता है।

गर्मियों की छुट्टियों में वह अपनी नानी के घर, भुवनेश्वर गई थी। उसे यह जाना अच्छा नहीं लगा था। बल्कि कहा जाय तो कुछ-कुछ गुस्सा ही आया था उसकी बुढ़िया नानी पर। सत्तर साल की उम्र के बाद भी वह विधवा अब मरती क्यों नहीं।

दो सौ सत्तर वाले नवानी के दरवाजे की ओर बढ़ता है वह। शायद उसका बहरा लड़का दीख जाए, जिसे कार्मन सीढियों में सुबह-सुबह छह बजे नंगा होकर इधर-उधर गदगी बिखेरने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं। पर वह भी आज कहीं दीखता नहीं। सीढियाँ आज साफ हैं। कहीं भी बदबू नहीं। वह घड़ी की ओर देखता है। सात तो कब के बज गए। फिर सीढियाँ अब तक क्यों गन्दी नहीं हुईं।

दोनों हाथों में पानी का छलकता पतीला लिए नवानी की अधेड़ उम्र की काली माँ सामने से गुजरती है। उसकी ओर अजीब सी निगाहों से देखती है (जो उसे अच्छी नहीं लगती)।

लोग कहते हैं, नवानी की माँ की नवानी के बाप से अनबन है। पिछले सात साल से वह अपने पति के पाम नहीं गई। नवानी का बाप किसी प्राइवेट फर्म में नौकरी करता है और अपने भानजे के साथ कहीं गांधीनगर की तरफ रहता है और होटल की रोटियाँ तोड़कर, अपनी जिन्दगी के शेष दिन बिता रहा है।

गर्मों के दिनों में जब लोग रात को बाहर सोते हैं, वह बेचारा बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। नवानी अपने बच्चों के साथ छत पर चला जाता है। नवानी की माँ अपने दरवाजे के सामने खटिया सटाकर पसर जाती है। आधी रात तक उसे नींद नहीं आती। खुररी खटिया पर सोई, दुलती झाड़ने की तरह पहले पाँव बहुत दूर, ऊपर तक ले जाती है और फिर एकदम झटके के साथ नीचे छोड़ देती है और बार-बार अपने को ममलती हुई अकारण करवट पर करवट बदलती चली जाती है।

अपने दरवाजे के आगे गलियारे पर लगी उसकी खुद की चारपाई नवानी की माँ की चारपाई से अधिक-से-अधिक चार या पाँच गज की दूरी पर होगी। अपने बिस्तर पर मुर्दे की तरह लेटा वह अजीब-से इन हाव-भावों को पता नहीं कब तक देखता रहता है। हर वक्त उसे यही आशंका घेरे रखती है कि आवेश के किसी नाजुक क्षण में बुढ़िया से कुछ अनहोना न हो बैठे...और उसका प्रायश्चित्त उसे भोगना पड़े, जबकि उसका कोई कसूर नहीं। वह हर दृष्टि से निर्दोष है।

सुबह उसे अपना सिर भारी और आँखें लाल दीखती हैं।

छत मोहन्ती के बाप की ही नहीं, आधी उसकी अपनी भी है। पहली को वह भी किराया देता है। कितनी बार यह विचार उसके मन में आया है। किन्तु मोहन्ती अपनी पत्नी और पुत्री के अतिरिक्त आधा दर्जन बच्चों को लिए शाम को ही ऊपर चला जाता है। फर्श पर पानी छिड़ककर इस किनारे से उस किनारे तक सारे बिस्तरे बिखेर देता है। फिर कहीं इंच-भर भी जगह नहीं बचती। इस पर भी यदि वह इस भीड़ में घुस पड़ा तो उसे पक्का यकीन है कि मोहन्ती उससे कुछ भी कहने का साहस न जुटाकर, आधी रात के अँधियारे में ही आत्महत्या करने के लिए कुतुबमीनार की ओर भागता दिखाई देगा।

मोहन्ती के इस तरह के अन्त से वह सहमत नहीं हो पाता। अतः जानबूझकर वह चुप रहता है और गलियारे पर पड़ा-पड़ा नारकीय यातनाएँ सहता चला जाता है।

दूध की ठण्डी बोटल, 'बीयर' की ब्रह यों ही मुँह में उँडेलकर वह गटक जाता है। बेंत की कुर्सी पर निढाल गिरकर बड़े दार्शनिकाना अन्दाज़ में सुबह का ताजा 'पेपर' पढ़ने लगता है। सबसे पहले 'मैट्रिमोनियल' देखता है...पिछले सप्ताह की 'वीकली' में नवविवाहितों के पृष्ठ पर अरुणा आपटे का भी चित्र था।

बाहर से आने वाली आवाज़ से उसकी तन्द्रा टूटती है। वह देखता है, सफाई वाली महिला, इतने सारे पड़ोसियों के ज़िन्दा होते हुए भी पानी गेरने का आग्रह उसी से कर रही है।...पिछली वाली भी एक अपने ही किस्म की थी। वह भी केवल उसी की खिड़की की ओट में खड़ी आवाज़ देती थी। उसका कद ही छोटा नहीं बल्कि इससे उम्र में भी कुछ कम होगी। पास-पड़ोस के लोगों की शिकायत थी कि वह सबसे अधिक समय सामने वाले ब्लाक में लगाती है। दोपहर को भी अकारण वहाँ जाती है।

लगभग आठ बजे वह शेव बनाना आरम्भ करता है। सामने सड़क की चहल-पहल अब तक काफी बढ़ जाती है। जब से इस क्षेत्र में नया गर्ल्स कॉलेज खुला है, उसका ही नहीं सबका अनुमान है कि रौनक आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है।

दो-दो, तीन-तीन, चार-चार के झुण्ड में चहकती रंग-बिरंगी तितलियों को देखने का उसका नित्य का-सा नियम बन गया है। यह क्रम पूरे दिन के सारे कार्यक्रमों की अपेक्षा उसे सबसे अधिक अच्छा लगता है। सर्वत्र एक-सी उन्मुक्त हँसी, हर किसी के खिले हुए चेहरे पर, जैसे फूलों के रंग-बिरंगे गुलदस्ते सड़क पर हँसते हुए जा रहे हों !

होटल में जब से खाने, हाथ धोने और उठने-बैठने तक के लिए 'क्यू' सिस्टम का आविर्भाव हुआ है, उसने अपने ऑफिस की कैण्टीन को अधिक महत्त्व देना आरम्भ कर दिया है। यों सुबह भूख भी नहीं लगती और इसी भागमभाग में ऑफिस को देर भी हो जाती है। और फिर कब्र में से निकलकर आया, बिना आँखों का, बिना हाथ और बिना पाँवों का, बूढ़ा बाँस अपना सिर पटकता हुआ कुर्सी पर से उछलता है तो वह दृश्य देखने लायक होता है। उसे अच्छा नहीं लगता कि वह 'महाभारत' सप्ताह में एक-दो बार से अधिक चले। इसीलिए वह तुरन्त हथियार डालकर युद्ध-विराम की पहल करता है। बिना 'ताशकन्द-समझौते' के ही दोनों पाँच अगस्त तक की स्थिति में अपने-आप आ जाते हैं।

बस की कतार और अजगर के आकार में उसे कहीं कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। वह बाँब-कट वाली लड़की कतार में खड़ी होने पर भी कतार से अलग दिखती है। पौने नौ के करीब स्लेटी रंग का एक वैस्पा खड़ा होता है और वह बड़े सहज ढंग से उसके पीछे बैठकर देखते-देखते ओझल हो जाती है।

उसे याद आता है, पहले दिल्ली परिवहन की बसों में महिलाओं के लिए सीटें सुरक्षित नहीं रहती थीं। और एक समय ऐसा भी था, जब किसी-किसी बस में महिला कण्डक्टर भी हुआ करती थी। महिलाओं के लिए अलग से सीटें सुरक्षित रखना उसे आज की सभ्यता को एक चुनौती-सा लगता है।

वह महिला पुरुषों से एकदम सटकर खड़ी है। बस में भी महिलाओं वाली खाली सीट पर न बैठकर अलग बैठती है—पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर।

अब काफी अर्सा हो गया। पहले इसी रूट की बस से प्रायः दो पढ़ने वाली नाटे कद की लड़कियाँ जाया करती थीं। उसे याद आता है, वे उसकी ओर जब-तब जाने या अनजाने घूर-घूरकर देखा करती थीं। और फिर जानबूझकर उसी की बगल में बैठती थीं। परन्तु उसने कभी भी उन्हें लिफ्ट नहीं दी, क्योंकि वे उससे उम्र में बहुत छोटी थीं... एकदम बच्ची-सी।

परन्तु उसका स्वप्नभंग उस दिन हुआ, जब उसी बस में एक गजे अधेड़ आदमी की बगल में वे नियमित रूप से बैठने लगीं। उसे अच्छी तरह याद है, वह आदमी पहले कर्जन रोड के बैरकों वाले स्टैण्ड पर उतरा करता था। दो-तीन बार खुद उसने अपनी आँखों से देखा, वह मदरसे के ही स्टैण्ड पर उतरने लग गया है और उमके पीछे-पीछे दो में से एक लड़की भी।

उमके से एक अब भी यदा-कदा दीख जाती है। अवस्था मे ही नहीं, अब शरीर में भी सयानी लगती है। चेहरे में भी भारीपन और कुछ-कुछ परिपक्वता की रेखाएँ दूर से ही झलक आती हैं (उसे अचरज होता है, उसने अपनी आँखों के सामने ही कितनी-कितनी लड़कियों को देखते-देखते बूढ़ी होते देखा है!)। पिछले शनिवार, उसने अपने दोनों हाथों में लाख की ढेर सारी लाल चूड़ियाँ डाल रखी थीं।...रंगीन साड़ी के अतिरिक्त माथे पर एक लाल डोरा-सा भी। वह अधेड़ आदमी अब कहीं भी दिखलाई

नहीं देता। कहते हैं, मार्केट के सामने बिजली के खम्भे से टकराकर जिसकी घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई थी, वह व्यक्ति वही था। हाथ में टिफिन का पीला डिब्बा था, बस में कहीं रती-भर भी स्थान न होने के कारण वह लटककर जा रहा था।

लिफ्ट की कतार में शर्मा ने उसे 'विश' किया। शर्मा का विश करने का भी अपना ही अन्दाज़ है। सबके सामने वह विश भी कर देता है और किसी अन्य को आभास तक नहीं हो पाता...। सरीन आज फिर सी.एस. के साथ स्कूटर पर आई है।...पटवर्धन कहता है, एक कैमिस्ट से उसके सम्बन्ध इन दिनों आवश्यकता से अधिक अच्छे हो गए हैं। वह खुद अपने स्कूटर से छोड़ने और ले जाने आता है। जिस दिन वह नहीं आ पाता, उस दिन किराये का कोई थ्री-व्हीलर कर देता है।

एक दिन सफदरजंग मोड़ से उसकी बस जब पृथ्वीराज रोड की तरफ मुड़ रही थी तो उसने देखा, मोटरसाइकिल पर एक लाल आँखों और घनी मूँछों वाले भदे-से पुरुष के पीछे सरीन जैसी कोई बैठी है। वे लोग विपरीत दिशा में, यानी कि कुतुबमीनार की ओर, महारौली रोड से भागे जा रहे हैं। उसे अपनी आँखों पर सन्देह हुआ। पौने दस बजे के करीब ऑफिस जाने के बदले, अन्यत्र वह मरने के लिए कहाँ जाएगी! हाजिरी के रजिस्टर पर दस्ताखत करके वह सीधा सरीन वाले हॉल में घुसा तो सचमुच उसकी सीट खाली थी। उसकी कोई अर्ज़ी भी न थी और अब ग्यारह बज रहे थे।

पिछले साल बड़े दिन की छुट्टी तक सरीन जब-तब उसकी सीट पर आती थी। छोटे रैक के ऊपर रखी फाइलों के ऊपर ही बैठकर उससे तरह-तरह की बातें किया करती थी। यह सिलसिला तब कुछ दिनों नहीं, हफ्तों नहीं, बल्कि कुछ महीनों तक निरन्तर चलता रहा, तो कारण कुछ-कुछ वह समझ पाया। एक दिन अपनी विवशता व्यक्त करते हुए उसने कह ही दिया कि उसे अभी अपनी दो बहनों की शादी और करनी है, तब कहीं वह अपने विवाह की बात सोच सकता है। बहनें अब काफी सयानी हो गई हैं। अब अगर उनकी शादी नहीं हुई तो फिर कभी भी नहीं हो सकेगी।

उस दिन के बाद यद्यपि वह एक-दो बार फिर आई, बैठी, किन्तु फिर ऐसी बातें न हो सकीं, जो उन दोनों को इतनी अच्छी लगतीं कि वे परस्पर और करीब आ सकते।

नाटे कद की, गोरे रंग और गठे हुए शरीर की सरीन, जितनी लम्बाई में है, उतनी ही अब चौड़ाई में भी हो गई है। लोग कहते हैं, प्रतुल और राना, हर दूसरे, तीसरे दिन कनाॅट प्लेस में कहीं ले जाते थे और ऑफिस में ही कभी मौका मिलने पर छेड़खानी करने से नहीं चूकते थे। वे दोनों तब सरीन के साथ एक ही सेक्शन में काम करते थे। (यह बात अब की नहीं लगभग 1965 की है।)

'एण्डर' और 'सिरिचन्द' सर्राफ की भी इसी को लेकर कुछ कम भद् नहीं उड़ी

थी। और इसी बात पर एक दिन पण्डित की लडकी ने सबके सामने गिलास पर थूका ही नहीं, उसे फर्श पर पटककर तोड़ दिया था।

फाइलों की धूल झाड़ने और गदगी हटाने के बाद वह थक जाता है। जब बहुत अधिक 'बोर' हो जाता है तो उठकर दुबे की सीट पर चला जाता है और उसके कन्धे पर आत्मीयता से हाथ मारता हुआ पूछता है कि उसका क्या हाल है।

दुबे की रोज-रोज एक ही शिकायत है कि वह अब तक दुबे है। चौबे और छब्बे बनने का अवसर उसे जीते-जी कभी भी मिल नहीं सकता, क्योंकि यहाँ करेप्शन है। एडमिनिस्ट्रेशन करेप्ट है। यूनिशन वाले करेप्ट हैं। वह जाने या अनजाने इस नमक के सागर में गिर गया है और उसे स्वयं नमक बन जाने से अब कोई भी रोक नहीं सकता।

वह बातें दुबे की सुन रहा होता है, पर निगाहें उसकी मामने बैठी रेखी पर होती हैं। अंगुलियों पर गिन गिनकर वह हिसाब लगाता है कि रेखी अब तक कुल कितनों की 'बिटिया' बन चुकी है।

समय के साथ साथ उम्र की ही नहीं, रेखी की समझ का दायरा भी अब काफी बढ़ गया है। अब वह कभी-कभी हाई सोसाइटी में भी 'मूव' कर लेती है। मिनिस्ट्री के अफसरों तक की कम्पनी में वह रह चुकी है। परमानन्द ने सब-कुछ अपनी आँखों से देखा है।

रेखी लडकों जैसी आवाज़ में बोलती है और पाँव छितरे कर बड़े भद्दे ढंग में चलती है।

लोग कहते हैं, पिछले चन्द दिनों से वह सारे सेक्शन में एक विशेष चर्चा का विषय बन गई है। इसी एक बात की वजह से उसके सम्बन्ध में अच्छी-बुरी तरह-तरह की धारणाएँ पनप चुकी हैं। कुछ यह मानते हैं कि वह अच्छी ही नहीं, बहुत अच्छी है, क्योंकि कभी किसी को निगश नहीं करता। किन्तु कुछ लोग इसे कुछ दूमरे अर्थ में लेते हैं। रेखी की यह उदारता उन्हें फूटी आँख भंग नहीं सुहाती। रेखी की महिमा सुनकर उन्हें पाप ही नहीं, बुखार भी चढ़ने लगता है...।

पिछले महीने दूसरे शनिवार को छुट्टी के दिन रेखी के किसी एक मित्र ने उसे पिकनिक के लिए ओखला आमंत्रित किया।

रेखी सज-धजकर, नियत समय पर जब वहाँ पहुँची, तो उसे अपना मित्र अकेला नहीं, बल्कि दो अन्य अभिन्न मित्रों से धिरा हुआ मिला, जो सिगरेट का धुआँ उगलते हुए जोर जोर से गन्दी बातें कर रहे थे। रेखी इस स्थिति के लिए शायद तैयार नहीं थी। बात तू तू, मैं-मैं की ओर बढ़ने लगी। पर कहते हैं, किसी तरह अन्त में बीच-बचाव का कोई रास्ता निकल आया...।

स्मृति और तिस्ता दिन में कम-से कम हजार बार फोन करती हैं...।

*वह कैप्टीन की ओर बढ़ता है। वहाँ महिलाओं वाले केबिन से सात-आठ*

लड़कियाँ चाय पीकर सीढ़ियों से शहजादियों की तरह उतरती हैं, पर एक भी शहजादी.... ।

चार सौ रुपये महीना वेतन पाने वाली महिला, महँगाई के इस जमाने में चार सौ रुपये की साड़ी कैसे पहन सकती है ? एक दिन महिलाओं के बाथरूम के आगे से वह गुज़र रहा था। दरवाजा पूरी तरह बन्द होना रह गया था। चलते-चलते उसने देखा, भीतर कूलर के पास जो टूटी टेबल पड़ी है, उस पर एक साथ दो महिलाएँ लेटी आराम कर रही हैं.... ।

मन उचाट हो आता है उमका, कहीं भी मन लगता नहीं। घड़ी की सुई को भी लकवा मार गया है।

आर.आर. की दराज से वह 'क्लब' की कोई मैगज़ीन निकालता है। कोई सस्ती-सी फिल्मी मैगज़ीन। एक कोने में खाली मेज के पास कुर्सी खिसकाकर पढ़ने लगता है।

एक मोटी-सी अभिनेत्री के नग्न अर्द्धनग्न चित्र देखकर उसे अपनी मोटी-सी, उस पिछली पड़ोसिन का ख्याल आता है जो जंगपुरा में, उसके सामने वाले मकान में रहती थी। और जो कभी मौका मिलने पर, गर्म दूध का गिलास उसके कमरे में रख जाती थी। जो तीन बच्चों की माँ थी और जिसके सिर के आधे बाल सफेद हो गए थे... ।

न जाने कितने युगों बाद किसी तरह साढ़े पाँच का समय होता है। वह बाथरूम में हाथ मुँह धोकर, ताजा होकर, बाहर निकलता है।

बस की कतार में खड़ा होकर, कुछ टटोलती निगाहों से इधर-उधर देखता है। जिस दिन बस की कतार में कोई लड़की नहीं दीखती, जिस दिन बस के भीतर महिलाओं की सीट पर भी भद्र पुरुष बैठे दीखते हैं, उस दिन वह अपने कर्मों को ही नहीं कोसता, बल्कि उस आदमी के बारे में भी सोचता है, जिसका मुँह उसने बिस्तरे से उठते समय पहले-पहल देखा था।

होटल की रूखी रोटियाँ चबाकर, मार्केट के व्यर्थ में दो-तीन चक्कर काटकर, सिगरेट का सुट्टा लगाता हुआ, रेल के कम्पार्टमेंटनुमा कमरे में घुसता है, जिसका किराया प्रति मास एक सौ सत्तर रुपये से कम नहीं बैठता। उस पर 'अलाटी' का रोब अलग.... ।

घर से आया ताजा पोस्टकार्ड वह बार-बार उलट-पलटकर देखता है, जिसमें उसकी बूढ़ी विधवा माँ ने लिखवाया है कि तीन महीने से उसने कोई भी पत्र क्यों नहीं भेजा ? वह रोज डाकिये की प्रतीक्षा करती है... ।

वह निश्चय करता है (हमेशा की तरह) इसका उत्तर सुबह उठते ही लिख देगा कि उसे इन दिनों काम बहुत अधिक रहता है। अतः पत्र भेजने तक का भी समय नहीं निकल पाता... वह बहुत अच्छी तरह जानता है कि वह सुबह, जब वह कोई पत्र भेजता है, या कोई पुराना पैडिंग काम करता है, बहुत लम्बे असें के बाद ही कभी आ पाती है।

रोशनी गुल करने पर भी उसे नींद नहीं आती। वह कितने मित्रों से कह चुका है कि उसे नींद न आने की बीमारी हो गई है, पर कोई सच नहीं मानता। सब कहते हैं, यह कोई नई बात नहीं। हर अकेले आदमी के साथ अब तक संसार में ऐसा ही होता आया है।

करवट पर करवट बदलने में न जाने कितनी रात बीत जाती है। जब कुछ नहीं सूझता तो वह झल्लाता हुआ चादर दूर फेंक देता है और बिना स्विच ऑन किए अँधियारे में ही दीवारों से सिर टकराता हुआ बाथरूम की ओर आँखें मूँदे निकल पड़ता है।

न जाने कब तक नल के तड़तड़ाने की आवाज आती है।

लौटने पर उसे कुछ हल्कापन-सा महसूस होता है। फिर उसे पता नहीं चलता, कब वह बिस्तरे में घुसता है और कब उसे नींद आती है।

## सुनन्दा

सूरज डूब रहा था। आग का धधकता गोला-सा घने पेड़ों के झुरमुट के पीछे ओझल हो रहा था। सिन्दूरी बादल अनायास तैर रहे थे। पानी की बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही थीं। हरियाली लिए भीगा-भीगा वातावरण था। मैं चुपचाप अनमना-सा अकेला टहल रहा था। सोच रहा था, न जाने क्या-क्या सोचता जा रहा था।

सुनन्दा का आज जन्मदिन था। कैसी अनहोनी बात थी! उसकी जन्म और विवाह की तिथि एक ही थी। अतः मैंने आज वे ही कपड़े पहने—गहरे नीले रंग के, जो उसे बेहद पसंद थे। वैसे ही घर सजाया, जैसे पहले सजाया करते थे। सारे ड्राइंगरूम में भीनी-भीनी फूलों की महक आती रही। फूलों से उसे कितना अनुराग था! उस पर भी सफेद फूल, बेले के, लिली के!

अभी तक उस महक का मुझे स्पष्ट अहसास हो रहा था।

सॉझ के समय वह वायलिन बजाया करती थी। वायलिन के मीठे-मीठे स्वरों से भी अधिक मधुर उसका स्वर लगता था। गाती तो वातावरण में एक मदहोशी-सी छा जाती थी। आज भी उसके संगीत का स्वर मुझे अन्दर-ही-अन्दर सुनाई दे रहा था। सजी हुई आबनूसी मेज के ऊपर उसका वायलिन वैसे ही रखा था, जैसे अभी-अभी वह बाहर से आने वाली हो, अभी-अभी उसे बजाने वाली हो।

मैंने झटके से सिर हिलाया। इधर-उधर देखा—रीती निगाहों से, और आगे निकल गया। मन में एक अजीब-सी बेचैनी घेरा डालने बैठी थी। बादलों का बरसना पूरी तरह थमा न था। पेड़ों पर से पानी टपक रहा था। सड़कों पर सॉप की तरह पानी की छोटी-छोटी धाराएँ फिसल रही थीं और फुटपाथ के पत्थरों से रह-रहकर टकरा रही थीं। ठण्डी बयार बह रही थी। मेरा सारा शरीर भीग-सा गया था; पर निगाहें कहीं टिकती न थीं, थमती न थीं। मन तनिक भी कहीं लग नहीं रहा था। घूमता-घूमता दूर तक निकल आया, फिर भी उदासी लिपटी रही। आखिर मैं लौट आया बँगले में। गैराज़ से कार निकाली और सड़क पर पानी के छींटे उछालता हुआ सरपट निकल



गया। दिशाहीन, लक्ष्यहीन बढा जा रहा था। इतना भागने पर भी परेशानी साथ छोड़ने को तैयार न थी।

सच, मैं भूल जाना चाहता था आज सुनन्दा को, अपने को, सबको। पर ज्यो-ज्यो भुलाने का प्रयास कर रहा था, स्मृतियाँ तीव्रतर होती जा रही थीं। सारी जगहें चिरपरिचित-सी लग रही थीं। सुनन्दा के साथ जब-तब घूमने निकल आया करता था। वह न जाने क्या-क्या सोचती रहती थी—बाहर की ओर झाँकती हुई।

मैंने मुडकर देखा, बगल की सीट खाली है। कोई भी बाहर की ओर झाँक नहीं रहा है।

झटके से कार एक ओर खड़ी कर दी, बाहर दूब पर निकल आया। फिर भी मूझता कुछ न था। घिरते अँधियारे के अतिरिक्त कुछ दीखता न था।

सुनन्दा को अँधियारे में बैठना कितना पसंद था।

मैं देर तक अँधियारे में बैठा रहा—बैठा रहा। हौले-हौले बूँदा-बाँदी शुरू हो रही थी। मुझे तनिक भी होश न था। न मालूम कब, कहीं दूर में रेल की सीटी का ताँखा स्वर सुनाई दिया तो चौंककर उठा।

कपडे भीगे हुए थे। ठण्ड लग रही थी। मैंने घड़ी की ओर देखा। यह घड़ी ही तो सुनन्दा की अन्तिम यादगार थी। मैं बेबस-सा फिर कार की ओर लपका; कार घुमाई और तेजी से दौड़ाता रहा। स्मृतियाँ भी जैसे हाथ धोकर पीछे-पीछे भागी जा रही थीं। उनमें पीछा छुड़ाने के लिए मैंने चाल और भी तेज कर दी।

तभी सड़क के किनारे खड़ी एक महिला ने हाथ उठाकर कार रोकने का संकेत किया। 'एक्सक्यूज मी' कहती हुई लपककर निकट आ गई।

बारिश से भीगा साड़ी का पल्लू उठाते हुए उसने विनीत स्वर में कहा कि अगर मैं उसे आगे छोड़ दूँ तो मेरी बड़ी मेहनत होगी। पानी में भीगती वह बस की अनन्त प्रतीक्षा में बेबस खड़ी थी। बहुत जल्दी उसे कहीं पहुँचना है।

मैं कुछ भी न बोला। कार का दरवाजा खोल दिया। धीरे से वह बैठ गई।

उसके बैठते ही भीनी-भीनी-सी महक आई। वह भीगी महक धीरे-धीरे मेरे तन में व्याप्त हो गई, कण-कण में।

"आप किधर जाएंगे?" सितार-सा उसका स्वर फूटा।

"कहीं भी नहीं।" मैं होंठों ही होंठों में ब्रुदबुदाया।

शायद उसने सुना नहीं।

मोड़ पर स्टेयरिंग घुमाते हुए मैंने मोन भंग दिया—"आपको?"

"जी, मुझे?" उसने मुडकर मेरी ओर देखा और कहा, "मुझे तो कनाँट प्लेस और आपको?"

चौराहे से मैंने फिर कार मोड़ ली। बोला कुछ भी नहीं। जनपथ पर उसने रुकने को कहा। वह धीरे से उतरी। 'थैंक यू' कहते हुए उसने बड़ी आत्मीयता से अभिवादन किया। सकुचाती हुई, तनिक मुस्कराती हुई बोली—"लगता है, आपने मुझे पहचाना

नहीं। कितनी बार मैं आपके बँगले पर भी हो आई हूँ। सुनन्दा मेरी बचपन की सहेली थी। बी.ए. तक हमने साथ-साथ पढ़ा था।”

वह क्या कहे जा रही है, मेरी समझ में नहीं आया। मैं उसकी ओर देखता रहा। वह चली गई—आँखों से ओझल हो गई, तब भी देर तक यों ही बैठा रहा।

अधियारा गहरा हो चला था। रोशनी की जगमगाहट बढ़ गई थी। इस व्यर्थ की भाग-दौड़ से मेरा गला सूख आया था, प्यास लग रही थी और शरीर को तोड़ने वाली थकान भी। तभी निगाहें सामने जा टकराई—हरी रोशनी में जगमगाते अक्षरों पर।

बिना सोचे मैं उतर पड़ा। भीतर जाकर देखा, भीड़ अधिक है। पूरा रेस्तराँ भरा हुआ है। बैठने को सीट मिल गई, यही क्या कम था! मालूम हुआ, कोई विशेष प्रोग्राम है। मुझे प्रोग्राम से क्या लेना था? तनिक विश्राम ही करना था। एक प्याला कॉफी, और बस लौट चलना था।

कुछ पल मैं भूला-सा रहा। वहाँ का शोरगुल न जाने क्यों उस घड़ी अच्छा लगा। शायद मैं अपने को किसी तरह भुलाना चाहता था। इसके अतिरिक्त और जरिया भी क्या था?

“क्या लेंगे हुजूर?” बैरे ने अदब से पूछा।

“एक कप एस्प्रेसो।” कहकर मेज पर कुहनियाँ टिकाए फिर अपने ख्यालों में डूब गया।

कैसी संयोग की बात थी! जिस मेज पर मैं आज बैठा था, सम्भवतः वही मेज थी, जिस पर उस दिन भी बैठा था। मुझे याद आया, सुनन्दा को मैंने पहले-पहल यहीं देखा था। वह सामने की सीट पर बैठी थी। उसकी बहनें थीं और हमउम्र कुछ लड़कियाँ थीं। शायद कोई पार्टी थी, इसीलिए कहकहे उड़ रहे थे, हँसी के फव्वारे छूट रहे थे। पर सुनन्दा हँस नहीं रही थी, ज्यादा बोल भी नहीं रही थी। केवल बीच-बीच में मुस्करा भर देती थी। पलकें झुकाए, सिर नवाए, वह कितनी अच्छी लग रही थी। उसके बाद भी तो हम दोनों कई बार इधर आए गए, साथ-साथ बैठे—वर्षों तक, युगों तक... युग-युगों तक।

सामने की ओर मैंने देखा—वह सीट आज खाली थी। कोई भी उस पर नहीं बैठा था। केवल ‘रिजर्व’ लिखा कागज नमकदानी से दबा था।

फिर अगल-बगल नज़र घुमाई। बाएँ हाथ की दो सीटों के बाद जो लम्बी-सी बड़ी मेज थी, उस पर से कुछ महिलाओं के जोर-जोर से बोलने का स्वर सुनाई दे रहा था। पास की दो सीटों पर दो कॉलेज के छोकरे, दो कमउम्र लड़कियों के साथ बैठे चुहल कर रहे थे। दाहिने हाथ की मेज पर एक मोटी-सी अधेड़ औरत एक मात-आठ साल के बच्चे के साथ बैठी चाय की चुस्कियाँ ले रही थी।

तभी सामने की ‘रिजर्व’ मेज पर तीन महिलाएँ एक पुरुष के साथ आकर बैठ गईं। मैंने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। एकाएक खिलखिलाहट सुनकर मैंने देखा तो

अचरज से देखता रह गया।

सुनन्दा। हॉ, हॉ, सुनन्दा। हू-बहू सुनन्दा जैसी आकृति थी, एक महिला की। धक् से कलेजा बैठ गया। विस्मित, आँखें फाड़े देर तक देखता रहा, निश्चेष्ट, निस्पंद।

मात्र भ्रम ही तो था। मैंने निगाहे नीची कर लीं।

अपनी आँखों पर विश्वास ही न हुआ किसी तरह। होता भी कैसे। क्या यह भी विश्वास करने वाली बात थी।

हँसी की एक और लहर आकर टकराई, वही से। अचकचाकर मैंने फिर देखा। अपनी आँखों को मला और फिर देखा। अपलक देखता ही रहा। वह भी मेरी ओर वैसे ही टकटकी बाँधे देख रही थी। कैसी आश्चर्य की बात थी।

भला सुनन्दा कहाँ हो सकती है ? नहीं, नहीं। कही नहीं। कहीं से भी तो नहीं।

मैंने पलकें जोर से भींच ली। फिर आँखें खोलीं तो वही आकृति; पलकें झुकाए, माथा झुकाए, हौले-हौले मुस्कराती हुई।

सुनन्दा की जैसी ही बड़ी-बड़ी कजरारी आँखें, वैसे ही अधर थे, मन्द-मन्द मुस्कान लिए। गुलाबी होंठ खुलते तो लगता फूल झड़ रहे हैं। दाहिने गाल पर छोटा-सा तिल था, गोल-गोल। माथे पर पीली-सी बिंदिया थी। ठीक वैसा ही केशविन्यास था। सफेद बेलें की नाजुक पंखुरी जूड़े में इठला रही थी।

उसने फिर मेरी ओर देखा।

सुनन्दा।

सुनन्दा का नाम ओठों पर आते ही हृदय भीग आया। मेज पर माथा टिकाए, कुहनियों टिकाए, मैं अपने से उलझता, झगड़ता, और आँखें मूँटे बैठा रहा। भला सुनन्दा कहाँ से हो सकती है। मैं भी कैसा बावरा हूँ। सुनन्दा को गुजरे आज तीन साल से अधिक हो गए। फिर वह यहाँ कैसे ? प्रचमूच, क्या मैं बैठा-बैठा सपना देख रहा हूँ ? यों तो ऐसे सपने मैं रोज देखा करता हूँ।

हर रात सुनन्दा को पास पाता हूँ। देखता हूँ, मुझे ऑफिस जाने की जल्दी है और कहता हूँ, "आज ऑफिस में ही खाना ले लूँगा।" परतु फाटक पर आते ही ठिठका रह जाता हूँ। सुनन्दा को, सफेद साड़ी में लिपटी सुनन्दा को, सामने खड़ी पाता हूँ।

"क्या भूखे ही ऑफिस जाओगे ?" हौले से वह पूछनी है।

मैं काठ-सा देखता रह जाता हूँ।

कभी ऑफिस से देर से लौटता हूँ तो सुनन्दा फाटक पर खड़ी प्रतीक्षा करती दीखती है।

"काम ज्यादा था क्या आज ? अधिक जजाल क्यों जोड़ते हो अपने लिए। तन्दुरुस्ती पर आगे चलकर बुरा अमर पड़ेगा।" वह बड़ी ममता से कहती।

आज एकान्त में घूमने निकला हूँ तो अधियार में कहीं से सुनन्दा की मीठी-मीठी हँसी वायु में बिखरती आती साफ मुनाई दे रही है। मैं रोमांचित हो उठता हूँ। वह चुपचाप बगल में आकर बैठ जाती है। मेरी ठण्डी हथेलियों को, ठण्डे माथे को

सहलाती है—बुदबुदाती है, बड़बड़ाती है। न जाने क्या-क्या शिकवे-शिकायत करती है। फिर मेरी बाँहों में निढाल ढुलक पड़ती है। न मालूम कब तक यों ही ढुलकी पड़ी रहती है।

रात में अपने-आपको भुलाने के लिए ढेर-सी किताबें ले आता हूँ, ऑफिस से फाइलें उठा लाता हूँ। उन्हें पढ़ता हूँ, पढ़ता रहता हूँ। मेरी आँखों के आगे जब तक अंधेरा नहीं छा जाता, उन्हीं में उलझा रहता हूँ। तब लगता है, घर के काम-काज से निबटकर सुनन्दा मेरे कमरे में चली आई है। मेरी ओर उलाहने से देख रही है। तुनककर कह रही है, “किसी दिन इन्हीं कागजों के ढेरों में दबे मिलोगे। क्या हो गया है तुम्हें? देखो न, हड्डियाँ निकल आई हैं। चेहरे से ऐसा लगता है जैसे महीनों से अन्न छुआ न हो। इतनी मेहनत किसके लिए करते हो? मेरे लिए? नहीं, नहीं, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। ये कार, ये बँगला—कुछ भी नहीं। तुम्हारे अलावा कुछ भी नहीं।”

तब सारी रात मुझे नींद नहीं आती। हौले से स्विच दबाता हूँ। गिलास में नींद आने की दवा उडेलता हूँ और तकिये के सहारे पड़ा रहता हूँ। धीरे-धीरे तन शिथिल होता चला जाता है। हिलने-डुलने की भी सामर्थ्य नहीं रहती। निगाहें केवल सामने टंगे सुनन्दा के चित्र पर टंगी रहनी हैं। पता नहीं, कब पलकें मुँद जाती हैं, कब नींद आ जाती है!

सुबह नौकर जगाता है तो खोया-खोया-सा जाग पड़ता हूँ।

सुनन्दा कहीं भी नहीं दीखती।

क्या आए दिन के सपनों की तरह आज भी मैं सपना देख रहा हूँ? हाँ, शायद पलंग पर पड़े-पड़े सपना ही देख रहा हूँ। हौले से मैंने इधर-उधर टटोला। यह पलंग नहीं, सोफा है। यह ठण्डी काँच की मेच है। यह गिलास है पानी का, जो रीता हो गया है। अगल-बगल की मेजो पर कितने लोग बैठे हुए हैं। यह घर नहीं, रेस्तराँ है।

मैंने फिर सर झटक लिया। बैरा काँफी का प्याला रखकर पता नहीं कब का चला गया। काँफी पानी की तरह ठण्डी हो चुकी थी। सामने की ओर देखा तो वह महिला ठीक सुनन्दा की तरह काँफी का प्याला अपने ओंठों से लगा रही थी। मेरी ओर टकटकी बाँधे न मालूम कब से देख रही थी।

सामने के निचले हॉल में नृत्य शुरू हो गया था। ‘रॉक एण्ड रोल’ की धुन बड़ी बेरहमी से लहरा रही थी। आवाज कानों में चुभ-सी रही थी। तभी, वह साथ बैठा पुरुष उठ खड़ा हुआ और उस महिला से भी उठने के लिए आग्रह करने लगा। प्याला मेज पर रखती हुई, बड़ी फुर्ती से वह उठ खड़ी हुई। बेजनी रंग की माडी उसने कसकर पहन रखी थी। ब्लाइज जैसे यो ही टॉप लिया था।

पुरुष के कपड़े गहरे नीले रंग के थे।

हँसते हुए उसने पुरुष का हाथ थामा और नृत्य के लिए चल पड़ी। चलते चलते कनखियों से एक बार फिर मेरी ओर देखा।

यह सब मुझे असह्य लगा। इस रूप में इस तरह सुनन्दा की मैंने सपने में भी

कल्पना नहीं की थी। अधेड़ उम्र का काला-कलूटा आदमी, जिसके घनी मूँछों से घिरे चेहरे पर चेचक के उभरे दाग साफ झलक रहे थे, उमकी संगमरमर-सी सफेद, फूल-सी कोमल कमनीय बॉहं थामे था। कमर में हाथ डाले नाच रहा था। वह भी निरी अबूझ, जैसे उसी में मगन थी। बड़ी अदा से मुस्करा रही थी। मुड़-मुड़कर बार-बार मेरी ओर देख रही थी। अपने लचीले पाँवों की थिरकन, अपनी निगाहों का जादू जैसे मुझे ही दिखा रही थी, केवल मुझे।

मैंने झुंझलाकर झटके से मुँह फेर लिया। बैरे से एक प्याला गरम कॉफी लाने को कहा।

बहुत देर बाद देखा कि वह थककर बैठ गई है। उसके माथे पर झलकती पसीने की बूँदें साफ दीख रही थीं।

वह फिर कॉफी पी रही थी, मुस्करा रही थी और मेरी ओर देखे जा रही थी। पर मैं कहीं और था—किसी दूसरी ही दुनिया में।

कुछ क्षण बाद फिर वह नाचती दिखी। इस बार किसी ऐंग्लो-इण्डियन के साथ।  
“बैरा।” मैंने इशारे से पास बुलाया।

वह हाथ बाँधे खड़ा हो गया।

“यह नाचने वाली कौन है?” धीमे स्वर में पूछा मैंने।

“कौन?” ओंठों पर उसने उँगली धरी।

“वही, बैजनी रंग की साड़ी पहने।”

“कोई ऐसी ही है साहब।” मेरे कान के पास मुँह लाकर, फुसफुसाता हुआ बोला,  
“कोई ऐसी ही। आज लगता है, कल के साथी नहीं आए, इसीलिए...”।

बैरा चला गया। मैं देखता रहा, सामने नाचने वाली की ओर, देखता रहा।  
आखिर, सोफे पर निढाल होकर लुढ़क पड़ा आँखे मीचे।

बहुत देर तक यों ही पड़ा रहा। फिर लगा, कोई हौले से मेरी बगल में आकर बैठ गया है। अचकचाते हुए मैंने पलकें खोलीं। देखा, वही महिला सिमटी-सी बैठी है, गरदन झुकाए, मानो कोई अपराध करके लौटी हो।

“आपकी तबीयत भारी मालूम होती है।” उसका स्वर मन्द था।

मुझे अटपटा-सा लगा।

ठीक सुनन्दा जैसी ही आवाज थी। जब मैं पढ़ते-पढ़ते थक जाता था तो वह इसी तरह चुपके से आकर बैठ जाती और प्यार से कहती।

“नहीं, ठीक है...।” मैंने मुस्कराने की चेष्टा की।

“कॉफी आपने पी नहीं। ठण्डी हो गई। और मँगवाऊँ?”

मैंने चुपके से सिर हिला दिया—“नहीं, नहीं। शुक्रिया...।”

मैं खामोश रहा। वह भी।

उसका यह व्यवहार बड़ा अजीब-सा लग रहा था।

“आपने दो प्याले कॉफी के मँगवाए और पिया एक घूँट भी नहीं। मैं देख रही

थी ।”

मैं क्या जवाब देता ?

कुछ मोचते हुए मुझे ख्याल आया । उसकी ओर देखते हुए मैंने पूछा—“आप पिऐंगी ?”

“आपका साथ देने मे मुझे खुशी ही होगी ।” भाव-भीने स्वर में उसने कहा ।

दो प्याले कॉफी के और आ गए ।

वह मेरी ओर मौन भाव से देखती रही ।

“लगता है, यहाँ बैठने मे आपको असुविधा हो रही है । आइए, उस किनारे की मेज पर चलें । वहाँ हम आराम से बातें कर सकेंगे । क्यों, उठिए न ।” बड़े आग्रह के साथ, अधिकार के साथ, कहती हुई वह उठ खडी हुई । साथ ही मैं भी उठा, यंत्र की तरह । मेरा हाथ थामे उस मेज पर वह बैठ गई ।

“मैं इतनी देर तक डांस करती रही, एक बार भी आपने ताली नहीं बजाई । एक बार भी नहीं कहा कि मैं बहुत अच्छा नाची हूँ । क्या पसन्द नहीं आया आपको ? मैं सच कहती हूँ, मैं इन सब औरतों से अच्छा नाचती हूँ ।” उसने सन्नाटा भंग करते हुए कहा ।

फिर भी कुछ उत्तर मुझसे न बन पड़ा ।

वह देर तक चुप रही, उदास ।

“लगता है, आपको शौक नहीं । खैर, छोड़िए भी,” उसने मेरी आँखों मे आँखें डालते हुए कहा, “देखिए न, आपकी उँगलियाँ कितनी नाजुक हैं । सच, न जाने क्यों आपको देखने मे लगता है, जैसे आप कोई बहुत बड़े कलाकार हैं । ऐसी उँगलियाँ साधारण लोगों की नहीं होतीं ।” उसने धीरे से मेरी हथेली सहलाई ।

कैसी आश्चर्य की बात थी । ठीक यही बात सुनन्दा ने भी मुझमे कितनी बार कही थी ।

“शायद आप इससे पहले कभी इधर आए नहीं । यहाँ की किसी भी चीज़ में आपकी कुछ भी रुचि दीखती नहीं । क्या मैं खूबसूरत नहीं ? क्या मुझसे अधिक सुन्दर महिला के साथ बैठना आप पसन्द करेंगे ?” उसकी आवाज़ कॉप रही थी और वह कहे जा रही थी, “मेरा व्यवहार आपको अच्छा नहीं लगा । एक साधारण-सी औरत से आपको अच्छे व्यवहार की आशा भी तो नहीं होनी चाहिए ।”

मैंने उसकी ओर देखा । उसकी सहमी आकृति में वेदना थी, निरीह भाव, जैसा मेमनों के चेहरों पर होता है ।

वह भी चुप रही, मैं भी । बैरा दो प्याले कॉफी के रखकर चला गया । न उसने पी, न मैंने । दोनों ही, उन प्यालों के ऊपर उठती गरम भाप की ओर देखते रहे ।

“क्या मुझसे बाते करना आपको अच्छा नहीं लगता ? कहिए, तो मैं चली जाऊँ ।” उसने अन्तिम निर्णय जानने के लिए मेरी ओर देखा । ज्योंही दृष्टि मिली, मैं सहम गया । उसकी आँखों का रंग वैसा ही भूरा था, गहरा भूरा, सुनन्दा की आँखों

जैसा। मैंने उसकी हथेली थाम ली।

“बोलो, क्या बात करूँ ?” धीमे स्वर में मैं बुदबुदाया।

वह सटकर बैठ गई। घुटनों से घुटना मिलाए, कुहनियों पर कुहनियों टिकाए, अपने तन का भार, किसी हद तक उसने मुझ पर छोड़ दिया था।

“तुम बहुत अच्छा नाचती हो, सच।”

“सच ?”

“....।”

“नहीं। आप झूठ बोलते हैं। आपको कतई पसन्द नहीं आया। जब मैं नाच रही थी, तब आपके चेहरे से साफ झलक रहा था। आप मेरी ओर नफरत से देख रहे थे, क्यों ?”

“नही तो।” मैं कहना चाहता था, पर स्वर ने साथ नहीं दिया।

मेरी उँगलियाँ थामे, मेज के ऊपर हौले से दबाती हुई बोली “यह अँगूठी कितनी अच्छी है।” वह उसे घुमाती रही, घुमाती रही, “आपके हाथ में कितनी अच्छी लगती है।”

“तुम्हें पसन्द है ?” न जाने क्या सोचने हुए मेरे मुँह से निकल पडा।

उसने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल स्थिर भाव से देखती ही रही।

मैंने अँगूठी उतारी। देखा, एक किनारे पर बहुत बारीक अक्षरो में खुदा है सुनन्दा। वह यादगार थी सुनन्दा की। विवाह के समय उसने दी थी। तब से आज तक वह मेरी ही उँगली में ही थी। एक बार भी भूलकर, कभी मैंने उमे उतारा नहीं।

मैंने वह अँगूठी उसे पहना दी। ठीक सुनन्दा जैसी उँगलियाँ थीं, वैसे ही नाखून थे, वैसे ही रंग था, वैसे ही बनावट। मुझे लगा, सुनन्दा मेरी बगल में बैठी है और मैं उसकी अंगुलियों में, उसकी अँगूठी पहना रहा हूँ।

उसे पहनते ही वह सहसा मुस्करा उठी। सुनन्दा की मुस्कराहट से वह तनिक भी भिन्न न थी।

“सुनन्दा क्या आपकी पत्नी का नाम है ?” उसने अँगूठी की ओर देखते हुए, कुछ पढ़ते हुए न मालूम क्या सोचकर पूछा।

“हाँ।” मैंने उत्तर दिया।

“उन्हें एतराज तो नहीं होगा ?”

“ना।”

“वह कुछ कहेंगी तो नहीं ?”

“नहीं।” एक गहरी साँस भरते हुए मैंने कहा।

“तो मचमुच वह कितनी अच्छी हैं। ऐसी अच्छी बीवी का मिलना तो सौभाग्य की बात है। आप खुशानसीब हैं।” वह अभी तक अँगूठी की ओर ही देख रही थी।

बहुत समय बीत गया बातों-ही-बातों में। उसकी आँखों में नींद के साये उतर आए थे। वह चुप थी, फिर भी लगता था कि वह चुप नहीं थी।

“क्या सोच रही हो ?” मैंने पूछा।

“कुछ भी नहीं, यो ही।” वह हँसी, फीकी हँसी में, “कभी-कभी सोचती हूँ, क्या आप भी कभी सोचते हैं ? मन की बात क्या किसी से कही जाती है ? पर, आदमी न कहे तो जिए कैसे ? और कहे तो कहे कैसे ? आदमी बाहर से कितना ही हँसे, कितना ही बोले, लेकिन एक घुटन-मी तो रहती ही है।” कहते-कहते वह चुप हो गई।

दीवार पर घड़ी ने टन्-टन् करके बारह बजाए।

समय का ख्याल आया तो मैं चौंका।

कितना समय बीत गया था। कार बाहर खड़ी थी। कॉफी पीने आया था, कुछ समय के लिए। लेकिन, तीन प्याले ठण्डे पड़े थे। एक भी घूट पी न सका था।

मैंने देखा, रेस्तराँ आधा खाली हो गया है। ‘बाल डॉस’ अभी तक चल रहा है। मगीत के स्वर अभी तक बह रहे हैं। महिला का चेहरा उदास है। वह छत की ओर देखती, न जाने क्या सोच रही है।

“आपको बहुत देर हो गई। घर पर आपकी पत्नी प्रतीक्षा कर रही होंगी।” मेरे प्रति सहानुभूति से उमने कहा, “आपको किधर जाना है ?”

“इण्डिया गेट के पास।”

“मुझे भी तो उम्मी आना है। आइए चलें। कुछ समय और साथ रह लेंगे। आपसे अलग होने को मन नहीं होता।” उसकी दृष्टि मेरे नीले सूट पर थी।

मेरे साथ वह तारु निकल आई। मेरी बगल में ही कार में हौले में बैठ गई।

इण्डिया गेट के पास तक कार पहुँच गई, पर दोनों में से कोई कुछ न बोला। मेरे मन में बार-बार आया कि पूछूँ, एक बार तो पूछूँ—‘क्या तुम्हें गहरे नीले कपड़े बहुत पसन्द हैं ? क्या चार्यालिन बजाने का शौक तुम्हें भी है ? धीमी-धीमी मद्धिम गेशनी में बैठना क्या तुम्हें भी पसन्द है ? बेलें और लिली के फूल क्या तुम्हें भी अच्छे लगते हैं ?’ पर कुछ भी पूछ न पाया।

सड़क के किनारे कार खड़ा कर, उसकी ओर मुड़कर मैंने कहा, “तुम चुप क्यों हो ?”

वह कुछ भी बोली नहीं।

“मैं सोच रहा था, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम यह सब छोड़ दो ? सच, तुम्हें इस प्रकार नाचते देखना मुझे नैनिक भी अच्छा नहीं लगा। अच्छी सी गृहस्थी बसा लो, घर बना लो, आराम से रने। क्या तुम्हारी आत्मा तुम्हें इस तरह के कामों के लिए कोसती नहीं ?”

“...।”

“चाहे तुम न बतानाओ, पर मैं जानना हूँ। जरूर कोसती होगी।”

मैंने उसकी बाँहें थाम ली। मेरे कन्धों पर वह दुलक पड़ी।

“देखो, तुम्हें जिस किमी चीज़ की जरूरत हो मुझसे आकर ले जाना। पैसे चाहिए तुम्हें ? बताओ, कितने चाहिए ? मेरे घर पर आकर ले लेना। तुम्हें जिस चीज़



की जरूरत हो...मैं कभी कुछ नहीं कहूँगा, कुछ भी नहीं।”

मैंने देखा, वह सिसक रही है।

उसका आँसुओं से भीगा मुखड़ा ऊपर उठाकर मैंने कहा—“बताओ, बोलो ?”

“क्या बोलूँ ?” रुंधे कण्ठ से वह बोली, ‘आप कोई नई बात नहीं कर रहे हैं। हर आदमी ऐसे क्षणों में मुझसे ऐसी ही बातें कहता है। अपनी पत्नी से, प्रेमिका से, सबसे अधिक प्यार करने का वादा करना है। वादा करता है कि उम्र भर वह अब मुझी को प्यार करेगा, करता रहेगा। पर दृश्य ही क्षण देखता हूँ कि वह मेरी ओर घृणा से देखता है, मानो मैंने ही उसे पाप के कुएँ में धकेला हो। फिर उपेक्षा में चला जाता है।”

मैं अवाक उसकी ओर देखता रहा।

“मुझसे भी क्या तुम ऐसी ही आशा रखती हो ?”

वह कुछ भी नहीं बोली।

उसका उदास चेहरा मैं अधिक न देख सका। ‘सुनन्दा’ को आँखों में आँसू। मैं अपने-आपको सँभाल न पाया। उसे बाँहों में जकड़ लिया।

“तुम्हें क्या हो गया है ? यह सब तुम क्या कह रही हो ? अब ऐसा कभी भी कहोगी नहीं, रोओगी नहीं। हाँ, मैं सच कहता हूँ, तुम्हें जिस चीज की जरूरत हो, ले जाना। पर, यो न नाचना, यो न फिरना। तुम्हें मेरी सौगन्ध।”

वह कुछ भी कह न पाई...रोती रही, केवल रोती रही। जितने पैसे मेरे पास थे उसे दे दिए। घड़ी की सोने की जंजीर दे दी, घड़ी दे दी। पर, वह कुछ भी बोल न पाई, आँखे मीचे बाँहों पर दुलकी रही।

मैं घर आया। मेज पर उदाम वायलिन वैसा ही पड़ा था। फूल मुरझा गए थे। सारी रात नींद न आई। सुबह उठकर देखा कि अंगूठी, सोने की चेन, घड़ी, सारे पैसे मेरे कोट की जेब में वैसे ही पड़े हैं।

दूसरे दिन फिर उम्मी रेगतरॉ में गया। फिर उमकी प्रतीक्षा की, पर वह न दीखी—फिर कभी भी नहीं।

□

## गंधर्व-गाथा

“जिस तरह तुम पहले रहते थे, उसी तरह रहो……। मैं तुम पर कुछ भार नहीं डालूंगी। मेरी कोई भी रिस्पॉन्सिबिलिटी तुम पर नहीं होगी……।” कहती-कहती मणियन चुप हो जाती है।

पर नायर का रंग कोरे कागज की तरह सफेद है। वह कुछ भी कहने या न कहने की स्थिति में नहीं। जिस लड़की को वह इतनी दूर से जानता है, उससे इस तरह के प्रश्न की कल्पना भी नहीं कर सकता……।

“मैरैज का सवाल इतना आसान तो नहीं……।” वह अटक-सा जाता है।

“मैं कब कहती हूँ आसान है……।” उतावलेपन से मणियन कहती है—“मैंने कभी भी नहीं कहा कि तुम मुझसे शादी करो।……केवल शादी के फार्म पर दस्तखत कर दो……। कानून की बात पूरा हो जाएगी बस।”

“वीसा कब खत्म हो रहा है तुम्हारा……?” नायर कुछ रुककर पूछता है।

“सेवन्थ लास्ट डेट है……।”

लगभग तीन-चार महीने पूर्व उसे अपने भोजनालय ‘साउथ इण्डिया’ में भोजन के समय, कुमारन के साथ वह दिखलाई दी थी। तब वह नारंगी किनारी की काली साड़ी पहने थी। माथे पर जौ के दाने के बराबर काजल का कलात्मक टीका था। बात-बात पर वह बिना बात हँस रही थी। औरों की तरह नायर को भी वह हँसी अच्छी लगी थी।

किसी ने बाद में बतलाया था कि वह सीलोन से आई है। तमिल के साथ-साथ मलयालम पर भी अच्छा अधिकार रखती है। कहती है यूनिवर्सिटी से मनोविज्ञान में अनुसन्धान कर रही है। प्रायः खाने को कुछ दिनों से यहाँ आ रही है।…… समुद्र के किनारे रहती है, इसलिए अधिक नमकीन है।

तब से नायर को वह प्रायः दिख जाती है। वह खाने की मेज पर अकेला होता है तो वह अपनी सीट से उठकर सामने बैठ जाती है और उसकी आकृति की ओर पता

नहीं क्या देखती रहती है।

कोई तब बतलाता है कि वह केशों की स्टडी किया करती है और उसके लिए नायर भी एक केस है....।

एक दिन वह लेटा था। कुमारन भागता-भागता आया। उसे झकझोरते हुए बोला—“आज उसने एवरेस्ट जीत लिया है। वह मिस मणियन को कुतुबमीनार की आखिरी मंजिल तक चढ़ा लाया है। अब वह उसे हर छुट्टी के दिन यत्र-तत्र घुमाता रहेगा....।”

नायर को तब आश्चर्य नहीं हुआ था, क्योंकि परसों ही चेरियन कहता था कि वह ‘लॉ-बोहीम’ के आगे एक लम्बी कार से उतर रही थी। जोतवानी ने भी उसकी बात से सहमति प्रकट की थी और कहा था कि रिज रोड के अधियारे में, रात को कई बार किसी अफ्रीकन लड़के के साथ उसने उसे खुद अपनी आँखों से देखा है। तब वह सहमी-सी ऐसी लगती थी, जैसे काली चट्टान की बगल में कोई छिपकली हो।

पिछले महीने कुमारन छुट्टियों में अपने घर त्रिवेन्द्रम गया तो उसके कमरे की चाबी उसने ले ली थी। पड़ोस के लोग कहते हैं—एक महीने तक, जब तक कुमारन नहीं लौटा, कमरे के आगे स्कूटर, कारों की कतार लगी रही। आधी रात तक कहकहों के बीच पश्चिमी संगीत का स्वर गूँजता रहता था।

लोग कहते हैं—वह बहुत अच्छा गाती है। उसका गीत सुनने के लिए बड़े-बड़े लोग लालायित रहते हैं।....अगर वह फिल्मों में जाती तो लाखों कमा लेती।

इसके विपरीत कुछ लोगों का विचार कुछ और है।

...ओनम के दिनों में वह अपराधियों के केशों के अध्ययन के लिए जालन्धर, अम्बाला गई और आठ-दस दिन तक वहाँ रही थी। कुमारन को भी ऑफिस में तब बीमारी की छुट्टी लेनी पड़ी थी।....कुमारन कहता था, वे एक ही बिस्तरा लेकर गए थे।

“वीसा की डेट अब बढ़ नहीं सकती?” नायर तर्किक सोचते हुए पृच्छता है—“यह समस्या हल हो जाती....।”

“हल क्यों नहीं हो सकती। यदि मैं किमी इण्डियन-नेशनल से शादी कर लूँ। तभी तो कह रही हूँ—केवल औपचारिकता के लिए ही....।”

“यहाँ और कितना रुकना चाहती हो?”

“अधिक से अधिक एक वर्ष....।”

“फिर?”

“घर लौट जाऊँगी।”

नायर घड़ी की ओर देखता है। क्षण-भर चुप खड़ा रहता है—“अच्छा, शाम को सोचकर बताऊँगा।” उससे छुटकारा पाने के लिए कहता है।

वस्तुतः शाम तक भी कुछ सोच नहीं पाता। उसका मस्तिष्क वैया ही भारी है। वह जानता है, वह निश्चित आ धमकेगी और....।

सचमुच होता भी ऐसा ही है। वह होटल से खाकर लौट रहा था कि वह टकरा

जाती है। अँधियारे मोड़ पर उसका हाथ थामती हुई कहती है—“तुम सच, पत्थर के आदमी हो।”

वह पत्थर का आदमी है या नहीं—नायर की ओर से कोई उत्तर नहीं होता। दोनों साथ-साथ कमरे में आते हैं।

“मुझे तुमसे कुछ अन्तरंग बातें करनी हैं—कहो तो दरवाज़ा बन्द कर दें...!”

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह कुण्डा भीतर से बन्द कर देती है। बहुत देर तक इधर-उधर की बातें करती रहती है। फिर कुछ गम्भीरना से कहती है—“मैंने डिसाइड कर लिया है। अब मैं तुमसे ही विवाह करूँगी। तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकती।”

नायर का मन शंका से काँप उठता है।...उसकी मँगनी एर्नाकुलम के किसी बिजनेसमैन की लड़की से हो चुकी है। उसे अब केवल घर जाने के लिए छुट्टी की प्रतीक्षा है, जो मिलती नहीं। कम्पनी नई-नई है, किसी भी स्थिति में उसे छोड़ने को तैयार नहीं।

“तुम्हें सचमुच क्या चाहिए?” वह परेशानी से पूछता है।

मणियन मुस्कराती हुई कुर्सी की पाटी पर बैठ जाती है—“हँसी छोड़ो। कल हार्ड कमीशन जाना होगा। कुछ और भी कामों में मदद कर दोगे न? मेरी पढ़ाई का सिलसिला जम जाएगा। सीलोन जाकर शायद मुझे अच्छा-सा काम मिल सके।”

नायर चुप रहना है। मणियन चुप रहती है। उसकी साड़ी का पल्लू नीचे गिरा है, जिसे वह ऊपर उठाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करती।

“कभी-कभी मुझे लगता है,” मणियन सन्नाटा तोड़ती हुई कहती है, “ये शादी-विवाह, ये सारे बन्धन व्यर्थ नहीं...? क्या पुरुष और नारी के बीच अन्य किसी बनावटी रिश्ते की भी आवश्यकता है?”

नायर वैसा ही मौन, अबोध बच्चे की तरह देखता रहता है।

“क्या यह सच नहीं कि तुम पुरुष हो और सेक्स भी एक भूख है?”

“आखिर तुम कहना क्या चाहती हो?” नायर झुँझलाकर पूछता है।

“मैं कुछ नहीं चाहती। कुछ देर तुमसे बातें करूँगी। तुम्हारे पास बैठूँगी और आवश्यकता अनुभव हुई तो...!”

नायर की समझ में नहीं आता कि इस सामने बैठी पागल लड़की से क्या कहे!

वह उठकर बालकनी पर खड़ा हो जाता है। बाहर की ओर असमंजस से ताकता रहता है। तभी कोई दरवाज़ा खटखटाता है। आवाज़ देता है।

नायर के सारे शरीर पर पसीना छलक आता है। वह बचाव का कोई रास्ता टटोले, इससे पूर्व मणियन स्वयं उठकर दरवाज़ा खोल देती है। मुस्कराती हुई कहती है—“आइए!”

नायर के पाँवों-तले फर्श खिसक जाता है। ये लोग उसी के प्रदेश के रहने वाले हैं। कल सुबह होने से पहले-पहले यह खबर दिल्ली के सारे केरलीय-समुदाय में फैल

जाएगी कि उसके कमरे में आधी रात के समय मणियन थी—भीतर से कुण्डा बन्द था... ।

“ये मुझसे अपनी रिमर्च के विषय में कुछ पूछने आई हैं... ।” वह इन शब्दों के साथ सफाई पेश करे, इससे पहले मणियन कह उठती है—“रिसर्च-विसर्च तो चलती रहती है जी ।... मैं असल में इनसे शादी करने जा रही हूँ । बाते तय हो जाएँगी और कल कोर्ट में ... ।”

सब दोनों को काँग्रेच्युलेशन देते हैं—नायर की पीठ थपथपाते हैं और जोर-जोर से हाथ मिलाते हुए पार्टी देने का आश्वामन भी ले लेते हैं ।

नायर को कुछ कहते नहीं बनना, परन्तु दृग्गरी ओर मणियन खिलखिलाती-हँसती रहती है ।

वह उन लोगों से बैठने का आग्रह जानबूझकर नहीं करता । वे भी जल्दी में हैं । कल ‘केरल क्लब’ की मीटिंग है । प्रेसिडेण्ट थामस बने या पिल्लई—इस पर विवाद है । इसलिए वे लोग इस रात के समय भी गली-गली, घर-घर घूम रहे हैं, ताकि उनका अपना उम्मीदवार हर हालत में जीत सके ।

नायर उन्हें बाहर ले जाकर स्थिति समझता है । उनके साथ-साथ कुछ घरों की परिक्रमा भी कर आता है ।

अन्त में अपनी ओर से, किस्मि सीमा तक मन्तुष्ट होकर लौटता है । देखता है, दरनाजा वैसे ही अब भी खुला है । गेशनी वैसे ही जल रही है । उसकी चागपाई पर मणियन पसर गई है । उसके पर्स के पास एक अधलिखा पत्र है, जिसे वह अपने किसी पुरुष मित्र को सीलोन भेज रही है ।

नायर देर तक द्विविधा में खड़ा रहता है । फिर कुर्सी पर बैठ जाता है । उसकी समझ में नहीं आता कि वह कहाँ सोए ? एक ही कमरा है । एक ही चारपाई । एक ही मेज और एक ही कुर्मी— । इम ‘एक ही’ की स्थिति में वह पिछले नौ साल से, किसी तरह गुजारा कर रहा है ।

मेज-कुर्मी खिमकाकर, फर्श पर ही सोने के लिए दो हाथ जगह बनाता है वह । अटैन्नी से दो चादरें निकालता है ।

बिछाने के लिए वह उनकी तहे खोल ही रहा था कि मणियन जाग पड़ती है—“यह क्या कर रहे हो ?” आँखें मलती हुई देखती है—“नई चादर कल निकालना फार्म पर दस्तखत करने के बाद ।... आज ऐमे ही सो जाओ । लाइट ऑफ करो... ।”

नायर वैसा ही चुप । चादरे वैसी ही अधखुली ।

“क्यो, क्या सोच रहे हो ?”

“कुछ नहीं— ।”

“ये चादरे लिए क्या कर रहे हो ... ?”

“कुछ नहीं । बिछा रहा हूँ—अपने लिए— ।”

“क्या इतनी बड़ी चारपाई पर तुम नहीं सम सकते ?” वह झुँझलाकर देखती है ।

“तो फिर तुम कहाँ सोओगी ?”

वह हँस पड़ती है—“तो अब समझी तुम्हारी परेशानी ! अरे बाबा, तुम सो जाओ। हम अपने घोंसले में चले जाएँगे—बस।”

वह अँगड़ाई लेती बिखरे वस्त्रों को सम्हालती उठ खड़ी होती है—“मैं तो हँसी कर रही थी। स्त्री को देखकर तुम्हें इतना भय क्यों लगता है ? आखिर तुम पुरुष हो न !”

वह बिखरे जाल की तरह खुर्ली चादरें समेटकर मेज पर रख देती है और कल आने का वादा करके चली जाती है।

दूसरे दिन—

नायर प्रातः से ही इस परेशानी में है कि यदि वह आ गई तो कैसे कोर्ट में चलने के लिए ‘हाँ’ करेगा और कैसे ‘ना’। किन्तु नौ बजे तक वह नहीं आती तो उसे कुछ राहत मिलती है। वह झटपट ऑफिस के लिए खिसक पड़ता है।

शाम को वह बहुत देर से लौटता है। उसे यह जानकर सन्तोष मिलता है कि कोई भी उसे पूछने के लिए नहीं आई।

इस तरह कुछ दिन बीतते हैं। उसे आश्चर्य होता है कि वह क्यों नहीं आई। यद्यपि उसका न आना बहुत अच्छा-सा लग रहा था, फिर भी कुछ उत्सुकता तो थी ही।

एक दिन वह ऑफिस से आकर गीले कपड़े उतार ही रहा था कि पानी में भीगी वह आ खड़ी होती है।

“मैं आ सकती हूँ ?” अतिरिक्त औपचारिकता से कहती है।

नायर के पाँवों पर सिकुड़ी अधखुर्ली पैंट वैमी ही रह जाती है।

“मरा काम हो गया था।” वह गीले कपड़ों समेत वैमे ही कुर्सी पर बैठ जाती है।

नायर गीली पैण्ट को ऊपर उठाकर बकलस फिर कमने लगता है।

“मैं तुम्हीं को ले जाने का विचार कर रही थी। फिर मोचा, तुम्हारा बहुत मंकोची स्वभाव है……।”

“तो फिर क्रिमसे…… ?”

“मिस्टर रामचन्द्रन से।” माणयन कहती है, “वह स्वयं ही तैयार हो गया। पर जानते हो, उसने क्या शर्त रखी ?”

नायर उत्सुकता से देखता है।

वह ओंठों की ओठों में बुदबुदानी है, मुस्कराती है और फिर मुँह निचोड़ती हुई कहती है—“जानवर है, जानवर। जानवर की भी क्या कोई शर्त हुआ करती है……खैर, छोड़ो भी……।”

रामचन्द्रन यहीं पाम ही लोदी कॉलोनी में रहता है। बैचलर है……पचास से ऊपर की अवस्था। एक कमरा किसी से किराये पर लिया है। एक सेकिण्डहैण्ड स्कुटर है। कुल मिलाकर अच्छा आदमी नहीं समझा जाता। ‘बैचलर’ के सारे गुण उसमें हैं।

मणियन ने उससे शादी की—यह उसे अच्छा नहीं लगा।

“रहती कहाँ हो अब ?” पृछता है वह।

“उसी के पास—।”

“रिसर्च का काम चल रहा है ?”

“कुछ-कुछ....।”

“ऐमी भी क्या बात है—।”

“मिस्टर रामचन्द्रन का भी तो बदले में बहुत सा काम करना पड़ता है।” मणियन कहती है—“उसके स्कूटर का चालान हो तो मुझे जाना पड़ता है। ट्रांस्फर रुकवाना मेरा काम है। अब वह कहता है कि उसकी तरक्की भी मुझ पर ही आधारित है। अपना और अपने दोस्तों का सारा काम समेटकर, शाम को मेरे सामने रख देता है। हर जगह मुझे साथ ले जाता है—अपना रोब दिखलाने के लिए और लोगो से व्यर्थ में परिचय कराता रहता है कि मैं उसकी पत्नी हूँ। साइकलॉजी मे रिसर्च कर रही हूँ....।” वह कुछ रुककर कहती है—“इसीलिए तो हजरत से कहती थी कि कुछ मदद करो। इस एक्सप्लायटेशन से तो बचती।”

नायर प्रत्युत्तर में कुछ कह नहीं पाता। कुछ देर सन्नाटा रहता है—“यह तो अच्छा नहीं हुआ....।”

“अच्छा वच्छा क्या है....छोड़ो भी।” वह उठ खड़ी होती है, “अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य का भी क्या कोई पैमाना है ?....उठो, तुम्हे घुमा लाऊँ....।”

“कहाँ ?”

“मैंने अभी बतलाया नहीं कि दो टिकटें खरीदी हैं—पिक्चर की। जिसके लिए खरीदी थीं, वह किमी कारण आ नहीं पाया। सोचती हूँ, अब नमको ही ले चलूँ।”

“अच्छा तो यह बात।” सहज ही हँसता हुआ नायर कहता है—“हाँ, तो वह है कौन ?”

मणियन शरारत से मुस्कराती है—“वह एक आदमी है। आदमियों की तरह रहता और जीता है। उसे मित्रियाँ अच्छी लगती हैं, इसलिए मैं भी अच्छी लगती हूँ। स्त्री उसी पुरुष को पसन्द करती है, जो स्त्री को पसन्द करता है—समझे !”

जोर से हँस पड़ता है नायर—“तो तुम इस ‘मब्जेक्ट’ पर भी रिसर्च कर रही हो।”

बाहर अभी तक वर्षा की बौछारे हैं। नायर की समझ में नहीं आता कि वह जाए या नहीं। वह वैसा ही बैठा रहता है।

उमे बैठा देख, वह स्वयं भी चारपाई की पाग पर बैठ जाती है और मामने किमी घर की निचली छत पर टकराती बूँदों को देखती रहती है।

‘तुम्हारी होने वाली मैरेज का क्या हुआ ?’ मणियन पृछती है।

“छुट्टी कहाँ मिली ?”

“तो।”

“तो क्या, कुछ भी नहीं।”

“तुम्हारी शादी होगी तो तुम कैसे क्या करोगे ?” मणियन मुस्कराती हुई देखती रहती है।

“.... !”

“लाओ, तुम्हारा हाथ देखूँ।” वह उसका हाथ थामती है—सहलाती हुई पूछती है—“तुम कभी बीमार पड़े ?”

“ना।”

“झूठ.... ! तुम्हें कभी आकस्मिक धन-लाभ हुआ ?”

“ना।”

“यह भी झूठ.... !” वह बड़े ध्यान से देखती है, “तुम्हारे बचपन में बहुत-से अफेयर्स चले.... !”

वह हँस पड़ता है। हाथ छुड़ाने लगता है, पर वह छोड़ती नहीं, “तुम्हारी मंगनी जिस लड़की से हुई, उसका बाप बिजनेसमैन है। वह लड़की काली-कलूटी है.... आँखें कम देखती हैं.... झुक-झुककर चलती है.... इतनी मोटी है कि....।”

दोनों अट्टहास कर हँस पड़ते हैं।

वह जबरदस्ती उसे पिक्चर ले जाती है।

बहुत दिनों तक इसके बाद वह दीखती नहीं। यद्यपि किसी कार्यविशेष में फिर मिलने के लिए आने को कह जाती है।

तब एक बार वह होटल में दिखलाई देती है—उसके साथ कोई और व्यक्ति है। नायर जानबूझकर उसके सामने से होकर गुजरता है, पर मणियन देखकर भी अनदेखा कर देती है।

नायर को लड़-झगड़कर किसी तरह छुट्टी मिल जाती है—इस विश्वास के साथ कि वह पन्द्रह दिन के भीतर अवश्य लौट आएगा। उसे छह तारीख को रवाना होना है, इसलिए वह जल्दी-जल्दी घर जाने की तैयारी में जुट जाता है।

रात आधी से अधिक बीत गई है। वह सामान समेटने में लगा है। कल उसे समय नहीं मिल पाएगा, इसलिए वह बहुत सारा काम आज ही समाप्त कर डालना चाहता है।

तभी हौले-हौले कुण्डा खटकता है। वह लपककर दरवाज़ा खोलता है। देखता है—सामने मणियन खड़ी है। बेहद प्रसन्न। उसके एक हाथ में अटैची और दूसरे में होल्ड-ऑल थमा है....।

स्वाभाविक ढंग से भीतर प्रवेश कर वह किवाड़ बन्द कर लेती है।

इस तरह, इस आधी रात में स-सामान आते देख नायर को विस्मय होता है।

“आज बे-वक्त कैसे ?”

“रामचन्द्रन से झगड़ा हो गया।”

“कैसे ?”

“ऐसे ही। मुझे छोड़ता न था, अतः मैंने ही झगड़ा शुरू किया....।”



“तो क्या सचमुच छोड़ दिया ?”

“छोड़ता कैसे नहीं... ?” मणियन तनिक आवेश से कहती है—“तलाक मंजूर हुए पन्द्रह दिन हो गए। एक-एक दिन करके इतना अर्सा हो गया। अब कहता था—कम-से-कम कुछ समय तो और रुको।”

“तो तुमने क्या कहा ?”

“कहा क्या, बस, मुझे उसके साथ नहीं रुकना है।”

“क्यों ?”

“क्यों क्या ? मैं बिस्तारा जो ले आई हूँ। आज मे तुम्हारे साथ रहा करूँगी...।” नायर कुछ परेशान-सा नजर आया—“तो यहाँ कैसे रहोगी ? मैं कल ही घर जा रहा हूँ। सत्रह को मेरी मैरेज है...।”

“तो मैं भी तुम्हारे साथ-साथ चलूँगी। मेरी भी तो मैरेज है।” वह हँस पड़ती है।

मणियन खिसककर उसके समीप बैठ जाती है। जबरदस्ती उसे अपनी ओर धकेलती है—“मैं आज बेहद खुश हूँ...।” उसका चेहरा अपनी हथेलियों में भरती है। आँखों में आँखे डाले देखती है—“बतलाओ, कहाँ से मुँह जूठा करूँ।”

नायर हक्का-बक्का रह जाता है।

“अरे, तुम घबरा रहे हो।” वह बच्चो की सी निरीहता से कहती है—“तुम्हारी शादी होने जा रही है और तुम खुश नहीं...।”

नायर अपने को मुक्त करता है।

“हाँ, तुम्हारी रिसर्च का क्या हुआ ?”

“पूरी हो गई। अब मैं सीलोन जा रही हूँ।” वह अपने पर्स में से एक पत्र निकालती है और उसकी ओर बढ़ाती है...।

“...इतना लम्बा अन्तराल। चार माल का अर्सा कुछ कम तो नहीं।... मुझे केलानियाँ यूनिवर्सिटी में लेक्चररशिप मिल गई है। तुम्हे भी अब अच्छा जॉब मिल जाएगा।... तुम्हारी अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सता।... जिस दिन यहाँ पहुँचोगी, हम उसी दिन शादी कर लेंगे...।”

वह पत्र को सहलाकर बड़े जतन से बन्द करती है।

“तुम भी कल जा रहे हो न... ?” वह मुक्कराती हुई पूछती है—“तो दोनो साथ साथ चलेगे। मैं रामेश्वरम् से स्टीमर ले लूँगी।”

उसकी आँखें हँसने लगनी है। चेहरा जैसे गुलाब की तरह खिल जाता है। अपने हृदय की असीम प्रसन्नता वह अपने भीतर समेट नहीं पाती।

नायर घड़ी की ओर देखता है। एक बजने को है। मग सो गए हैं।

वह मामान हटाकर मोने की व्यवस्था करना है। मणियन के लिए अलग बिछाने लगता है तो वह झिडक देती है—“क्या सचमुच पागल हो गए हो। कितनी खुशी का दिन है।... आज भी क्या...।”

## सँपेरा

सँपेरा आया है। चौपाल में बीन बज रही है। बच्चे-बूढ़े, औरत-मर्द सब उसके चारों ओर घेरा बनाए बैठे हैं। तरह-तरह के साँप हैं सँपेरे की पिटारियों में। बीन बजती है, चौड़ा फन फैलाए साँप झूमता है। सँपेरा आँखें मूँदे झूमता है...लोग झूमते हैं...एक समाँ-सा बँध जाता है...।

पास ही एक झीने घर में बुढ़ऊ रामकेर पालथी मारे, ठोड़ी-घुटने मिलाए, आँखें मूँदे पत्थर की तरह बैठा है। सँपेरे की बीन से केवल एक साँप झूम रहा है, पर उसी लगता है, कितने ही विषधर लपक-लपककर फन हिला रहे हैं, जीभ लपलपा रहे हैं और वह ज़हर की हर चोट, हर घाव...मन मसोसे सह रहा है...।

“कौन, सँपेरा आया है...?” पत्नी की आवाज से उसकी तन्द्रा-सी टूटी। अचकचाते हुए उसने इधर-उधर देखा और फिर चुप हो गया।...बहरा-गूँगा-सा...।

इसी तरह गाँव में एक सँपेरा आया था एक बार...याद आया उसे...हरे-हरे चमकीले साँपों से पिटारियाँ भरी थीं। मालाओं की तरह लिपटे कितने ही भुजंग उसके गले में सनसना रहे थे। यह नीलगिरि का बेतिया हरा साँप, यह असम के वनों का, यह नेपालराज की तराई का, यह विलायती गहरा हरा-काला और यह पीला मंदिरों का नाग...।

कुछ दिनों तक सँपेरा उसी के औसारे पर रहा, धूनी जमाए। चारों ओर के गाँवों में धूम मचती रही। दिन-रात बीन बजती रही...।

“बाबा, मैं भी सँपेरा बनूँगा...बीन बजाऊँगा...साँप नचाऊँगा। क्यों बाबा, आपको अच्छी नहीं लगती बीन...?” सुच्चन ने एक दिन कहा था। तब वह क्रोध से देखता रहा था पलकें फाड़े।

“निगोड़े, दाढ़ीजार, सँपेरा बनेगा मुँहजरे!” कड़ककर इतने ऊँचे स्वर में गरजा था रामकेर कि सुच्चन का नन्हा-सा तन काँप आया था।

और उसी शाम उसने सँपेरे को बुलाकर फटकारा, “सँपेरे, यह अपना ताम-झाम कब उठा रहा है यहाँ से? क्यों उस मुँहजरे को बिगाड़ रहा है? आज कहता था

निगोडा सँपेरा बनूँगा। गाय डगरो के चारे-पानी का ख्याल तो रखता नहीं। मैं बूढ़ा, चल-फिर भी नहीं पाता। माँ दुखियारी अधी-अकेली औलाद। उस पर तू जादू चला रहा है। घर पर ठौर दी। क्या उसी का यह अहसान, कहते-कहते क्रोध भर आया। फिर झुंझलाहट-भरे आवेश में बोला—“जा, निकल जा घर से। अभी निकल जा। इसी वक्त निकल जा।” सॉपो की पिटारियाँ, बीन, झोली सब बाहर पटककर परे रख दीं।

सँपेरा गिडगिडाता रहा। देर तक मिनते करना रहा कि उमका कसूर कुछ भी नहीं है। वह क्यों किसी बालक को बहकाने लगा। कौन-सा अच्छा धन्धा है यह, जिसके लिए वह बहकाए। बीन बजाना, गली-गली घूमना, भीख मॉंगना, सॉपो को नचाना, इससे भी धिनौना काम कुछ हो सकता है, वह मोच भी नहीं सकता। फिर वह भी परबम है। क्या करे। दो टुकड़े पेट में ठूसने के लिए सब-कुछ करना पड़ता है।

पर बुढ़ऊ रामकेर ने एक न मानी। एक न सुनी। सॉझ धिरते ही किवाड मूँद दिए और फिर भूलकर भी बाहर की ओर झाँका नहीं।

सुबह देखा कि सँपेरा पिटारियाँ बाँधता हुआ जा रहा है।

जब वह ओझल हो चला तो उसने वह ऑंगन अपने हाथो गोबर से लीपा-पोता और तुलसी जल छिडककर साफ किया।

मुच्चन को गाय-डगरो के चार पानी और खालियान से भूमी उठाने का काम सॉपकर वह निश्चिन्त चौपाल में बैठा चिलम गुडगुडाता रहा।

रात को वह देर से लौटा तो अँधियारे में, ऑंगन के पास फिर बीन की टबी-सी आवाज सुनाई दी तो वह सहज ही चौंका।

“कौन ?” अँधेरे में मुँह फाड़े रामकेर गरजा।

पर, दूसरी ओर से बीन बजती रही बजती रही। स्वर में कुछ भी उतार-चढ़ाव न आया। तब वह लपककर हाथ से जमीन टगोलता कुछ और आगे बढ़ा “कौन ?”

इस बार भी प्रत्युत्तर न मिला।

वह कुछ और आगे बढ़ा, “कौन है तू ?”

“मैं ऐ-ऐ ..।” एक सहमी-सी दबी आवाज आई और बीन जमीन पर जा गिरी। “सुच्चन।”

सुच्चन को काटो तो खून नहीं।

बूढ़े ने दाँत पीसते हुए अपने सूखे पजे में उसकी गरदन धर दबोची, “जारजात कमीने कुते ..।” और दनादन कूटना पीटना शुरू कर दिया। आँखे मूँदे, पागलो की तरह चिल्लाता हुआ, दोनो हाथ हवा में उछल मुक्के, चाँटे, घूँसे बरसाता रहा।

शोर गुल सुनकर पास पडोसी इकट्ठे हो गए। पत्नी भागती हुई, आटे से सने हाथो को लिए, किसी तरह रास्ता ढूँढती बाहर निकल आई।

“क्या हुआ ? क्या हुआ ?” कहते हुए, हडबड़ाए-में सभी भागते चले आए।

देखा, बुढ़ऊ के बाल बिखरे हैं। मुट्टियाँ भिची हैं। गुस्से से सारा शरीर काँप रहा है। अगारे की तरह आँखे धधक रही हैं। दूसरी ओर मुँह छुपाए सुच्चन सिसक

रहा है। कपड़े फटे हुए हैं। पाँवों पर बीन टूटी पड़ी है।

“देखा, यह ब्राह्मण की औलाद... यह चांडाल... सँपेरा बनने को कहता है।” चिल्लाकर रामकेर ने कहा, पर कोई कुछ भी उत्तर न दे सका। सभी अवाक़ देखते रहे।

“क्यों बे, कहाँ से लाया बीन ?” सिसकते सुच्चन के कान खींचते हुए बुढ़ऊ ने कहा।

सुच्चन पहले तो कुछ न बोला। फिर बार-बार पूछने, फिर चॉटा जड़ने पर हिचकियाँ भरते हुए बोला, “जाते समय सँपेरा दे गया था।”

“और क्या दे गया था ?”

“कुछ नहीं।”

“फिर पिटेगा... फिर झूठ बोलेगा... चमड़ी उधेड़ दूँगा।”

“....”

“बोल न ! और क्या दे गया था ?”

“यह जड़ी...।” उसने पत्ते में लिपटी दो-चार मूखी गाँठें जेब से बाहर निकालीं।

“यह क्या है ?”

“साँप को बस में करने की जड़ी... मंतर।”

“और क्या कह गया वह हरामजादा ?”

“कुछ नहीं। कुछ नहीं...।”

“अब तो नहीं छुएगा बीन ?”

“ना।” सुच्चन खड़ा न रह सका, माथा दबाए बैठ गया।

उस रात नींद न आई बुढ़ऊ को। अपने टूटे करम को कोसते हुए न जाने क्या-क्या भला-बुरा स्वयं से कहता रहा।

दूसरे दिन पत्नी ने दिखलाया, सुच्चन की एक अंगुली सूजी हुई है। इधर-उधर रबर की तरह जिधर चाहो आसानी से मुड़ जाती है।

सुच्चन की वह टूटी अंगुली फिर कभी ठीक नहीं हुई। यद्यपि मटियारी मिट्टी थोपी, हल्दी-नमक की सेंक लगाई। पर सब व्यर्थ रहा।

कुल दो ही दिन बीते थे इस घटना को। गपेरा पता नहीं कहाँ चला गया था। सुच्चन अधिकतर घर पर ही पड़ा रहता। किमी से कुछ भी बोलचाल न रखता। खाना सामने रख दिया तो खा लेता, शेष कुछ भी ‘हाँ’, ‘ना’ न करता।

तीसरे दिन आधी रात को फिर बीन की आवाज सुनाई दी ऑगन में। सुनते ही रामकेर का सारा शरीर क्रोध में फुँक आया। अपने कानों पर देर तक विश्वास ही न हुआ उसे। हौले से पत्नी को जगाया, “सुनती हो, वह मुँहजरा सचमुच बौरा गया है। किमी दिन यों ही अब मेरे हाथों मर-मुकने वाला है।”

पत्नी अचरज से देखती रही, “हाँ, आवाज तो बीन की जैसी लगती है।”

“जैसी नहीं, बीन ही है। अभी बताता हूँ, बताता हूँ।” बड़बडाता वह आवेश में

उठ खड़ा हुआ। पत्नी ने हाथ जोड़े, रोका, पर अमर कुछ पड़ा नहीं।

दालान में पहुँचकर देखा—सुच्चन का बिछौना खाली पड़ा है।

लपककर धीरे से आगे बढ़ा और लाठी की एक गहरी चोट अँधियारे में धर जमाई।

“ओह...।” किसी के चीखने का स्वर हवा में गूँजा।

“कौन, सुच्चन के बच्चे। कमीने।” कड़ककर वह कह ही रहा था कि सुच्चन आधी नींद से जागा आँखें मलता पीछे से आ खड़ा हुआ, “क्या हुआ बाबा ? क्या हुआ ?”

“तू कहाँ था ?”

“भुस की कुठरिया में बैठा था। वहीं आँख लग गई।”

इत्थभ-सा बुढ़ऊ फटी आँखों से देखता रहा। दीये के उजियारे में सँपेरा कराहता हुआ छटपटा रहा है। माथे से रक्त की धार बह रही है।

“सँपेरे ! सँपेरे !”

सँपेरा कुछ भी बोल न पाया।

गले में पानी की कुछ बूँदें उतरतीं तो कुछ देर बाद होश आया। सँपेरे ने आँखें खोलीं।

“यहाँ फिर क्यों चला आया, जब एक बार तुझसे मना कर दिया था तो— ?”

उसने संशयभरी आवाज में पूछा।

“एक साँप पिटारी से निकलकर पता नहीं कब, कैसे यहाँ रह गया...उसे ही ढूँढ रहा हूँ...अगर वह खो गया तो मैं लुट गया। मेरी रोजी चली गई...।” कराहता हुआ सँपेरा बोला।

“कौन है घर पर तुम्हारे ?”

“पत्नी है, दुधमुँहे बच्चे हैं।”

“साँप कैसा है ?”

“पीला, मंदिर का जैसा। पर है खतरनाक।”

रामकेर ने उसके घाव धोए। पट्टी बँधी। उठाकर दालान में लिटाया और बिछौना बिछाकर आराम से मुला दिया।

सँपेरे ने कुछ दिन तक दिन-रात बीन बजाकर साँप की तलाश की। पर, वह कहीं भी मिला नहीं। अतः निराश होकर एक दिन चला गया।

कुछ महीने बीत गए। बात आई-गई हो गई।

सुच्चन ने उसके बाद फिर कभी बीन और साँप का नाम लिया नहीं।

बुढ़ऊ ने एक दिन देखा—एक रेशमी डोरे-सा पतला, पीला साँप मीढियों पर से फिमलकर तेजी से झाड़ी की ओर भागा जा रहा है।

उसके सीने पर सच ही साँप लोट गया। अप्रत्याशित आशंका के भय से वह काँप उठा। पर, बोला कुछ भी नहीं।

कुछ दिन पश्चात् दो-तीन बार वह फिर दिखाई दिया। एक बार पूजाघर में

कुण्डली बाँधे, फन छिपाए, सूत की गोली की तरह उलझा बैठा था। थोड़ी-सी आहट पाकर देखते-देखते तनकर लपलपाता हुआ बाहर की ओर निकल भागा था। पर उसका धीरज सीमा तोड़कर उस दिन टूटा, जब वह फन हिलाए बिछौने के ऊपर लपकते दिखा। उसके बाद घर में पाँव धरते ही भय लगता। आँधियारे में देखते ही डर लगता। रात को तनिक-सी आहट मात्र से जाग जाता। आँखें फैलाए इधर-उधर देखता, देखता रह जाता....।

साँप आखिर साँप है। चाहे छोटा हो या बड़ा, काला हो या सफेद, घर का हो या वन का, उसका भरोसा क्या ?

“बाबा, इसे आसानी से भगाया जा सकता है।” सुच्चन ने बूढ़े बाबा की अधीरता भाँपते हुए एक दिन कहा।

“कैसे रे... ?”

कुछ पल सोचता हुआ सुच्चन बोला, “यदि किसी सँपेरे को बुला लाएँ तो यह आसानी से पकड़ में आ जाएगा और रोज-रोज का संशय भी टल जाएगा।”

बाबा ने कुछ नहीं कहा। मौन को ही स्वीकृति मानकर सुच्चन इधर-उधर घूमा। पर, सँपेरा एक जगह बैठा हुआ कहाँ मिलता ?

लेकिन सुच्चन ने भी हार न मानी, “बाबा, इसे मैं पकड़ लूँ... ?” डरते-डरते उसने पूछा।

“कैसे रे ?”

“बीन बजाकर। फिर कभी भी बीन छुअँगा नहीं, कसम खाकर कहता हूँ।”

“नहीं, नहीं, सुच्चन तू रहने दे ! कहीं कुछ और विचपात हो गया तो। साँप का भरोसा क्या ?” इतना कहकर वह चुप हो गया। पर मन में धीरज ठहरता न था। बार-बार वही साँप सामने सरकता साफ दीखता—आँखें खोले—आँखें मूँदे।

एक बार देहरी पर पाँव पड़ते-पड़ते बचा तो रोंगटे खड़े हो गए।

“बाबा, मैं साँप भगा दूँ ? आप परेशान क्यों होते हैं ? मुझे कुछ भी वह करेगा नहीं। मंदिर का साँप है। एक बार कम-से-कम आप मुझे कोशिश तो करने दें। घर पर पाँव रखते ही आपका चेहरा भय से स्याह पड़ जाता है। रोज-रोज का यह झंझट कटे तो हरज भी क्या... ?”

आँगन में रीता घड़ा लिए, लाठी बगल में दबाए सुच्चन बीन बजाने लगा। घंटों तक बजाता रहा, पर एक नन्ही चींटी तक न रेंगी।

घर में फिर बहुत दिनों तक साँप दिखलाई न दिया।

एक दिन साँकल पर उलझा छत की ओर लिपट रहा था कि थोड़ी-सी आहट सुनते ही न मालूम कहाँ दुबक गया। सुच्चन फिर बीन बजाने लगा। बहुत समय बजाने के पश्चात् फन हिलाए, हवा में झूलता, वह रेशमी डोरे-सा साँप लपककर हौले-हौले बढ़ आया।

मुच्चन ने मफाई से उस देर तक नचाकर, थकाकर, घेरकर घड़े में बंद कर दिया और कपड़े से मुँह बाँध दिया।

सुपुत्र की इस करामात पर बुढ़ऊ को महज ही खुशी हुई। बीन उसने फिर छिपा ली और घड़े को दूर कहीं फेंक आने को कहा। मर्दर का जैसा माँप मारना उचित भी तो नहीं।

मुच्चन ने शाम को बतलाया कि वह नदी में घड़े को बहा आया है।

बुढ़ऊ एक दिन घाम के ढेर में दबी रस्सी ढूँढ रहा था तो वहाँ बंद मुँह का वही घड़ा छिपा दीखा।

वह क्रोध से बड़बड़ाया। मुच्चन को ढूँढा। मिला नहीं तो खुद ही घड़ा थामे निकल गया। दूर एक खाई में उसने घड़ा जोर से पटका, पत्थर से टकराकर जो चूर-चूर हो गया। पर साँप कहीं भी दिखलाई न दिया।

बुढ़ऊ ने सोचा कि भाँझ को खलिहान से लौटकर वह मुच्चन के बच्चे में फिर दरियाफ्त करेगा। कहीं उसने कोई और शरारत कर ली हो...।

पर, घर आकर जो देखा तो देखता रह गया—मुच्चन अचेत पड़ा है। होंठों पर बीन लगी है। बीन पर पीला साँप लिपटा है, गले में नीला-काला दाग पड़ा है और सारा शरीर पत्थर की तरह ठंडा है...।

“सु...उ...च्चन!” सूखे कंठ से सच ही कराहता हुआ स्वर छटपटाया तो पत्नी भागती हुई आई। बुढ़ऊ का सारा शरीर पसीने से भीग आया था।

“क्या हो गया है आपको?” पत्नी ने चौंककर कहा।

“कुछ नहीं। जरा पानी...।”

पानी पीने के बाद बुढ़ऊ को कुछ होश आया।

“सुनती हो। चौपाल पर बीन बज रही है न आज! सुना, सँपेरा आया है। तभी कुछ याद-सी हो आई थी उस निगदयी की। पता नहीं कभी क्या हो जाता है...।” बुढ़ऊ ने उदास स्वर में कहा।

पत्नी ने हाथ थामा, सहारा दिया और भीतर ले गई, “आओ, किवाड़ मूँद लें। फिर आवाज़ नहीं सुनाई देगी...।”

किवाड़ मूँदने पर भी स्वर साफ सुनाई देता रहा। धीरे-धीरे शोर कम होने के बदले उल्टा बढ़ता रहा, बढ़ता रहा। अंत में लगा जैसे के३ द्वार पर ही बीन बजा रहा हो।

तभी बाहर साँकल खटखटाने की आवाज़ आई।

बुढ़ऊ ने बड़ी मुश्किल से द्वार खोला। देखा—बहँगी में पिटारियाँ बाँधे सँपेरा बीन बजाता हुआ जैसे माँग रहा है। पीछे से एक बच्चा बीन थामे, एक टोकरी पकड़े खड़ा है।

बच्चे की ओर वह देखता रहा।

“सँपेरे, यह बालक तुम्हारा है न?” बुढ़ऊ ने न मालूम क्या सोचते हुए पूछा।

“हाँ...।”

“क्या उमर होगी इसकी ?”

“यही सात-आठ साल।”

“ऐसा ही एक बच्चा हमारा भी था।” बहके स्वर में बुढ़ऊ ने कहा—“पर भगवान् ने छीन लिया।”

सँपेरे के मन में सहज ही संवेदना जागी। कुछ रुककर उसने पूछा—“कितने बरस हुए हैं ?”

“कोई सात-आठ बरस।”

बुढ़ऊ ने आगे बढ़कर देखा—बच्चे गले में वैसा ही काला दाग है। हाथ की एक अँगुली टूटी हुई है—रबर की तरह जिधर चाहो, मुड़ जाती है।

“यह दाग जनम से है न ?”

“हाँ।”

“यह अँगुली भी ?”

“यह भी।”

अवाक् बुढ़ऊ देखता रहा।

“क्यों रे—तू मुझे जानता है।” बूढ़े ने उसे गोदी में भरते हुए भरपूर स्वर में पूछा।

बच्चा अजनबी की तरह देखता रहा—“नहीं तो !”

“बीन बहुत अच्छी लगती है तुझे ?”

“हाँ।”

“बीन बजाना आता भी है तुझे ?” कुछ रुककर उसने फिर पूछा।

वह कुछ बोले, उसमें पहले ही सँपेरा बोल उठा, “मालिक, यह तो मुझसे भी अच्छी बीन बजाता है। ऐसी कमाल की बीन बजाने वाला हम सँपेरों की जमात में लोग कहते हैं, कोई आज तक पैदा नहीं हुआ। बजा तो रे, जरा मुना तो मालिक को..।”

बच्चा घुटने मोड़े, गाल फुलाए, बीच आँगन में बैठ गया। बीन बजती रही, लोग झूमते रहे।

बीन कब थमी, उसे पता नहीं। केवल सजल पलकों से वह शून्य में देखता रहा।

सँपेरे ने पैसे माँगे तो उसने मुट्ठी में दबाए, बूँद-बूँद सँजोए—ढेर सारे पैसे उसके हवाले कर दिए।

जब वे जाने लगे तो बुढ़ऊ का धीरज टूटने लगा। उसने प्यार से बालक का मुँह चूमते हुए भीगे स्वर में पूछा—“क्यों रे, अब कब आएगा इधर ? यों कब तक सताएगा ? निरदयी। ऐसा कौन-सा अपराध हुआ जिसकी यह सज़ा दे रहा है... !” कहते-कहते उसका स्वर टूट आया।

बच्चे ने कुछ भी उत्तर न दिया। मौन भाव से एक बार उसकी ओर देखा और फिर चला गया।





## हंसा

“बिन्नी, रात में ममी देखी। क्या तूने भी देखी? डैडी झूठ बोलते हैं। अभी मरी कहाँ ममी! मर गई होती तो क्या यों दिखाई देती।” निनि ने बिन्नी पर से उठते ही बिन्नी को झकझोरते हुए कहा।

बिन्नी ने आँखें मलीं, “नहीं, मैंने तो नहीं देखी—।”

“चुप, झूठा! कैसे कहता है कि तूने नहीं देखी? तू भी तो था मेरे साथ! ममी तेरे बालों को सहला रही थी। तुझे दूध पिला रही थी। अपने हाथों नहला-धुलाकर नये कपड़े पहना रही थी। कह रही थी कि वक्न-बेवक्त यों न रोया कर। इससे सबको परेशानी होती है। निनि को, डैडी को न सताया कर।” निनि कुछ सोचती हुई तुनककर बोली, “तू झूठा है! ममी ने तुझे इतनी देर तक प्यार किया, तुझसे इतनी देर तक बातें कीं और तू कहता है कि तूने देखी भी नहीं?”

बिन्नी आँखें मलता हुआ उसकी ओर देखता रहा, “झूठा मैं हूँ कि तू?” वह मचलता हुआ इठलाया।

“क्यों?” निनि ने होंठों पर अगुली रखी।

“आई बड़ी क्यों कहने वाली! खुद तो झूठ बोलती है और कहती मुझसे है। बता, ममी कब आई? वह आती तो क्या मुझे नहीं दिखाई देती।”

“चुप!” निनि इस बार उबल पड़ी, “डैडी खाली थोड़े ही पीटते हैं तुझे! तेरी शरारतों से सच डैडी परेशान हो गए हैं। सारी रात ऊँह सोने नहीं देता। आया बेचारी को सोने नहीं देता। रोता-चिल्लाता रहता है। फिर क्यों न...।”

निनि बिस्तरे पर से उठ ही रही थी कि सामने डैडी खड़े दिखलाई दिए।

“डैडी, यह बिन्नी झूठा है।” निनि ने सहसा शिकायत के स्वर में दुहराया, “डैडी, कल रात ममी आई थी। इसे देर तक प्यार करती रही। इसे दूध पिलाया। अपने हाथों नहलाया-धुलाया। इसके बाल काढ़े। फिर समझाती रही कि डैडी वैसे ही परेशान रहते हैं, उन्हें अधिक तंग न किया कर। न सताया कर। और यह कहता है कि इसने देखी

तक नहीं।”

बिन्नी अभी तक भी आँखें मल रहा था। उस पर लगाया गया इतना बड़ा इल्जाम उसका नन्हा-सा बाल-हृदय सह न सका। अपनी नन्हीं अंगुलियों में उसके बालों को नोचता हुआ टट पड़ा, “मुँहजली, मुझे झूठा बताती है। खुद बोलती है झूठ और कहती मुझसे है।”

डैडी ने बीच-बचाव करके झगड़ा शांत किया। ने बिन्नी की बाँह पकड़कर परे धकेलते हुए बोले, “दीदी से झगड़ता है रे।”

“तो यह झूठ-मूठ क्यों कहती है? मुझे बिना जात के तंग क्यों करती है?” बिन्नी रुआँसा हो आया।

“क्या तंग किया मैंने?” निनि ने अपने बचाव में डैडी का समर्थन लेते हुए ऊँची आवाज में कहा। फिर बिल्ली की तरह घूरकर उसकी ओर देखा, जैसे सामने वाले ने जानबूझकर कोई गुनाह किया हो।

अपना पक्ष यों कमजोर देखकर बिन्नी तिलमिला उठा। गुस्से से उठ खड़ा हुआ, “झूठी। ममी कहाँ आई रात! कहती है, मेरे बाल काढ़े, मुझे दूध पिलाया। कहाँ काढ़े, देख...!” उसने अपने बिखरे बालों को झकझोरा, “कहाँ नहलाया? कहाँ दूध पिलाया? दूध पिलाती तो क्या मुझे अभी भूख लगती? अंधी... अंधी...!” वह भागता हुआ ममी के कमरे में गया और खाली पलंग पर औँधा लेटकर फूट पड़ा।

अवनींद्र बाबू चुप खड़े देखते रहे, फिर बैठक में पहुँचकर धम्म से बैठ गए।

जब से हंसा गई, अवनींद्र बाबू के चेहरे पर रौनक न आई। रोज ही बच्चों में ऊधम मचता। रोज ही उन्हें डॉटना-डपटना और फिर एकांत में बैठकर अपने किए के लिए देर तक पछताना भी पड़ता।

बच्चों को कॉन्वेंट में भेजकर देख लिया, लेकिन सफल न रहे। रिश्तेदारों को सौंपकर भी आखिर में अपने ही घर वापस बुलाना पड़ा।

तब बार-बार हृदय में आता कि लौट जाएँ उसी संसार में। उसी पुरानी बीती दुनिया में। सुख न अब है, न तब था। सब मृगतृष्णा है, भ्रम है। लेकिन उनका स्वाभिमान, उनका अह अपनी पकड़ कमजोर न कर सका।

पर जब होश आया, आँखों के आगे फैला भ्रांति का परदा सरका, तो जैसे वे सातवें आसमान से पाताल पर आ गिरे हों। फिर उसी अतीत की ओर बेतहाशा भागे, लेकिन अतीत, फिर वर्तमान बनकर न लौटा। कभी भी न लौटा।

पैसा है डॉ० अवनींद्र के पास। यश है। अच्छा सरकारी ओहदा है। अमेरिका से लगभग पाँच-सात साल पहले पत्रकारिता में विशेष योग्यता प्राप्त करके भारत लौटे थे। तब से केंद्रीय सरकार के कार्यालय में महत्वपूर्ण दायित्व निभा रहे हैं। नई दिल्ली में अपना निजी फ्लैट है। कार है। सब-कुछ है, लेकिन चित्त में शांति न होने के कारण कुछ भी नहीं है।

उन्हें अच्छे कपड़े पहनना अच्छा लगता है। अच्छे समाज में घूमना अच्छा लगता है। क्लबों के, नाचघरों के, वह पुराने शौकीन हैं। लेकिन उनका यह शौक कभी खुले दिल से पूरा हुआ नहीं। पहले भी नहीं, अब भी नहीं। जाते अभी भी हैं, पर जैसे कोई गुनाह कर रहे हों छिपकर। उनकी सारी उमंग, सारा उत्साह तब ठंडा पड़ जाता है।

अमेरिका से लौटने तथा निश्चित दिशा ढूँढने के बाद उनका तीसरा काम रहा था—भावी जीवन के लिए जीवनसंगिनी की तलाश करना।

बचपन से ही वह रंगीन तबीयत के आदमी थे। अंग्रेजी स्कूलों में पढ़े और उसी समाज के उसी वातावरण में बढ़े। सुरा-सुंदरी एवं उन्मुक्त प्रेम के हिमायती। लोगों को तो इसी बात पर कम आश्चर्य न था कि वे अमेरिका से रीते हाथ कैसे लौटे!

लेकिन, बात आगे चलकर कुछ विचित्र रही। दिल्ली में ही किसी महाराष्ट्रियन परिवार से घनिष्ठता हो गई और अंत में बढ़ते-बढ़ते इतनी प्रगाढ़ हो आई कि वे हमेशा के लिए मैत्री के बंधनों में बँध गए।

उसी कुलीन ब्राह्मण परिवार की पढ़ी-लिखी कन्या थी हंसा, जिसे उनकी जीवन-सहचरी होने का सौभाग्य मिला।

सच पूछा जाए तो आग्रह उन्हीं की ओर से हुआ। हंसा की सीधी-सादी चाल-ढाल पर, भोले-भाले स्वभाव पर, अद्भुत सरलता-सुंदरता पर वह मोहित हो गए।

हंसा का सुमधुर व्यवहार उन्हें बड़ा अच्छा लगता। शील स्वभाव की ऐसी सुंदर पत्नी प्राप्त करने के कारण वे अपने को भाग्यशाली समझते। लेकिन, एक किरकिरी हमेशा आँखों में खटकती रह जाती। नयन मूँदते हुए कल्पना करते—इसके चाँद-से मुखड़े के साथ बाँब हेयर कितने अच्छे लगते! गुलाबी होंठों पर लिपिस्टिक, गुलाबी गालों के ऊपर लाली, लंबे-लंबे नाखूनों पर नेल पॉलिश। ऊँची एड़ी की सैंडिल पर लचक-लचककर चले तो कितनी सुंदर लगे! तब उन्हें अमेरिकन, जर्मन, फ्रांसीसी—सारी सुंदरताएँ फीकी-फीकी लगतीं।

उनके दिल में बड़ी तमन्ना थी कि इस रूप में यदि वह क्लबों में उनके साथ नाचे, सभा-मोसाइटियों में उनका साथ दे, तब उन जैसा गौरवशाली जोड़ा होने का सौभाग्य शायद ही किसी दूसरे को मिले!

दो बच्चों का बाप बनने पर भी उनकी आकांक्षा बुझी नहीं। उन्होंने जिद करके उसके नागिन-से लहलहाते केश कटवा दिए। तब वह एकांत में बहुत दिनों तक मुँह छिपाए रोती रही। पति के जीते-जी यों बाल कटवाने उसे अपशकुन लगा। पर चुप रही।

महीनों तक उसने बरामदे में नुकीली एड़ी की सैंडिल पर चलने का अभ्यास किया। होंठों पर न चाहते हुए भी लिपिस्टिक लगाई। क्लबों में मन मारके जाना पड़ा। पर व्हिस्की के प्याले होंठों पर, लाख कोशिश करने पर, आँखें मूँदकर भी उससे लगाए न जाते।

**यह सब देखकर उसे सच ही बड़ा अचरज होता—हर औरत अपने ही नहीं,**

पराये पुरुषों के साथ भी चुहल करती है। शराब के जाम भर-भरकर अपने ही नहीं, दूसरों के ओंठों से भी लगाती है। सिगरेट के कश खींचती है। खिलखिलाकर हँसती है। सबके सामने परपुरुषों के गले में बाँहें डालकर, मदहोश होकर नाचती है।

उसकी आँखें खुली की खुली रह जातीं। हँसी सुनते ही वह कानों पर हथेली रखकर खड़ी हो जाती। अवनींद्र को जब दूसरों की पत्नियों की बगल में बाँहें डाले नाचता देखती तो कुछ कहते न बनता।

एक दिन अवनींद्र बाबू ने जिद की, बहुत जिद की और नृत्य का आग्रह कर उसे भी मंच पर घसीटकर ले गए।

बॉल-डॉस शुरू हुआ। झनझनाते बाजे बजे। अपने-अपने जोड़े के साथ लोग नाचने लगे। पर वह एक कदम भी साथ न दे सकी। उसके पाँव लड़खड़ाते लगे। तब अवनींद्र बाबू ने झुंझलाकर, झिड़ककर उसे परे खड़ा कर दिया और दूसरी परिचिता की बाँहों को थामकर, शराब के नशे में झूमते हुए फिर सह-नृत्य प्रारंभ किया।

हंसा विस्मित खड़ी रही। जैसे सारी चेतना खो चुकी हो। काठ-सी खड़ी, आँखें फाड़े देखती रही। इतने में किसी दूसरे ने उसकी कलाइयाँ पकड़कर नचाने की कोशिश की, पर हंसा का सारा शरीर केले के पत्ते की तरह थरथर काँपने लगा। आँखों पर धुंध छाने लगी। वह किसी तरह पकड़ छोड़ाकर बाहर की ओर बेतहाशा भागी और फिर कभी मुड़कर क्लब में न आई।

इस घटना का दोनों के हृदय पर गहरा असर पड़ा। हंसा ने ऊँची एड़ी की चप्पल, लिपिस्टिक की शीशियाँ, अंग-प्रत्यंग का प्रदर्शन करने वाले झीने कपड़े, सब एक साथ बाँधे और नौकर को हुक्म देकर जमुना में बहा दिए। पर अंतर-बाहर का यह आक्रोश उसने भूल से भी अवनींद्र के आगे प्रकट न किया। लेकिन दूसरी ओर से डोर लंबी खिंचती गई। दरार अनजाने बढ़ती गई। दिनों तक अवनींद्र हंसा से बोले नहीं। एकदम मुँह फेर लिया।

न अब ऑफिस से सीधे घर की ओर पाँव बढ़ते, न दोनों में कभी मीठी-मीठी बातें होतीं। न बच्चों से ही उनका कोई खास संबंध रहता। रात को देर से घर लौटना होता। कोई एंग्लो-इंडियन महिला अकसर बगल में बैठी कार चलाती दिखलाई देती। उनकी बाँहें थामकर कार से उतारती और टाटा कहती हुई आँखों से ओझल हो जाती।

अवनींद्र के लड़खड़ाते गाँव सम्हल न पाते। वह अचेत होकर धम्म से सोफे पर गिर पड़ते। शराब की मात्रा बहुत बढ़ गई थी शायद।

हंसा तब भी कुछ प्रतिरोध न कर सकी। अंदर से बहुत कुछ उमड़ता-धुमड़ता, लेकिन प्रकट कुछ न हो पाता। केवल खून का गहरा घूँट पीकर चुप हो जाती।

कुछ ही महीनों में अवनींद्र ने अपना बँगला अलग ले लिया। बच्चों को फुसलाकर साथ बुला लिया और हंसा को विवश करके हमेशा के लिए संबंधविच्छेद कर लिया। कुछ पैसे बैंक में अलग से उसके लिए रख दिए, जिससे उसका खर्च चलता रहे।

हसा तब भी कुछ न कह सकी। मिर झुकाकर उसने आज्ञा मान ली। “जिसमे तुम्हे सुख हो, तुम्हे शांति हो, वैसा करो।” कहते हुए उसने सीने पर पत्थर रख लिया। पैसे छुए तक नहीं। चैकबुक लौटा दी। बँगला त्याग दिया। बच्चो को मजबूर होकर छोड़ना पडा। वह शहर छोड़कर कहीं दूर चली गई। जाते समय एक बार, अंतिम बार अपनी निनि मे, दुधमुँहे बिन्नी से मिल भी न सकी।

लोग कुछ दिनों तक तरह-तरह की बातें करते रहे। किसी ने कहा, अभी जिंदा है और किसी ने कहा, मर गई है। अवनीद्र ने तब दोनो बच्चो को पास बुलाया और स्पष्ट शब्दो मे समझा दिया कि उनकी ममी मर गई है। अब कभी भी लौटकर फिर नहीं आएगी। इसलिए उमे बिल्कुल भूल जाना चाहिए।

लेकिन ममी रोज ही सपने मे जीवित होकर आती रही और वे अबोध उसे याद करते रहे।

एक दिन अवनीद्र ने निनि को आवाज देकर पास बुलाया।

“क्या है डैडी ?” वह खड़ी हो गई मामने।

“तुझे ममी रोज दिखलाई देती है रात को ?” पूछा उन्होने।

“हाँ।”

“क्या कहती है ?”

“मुझसे तो कुछ नहीं कहती डैडी, लेकिन बिन्नी को बहुत प्यार करती है। उससे कहती है—यो रोया न कर। डैडी को तग न किया कर। वे जैसे ही बहुत परेशान रहते है। लेकिन डैडी, वह इतना निटुर है कि देखकर भी कहता है कि उमने ममी को कभी नहीं देखा।”

अवनीद्र चुपचाप मुनते रहे।

डैडी के उतरे-उतरे चेहरे को देखकर निनि का नन्हा हृदय मुरझा आया। उनकी अगुलियो को थामती हुई बोली, “डैडी, मैं अब ममी को नहीं देखूँगी। कभी भी याद नहीं करूँगी। सोते समय रोज हथेली में जोर मे आँखे बंद कर लूँगी। फिर तो नहीं दिखलाई देगी न ममी।”

वह वैसे ही चुप मुनते रहे। फिर सन्नाटा छा गया।

निनि फिर उस असह्य मौन को भग करती हुई बोली, “डैडी, आप कहते है, ममी मर गई। तो फिर सपने मे क्यो दिखाई देती है ? क्यो डैडी, ममी सच ही इतनी बुरी थी ?”

अवनीद्र बाबू ने जैसे कुछ सुना नहीं। वैसे ही खॉसते हुए बोले, “अगर तुम्हारी नई ममी आ जाए तो तुम उमे प्यार कर सकोगी बेटा ? खुश रह सकोगी न तब ?”

“डैडी, मैं तो कभी रोती नहीं। बिन्नी ही सारा उधम मचाता है। उससे पूछूँ डैडी कि वह खुश रहेगा या नहीं ?” निनि ने उनके मुँह की ओर ताका।

“हाँ।” वैसे ही विचारो में खोए वह बुदबुदाए।

इतने में उसने बिन्नी को ला खड़ा किया। “डैडी कहते हैं कि नई ममी आएगी तो तुम खुश रहोगे?”

“हाँ!” ममी का नाम सुनते ही उसकी नन्हीं आँखें बड़ी-बड़ी होकर इधर-उधर झाँकने लगीं।

वह अभी तक भी चुप थे। गहरे विचारों में डूबे। दोनों बच्चे उनकी गंभीर मुखाकृति की ओर जिज्ञासा से ताक रहे थे।

इतने में वह उठने लगे तो निनि ने फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा, “क्यों डैडी, नई ममी के साथ क्या डैडी भी नये होंगे?”

वे अपनी धुन में थे, “हाँ!” कहकर बाहर चले गए।

कुछ ही दिनों में नई ममी सच ही आ गई। दोनों ने तब बड़ी आत्मीयता के साथ उसका स्वागत किया। डैडी ने एकांत में समझा-बुझाकर पहले ही कह रखा था, “अब घर में अपनी पुरानी ममी की बातें न करना। नई ममी से कभी भी झगड़ना नहीं। उसे अपनी पुरानी ममी की तरह प्यार करना। वह झिड़के, मारे, तब भी बुरा न मानना। अच्छे बच्चों की तरह उसकी बातें मानना, नहीं तो वह भी रूठकर चली जाएगी। वह भी मर जाएगी।”

ममी का मरना अब उन अबोध बच्चों से सहा न गया। “नहीं, नहीं डैडी,” दोनों अधीर होकर एक साथ बोले, “हम ममी को नाराज नहीं करेंगे, उसे मरने नहीं देंगे।”

अवनींद्र के कुछ दिन आराम में कटे। नये का नया आकर्षण धीरे-धीरे पुराना पड़ने लगा। जब भी वे एकांत में होते, उन्हें सामने खड़ी हंसा दिखलाई देती। कभी हँसती, कभी रोती।

क्लबों में, नाचघरों में, पहले वे खूब जाते रहे। शराब के प्याले फिर खनखनाते रहे। रात-रात-भर नाइट क्लबों में नृत्य चलता। अब कोई उन्हें रोकने वाला न था। लेकिन धीरे-धीरे इन सबसे वे शिथिल पड़ने लगे। जब कभी वे प्याले में शराब उड़ेलते उन्हें उस हल्के रंग के पारदर्शी पानी में झाँकने पर हंसा का चेहरा साफ झलकने लगता। हंसा की बातें साफ सुनाई देने लगतीं—भले पुरुषों को यों शराब पीना शोभा नहीं देता!

जब कभी वे किमी की कमर में हाथ डाले नाचते, उनको पुतलियों पर रह-रहकर हंसा नाचने लगती—सुंदर पत्नी जब घर में हो तो फिर इन बाजारू औरतों की बगल में बाँहें डालकर नाचना अच्छे लोगों के लिए उचित नहीं।

जब कभी वे ताश खेलते उन्हें बार-बार बाजी जीतने पर भी लगता कि हर बार, हर बाजी वह हार रहे हैं। हर बार, हर बाजी में वे हंसा को दाँव पर लगा रहे हैं। बाजी जीतने पर भी हाथ काँपते। फिर ताश के हल्के पत्ते थामने की भी सामर्थ्य न रहती। लोग उनकी जीत पर बधाई देते, खिलखिलाकर हँसते, तब वे उगे-से सबके मुँह की ओर ताकने लगते। जैसे वे साथी नहीं, अपारिचित, अनजाने हों और किसी अनहोनी

बात पर ठहाका लगा रहे हों।

बाहर की दुनिया बोझिल हो गई।

धीरे-धीरे बाहर का असीम ससार सिमटने लगा। घर-आँगन की परिधि का सुख ही मन को भाने लगा।

कभी-कभी नई पत्नी को देखकर, अपने-आपको कहने से रोक न पाते, “इनु, ये छोटे-छोटे, लड़कों के जैसे बाल तुम्हें अच्छे लगते हैं ?” इससे आगे वे कहना चाहते थे—क्या हंसा के जैसे कूल्हों को छूती लट तुम नहीं रख सकती, परन्तु उनके अधर खुलते न थे। गले में ही शब्द भँवर की तरह एक ही परिधि में घूमकर दम तोड़ देते!

हंसा को घर की बगिया में रजनीगंधा के फूल बहुत पसंद थे। धीरे-धीरे सारे फूलों का रंग सफेद रह गया।

हंसा को धीमी-धीमी रोशनी, धीमा-धीमा मधुर, करुण सगीत अच्छा लगता था। अब घर में सारा माहौल ही धीमा, सुरुचिपूर्ण होने लगा।

बिन माँ के बच्चे।

अवकाश के क्षणों में, देर तक वे उनके साथ खेलते, हँसते, बोलते, ताकि माँ का अभाव उन्हें न अखरे। नई पत्नी को भी प्यार से, इस नये खेल में भागीदार बना लेते। चारों हमउम्र बच्चे बन जाते एक साथ।

एक दिन अवनींद्र एकान्त में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। निनि स्कूल का काम पूरा कर आराम कर रही थी। किसी वर्ग-पहेली का वर्गाकार ढाँचा सामने था, शायद शब्द खोज रही थी—रिक्त स्थानों में भरने के लिए।

बैठे-बैठे वह सहसा उठी। डैडी के पास जाकर बैठ गई। उनके हाथ की खुली पुस्तक छीनती हुई बोली, “मम्मी अब सपने में नहीं आती डैडी। बिन्नी को तो पहले भी नहीं दीखती थी। झूठा कहीं का...।”

अवनींद्र ने प्यार से उसके सिर को सहलाया, ‘वह कहाँ से आएगी बेटा! यहीं तो रहती है।’ वह कहना चाहते थे, पर कह न पाए। केवल टेबल लैंप पर लगी, शीशे की पालदार नौकाओं को चुपचाप देखते रहे।



## लकीर-सी परछाईं

सुजाता की टाइपराइटर पर लड़खड़ाती उँगलियाँ सहसा रुक गईं। ख्याल आया—माँ के सिरहाने पर दवा रखना तो आज भूल ही गईं……डॉक्टर ने कल कहा था कि तबीयत अधिक भारी होने पर दवा का बदला जाना लाजमी होगा। इसलिए वह दूसरी दवा की शीशी भी साथ दे दी थी।

आज तक ऐसा कभी भी हुआ न था। जब भी वह ऑफिस के लिए रवाना होती, उससे पहले माँ को सारी हिदायतें गिन-गिन कर दे डालती—“तीन-तीन घंटे बाद दवा फिर लेनी होगी।……प्यास लगे तो यह गरम पानी का लोटा सिरहाने रख दिया है, कटोरे से ढककर। ठंडा पानी न पी लेना कहीं भूलकर! नहीं तो दवा के असर में अन्तर आ जाएगा।……ये गोलियाँ मुँह में धरे रखना, प्यास कम लगेगी।……मैं शाम को जल्दी लौट आने की कोशिश करूँगी। और हाँ, डॉक्टर घोषाल ने कहा था कि……।” वह चलती-चलती फिर ठिठक पड़ती, “खैर, अभी रहने दो। फिर देखा जाएगा……।” माँ के तपते माथे पर हाथ फेरती और फिर एक गहरी साँस भरती हुई बाहर की ओर झाँकती। एक आँख घड़ी की तेजी से खिसकती हुई सुई पर होती और दूसरी सामने की सर्पाकार कतार पर, जिस पर गुँथकर बस की अनन्त प्रतीक्षा करनी होगी अभी।

“बिटिया, ठीक समय पर क्यों नहीं आ जाती ऑफिस से?” माँ की दरवाजे पर टिकी धुँधली आँखें उसे साफ दिखाई देतीं। माँ के बँधे कण्ठ की क्षीण पुकार साफ सुनाई देती—“सबके ऑफिस तो सुना है पाँच-छः बजे तक बंद हो जाते हैं, लेकिन तुम नौ-दस से पहले शायद ही कभी लौटती हो! भले घर की लड़कियों को इत्ती रात गए लौटना क्या अच्छा लगता है बिट्टो……!” माँ की आवाज़ में दबा आक्रोश, दबी वेदना, दबी बेबसी झलके बिना न रहती।

“अम्माँ, ऑफिस तो अपना भी उसी समय बन्द होता है।” कुछ सोचती हुई कहती, “लेकिन, अभी नई-नई कच्ची नौकरी है न! फिर थोड़ा-सा पार्ट-टाइम भी काम कर लेती हूँ। तनखाह के थोड़े-से गिने-गिनाए पैसों से खर्चा कैसे चल सकता



है... ।” इसके अलावा और वह माँ से कह ही क्या सकती थी ।

“कितनी तनखा है तेरी... ?” माँ फिर कुरेदती ।

“बस, यही कोई तीन-सवा तीन सौ रुपये समझ लो ।”

“पार-टाइम से कितना मिलता है ?”

सुजाता के गले में कुछ अटक-सा आता इस बार । क्या कहे, सूझता न था ।  
“यही कोई अस्सी रुपये तक ।” बिना सोचे ही कह डालती ।

“तो इसके लिए ही क्यों परेशान होती हो । रहने दो । कम मे गुजारा कर लेंगे । हाथ खीचकर खर्चा करे तो क्या इत्ते पर ही निबाह नहीं हो सकता ? कोई रुपये के लिए अपना खून थोड़े ही सुखाना है ।” अपने पपड़ी-लगे सूखे होंठों को भींचती हुई, माथे की उभरी मलवटों पर उँगलियाँ फेरती हुई फिर सन्नाटा भंग करती चिन्तित स्वर में कहती—“सुना, लोग कहते हैं बिट्टो । टाइप ज्यादा करने से फेफड़े पर काफी असर होता है । क्यों... ?”

सुजाता निरुत्तर माँ के मुँह की ओर ताकती ।

“तेरी तन्दुरुस्ती भी तो इधर दिन पर दिन गिर रही है मुई । हर घड़ी जब देखो रुआँसी नजर आती है । चेहरा उतरा-उतरा-सा, आँखों के कोर भीगे-भीगे-से । तुझे ऐसा क्या दुख है बिट्टो ?” बूढ़ी माँ का गला रूँध आता, आवाज लड़खड़ा जाती ।

सुजाता फिर सामने खड़ी रह न पाती । मुँह फेर कर एक ओर टल जाती ।  
लेकिन ...लेकिन... ।

तभी टीं...ई...ई... । मैनेजर के कमरे में बुलावे की घंटी बजी । सुजाता की तन्द्रा टूटी । अचकचाती हुई इधर-उधर देखने लगी, जैसे सपने में जागी हो ।

पास के कमरे का दरवाजा हल्के से खोलकर सिमटी-सी खड़ी हो गई । “सर, आपने बुलाया था ?”

“हाँ, वह लेटर टाइप हो गया ?”

“कौन-सा—एक्सप्रेस ?”

“नहीं, नहीं । वह फारैन-फर्म वाला ।”

“वही, वही कर रही हूँ । बस, दो मिनट में हुआ जाता है... ।” डरते-डरते सहमे स्वर में सुजाता बोली ।

“इतनी देर से अभी तक एक लेटर टाइप नहीं हो सका ।” अपने भूरे प्लास्टिक-से चिकने-चमकते खलवाट सिर पर साहब ने हाथ फेरा । एक बार घूरकर सामने देखा और फिर मुस्कराते हुए फाइलो पर निगाहें गड़ा ली ।

सुजाता चुपचाप चली गई । बाहर आकर कुछ दम में दम आया । एक लम्बी साँस भरकर फिर टिक्...टिक्...टप्...टप्...टप्...उसकी रक्तविहीन पीली अगुलियाँ टाइप के बटनों पर निर्दयता से टकराने लगीं ।

हमेशा से अभ्यस्त हाथ अपना काम करते रहे । आँखें अपना काम करती रहीं और बोझिल मन अपनी उधेडबुन में लगा रहा—

....माँ को दवा नहीं मिली तो क्या होगा ? खाल से ढँके हड्डी के ढाँचे में प्राण भला कब तक अटके रहेंगे ? कैसे रहेंगे ? कहीं वह चल बसी ? सच ही चल बसी तो क्या होगा ? नहीं ! नहीं ! सुजाता का सारा शरीर भावी आशंका से काँप उठा। हाथ फिर थम गए। उँगलियाँ खुली की खुली रह गईं, जैसे एकाएक लकवा मार गया हो। जैसे तेजी से चलती मशीन में से मशीन को चलाने वाली करेंट छूट गई और यंत्र का सारा ढाँचा जड़वत् मुँह फाड़े खड़ा हो गया हो।

तो मैनेजर से छुट्टी लेकर क्यों न चली जाए ? एक विचार आया। पर, छुट्टी कौन देगा ? तो नौकरी छोड़कर क्यों न चली जाए ? पर, डॉक्टर का पुराना सौ-डेढ़ सौ रुपये का बिल कौन चुकाएगा ? किराया पिछले दो महीने का कौन देगा ? राशन-पानी का खर्च कैसे चलेगा ? लाख सिर टकराने के बाद भी नौकरी ताक पर धरी कहाँ मिलेगी ? फिर कल से कहाँ-कहाँ अन्धी माँ का हाथ थामे दर-दर भटकेगी ? भीख माँगेगी ? नहीं.... नहीं.... ! उसका सिर चकराने लगा। टाइपराइटर पर ही सिर झुकाए, आँखें मूँदे बैठ गईं।

‘टीं....ईं.... ! टीं....ईं....ईं !’ लगातार फिर घंटियाँ बजनी शुरू हुईं।

सुजाता चौंककर खड़ी हो गई। दो कदम बढ़े साहब के कमरे की ओर, लेकिन फिर खिंच आए। गड़े खूँटे की तरह पल-भर खड़ी रही। फिर न जाने क्या सोचती हुई कमरे में दाखिल हो ही गई। घंटी लगातार अभी तक भी बज रही थी।

सलवार-दुपट्टा ठीक कर अपराधिन की तरह पलकें झुकाए द्वार पर ठिठक गई।

“मुँह क्या देख रही हो ! लेटर टाइप हो गया ?” उत्तेजित, असंतुलित स्वर में साहब ने कहा इस बार।

सुजाता चुप देखती रही।

“बोलती क्यों नहीं हो ? आई से—हुआ या नहीं ? डू यू नो, तीन बजे ऑफिस की लास्ट डाक जाती है।” उन्होंने घड़ी की ओर देखा—“तीन बजने में कुल पाँच-सात मिनट बाकी हैं।”

“दो लाइनें और हैं सर ! बस हो चुका.... !” सुजाता के अधरों से भिनभिनाती आवाज फूटी।

“तो जल्दी करो ! जल्दी.... !” गोल-गोल भयावनी आँखें नचाते हुए साहब ने इस बार इतनी ऊँची आवाज में कहा कि सारा कमरा गूँज उठा। जैसे सहसा कहीं विस्फोट हो पड़ा हो।

सुजाता सिर नीचा किए चली गई।

टाइपराइटर पर हाथ रखा ही था कि तभी हाँफते हुए किसी ‘भद्र’ पुरुष के पास आकर पूछने का स्वर सुनाई दिया, “नू इंडिया ऐक्सपोर्ट यही है जी ?”

उसने झुँझलाकर उत्तर दिया—“हाँ !”

“यहाँ हँगे....हँगे मिनीजर साहबSS.... !”

वैसे ही लापरवाही से उसने सामने दरवाजे की ओर इशारा कर दिया।

रोज ही ऐसे सिरचढ़े मिलने-जुलने वाले घोड़े पर सवार होकर आते रहते हैं, जिन्हें बोलने की भी तहजीब नहीं। फिर यह कोई इन्क्वायरी ऑफिस तो नहीं, जो हरेक की हर बात का उत्तर दिया ही जाए!

चिट्ठी का अन्तिम शब्द वह टाइप कर ही रही थी कि देखा, मैनेजर साहब स्वयं तशरीफ ले आए हैं। हाथ बाँधे चुप सामने खड़े हैं। चेहरे पर द्विविधामिश्रित परेशानी की रेखाएँ साफ झलक रही हैं।

उनके सम्मान में वह कुर्सी पर यों ही थोड़ा-सा उठ खड़ी हुई।

“बैठो! बैठो!!” बड़े आत्मीय स्वर में साहब ने कहा।

“बस, अब खतम हो ही गया सर...!” खिसियाती हुई सुजाता बोली।

“ल्येट इट! रहने भी दो...!” मैनेजर साहब ने झिड़ककर कहा। इस झिड़की में कुछ आत्मीयता थी। अपनापन था। पर, इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण सुजाता समझ न पाई।

साहब कमरे में चले गए। तभी घंटी की फिर वही कर्ण-कटु पुकार।

वह लपककर अन्दर भागी।

“सर! हो गया है। बस, डाक-रजिस्टर में नोट कर रही हूँ।”

“रहने भी दो न! बैठ जाओ।” कुर्सी की ओर उन्होंने इशारा किया।

सुजाता भीगी-सी बैठ गई।

“कुछ वरीड मालूम होती हो आज। क्या बात है?”

“कुछ नहीं!” सुजाता के मुरझाए अधर यों ही अनायास खुल गए।

“सिरदर्द तो नहीं...?”

“थोड़ा-थोड़ा... कोई खास नहीं।”

“चाय पी लो न! ठीक हो जाएगा।”

सुजाता चाहकर भी विरोध न कर सकी। पर हाँ, चाय पीने से कुछ राहत मिली।

“घर में कौन-कौन है तुम्हारे?” बड़े आत्मीय स्वर में मैनेजर साहब ने पूछा, चाय का अन्तिम घूँट निगलते हुए।

“माँ है।”

“और?”

“और कोई नहीं।”

“क्या ऐज होगी?”

यह सारा सवाल-जवाब सुजाता को भला न लगा। फिर भी न चाहते हुए जवाब देना पड़ा—“कोई सिक्सटी।”

“तो घर का काम-काज वही करती हैं?”

“करती थीं कभी। अब तो इधर दो-एक साल से बीमार हैं।” सुजाता की आकृति उदास हो आई।

“खर्चा चल जाता है?”

सुजाता बोल कुछ भी न पाई, केवल सिर हिला दिया।

“कुछ पैसे हम बढ़ा देंगे...तीन इन्क्रीमेण्ट्स...”

यह आत्मीयता सुजाता को जरूरत से ज्यादा लगी। साहब का मूड अब ठीक है। वह छुट्टी के लिए कहना ही चाहती थी कि साहब ने हमेशा की तरह मुस्कराते हुए, हमेशा का भरत-वाक्य दुहराया—“तो...कौन से ‘कॉफी बार’ चलोगी आज...”

हत्प्रभ-सी क्षण-भर देखती रही सुजाता। कहना कुछ चाहती थी, पर कह न पाई। उसे माँ की बातें याद आईं।

“मैंने दो सीटें ‘रॉइना’ में आज ही, अभी-अभी, मॉर्निंग में रिजर्व करवाई हैं।” साहब ने सन्नाटा भंग किया।

“मैनेजर साहब...”

“नो-नो! आज स्पेशल प्रोग्राम है मिस सुजाता।”

“मैनेजर साहब...”

“अरी, दो-चार ही तो ऐसे चांस आते हैं। कितनी मुश्किल से सीट्स मिलीं। यू डोण्ट नो।”

पचपन-साठ से ऊपर की अवस्था। सिर कॉरपोरेशन की सड़क की तरह साफ। एक भी खूँटा लैस लगाकर ढूँढे नहीं मिलेगा। दाँत एक भी ठिकाने नहीं। सारे के सारे नकली, बनावटी। भौंह के बाल तक सफेद। सुजाता ने एक बार सामने की ओर देखा, फिर पलकें अनायास झुका लीं।

“मैनेजर साहबSSS।” अन्तिम बार कहते-कहते सुजाता का गला भर आया।

“बावली हो। भला मातम मनाने के लिए है क्या यह जिन्दगी!” साहब बड़े भोंडे ढंग से हँसे, “अरी, रोने का ट्रीटमेण्ट रोना नहीं, हँसना है। समझी! आज तुम्हें ज्यादा वरीज हैं न। इसलिए ज्यादा हँसो। ज्यादा हँसो।” वह फिर स्वयं ठहाका मारकर हँस पड़े। सारा सूना कमरा गूँज उठा।

सुजाता का माथा सुन्न रह गया। सारा कमरा, सारी धरती जैसे तेजी से घूमती-सी लगी। कुछ भी फिर सोचने-समझने की सामर्थ्य न रही।

साहब ने कार का दरवाजा खोला। कहा—“बैठ जाओ।”

वह चुपचाप बैठ गई।

कार ‘रॉइना’ के आगे रुकी। साहब ने कहा—“उतर जाओ।”

वह उतर गई।

साहब उसे निकट बिठाए, उसकी कमर में बाँहें डाले एक अँधेरी सी कोठरी में से सामने हो रहे अर्द्धनग्न सह-नृत्य का आनन्द लेते रहे। चाय पर चाय, कॉफी पर कॉफी—फिर पता नहीं रम, व्हिस्की क्या-क्या मँगाते रहे।

कब रात के आठ बजे, कब दस, कब बारह साहब को कुछ पता नहीं। पश्चिमी नृत्य चलता रहा। वायुमण्डल में पश्चिमी उन्मादक संगीत गूँजता रहा। हवा में पश्चिमी

शराब की-सी गंधअबाध गति से बहती रही। वे भी उसी के साथ-साथ बहते चले गए।

घड़ी ने टन् एक बजाया। साहब को जैसे होश आए। नशा कुछ कम हुआ।

“मिस सुजाता ! सुजाता !।” उन्होंने झकझोरा।

पर सुजाता पत्थर की तरह बैठी थी। अविचल। आँखें फाड़े सामने की ओर टकटकी बाँधे घूर रही थी।

“क्या हो गया ?” साहब ने नशे में झूमते हुए कहा।

“कुछ भीऽ नहीं....।” सुजाता ने एक ठण्डी आह भरते हुए उत्तर दिया और वैसे ही सामने देखती रही।

“घर नहीं जाना ?”

सुजाता ने कुछ भी नहीं कहा। जैसे सुना ही न हो।

“तुम्हारी मदर की कण्डीशन सीरियस थी....।”

सुजाता कुछ न बोली।

“तीन बजे के करीब एक आदमी आया था। कहता था.... ! कहता था....। कहता था कि तुम्हारी.... माँ....मर गई.... !”

सुजाता वैसे ही अविचल बैठी रही। न रोई। न बोली। चुप।

“घर नहीं जाना है.... ?”

“....।”

“जाओ न, चली जाओ।”

सुजाता हौले से उठ खड़ी हुई, वैसे ही। उसी तरह। सामने की ओर बढ़ी।

“कैसे जाओगी इस आधी रात में.... ?”

“....।”

“कहाँ जाओगी ?”

“....।”

“सुजाता.... ! सुजाता....।”

सुजाता जैसे बहरी हो गई। गूंगी। जड़-पत्थर। जैसे उसने कुछ भी सुना न हो। वैसे ही डगमग-डगमग बहके कदम रखती हुई एक स्याह लकीर-सी परछाई बाहर की ओर बढ़ी और उस अँधियारे सागर में न जाने कहाँ विलीन हो गई।



## छोटी 'इ'

---

सच नहीं लगा। हाथ में अटैची थामे वह सामने खड़ी थी। इस स्थिति में उसके यहाँ होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

एक अजीब-सी चुनौती का भाव था चेहरे पर। शायद चौकाना चाहती थी या कोई और विचार!

“अरे, पहचाना नहीं उपे...न...!”

मैं देखता रहा। बोला कुछ नहीं। वह क्षण ऐसा था, जब मैं चाहकर अपनी खुशी व्यक्त कर सकता था। कुछ हिचकिचाता हुआ उसे 'आप' कह सकता था, 'तुम' या 'तू' भी। किन्तु पता नहीं क्यों मैं कुछ बोल न पाया।

उसने हमेशा की तरह आज भी मेरे उत्तर की प्रतीक्षा न की और न कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की। अटैची नीचे फर्श पर रख दी और पलंग की पाटी पर आँचल से मुँह पोछती हुई बैठ गई।

“यह तुम्हारी दिल्ली है या त्रिडियाघर!” उसने सहसा इस तरह से कहा कि मैं चौंक-सा गया।

“पता नहीं चलता। मुआ ऐसा कोई भी नेता नहीं, जिसके नाम पर 'नगर' न हो। भगवान जाने इनका क्या बनेगा!” उसने हताश होकर कहा।

उसके अधर किंचित् टेढ़े हो आए। जब-जब वह गुस्से में, उत्तेजना में होती है, उसके चेहरे पर तनाव की गहरी रेखाएँ खिचती हैं—तब न जाने क्यों वह बहुत अच्छी लगती है!

उसकी आकृति-प्रकृति, हाव-भाव कुछ भी तो बदले नहीं। मैं अबोध-भाव से उसके चेहरे की ओर टकटकी बाँधे देखता रहा, तो कुछ 'सचेत' हो आई।

“...हाँ, तुम तो बिल्कुल नहीं बदली...छोटी 'इ'!” मेरा वाक्य पूरा हुआ ही था कि वह खिलखिलाकर हँस दी, 'सच्ची, तुमसे ये शब्द सुनने के लिए मैं तरस गई थी, उपे...! कितने बरस बीत गए, बाप रे'बाप! कितनी जल्दी बूढ़े हो गए हम!” बच्चों

की तरह दोनों हाथों से ताली पीटती हुई वह फिर खिलखिला उठी।

सारे बादल जैसे छँट गए। कितनी हल्की लग रही थी अब वह।

छोटी इला, बड़ी इला—दो बहनें थीं। मैं उन्हें छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' के नाम से चिढ़ाया करता था। कभी सुना था, बड़ी 'ई' ने शादी कर ली। पति के साथ कनाडा चली गई है और आजकल 'स्टेट्स' में है। किन्तु छोटी 'इ'.... !

मुझसे छोटी नहीं, बड़ी थी छोटी 'इ'—बहुत बड़ी। खाली वक्त में कभी हमारे बरामदे की रेलिंग के सहारे खड़ी होकर मुझे 'टुण्ड्रा, टैगा, टैप्स' का भूगोल पढ़ा दिया करती थी। पिताजी के पोले मुँह से 'जुगराफिया' शब्द सुनकर वह हँसती-हँसती दुहरी हो जाती। एक बार मैं मोहल्ले के लड़कों के साथ झगड़ता हुआ नाली में गिर पड़ा। सिर से पाँच तक कीचड़ ही कीचड़। उसी हालत में वह मेरा कान पकड़कर सीधे पिताजी के ड्राइगरूम में ले गई, ".....अंकल, अपने इस जुगराफिया के हाल तो देखिए।"

पिताजी मेरा हुलिया देखकर उस समय तो हँस पड़े, लेकिन बाद में मुँह निचोड़ते हुए अम्मा से बोले, "तोषी, यह डॉ० अस्थाना की बेटी कैसी है?"

अम्मा ने हमेशा की तरह सयानेपन से कुछ उत्तर दिया। वकील होने के नाते पिताजी को थोड़ी तो बहस करनी चाहिए थी। किन्तु पता नहीं क्या सोचकर वे चुप रह गए। बस, केवल एक बार उन्होंने प्रश्नसूचक दृष्टि से मेरी ओर घूरकर देखा भर था।

मैंने छोटी 'इ' को जब यह बतलाया, तो पहले वह खूब खिलखिलाकर हँसती ही, फिर सहसा गम्भीर होकर बोली, "जानते हो वे क्या कहना चाहते थे?"

मैंने निरीह-भाव से उसकी ओर देखा।

छोटी 'इ' बहुत करीब आई। मेरे दाहिने कान पर अपने होंठ छुआती हुई फुसफुसाई, "कि लड़कियों के साथ न खेला करो। बिगड़ जाओगे।"

वह इतने जोर से फटकर हँसी कि मैं डर गया था। अब तक उन धधकते हुए होंठों की छुअन याद है....।

जब भी उसे बाजार जाना होता या किसी सहेली के घर या कहीं और—वह मुझे छाया की तरह साथ-साथ फिराए रखती। उसकी कोई हम-उम्र सहेली छेड़ती तो वह धीरे-से कहती, "मैं तो इसी से शादी करूँगी....!" और खिलखिला पड़ती।

मेरे पेन अक्सर खो जाते। पिताजी की डॉट से बचाने के लिए अपना पेन मेरे बस्ते में डाल जाती।.... एक दिन स्कूल की किसी पार्टी से लौटी, तो चुपके से अपने पर्स में छिपाया एक लड्डू मेरे मुँह में टूँस गई। बाद में दिनों तक सबके सामने मुझे चिढ़ाती रही कि वह उसका जूठा था....।

अब तक याद है उस जूठे लड्डू का स्वाद और याद है वह सॉझ, जब मैं अकेला बैठा पढ़ रहा था। इम्तहान के दिन थे। 'इ' चुपके से आई। अपना दुपट्टा जाल की तरह उसने हौले से मेरे सिर पर फैलाकर फेंका। और फिर देर तक सिर यों ही अनजाने-भाव से सहलाती हुई बुदबुदाई, "ये आँखें मुझे दे दे रे।....ये नाक मैं रख लूँ !

और फिर उपे....!" उसने फिर मेरी ओर अजीब-सी आर्द्र दृष्टि से देखा, "क्यों?" मेरा सारा शरीर 'क्यों' के साथ-साथ झनझना आया। मैं अपने को छुड़ाकर भाग खड़ा हुआ और देर तक सोचता रहा कि 'इ' पागलों की जैसी बातें क्यों करती है?....कहीं पागल तो नहीं हो गई?

वह पगली 'इ' आज फिर सामने खड़ी थी—एक लम्बे अन्तराल के बाद।

"पता कहाँ मिला?"

"थाने में फोटो जो टंगा था!" 'इ' हँस पड़ी, "अरे, तुमने नहीं बतलाया तो क्या हुआ? हम तो खबर रखते ही हैं।" वह उलाहने-भरे स्वर में कह रही थी या सिर्फ स्नेह से!

कुछ रुककर फिर बोली, "ताई गुजरी—तूने बताया? तुझे पता था न कि मैं पिछले कुछ सालों से कानपुर में हूँ। एक बार तू आया भी। उन दिनों बीमार थी—हास्पिटल में। तू नन्दिता के घर ठहरा था! बता, नहीं ठहरा था?"

उसका स्वर कुछ तीखा हो आया था। बड़ी-बड़ी आँखें जलने-सी लगी थीं। पर मैं उसे कैसे समझाता कि....।

चुप था मैं। वह भी थककर अब चुप हो गई थी। कुछ क्षण का सन्नाटा तोड़ती बुदबुदाई, "कसूर किसी का भी नहीं, उपेन....! अपनी तकदीर का है रे! सुना है अब तू बड़ा आदमी बन गया है। फिर भले-मानुष, तू किसी को क्यों पहचानने लगा!"

वह अटैची खोलकर अपना सामान उलटने-पलटने लगी।

हीटर में चाय का पाना धरने लगा तो वह बाज की तरह झपटी, "न्ना! ना! मैं बनाऊँगी....।"

कमरे की प्रत्येक वस्तु का 'इ' बड़ी अजीब-अजीब-सी दृष्टि से छू-छूकर देख रही थी।

"खाना कहाँ खाते हो?"

"होटल में....कभी...."

"घर पर क्यों नहीं बनाते?"

"बना तो सकता हूँ, लेकिन परेशानी बहुत हो जाती है। तुम जानती ही हो अकेले का झँझट!"

"हाँ, हाँ! कहता तो ठीक है....!" उसने बड़े मयानेपन से कहा।

"अच्छा, एक बात पूछूँ?" उसने कुछ क्षण चुप रहकर कहा, "जवाब दोगे?"

"हाँ....।"

"अच्छा, रहने दो....!" उसने मेरी ओर देखा और हँसने-सी लगी।

प्रत्युत्तर में हौले-से मैं भी हँस सकता था। कुछ कह भी सकता था। किन्तु मैं न जाने क्यों चुप रहा....!

दरवाजे के पास मेरे सफेद बाथरूम-स्लीपर उसने बड़े सहज ढंग से अपने पाँवों



में डाले और साबुन-तौलिया समेटकर बाथरूम में चली गई।

अटैची आधी खुली थी। सामान इधर-उधर बिखरा हुआ। अँग्रेज़ी के एक-दो नए उपन्यास, कॉलेज की फाइलें, दवा की छोटी-छोटी तीन-चार शीशियाँ और दैनिक उपयोग की कुछ दूसरी वस्तुएँ...।

उपन्यास उलट-पलटकर मैं देखता रहा। और 'प्रिफेस' पढ़ भी गया कि वह नहा-धोकर लौटी। अब एकदम ताजी लग रही थी 'इ'। इस उम्र में भी चेहरे पर अनोखा निखार था। कूल्हे को छूते गीले बालों में से पानी की सफेद बूँदें निथर रही थीं, और अकारण वह अपने-आप हँस रही थी...।

"हमारे पड़ोस में वह बंगालिन ताई थी न, उपे...न...।" उसने गीले बालों को यों ही चोटी की शकल में बदलते हुए बड़े उत्साह से कहा, "पिछले साल ट्रेन में मिल गई थी। अरे, उसने तो हद्द कर दी! सबके सामने लिपट पड़ी। और रास्ते भर न जाने कहाँ-कहाँ की बातें पूछती रही! याद है, तुम्हें कितना मानती थी!"

वह कितनी उत्सुकता से कह रही थी, पर मैं उसके चेहरे की ओर शगरत से ताकता मुस्करा रहा था अब...।

"शादी क्यों नहीं कर लेती, छोटी 'इ'!" मैंने पूछा तो वह हँस पड़ी। फिर सहसा गम्भीर हो आई। उसने कोई जवाब न दिया। शायद उससे कोई भी जवाब न बन पड़ा। शायद उसने सहज भाव से टाल दिया...।

भोजन कहाँ कर लेंगे, जहाँ भूख लगेगी—नय कर हम घर से निकले तो वह 'बहू' की तरह बन-ठनकर सिमटी-सिमटी-सी चुपचाप चलती रही। उसके साथ मोहल्ले से गुजरते हुए मुझे बड़ा अजीब-सा लग रहा था। न जाने लोग क्या मोचेंगे! आस-पास की बहुत-सी खिड़कियाँ खुली थीं। कुछ चेहरे झाँक भी रहे थे।

"सबसे अन्तिम बार हम लखनऊ में मिले थे न!" उसने मेरी ओर देखा, "निमू की मैरेज में...!"

मैंने कोई उत्तर न दिया। केवल सामने देखता रहा।

"हाँ, कहाँ चलेगी?" चौराहे पर पहुँचकर मैं सन्नाटा तोड़ा।

"कहीं भी। बस, कहीं निरन्तर चलते रहने की इच्छा है...।"

मैंने पास से गुजरता स्कूटर रुकवा लिया। दोनों बैठ गए। सामने लम्बी-चौड़ी सपाट सड़क दूर तक चली गई थी। स्कूटर छोटे-छोटे पाँह पटकता हुआ फट-फट भागता रहा...।

जब दूर निकल गए तो स्कूटर वाले ने स्कूटर मोड़कर धीमा किया और मुड़कर पीछे देखा, "किधर जाना एऽसा'बऽ?"

"बस, यहीं उतार दो।" मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना वह उछलकर उतर पड़ी।

"यहाँ क्यों...?"

"मन नहीं। अजीब-अजीब-सा लग रहा है। चलो, कहीं पैदल चलें!"

और अब हम पैदल चलने लगे।

“शिमला किस काम से जा रही हो?”

“टीचर्स कॉन्फ्रेंस में।”

“कितने दिन……?”

“यही दो-तीन। नाँट मोर दैन थ्री डेज़।”

“लौटते समय यहीं होकर जाना……!”

“ना! कुछ और काम है।”

“जाना कब है?”

“आज शाम की ट्रेन से। क्यों, कालका मेल कैसी रहेगी?”

मैं चुप रहा। इस तरह आने की क्या जरूरत थी? एक दिन पहले भी आ सकती थी! एक दिन बाद में भी जा सकती थी……।

“रास्ता कैसे भूल पड़ी थी आज……?” मैंने छोटी ‘इ’ की ओर देखा।

“कभी-कभी रास्ता भूलना भी अच्छा लगता है न!”

हम दोनों के बीच का फासला अब काफी कम हो गया था। वह बहुत पास-पास चल रही थी। शायद वह उन दिनों की बातें सोच रही थी, जो बचपन में हमने साथ-साथ बिताए थे और अब कभी भी लौटकर न आ पाएंगे।

बहुत छोटी लग रही थी ‘इ’ अब! अब तक याद है, दो-तीन बार उसने जाने या अनजाने ‘तुम’ नहीं, ‘आप’ भी कहा था! क्यों कहा था?

जब हम एक दूकान के सामने से गुजरे, तो उसने नन्हीं बच्ची की तरह हठ करते हुए कहा, “देखो, मेरे लिए कुछ खरीद दो न!”

“क्या?”

“जो चाहो!”

“मैं चाहूँ!”

“हाँ, हाँ। जो तुम चाहो। यों मेरे पास सब कुछ है। किसी चीज़ की कमी नहीं।” उसने अजीब-सी दृष्टि से देखते हुए कहा, “किन्तु मैं चाहती हूँ कि तुम कुछ खरीदो!”

मैंने ‘सेण्ट्रल-स्टोर्स’ से कुछ खरीदा। लगा, मेरा इस तरह से चीजों को छाँटना, खरीदना, पैसे चुकाना उसे कहीं बहुत अच्छा लग रहा है!

होटल में भोजन के समय वह यदा-कदा मेरी थाली में से सब्जी के जूठे टुकड़े उठा लेती। मेरा पानी का गिलास अपने होंठों से लगा लेती। उसका चेहरा पता नहीं क्यों बहुत भावुक हो आया था! भोजन के पूरे समय वह मुश्किल से दो-चार शब्द बोली होगी। बस, चुपचाप खाती रही……।

……अब तक काफी चल लिए और अन्त में काफी थक गए, तो उसने ‘पिक्चर’ का प्रस्ताव रखा, जहाँ कुछ देर आराम से बैठकर विश्राम किया जा सके।

हाँ, हॉल में भी तो वह उसी तरह भावुक-मुद्रा में बैठी रही ! मुझे लग रहा था कि कहीं भावावेश में वह कुछ कर न बैठे ! मुझे याद आया, जब मैं बहुत छोटा था, वह कई बार मुझे अपने साथ सिनेमा लिवा ले गई थी ।...और एक बार वह इतनी सटकर बैठी थी कि मेरा दम घुटने लगा था । कान गरम हो आए थे । तब मैं कुछ भी नहीं समझता था । पर आज उसकी निगाहें परदे पर टँगी थीं और प्रतिमा की तरह वह निश्छल बैठी थी—यह देखकर मुझे कम अचरज नहीं हो रहा था ।

“कैसी लगी पिक्चर ?” बाहर आने पर मैंने पूछा तो उसने निरीह बच्चे की तरह मेरी ओर देखा, “सच्ची, मैंने तो कुछ भी नहीं देखा ! बड़ी पागल हूँ मैं ।” उसने एक गहरी साँस ली और फिर अकारण हँसने लगी । उस हँसी में कितनी वेदना थी !

बड़ा विचित्र-सा लग रहा था उसका व्यवहार ! जब आई तो कितनी हँस रही थी ! कितनी अच्छी लग रही थी !

घूम-फिरकर बहुत देर बाद घर लौटे तो काफी वक्त हो चुका था । वह अब जल्दी-जल्दी सामान बाँध रही थी, “सुनो, कभी उधर आओ तो हमारे यहाँ जरूर आना ! हाँ, कभी पत्र ही भेज दिया करो, अच्छा लगता है । अकेलेपन का अहसास कुछ कम होता है ।...जब से अम्मा, बाबूजी गुजरे... ।” उसने डबडबाई पलकें ऊपर उठाकर देखा, “कभी-कभी तो एकान्त काट खाने को आता है । सच्ची, मैं कभी पागल हो जाऊँगी, उपेन... !”

उसका गला भर आया था । मैंने निकट जाकर देखा—‘इ’ नन्हीं बच्ची की तरह मिसक रही है । उसके चेहरे की झुर्रियाँ स्लेट पर खिंची खड़िया की लकीरों की तरह साफ झलक रही हैं और सिर के आधे से भी अधिक बाल सन की तरह सफेद हो आए हैं !



## एक समुद्र भी

हिलती-डुलती लहरों के बीच सूरज की सीधी किरणें बिंधती हैं तो लगता है—बहुत-से रंग-बिरंगे सॉप एक साथ फिसल रहे हैं ।

तापस की निगाहें, जाड़ों की धूप की तरह, अनायास नीचे उतर जाती हैं—मन-ही-मन अंगुलियों पर वह कुछ गिनने लगता है—उसे अहसास होता है—ऐसी ही एक सुबह, वह यहाँ आया था—केंचुल उतारकर—

रे कहता था आज सुबह, पता नहीं क्यों—दो और दो का जोड़ अब पाँच होता है, तापस ! तुम कहो तो मैं सिद्ध कर सकता हूँ—

तापस शायद सुनता नहीं—लोग कहते हैं, वह अपनी ही बात समझ नहीं पाता—

बीफकेस में से वह कुछ ताजे कागज निकालता है—बैंक की 'पास-बुक' की तरह, डायरीनुमा काली किताब-सी । बाहर तीन सुनहरे शेर—एक-दूसरे से अपनी पीठों को सटाए—भीतर हर पेज पर एक नीला-नीला वृत्त-चिह्न—जर्मनी, फ्रांस के अतिरिक्त कुछ अन्य यूरोपीय देशों के नाम ।

मेरु-प्रभा की बाढ़ में बहते बर्फ के अन्तहीन द्वीप— ! उसे लगता है, ऐसे ही किसी अज्ञात, अर्द्ध-अंधेरे द्वीप में वह अपना तपता माथा टिका देगा—हौल-हौले बर्फ पिघलेगी और उसी के साथ-साथ वह भी पिघली बर्फ में समा जाएगा—

स्फुटनिक में बैठे आदमी की भाँति तापस को अपना 'भाग्य' भी अनिश्चित-सा लगता है—

विस्फारित नेत्रों से वह सामने देखता है—खादी के बेटन में लिपटे अनाज के बोरे पर अँकुर-से उभर आए हैं—छोटे-छोटे असंख्य हाथ-पाँवों के जैसे निशान—सामने की खुरदरी शिला पर कोई आधे अरब अभागे लोगों का भाग्य छेनी से खोद रहा है—करोड़ों मुर्दे एक साथ तालियाँ बजाने लगते हैं—उनकी गड़गड़ाहट के बीच अपने बहरे कानों को वह हथेलियों से ढँक लेता है—शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन रेत में धँसाए

कुछ सोचता है ... ।

हाँ, तो कल उसे दिल्ली में भी चला जाना है—हमेशा के लिए। फिर इधर आकर करना भी क्या है। वास्तव में कूसों का समूचा निर्जन द्वीप, वह जहाँ जाता है, अपनी पीठ पर लादे फिरता है... उसे अहसास होता है—ऐसे ही किसी जन-शून्य द्वीप में एक दिन वह पैदा हुआ होगा और एक दिन उसी में मर भी जाएगा... ।

पिछले आठ सालों से वह अपने 'घर' नहीं गया... कई बार चाहकर भी उसके पाँव, उस ओर बढ़ नहीं पाए थे ... ।

जब वह छोटा था, उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। माँ खूबमूरत थी, जवान—इसका पाप अपनी छोटी बहन के साथ-साथ उसे भी भोगना पड़ा था... माँ ने दूसरी शादी कर ली ... । एक रात वह उन दोनों का हाथ थामे, किसी 'दूसरे' घर चली गई थी ... । अभी भी कभी-कभी उसे याद आता है, पिता को गुजरे एक वर्ष भी बीता नहीं था कि माँ के एक बच्चा हो गया था... यह प्रक्रिया फिर कई वर्षों तक चली और चलती रही थी—एक दिन यहाँ तक कि वह अपने 'पुराने' पाँव ही नहीं, अपने 'पुराने' बच्चों को भी भुला बैठी थीं।

वह उठकर बाहर चला जाता है... दूधवाले जाट की खोपड़ी, खुरशेव की खोपड़ी से बहुत मिलती है... यदि आज शाम तक भी वह पैसे लेने नहीं आया तो खुरशेव की तरह वह भी अभाग्य साबित होगा—अन्त में... ।

सामने सड़क पर चलता चलता एक रेहड़ा खड़ा हो गया है... उसमें से हरपाल का छोटा आँखी उतर रहा है—

“ब्रदर ने भेजा है... कहते थे तापस मोशाय कल जर्मनी चले जाएंगे... उन्होंने अपना पलंग हमें देने को बोला है... कल क बदले में वे कहते हैं—आज ही उठालाओ ... ।”

तापस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं। वह अन्दर जाकर अपना बिस्तर फर्श पर पटकता है... मुट्टे की तरह चार आदमी पलंग उठाते हैं और रेहड़े वाला रेहड़े पर खड़ा—रथ की तरह घोड़े को हाँकता, मोड़ से औझल हो जाता है... ।

पंखा नितिन उठा ले गया है... अखबार और पुरानी पत्रिकाओं का गड्ढर मुबह से बाहर पड़ा है... उसने सोचा था—कोई रद्दी वाला आएगा तो बेच देगा... पालम तक का टैक्स का किराया तो वमूल हो ही जाएगा... पिछले एक साल से उसने पुराने अखबार नहीं बेचे ... ।

वह मुडता है... सामने की रोक उसे आज गीती-रीती लगती है... नम्य एक मौ तेरह के वर्मा कहते थे—“आप इस पुगनी घड़ी को थोड़े ही जर्मनी ले जाएंगे... हमारी इन्दो का इस वर्ष फाइनेल है”... इससे आगे वे क्या कहेंगे—वह म्वयं माँच लेता है।

तब भी तापस के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं।

और दिनों की तरह तापस को इस समय कनाट-प्लेस में होना चाहिए था... 'पी० आर० आर० एम०' में तीस पैसे की कॉफी का एक प्याला... वह सोचता था—जाने से

पहले कुछ लोगों से और मिल लेता ! कम-से-कम एक शाम तो गुजर ही जाती !

किन्तु बासु के इस बेवक्त के फोन ने या किसी अदृश्य आशंका ने अब तक उसके पाँव जकड़े हैं... ।

वह अपनी कलाई की उभरी हड्डियों को देखता है—नसों की नन्हीं-नन्हीं नलियों की ओर...उसे लगता है कोई मित्र किसी दिन आकर कहेगा—तापस, तुम अपनी आँखें दे जाना—मरने से पहले, हड्डियों को भी व्यर्थ में जलाकर, लकड़ियाँ बेकार करने से क्या ! तुम मरो तो इस कमरे में कोई और गरजमन्द रह लेगा । एक आदमी को 'जीने' में सहूलियत हो जाएगी... ।

तापस स्वयं को जलाने के बदले स्टोव जलाता है... । धुआँ उगलती कॉफी का एक प्याला थामे बाहर आता है और हमेशा की तरह अकेला ही एक कोने में बैठ जाता है—और अपने को कॉफी पिलाने लगता है... ।

गत दस वर्षों से, इसी तरह अकेला बैठकर, अपने को कॉफी पिलाता आ रहा है...कभी-कभी वह सोचता है—इतने लम्बे असें में वह कर ही क्या पाया है !

परसों अपनी ज़िन्दगी-भर की कमाई के, प्राविडेण्ट-फण्ड आदि के कुल मिलाकर बाईस सौ रु. उसे मिले थे... । 'वेश्यावृत्ति' के इन रूपों में से उसने पूरे पन्द्रह सौ 'बरुत-एयरलाइन्स' वाले के हाथ पर धर दिए थे । जिसने आश्वासन दिया था कि वह पन्द्रह प्रतिशत कमीशन दे देगा...फ्रैंकफर्ट तक का किराया हो गया...शेष राशि से उसने कुछ गरम कपड़े बनवाए थे... । तारापद ने लिखा था—'यहां आजकल हिमपात हो रहा है ।' यह पत्र पढ़कर तापस को दिल्ली में ही शीत लहर छू गई थी ।

दिल्ली में भी अपने किस्म का जाड़ा पड़ता है...जाड़े के दिनों में धुआँ अधिक ऊपर नहीं उठ पाता, केवल मुंडेरों तक ही घुमड़कर रह जाता है । तापस सोचता है—जर्मनी में तो और भी अधिक ठण्ड होती होगी ! इतनी दूर तक भी धुआँ निकल न पाता होगा—तब सच, कैसी घुटन होती होगी ! तारापद ने इस बारे में क्यों नहीं लिखा, जबकि दूसरी छोटी-छोटी बातों के विषय में कितने विस्तार से लिखा है... ।

तापस वैसा ही सड़क के नुक्कड़ तक चला जाता है...अन्य क्लर्कों की तरह वह भी पटरी पर बैठने वाले से एक पान लगवाता है । पान खाते ही पता नहीं क्या हो जाता है ! उसके कान गरम होने लगते हैं । कभी-कभी कुछ पमीना-सा भी उभर आता है—और तब घबराहट-सी होने लगती है ।

वह परेशान-सा भीतर आता है...यों ही किवाड़ बन्द कर, आरामकुर्सी पर मुद्दे की तरह निढाल गिर पड़ता है...सोचता है किसी दिन वह इसी तरह लेटा-का-लेटा रह जाएगा...दरवाज़े बन्द होंगे और भीतर अंधेरा ।

उसे पक्का यकीन है—बड़े आदमियों की तरह वह भी हार्ट-फेल से ही मरेगा...उसके पिता, यद्यपि उसी की तरह, बड़े आदमी नहीं थे, फिर भी उनकी मृत्यु इसी बीमारी से हुई थी... । लोग कहते हैं—वह बाथरूम गए थे और वहां पेशाब करते-करते बुत बन गए थे ।

वह अलमारी खोलता है—भीतर ढेर सारी रीती बोटलें भरी पड़ी हैं...उसकी समझ में नहीं आता, इन सबका अब वह क्या करेगा। डाकटिकट इकट्ठा करने की हॉबी की तरह शराब की खाली बोटले इकट्ठा करने की भी उसकी आदत है—पुरानी।

इन सबको इसी ताबूत में दफना देना चाहिए—वह अलमारी जोर से बन्द करता है।

किवाड़ बन्द करते समय उसे कागज़ की नीली थैली में कुछ लिपटा दीखता है। अपनी कनपटी के बालों पर हाथ फेरता हुआ सोचता है—इसे कौन लाई थी?—जब कुछ भी सूझता नहीं तो झटके से गरदन हिलाता है—जब से 'नई प्रणाली' चली है—इनका अब विशेष महत्त्व रहा नहीं।

सूखी म्लाइसों को कॉफी के प्याले में डुबोकर वह शाम का भोजन जुटाता है... पता नहीं, कितने लम्बे समय में उसकी यही दिनचर्या है...वह जानता है, अन्त तक भी यही चलेगी...अपने पिता की तरह, दूरियों के लिए, वह अपनी पत्नी को नहीं छोड़ जाना चाहता...जब से दिल्ली में मुरदा जलाने वाली बिजली की मशीन लगी थी, उसे कुछ राहत-सी मिली थी... वह सोचता था—वैन का किराया और कफन की कीमत वह पहले ही चुका आएगा एडवांस में...मरकर भी किसी का अहसान वह नहीं लेना चाहता।

बासु अब तक नहीं आई।

यहीं सफदरजग हॉस्पिटल में नर्स है मिस बासु...रात की ड्यूटी खतम कर, अक्सर सोने के लिए यहीं आती है...। कहती है, पुरुष के साथ सोए बिना उसे नींद नहीं आती...वह दवाएं अधिक लेती है, शायद उसी का असर हो!

तापस को याद आता है, वह मोटा लिफाफा भी अपने अस्पताल से बासु ही लाई थी...शरारत से हँसनी हुई कहती थी—इन्हें जल्दी-जल्दी खत्म करो तो अगली बार ममूची एक पेट्टी उठा लाऊंगी...।

बासु को छूत की बीमारियों से बड़ा भय है...परन्तु पागल कुत्ते से उससे भी अधिक...। वह सदैव कहती रहती है—उसकी मृत्यु किसी पागल कुत्ते के काटने से ही होगी। इसलिए पानी से अभी से इतना भय लगता है उसे...। तापस ने एक रात उसे आश्वासन दिया था कि वह साल-भर के भीतर उसे भी जर्मनी बुला लेगा...किन्तु उमने इन्कार कर दिया था, क्योंकि उमने सुना था कि वहां कुत्ते अधिक होते हैं।

बिस्तर के अतिरिक्त वह अपना सारा सामान बांधने लगता है...‘जियर गूथ’, ‘इश्च्युले’, ‘दाम’ आदि शब्दों को रटना चला जाता है। तारापद ने जब से ‘एम्प्लायमेण्ट वाउचर’ भिजवाया, तापस अपने में एक परिवर्तन-सा अनुभव करता है...। वह सामान के साथ ‘जर्मन बाल पोथी’ भी बाँधना नहीं भूलता—जिसके भीतर उसने अपनी ऑफिस की प्रेमिका के कुछ पत्र सँजो रखे हैं, जो उमने अपनी शादी के बाद लिखे थे—ताकि वहां (जर्मनी) के एकान्त में उसे कुछ राहत मिल सके और इसके बदले में वह उसे कोई प्रेजेण्ट भेजकर, ‘स्नेह का सुख’ अनुभव करे...।

नारापद किसी मोटर-कम्पनी में इंजीनियर है... । लिखता है—समुद्र के किनारे के कस्बों में मछलियां बहुत मिल जाती हैं...उसने अपनी जर्मन पत्नी का नाम 'मृगनयनी' रखा है—जिसके लिए तापस ने एक प्लेन बंगाली साड़ी खरीदी है...ऑचल के किनारे पर जर्मन-मृगनयनी चाबी का गुच्छा लटकाएगी तो सच कैसी लगेगी !

बाहर फर्श पर एक साथ बहुत से जूतों के चलने की आहट से, जैसे वह नींद से जागता है। उसे लगता है बासु अब आ ही गई होगी ! वह उझककर बाहर झांकता है... ।

अंगारे की तरह, टैक्सी के नितम्बों पर दो लाल-लाल शोले धधक रहे हैं—दाईं ओर वाले पड़ोसी, मिस्टर चन्द्रा का परिवार उतर रहा है। चन्द्रा डिफेंस-मिनिस्ट्री में क्लर्क है...चन्द्रा की बीवी बहुत मोटी है... ।

तापस देखता है—टैक्सी का बिल चुकाने वाला आज कोई और है—टैरेलिन का सूट पहने, कृष्ण वर्ण का !

तापस को लगता है आज फिर वह बदज़ात... ।

वह भीतर जाकर जैसे अपने को खोजने लगता है...उसकी समझ में नहीं आता यह रहस्य । पिछले दो सालों से, जब से यहां आया है, जब भी कोई 'नया' आदमी आता है, चन्द्रा अपनी मां के साथ, बच्चों को छत पर भेज देता है और खुद किसी जरूरी काम से बाहर चला जाता है। वस्तुतः इस आधी रात में मरने के लिए कहीं भी बाहर न जाकर, वह बाहर बैच पर बैठा रहता है। भीतर से जब कुण्डा खुलता है, तब वह उधर झाँकने का साहस बटोर पाता है... ।

पैसे के मोहवाली बात तापस की समझ में अधिक नहीं आती। कोई मर्द इतना नामर्द हो सकता है—वह कल्पना भी नहीं कर सकता... । फिर उसे विचार आना है, कहीं साला सचमुच ही नामर्द तो नहीं। इसके मारे बच्चों की सूरतें अलग-अलग हैं।

आस-पास अब सब सो गए हैं... । चन्द्रा के बच्चे, उसकी बूढ़ी मां का हाथ थामे अभी-अभी छत की ओर गए हैं...चन्द्रा 'अभी आने' की बात कहकर, जल्दी-जल्दी सीढ़ियों से उतर रहा है।

और दिनों की तरह, आज भी तापस स्विच ऑफ कर, अंधेरे में 'प्रतीक्षा' करता बैठा रहता है... ।

बगल के कमरे में, अधढंके वैण्टीलेटर से धीमी रोशनी की लकीर पड़ रही है... । तापस चुपके से तिपाई खिसकाता है और उस पर खड़ा होकर, वैण्टीलेटर से बाईस्कोप की तरह भीतर झांकना शुरू करता है।

जब-जब ऐसी स्थिति होती है, तापस को उस रात नींद आनी कठिन हो जाती है।

जब उसकी मां ने दूसरी शादी की थी, तब भी उसकी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही हो जाती थी। तब वह अधिक उम्र का नहीं था...रात को कभी-कभी जाग पड़ता तो



देखता—मां का बिस्तर रीता पड़ा है। बगलवाले कमरे से रोशनी की एक धार छत को काट रही है। खादी के मोटे पर्दों के पार कुछ दिखलाई न पड़ता तो वह चुपके से अपनी बहन को जगाता और फिर दोनो कान लगाकर सुनते।

मरे सांप की तरह वह बिम्तर में घुसता है...पलंग न होने से बिस्तर अधिक ठंडा लगता है...उसे कुछ अटपटा-सा अनुभव होता है। वह सोचता है अब कुछ ही घंटों की तो बात है...सुबह वह इस घोसले से भी चला जाएगा...

उमें ख्याल आता है उसके पास अब अधिक पैसे नहीं बचे हैं...किराए वाले का किराया भी तो उसने इम महीने नहीं चुकाया...बहुत-से दूसरे लोगों का कर्ज भी—इसलिए अपनी यात्रा का उमने अधिक विज्ञापन नहीं किया। आने वाले कल की ताँख में, उसने पहले से कुछ पोस्टकार्ड लिख रखे हैं, जिन्हें विमान पर चढ़ने से पूर्व वह डाल देगा—इसलिए उसने नई दिल्ली के स्थान पर केवल पालम लिखा है...

अपनी ही हड्डियाँ उसे चुभने लगती हैं...अपना ही शरीर बोझ-सा लगना है। वह सोचता है—सिर को सुराही की तरह उठाकर वह परे रख देता तो शायद बहुत बड़ा भार कम हो जाता।

सीमेण्ट के ठंडे फर्श के कारण बिस्तरा पानी में डूब गया है...अंधियारे में सिगरेट-लाइटर टटोलने के लिए वह पानी की थाह लेने की तरह हाथों को फैलाता है तो मेज पर रखा, अधभरा पानी का गिलास औंधे मुँह नीचे गिर पड़ता है। बर्फीले छींटों के साथ-साथ कांच के भी टुकड़े। वह रोशनी न जलाकर, पॉव सिक्कोड़े पड़ा रहता है—दम साधे...

अब दो बज गए होंगे... वह बाथरूम जाने के लिए उठता है तो देखता है, उसका हाथ किसी गिजगिजी वस्तु से टकरा गया है। अचकचाता है वह...। टोह लेने के लिए हाथ ऊपर से नीचे तक फेरकर पता लगाता है—गरम-गरम कोमल मानव-देह...वह एक-दो बार ऊपर से नीचे तक फिर हाथ फेरता है। उसे इस तरह से बार-बार हाथ फेरना बहुत अच्छा लगता है...

मुट्टी-भर कृत्रिम किरणों का जाल बिखरता है। वह देखता है बासु गहरी नींद में नोई है। उसे बासु के आने का भान क्यों नहीं हुआ? कब आई होगी वह? दरवाज़ा भीतर से बन्द था—फिर किसने खोला होगा...

सामने रम की रीती बोटल कुतुबमीनार की तरह खड़ी है...उसे सहसा याद आता है—वह आज अपने ही नहीं, बेचारी बासु के हिम्से की भी अंधेरे में पी गया।

बासु को जगाता है वह—उसकी पलकें अलमाई हैं—आंखों में लाल-लाल डोरे...मुँह से भी बदबू आ रही है। उसने पेशाब से, अपनी ओर का आधा बिस्तरा गीला कर रखा है।

बासु ने आज कहीं एक्स्ट्रा ड्यूटी दी है...तभी तो उसका शरीर इतना असहाय लगना है—अवश!

अब वह अकेला ही बिछौने पर बैठ जाता है। हवाई-जहाज़ का लम्बा टिकट

निकालता है...सुनहरे शेरोंवाला पार-पत्र...अपना ही चित्र उसे अपरिचित-सा लगता है।

बासु की कल से सुबह की ड्यूटी है। अतः वह अपना सामान उठाकर, अकेला ही पालम तक जाएगा। दस-बारह मील तक, दोस्त को छोड़ने जाने की भूल आज के ज़माने में कौन समझदार आदमी कर सकता है! हवाई अड्डे पर पहुँचकर, विमान में चढ़ने से पहले सब मुड़कर हाथ हिलाते हैं—वैसे ही मुस्कराता हुआ, वह भी यों हवा में साथ हिला देगा...।

बम्बई के बाद बेरुत, बेरुत के बाद फ्रैंकफर्ट...दस घंटे और...ऊपर से नीचे तक एक साथ सिला, बिना जेबों वाला लबादा पहने वह तारापद की वर्कशॉप में मशीनें साफ करेगा...फर्श धोएगा या कृष्ण की अंगुली पर खड़े गोवर्धन की तरह, स्टैंड के ऊपर अटकी भारी-भारी गाड़ियों की, पानी की तेज धार की पिचकारियों से, सफाई करेगा...या शीशों को रगड़ेगा या बर्लिन के स्टेशनों पर खड़ा सामान ढोया करेगा...।

परन्तु इतने पर भी उसे चावल के साथ भरपेट मछली नहीं मिली तो... ?

इस अतिरिक्त 'तो' के साथ-साथ उसके कान गरम हो जाते हैं...सोचता है—तब वह तारापद को कोकोनट के तेल में भूनकर खाया करेगा...तारापद कांटेदार आदमी है। इसलिए खाने में उतना बुरा नहीं होगा—मछली का-सा ज़ायका तो देगा ही !

उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगता है...वह झकझोरकर बासु को जगाता है। बासु आंखें खोले बिना ही, रोज़ की तरह, स्वाभाविक रूप से अपने शरीर के सारे कपड़े समेटकर एक ओर कर देती है।

तापस को लगता है—बिना पान खाए ही, उसके कान गरम होकर, रामबांस की तरह खड़े हो गए हैं...सारे शरीर पर पसीना-सा।

ऐसे ही, जिस दिन कुछ और ज़ोर से दिल धड़केगा, कुछ और पसीना आएगा, अपने पिता की तरह वह भी बाथ-रूम में बुत बना मिलेगा...। रे उस दिन कोई नई बात नहीं करता था—दो और दो का जोड़ हमेशा पांच ही होता है—इसे सिद्ध करने की क्या जरूरत है।

## हरे सूरज का देश

शीशम और सागौन के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष। दूर तक बिखरी हरियाली। एक-दूसरे से परत-दर-परत जुड़े पर्वत—आधे भारत के, आधे नेपाल के। बीच में उन्हें विभाजित करती—काली गंगा, जो दूर से पारदर्शी दरार-सी दीखती है।

सहसा झटका-सा लगता है मुझे। चौंकर देखता हूँ, स्टेशन से पहले ही गाड़ी रुक रही है। इस ट्रेन से मुझे यही शिकायत है कि यह जब जहां चाहे रुक जाती है और फिर आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेती। कहते हैं—ड्राइवर और गार्ड 'कच्ची' पीते हैं। ...पिछले साल टनकपुर और बनबसा के बीच जंगल में ही ट्रेन रुक गई थी। घास काटने वाली किसी मजदूर औरत से ड्राइवर मजाक करने लगा था। कुछ भद्दे-से इशारे हुए और फिर शायद अंत में औरत को उसने इंजन में ही बिठा लिया था। ...लंबी-लंबी लाठियां और बहंगियां लिए बहुत से वरू इधर-उधर बैठे, ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे हैं। शायद मंडी से लौट रहे हैं। सामने की बर्थ पर एक महिला-जैसी लड़की बैठी है। उसकी बातों से लगता है वह पिथौरागढ़ के पहाड़ी जिले में, कहीं विकास-विभाग में नौकरी करती है। छुट्टी में शायद घर लौट रही ह। उसकी बाहरी बनावट के भीतर मध्यमवर्गीय संस्कार रह-रहकर झांक रहे हैं—जो नहीं है, उसे प्रदर्शित करने का विफल प्रयास...।

मैं सोचने लगता हूँ—चंद पैबंदों को छिपाने के लिए हम कितने ही दूसरे पैबंद ओढ़ लेते हैं। क्यों ओढ़ लेते हैं ?

मेरी बागल में माँ बैठी हैं। माहला की निगाहें बार-बार मां के नंगे पांवों की ओर जाती हैं। माँ की उमर अब सत्तर से ऊपर होगी। वे चप्पल नहीं पहनतीं। बर्फ पर भी नंगे पाँव ही चलती हैं। उनकी अपनी मान्यताएँ हैं, अपने संस्कार हैं। अतः मैं जिद नहीं करता। उनके चप्पल न पहनने पर मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर यह महिला बार-बार अकारण क्यों देख रही है ?

जो हम हैं उसे छिपाने की आवश्यकता मुझे कभी अनुभव नहीं हुई। अतः मैं

उसकी ओर ध्यान न देकर बगल में बैठे सैनिक से बातें करने लगता हूँ और महिला अपनी बेंत की टांकरी में से कोई सस्ता-सा जासूसी उपन्यास निकाल लेती है।

सैनिक से बातें करते हुए पता चलता है कि उसका गाँव हमारे गाँव से अधिक दूर नहीं। बीच में केवल एक डाँडा है। शादी करने वह घर आया था और, अब मोर्चे पर वापस लौट रहा है।

“अच्याल कां छऽ ?” मैं पहाड़ी भाषा में पूछता हूँ।

“ददा”, वह मेरी ओर आत्मीयता से देखता है, “बहुत दूर हूँ...।”

“कहां ?”

“सिक्किम के पास—”

“किस जगह ?”

“नाथू-ला में—”

“खास नाथू-ला दरें में ?”

वह सिर हिलाता है।

सुरेन्द्र की भी एक बार नाथू-ला में ही नियुक्ति हुई थी। बेचारे को देशभक्ति बड़ी महंगी पड़ी थी। मुझे याद आता है—कुछ समय पहले इसी दरें में चीनी-सैनिकों के साथ हमारी ज़ोर की झड़प हुई थी, जिसमें दोनों पक्षों के सैकड़ों सैनिक काम आए थे।

“हां, कब से हो वहाँ ?” सहसा कुछ सोचते हुए कहता हूँ।

“काफी असें से।”

“चीनियों के साथ जब मुठभेड़ हुई थी, उस समय वही थे ?”

वह एक बार यों ही इधर-उधर देखता है, “हाँ, मैं वहीँ था...।”

“तुम्हें कैसा लगा था उस समय ?” मैं पूछता हूँ तो वह फिर ठेठ पहाड़ी बोली में आंखों-देखा सारा हाल सुनाने लगता है। बताता है कि खूब गोलाबारी हुई थी और इतने सैनिक और पुल उड़े थे...।

“हमारी स्थिति कैसी थी तब ?”

उसके भोले-भाले चेहरे पर आत्मगौरव की गहरी रेखाएं उभर आती हैं, ‘बहुत अच्छी थी। चीनियों के मुकाबले हम पीछे नहीं थे।’

“क्या हम उनका मुकाबला कर सकते हैं ?”

“क्यों नहीं। हमारे पास अब लड़ाई का वह सारा सामान है, जो हमें चाहिए...।”

उसकी क्या उमर होगी अभी ! मूँछें भी तो भलीभांति फूटी नहीं ! सारी सैन्य-स्थिति के बारे में वह क्या जानता है ? फिर भी उसका मनोबल देखकर मुझे खुशी होती है।

‘अच्छा, लड़ाई के समय तुम्हें कैसा लगा था, सच-सच बताना ?’ मैं उसकी ओर जिज्ञासा से देखता हूँ।

वह यो ही हंस देता है, "कैसा ही नहीं।"

"फिर भी—"

"बस्स, पहले तो कुछ भय-सा लगा, लेकिन जैसे ही मोर्चे पर पहुंचे, गोलाबारी शुरू हुई, सारा डर न जाने कहां गायब हो गया। फिर न घर की याद रही, न अपने जीने-मरने की। एक गहरा नशा-सा छा गया। बस, यहीं सृजता था कि शत्रु को कैसे पराजित करें। कैसे आगे बढ़ें।"

बीड़ी सुलगाता हुआ वह पावों को दूर तक पसारता है। उसके बेडौल काले बूटो पर धूल की मोटी परत जमी है। खिडकी से नीचे झुककर वह सिगाडे खरीदने लगता है।

ट्रेन धीरे-धीरे फिर आगे सरकने लगी है। चालीस मील का सफर, पाँच-छह घंटे। इतने समय में तो साइकिल से भी पहुँचा जा सकता है।

कल रात नींद न आ सकी थी। मैं यों ही आंखें मूंद लेता हूँ। बहुत प्रयास करने पर झपकी-सी भी नहीं लगती तो अजीब-सी बेचैनी मुझे घेर लेती है....।

"यह पैन तू रख ले।" शिव'दा ने कहा था।

पैन बहुत अच्छा था। दस्तखत करने के लिए मैंने माँगा था। उलट-पलटकर देखकर उन्हें लौटाने लगता हूँ।

'पसंद नहीं।'

"है क्यों नहीं?" मैं यों ही हंस देता हूँ।

"तो रख लो फिर!"

"नहीं, शिव'दा।"

"क्यों, ठीक नहीं चलता क्या?"

"चलता तो बहुत अच्छा है।"

"फिर?"

मैं कुछ क्षण चुप रहता हूँ। अत मे जब व बार-बार विवश करते हैं तो कहता हूँ, 'बुरा न मानना, शिव'दा! अपनी-अपनी समझ है। तस्करी का माल उपयोग में लाना मैं ठीक नहीं समझता।"

वे ठहाका लगाकर हंसते हैं, "अरे बड़े-बड़े 'यमैले', 'यम्पी', 'कलैक्टर', 'कमिस्नर' इन्हें इस्तेमाल में लाते हैं। तुम क्या उनसे भी बड़े हो?" वे फिर हंसने लगते हैं।

"मैं छोटा हूँ न, तभी तो डरता हूँ।" मैं हंसता हूँ तो वे खिसियाते हुए पैन जेब में रख लेते हैं।

शिव'दा खादी के कपड़े पहनते हैं। इस इलाके के प्रतिष्ठित नेता हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि मैं अब तक भी बदला क्यों नहीं।

लोग कहते हैं— टनकपुर, बनबसा—सीमावर्ती मंडियों में नेपाल से लाया गया तस्करी का माल बिकता है। लोग अब इसे बुरा नहीं समझते। शायद यह भी व्यापार

का एक हिस्सा बन गया है।

पिछली गर्मियों में घर आया तो एक दिन मनीराम मास्टर कह रहा था, “यहां के लोग जब अकाल में मर रहे थे तो हज़ारों मन राशन का चावल ट्रकों में लाद-लादकर रात को नेपाल की सीमा के पार भेजा जाता था और वहां से भेड़-बकरियों पर ढोकर चीन पहुंचता था। ठेकेदार, बनिए और मुलाज़िम—सब इस षड्यंत्र में शामिल थे।”

सरकार किसे कहने हैं? मुलाज़िम कौन हैं? समाज की ठेकेदारी का दायित्व किन पर है? सारी बातें अब समझ से परे हो चुकी हैं। मुझे लगता है परिभाषा बदल चुकी है। हमारे गाँव-घरों में जहां पहले तम्बाकू पीना पाप समझा जाता था, वहां आज घर-घर में ‘कच्ची’ पी जाती है, बच्चों के तन पर फटे चीथड़े नहीं होते, औरतें दिन-रात खटती रहती हैं, लोग दाने-दाने को तरसते हैं। पटवारी किसी भी निरपराध के हाथों में हथकड़ी बांधकर मनमानी रकम वसूल कर लेता है। डिप्टी कलेक्टर, सौ-सौ, पचास-पचास रूपए में मुकदमों के फैसले बदल देता है। ‘देशभक्त’ तस्करी करते हैं। क्या हो सकता है यहां? कुछ भी तो नहीं रहा शेष...!

“ददा, सिंगाड़े खाओ होऽ!”

मैं अचकचाकर देखता हूँ और अखबार के ऊपर रखे सिंगाड़ों में से एक उठा लेता हूँ। एक छिला हुआ सफेद टुकड़ा दांतों में दबाया ही था कि कसैला-सा लगता है। अतः खिड़की के बाहर फेंक देता हूँ।

“तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?” बातों की दिशा बदलने के लिए कहता हूँ।

“मां हैं। दो विधवा भाभियां और एक छोटी बहन।”

“भाई नहीं...!”

“नां ऽ।” वह सिंगाड़ा छीलना भूलकर मेरी ओर देखने लगता है, ‘दो थे कुमांऊ रेजिमेंट में। दोनों ही बालौंग की लड़ाई में मारे गए थे।’

“तुम अकेले ही परिवार की परवरिश करते हो?”

प्रत्युत्तर में वह कुछ बोल नहीं पाता। केवल सिर हिलाता है। पता नहीं क्यों, उसका चेहरा उदास हो जाता है!

मज़ौला-स्टेशन पर अब गाड़ी खड़ी है। यात्री बेसब्री से चढ़-उतर रहे हैं। मैं ताजा अखबार खरीदता हूँ। लगता है इतने दिनों तक किसी अंधेरी गुफा में रहा—दुनिया की हलचलों से एकदम दूर!

मां टिफिन-कैरियर से नाश्ते का सामान निकालने लगती हैं। बड़ी हो-हुज्जत के बाद उम सिपाही को भी साथ देने के लिए मना पाता हूँ। हम सब साथ-साथ नाश्ता करते हैं। इस तरह मिल-जुलकर खाना मुझे अच्छा लगता है।

सामने बैठी महिला ने उपन्यास फिर बन्द कर दिया है। ‘प्लीज’ कहती हुई वह अखबार माँगती है।

अभी क्या उमर होगी? उसकी ओर देखने पर मुझे ख्याल आता है। आँखों के

नीचे काली-काली झाँड़ियाँ। पसीने से भीगी, पाउडर की परत कितनी भदी लग रही है। क्या मिलता होगा इसे। पता नहीं किसकी क्या समस्याएँ हैं। इतनी कच्ची उम्र में ही दो रोटियों के लिए अकेले ही इतना दूर भटकना पड़ता है।

उस साल लंबी छुट्टियों में घर गया था। कोई सरकारी बड़ा मुलाजिम दौरे पर आया था। रात को डाक-बंगले में ठहरा था। कहते थे उम सारी रात नई ग्रामसेविका को पांच आदमियों ने अपने ही कमरे में रखा था। सुबह वह किसी रजिस्टर पर दस्तखत कराने हमारे घर आई थी, उसका चेहरा कितना उतरा हुआ था।

“यह तो आम बात है।” गाव के लोगों का कहना था।

माहौल बिगड़ गया है। जहाँ पहले सत्संग होता था, वहाँ जुआरियों की टोली सुबह से शाम तक जमी रहती है। जिस दिन लाठियाँ न चलती हों वह दिन ही नहीं।

नाश्ते के बाद बैंग में से कोई पुस्तक निकालकर पढ़ने लगता हूँ। ट्रेन बैलगाड़ी की तरह लड़खड़ाती फिर आगे बढ़ रही है।

माँ बैठी-बैठी सो गई हैं। सैनिक खिडकी से दूर गन्ने के खेतों में पना नही क्या देख रहा है। सामने बैठी लड़की अखबार लौटाकर इस बार बिना पूछे कोई मैगजीन उठा लेती है।

पीलीभीत स्टेशन आने से पहले ही मुसाफिरों में हलचल शुरू हो जाती है। पढ़ने में मन नहीं लगता। मैं सैनिक की ओर देख रहा हूँ—उसके रूखे बालों पर धूल जमी है, होंठों पर पपड़ी। बैठा-बैठा, गाड़ी के हिचकोले खाता ऊँघ रहा है। बेचारा साल-दो साल बाद छुट्टियों में अब घर आया होगा, पता नहीं फिर कब आना हो! उसका चेहरा मेमने की तरह मासूम लग रहा है, जिस पर कोई विकार नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर इन मेमनों की बलि हम कब तक चढ़ाते रहेंगे? उन बियावान बर्फीली चट्टानों पर ये किसके लिए लड़ते हैं? अब यहाँ रहा ही क्या है, जिसकी हम हिफाजत करना चाहते हैं?

“उठते क्यों नहीं, भाई?” मैं झुंझलाकर कहता हूँ तो वह अचकचाता है। इधर-उधर देखता हुआ जल्दी-जल्दी सामान समेटने लगता है।

गाड़ी धीरे-धीरे प्लेटफार्म पर रुक रही है।

मेरे रूखे व्यवहार की उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वह बड़ी आत्मीयता से हाथ मिलाता है। माँ के पांच छूता है, “जिदा रहा तो ददा, फिर मिलूंगा—हाँ ॐ।” कहता हुआ भीड़ में ओझल हो जाता है।

## अनचाहे

विचित्र-सा लगता है कभी, जब उसके बारे में सोचता हूं।

उसका सवा साल का नन्हा गुड्डो अकसर जाफरी का दरवाज़ा खुलते ही, अपने पिंजड़े से निकलकर मेरे कमरे में रेंगने लगता है और आते ही तोड़-फोड़ शुरू कर देता है। किताबें उलटता है। कागज़ों को बिखेरता है। नाचता है। फिर चहककर किल-किल शोर मचाता है। अभी कुल दिन कितने बीते हैं, जब वह मेरी नई 'क्विक्' की दवात सीमेंट के नंगे फर्श पर चूर-चूर कर नौ-दो ग्यारह हो गया था।

तब कुछ ही देर में बेसन से सने हाथों को लिए वह घबराई हुई मेरे दरवाज़े पर ठिठक पड़ी थी। सकुचाते हुए उसने मेरी ओर देखा। जैसे अपराध बच्चे से नहीं, उसी से हुआ ही। छल्ले की तरह ऑचल अंगुली पर लपेटकर उसके उदास चेहरे ने, उसकी झुकी आँखों ने, उसके फड़कते होंठों ने, चुप रहकर भी बहुत कुछ कहने की चेष्टा की थी, यानी कि जरूरत से भी अधिक।

वह बिना कुछ बोले, बिना कुछ कहे, जिस तरह आई थी, चुपचाप उसी तरह चली गई। एक शून्यता फिर छा गई। परन्तु लगा कि अपने जाने के बाद इस शून्यता में एक और शून्यता छोड़ गई है, जो इस घुटन-भरे वातावरण में घुल-मिलकर कहीं ओझल हो चली है।

थोड़ा-थोड़ा मुझे याद आ रहा है, जब मैंने उसे पहली बार देखा तो मुझे शायद ऐसा ही लगा था, जैसा कि औसत दर्जे की एक साधारण-सी औरत को देखकर लगता है, जिसे ढंग से कपड़े पहनने का शऊर नहीं, बाल काढ़ने का शऊर नहीं, उठने-बैठने तथा बातचीत करने तक का भी शऊर नहीं। क्योंकि उसने हमारे सम्मिलित गुसलखाने में ढेर सारे कपड़े पटक रखे थे। खूटी पर बादामी रंग की अपनी पुरानी चोली टाँग रखी थी, पसीने से भीगकर जो एकदम पीली पड़ गई थी।.....बच्चों के कच्छों पर मैल साफ़ दीख रहा था। बदबू आ रही थी। उसी के बाहर कूड़े का टूटा कनस्तर और कोयले की फटी बोरी औंधे मुंह बिखेर रखी थी।.....लकड़ी की गिट्टियाँ दूर-दूर तक छितरी पड़ी थीं।



जब मैं टैक्सी से अपना असबाब उतार रहा था तो उसने मुझसे बिना बात देर तक बात की थी और कहा था कि अब वह प्रसन्न है। क्योंकि जो सज्जन यहां पहले रहते थे, वह भले नहीं थे। छत पर टंगी उसकी चौखानेदार नीली चादर, जो एक बार नदारत हो गई थी, छठे दिन उनके ही घर पर दिखी। और किसी ने जब कुछ कहा तो ऐसा हो-हल्ला मचाया कि पड़ोसियों तक के कान खड़े हो गए थे।……और जब उनकी बीमार पत्नी तीन-चार महीने के लिए अपने मैके चली गई तो हजरत तहमद बाँधे साँझ-सकारे छत पर ही टहलते नज़र आते थे। लोगों का तो ख्याल भाईसाहब यहां तक है कि वो……वोऽ जो आपके ऊपर 135 में, जो विधवा भैन जी रहती हैं उनसे……। लोग तो यहां तक कहते हैं कि……।

मैं सिर हिलाकर केवल 'हां हूं, हां हूं' करता रहा। दरअसल बात यह है कि अधिक बातूनी लोग मुझे पसन्द नहीं, उस पर औरतें तो रती भर भी नहीं……। मेरे साथ एक कमजोरी भी है—अकेले में औरत से बातें करते मुझे न जाने क्यों हिचकिचाहट-सी महसूस होने लगती है—घबराहट सी।……इसलिए जहां तक बन सकता है, मैं बचने की कोशिश करता हूं।

किन्तु जब वह मेरे कमरे में आई और सहानुभूति से बोली कि—कमरा कित्ता गंदा पड़ा है, तब मैं उसकी ओर देखता रहा। उसने भी शायद मेरे चेहरे पर कुछ पढ़ने की चेष्टा की थी। क्यों की थी? यह बात मेरी समझ में आज तक नहीं आई।

तभी काँच का लम्बा गिलास भर, नींबू का ठंडा पानी भी वह रख गई थी और उसने पूछा था कि मैं उसकी 'भैनजी' को भी साथ क्यों नहीं लाया?

तब मेरे यह कहने पर कि अभी तक मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ और मैं अकेला ही हूँ और फिलहाल आगे……अकेला ही रहने का विचार है—वह अनायास उदास होकर चली गई थी।

शाम को जब उसका पति घर आया तो वह उससे मेरा ही बखान किए जा रही थी—बगल वाले भाई सा'ब आदमी नहीं हैं। हा, सचमुच देवता हैं। आंखें उठाकर भी किसी की ओर नहीं देखते। बेचारे जब से आए हैं तब से, इस गर्मी में भी दरवाज़े-खिड़कियां सब बन्द किए पड़े हैं। लाख मनौती करने पर भी बाहर बैठने को राज़ी न हुए। मैंने 'भैनजी' की बात पूछी तो शरमाते थे।……और आपके बारे में बार-बार पूछते थे कि भाईसाहब कहाँ गए। बेचारों को अकेलापन अखर रहा होगा। आखिर हमीं उनके दुःख-सुख में शरीक नहीं होंगे तां दूसरा कौन होगा……?

फिर कुछ देर तक कोई आवाज़ न आई।

फिर पुरुष का-सा स्वर टकराया—“उनके कमरे में तो अंधेरा लगता है अभी! जल्दी क्या है? कल मिल लूँगा—सुबह।”

“सुबह……! क्यों……? अभी क्या बजा है? कोई सोए थोड़े ही होंगे!”

फिर बच्चों का छीना-झपटी का शोरगुल सुनाई देता है। फिर—

“क्यों जी! लोग बिना ब्याह किए उम्र भर कैसे रहते होंगे?……आप तो दो दिन

भी नहीं ठहर सकते...।”

पता नहीं वह इमका क्या उत्तर देता है। लेकिन इतना अवश्य आभास हुआ कि वह अब आने की तैयारी में है।

मैं घबरा जाता हूँ। अब वह मेरे गलं टंगेगा। रात-भर 'बोर' करेगा। मैं थका हुआ—परेशान। भलामानुस, रोशनी बुझाकर सोने का बहाना बनाकर भी चैन नहीं लेने देगा।...ऐसे लोगों के पड़ोस में कैसे रहूँगा! सूझता नहीं।

मैं चुपके से ताला ठोककर बाहर निकल पड़ा और इधर-उधर पार्को में निरुद्देश्य पड़ा रहा और बहुत रात गए तब तक मुड़कर न लौटा, जब तक उनका पूरा परिवार खुली छत पर बिखरा खरटि न भर रहा था।

प्रातः मुझे कुछ आवश्यक कार्य से बाहर जाना था। केवल गीले तौलिए में लिपटा जल्दी-जल्दी गुसलखाने से लौट रहा था कि वह टकरा गई। उलाहने से बोली—“इत्ती रात गए कल आप कहाँ चले गए थे? आपके भाईसा'ब कम-से-कम चार बार आपके दरवाजे तक आए और निराश होकर लौट गए।...खैर, गाजियाबाद जाने के कारण जरा हड़बड़ी में थे। कल जमकर बातें करेंगे। खैर, कोई बात नहीं।...खैर...।”

अभी मैं कमरे में पहुंचा नहीं था कि उसे न मालूम क्या याद आ पड़ा। लौटकर फिर सामने खड़ी हो गई। कमर पर सिर्फ गीला तौलिया लिपटा होने के कारण मेरी हालत अजीब थी, पर वह बेधड़क कहे जा रही थी—“आप रात को चले कहाँ गए थे?”

“क्यों?” झुंझलाकर मैंने कहा।

“चोरी का डर रहता है न आजकल!” वह बोली—“कोई आपका असबाब लपेटकर ले जाता तो हम आपको कौन-सा मुँह दिखलाते, बतलाइए! मुझे तो रात-भर नींद न आई। आपकी ही फ़िक्र में घुलती रही। मुए रोज ताले टूट रहे हैं।”

तीसरे या चौथे दिन।

प्रेस वाला कपड़े तह कर लाया। जल्दी में, आलस्य के कारण या लापरवाही से अथवा अपनी नासमझी से उसने मेरे सूखे कपड़ों पर बड़ी बेरहमी से सिचाई कर डाली थी। अतः धूप में सुखाने के लिए, बाहर बरामदे पर लटकी तार की डोरी का सहारा लेना पड़ा।

गुड्डो ने लकड़ी की गिट्टियाँ इधर-उधर फेंक दी थीं। कोयले की बोरी में घुसकर तमाम मुंह पोत डाला था। कुत्ते के पिल्ले की तरह उसका कान घसीटती हुई वह आई।

“आप हरदम यों किवाड़ बन्द क्यों किए रहते हैं, भाईसा'ब?” उसने मुड़कर देखा, “लोग कहते हैं, साफ़ खुली हवा न मिलने से तन्दुरुस्ती पर खराब असर पड़ जाता है...।” कुछ ठहरकर फिर उसने हवा में झूलते मेरे कपड़ों की ओर निहारा, “आप बड़े

प्लेन कपड़े पहनते हैं जी ! मेरे मझले ताया की तरह खदर के । ... के पापा तो इतनी तंग मोहरी की पैट पहनते हैं कि.... ।”

मैं सामने खड़ी नारी की ओर देखता रहा । पर वह थी, उसी बहाव में बही चली जा रही थी । गुड्डो को दो-तीन बार ऊपर बाँहों में उछालकर चूमती हुई बड़ी बेफिक्री से बोली, “आपको रंगीन कपड़े कतई अच्छे नहीं लगते, क्यों जी ?—यही कि तड़क-भड़क वाले...बेल-बूटे वाले.... !”

“नहीं तो.... !” उत्तर में कुछ तो कहना ही चाहिए, इसलिए मैं कह रहा था, ‘अपनी-अपनी पसन्द है । इसमे क्या ?’

तो एक दिन देखता हूँ—वह दो नन्हें सफ़ेद पैट और दो बाँह कटी नन्हीं बुशशर्ट लिए खड़ी है । “भाईसा’ब, ये कपड़े आपको पसन्द हैं ? यहीं खादी-भण्डार से लाई हूँ—गुड्डो के लिए ।”

मैंने यों ही परखा, देखा और कह दिया—ठीक हैं ।

“नहीं !” वह अपना धीरज रोक न पाई । बोली—“आपने अच्छी तरह देखा कहां ? देखिए न ! आराम से देखिए !’ कपड़े उसने फिर मेरे हाथों में धकेल दिए और दीवार की तरह सामने खड़ी हो गई ।

मुझे एक बार फिर उन्हें देखना पड़ा । कॉलर पर लगे गाइलॉनी सफ़ेद बटन को देर तक दो अंगुलियों के बीच थामे घुमाता रहा, “हाँ-हाँ ! कह तो रहा हूँ, बहुत अच्छे हैं । गुड्डो पर खूब सजेंगे । सादगी में भी तो सौन्दर्य होता है न !”

वह खीले की तरह खिल उठी । होंठों पर अंगुली रखकर बोली, “आप बिल्कुल ठीक कहते हैं । सादगी में भी तो सौन्दर्य होता है न ! जरूर होता है तभी तो आप पहनते हैं ।”

अपनी हँसी मैं रोक न पाया ।

“मुझ पर भी तो ये सादगी वाले कपड़े अच्छे लगेंगे न !” उसने फिर मेरी ओर देखा ।

इतनी सादगी से उसने यह बात कही कि मैं जोर से हँस पड़ा ।

इसका शायद उसने गलत अर्थ लगाया । अपनी बात पर तूल देती हुई बोली—“भाईसा’ब, क्या नहीं लगेंगे अच्छे ! मैं तो सच एक जोड़ी ब्लाउज खरीद भी लाई हूँ । मैंने पहनकर शीशे में देखा तो बहुत अच्छा लगता था । बस, थोड़ा-सा चुस्त—कुहनियों पर लगता है । वैसे बुरा नहीं । सुदेस की अम्मा कहती थी कि.... । आप देखेंगे, भाईसा’ब ! पहनकर दिखलाऊँ.... !”

उरुकी इस तरह की बातों ने सचमुच मुझे बहुत परेशान कर दिया । मैंने टाल दिया कि फिर कभी देख लूँगा, जब वह पहनेगी !....उस पर भी खदर के कपड़े खूब जचेंगे.... ।”

मेरी आदत है कि देर तक पढ़ता हूँ । रात को जब तक नींद नहीं आती, पढ़ता

रहता हूँ। व्यर्थ की बहसें सुहाती नहीं। अधिक बोलने से न जाने क्यों मुझे परेशानी होती है। जिस दिन ज्यादा बोलता हूँ, रात को देर तक नींद नहीं आती और फिर स्वयं पर झुंझलाहट होती है। इसलिए पास-पड़ोस वालों से ज्यादा सम्पर्क मैंने जान-बूझकर बढ़ाए नहीं।...सम्पर्क बढ़ाने के नतीजे मैं पहले ही बहुत भुगत चुका हूँ। अतः आदमियों के इस घनघोर जंगल में अकेला ही पड़ा रहता हूँ।

लेकिन इसके बावजूद मुझे न जाने क्यों बार-बार यह लगता है कि परेशानी फटे कम्बल की तरह मेरा साथ छोड़ने वाली नहीं है।

हमारी पड़ोसिन, यानी कि मेरी 'बहनजी' यानी कि 'गुड्डो की ममी' ने यह खबर मुहल्ले भर में फैला डाली है कि उनका पड़ोसी यानी मैं 'सटूडैण्ट' हूँ। शायद 'परभाकर' की 'परिच्छा' के लिए जान खपा रहा हूँ।...नौकरी मुझे मिली नहीं, तभी तो दिन भर घर पर बैठा अखबारो के पन्ने पलटता रहता हूँ। शायद इसीलिए इत्ता बड़ा होकर ब्याह की बात नहीं सोच पाता।...लेकिन मैं खादी के कपड़े पहनता हूँ, इसलिए भला आदमी हूँ।

तब सम्भवतः उसकी किसी 'भैनजी' ने बतलाया कि आजकल खद्दर के कपड़े पहनने वाले सब भले नहीं होते। कुछ तो एकदम लफगे होते हैं—चोट्टे।

उस दिन मैंने देखा उसने पहली बार मुझे सन्देह की दृष्टि से देखा। फिर किसी बहाने मेरे सामने से गुज़रकर पूछा, "मैं रात को देर से क्यों आता हूँ?"

मुझे इस बार क्रोध नहीं आया, सहानुभूति ही जागी। विस्तार से मैंने उसे देर से आने का कारण समझाया तो उसे बेहद सन्तोष हुआ। अपनी भूल पर उसने पश्चाताप प्रकट किया और बतलाया कि अमुक भैनजी ने उससे यह बात कही थी। वह बड़ी झगडालू है। अपनी बूढ़ी सास के हाथ बाँधकर बड़ी बेरहमी से पीटती है। दो-दो दिन तक खाना नहीं देती...।

लेकिन उस दिन सचमुच ही उसकी आकृति देखने लायक थी, जिस दिन उसने सुना कि मैं 'सटूडैण्ट' नहीं, किताब लिखता हूँ, अखबार में लिखता हूँ और मैंने 'परभाकर' कब का पास कर लिया है।

लिखने वाला आदमी भला आदमी होता है, अच्छा आदमी होता है—उसकी इस अबोध धारणा ने उसमें कितने ही परिवर्तन एक साथ ला दिए थे, जिन्हे देखकर मुझे हँसी आई, दुःख भी हुआ। हँसी इसलिए आई कि वह ऐसी क्यों है और दुःख भी शायद इसी बात पर हुआ।

उस दिन से उसने गुसलखाने में एक भी तिनका धरने न दिया। कोयले की फटी बोरी काठ के टूटे बक्से में समेटकर अन्दर रख दी। गुड्डो को उस दिन से कभी भी अपने पास रोता नहीं देखा। पेटीकोट के ऊपर कसा हुआ काला ब्लाउज लगाकर बालकनी में झुककर खड़ी होकर, अपने सामने की पड़ोसिन से गला फाड़-फाड़कर बातें करते भी कभी नहीं सुना।

मैं देर तक क्यों पढ़ता हूँ, रात को देर से क्यों लौटता हूँ—उसने कभी शिकायत नहीं की.... ।

दो-चार दिन के लिए मैं बतलाए बिना ही एक बार बाहर चला गया (अपनी पुरानी आदत के अनुसार) और जब लौटा तो उसे बेहद उदास पाया। उसने चुपके से वे सारी पत्र-पत्रिकाएं मेरी ओर बढ़ा दीं, जिन्हें मेरी अनुपस्थिति में गलती से पोस्टमैन उसे दे गया था। उसने उन्हें कितना सहेजकर रखा था, मुझे आश्चर्य हुआ।

पास ही मार्केट से वह किराए पर कुछ किताबें ले आती। मेरे सामने अपने दरवाजे के आगे खटिया बिछाकर खाली समय में पन्ने पलटती। दूसरों को भी बिना पूछे नसीहत देती रहती कि पढ़ना बहुत अच्छा है। उसके पिताजी मरते दम तक उर्दू की रामायण और 'पंच-महाभारत' का पारायण करते रहे।

को-ब्याय टाइप की तंग पैंट पहनने वाले अपने पति को जिस दिन उसने खादी के ढीले-ढाले कपड़ों से विभूषित किया और मुझे चाय पर बुलाया—सचमुच मुझे अजीब-सा लगा। उसके पति की हालत भी विचित्र थी। फिर भी न जाने क्या सोचकर काठ के बुत की तरह चुप था। शायद पत्नी से डरता था।

चार-छह फटी किताबें, चार-छह फटी-पुरानी मैगज़ीनें उसने बड़े करीने से खुली अलमारी में सजा रखी थीं।

उसने सारा समय किताबों की ही बातें कीं। बचपन में उसे भी पढ़ने का शौक था—बेहद शौक। प्रेमचन्द जी की किताबों के उर्दू तर्जुमे उसने बड़े चाव से पढ़े थे। अपने मैके में उसने 'रवीन्द्र' जी का एक रंगीन फोटू किसी अखबार से उतारकर फ्रेम करके रखा था जो आज तक उसके पिताजी की बैठक में ज्यों-का-त्यों टंगा है। इधर ब्याह के बाद सब कुछ उलट-पुलट गया है। अपने 'इनसे' यह कितना कहती है, लेकिन ये सुनी की अनसुनी कर देते हैं।....अब मुझसे पुस्तकें माँगकर वह कभी-कभी पढ़ लेगी और पढ़कर लौटा भी देगी। जहाँ तक हो सकेगा वह गुड्डो के हाथ में नहीं देगी, क्योंकि वह नोच-नोचकर फाड़ डालेगा।

इन फिजूल की बातों से ऊबकर जब उसका पति सिगरेट सुलगाने के बहाने बाहर गया तो उसने कुछ क्षण का मौन भंग कर कहा—“इन्हें ऐसी बातों में कुछ भी रस नहीं आता। शायद इसलिए कि उन्होंने खुद भी तो अधिक पढ़ा नहीं। किता कहती हूँ, कोशिश करके मुझे कहीं प्राइमरी-पाठशाला में पढ़ाने का काम मिल सकता है, लेकिन ये हैं कि....।”

उसने फिर शिकायत से देखा और कहा कि मैं उसे अपनी पुस्तकें क्यों नहीं पढ़वाया करता!....जबसे पहली बार उसने मुझे देखा तो उसे लगा....। वह बाहर रद्दी के कनस्तर में से मेरे कागज़ों को ढूँढ-ढूँढकर पढ़ती है। क्या वह कहानी छप गई

जिसमें एक अबोध अनाथ बालिका अपनी माँ की लाश दोनों हाथों से पीटती है, क्योंकि वह उससे नहीं बोलती.... ।

आसमान पर उनीली, सुरमई चादरें बिखर गई हैं। एक परत के बाद एक—न जाने कितनी तहें। हवा में तनिक शीतलता है। इतनी लम्बी गर्मी के बाद—कजरारे बादलों की लटें! ठंडी-ठंडी बयार। मैं दरवाज़े-खिड़कियाँ सभी खोल लेता हूँ। कुछ लिखने में डूबा हूँ। सामने ही दरवाज़े के पास वह खुरड़ी खाँटिया पर गुड्डो को खिला रही है। गुड्डो नहीं—सी गेंद छिटककर फेकता है जो फुट्-फुट् उछलती मेरे कमरे की ओर निकल भागती है और पांवों के पास रुकती है।

उसकी निगाहें ठहर जाती हैं। गेंद लेने के बहाने वह दरवाजे तक आती है और ठिठक जाती है।

“सुबह से आज आप क्या लिख रहे हैं, भाईसा'ब ?”

“कुछ भी नहीं।” ....उमकी कभी न खत्म होने वाली बातों का सिलसिला मैं शुरू होने से पहले ही खत्म कर डालता हूँ।

लेकिन वह भी तो कुछ कम नहीं है—“नहीं, कुछ तो है....।”

मैं चुप रहता हूँ।

पर वह फिर कुरेदती है—“कुछ तो लिख रहे हैं!”

“हां, मैं चिड्डी लिख रहा हूँ....।” बिना ऊपर देखे ही बुदबुदाता हूँ।

“चिड्डी....ई ....ई !” ‘ई’ के साथ-साथ उसकी आंखें बड़ी हो जाती हैं—“इती बड़ी चिड्डी—आठ-दस पेजों की। हाय दय्या !” वह विस्मय से देखती है। विश्वास नहीं हो पाता, “नहीं, यह चिड्डी नहीं है। आप झूठ बोल रहे हैं।”

फिर कुछ क्षण ठहरकर धीरे-से कहती है, जैसे अपने आपसे बातें कर रही हो—“नहीं, नहीं, आप भी क्या कहीं झूठ बोल सकते हैं !....पर, यह चिड्डी....।”

मैं झुंझलाता हूँ, ‘हां-हां, तुम ठीक कह रही हो। मैं झूठ बोल रहा हूँ—मैं चिड्डी नहीं लिख रहा।”

उसे जैसे मन की बात मिल जाती है—‘तो फिर.... ?”

“मैं गाय पर निबन्ध लिख रहा हूँ....।” परेशान होकर मैं कलम रख देता हूँ और उसके चेहरे की ओर ताकने लगता हूँ।

कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। मुझे गम्भीर देखकर वह कुछ सहमती है, फिर चुपचाप चली जाती है।

मैं फिर लिखने का मूड बनाता हूँ।

आधा पेज भी पूरा हुआ नहीं कि देखता हूँ—वह फिर धमाधम कमरे में चली आ रही है—हाथ में गिलास थामे।

“यह क्या ?”

“क्या आपको प्यास भी नहीं लगती ? कब से गर्दन झुकाए लिख रहे हैं। गुड्डो

के पापा तो... !

न चाहते हुए भी पानी पीना पड़ता है।

रीता गिलास दोनों हाथों में थामे वह मेरे स्याह-सफ़ेद कागज़ों की ओर देखती रहती है।

“गाय पर निबन्ध लिखकर क्या होता है, भाईसा’ब ?”

“गाय दूध ज्यादा देती है।”

वह किलककर हँसने लगती है, “आप झूठे हैं...कहानी लिख रहे हैं !” फिर तनिक सोचती हुई कहती है—“आप ‘धारावाहिक उपन्यास’ क्यों नहीं लिखते ? सुना है आजकल बहुत चलन है उसका।”

मैं निरुत्तर उमकी ओर देखता रहता हूँ।

“भाईसा’ब !” वह एक दिन कहने लगती है—कुछ संयत स्वर में। जैसे बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहने जा रही है—“आप प्रेम-कहानियाँ लिखते हैं न ?”

“....”

“तो...तो...तो यानी। आप किसी से... !” वह कुछ हिचकिचाती है, “मतलब—किसी से प्रेम किया है न।”

मैं सिर हिलाता हूँ—“ना।”

“झूठे कहीं के !” वह अजीब-सी सूरत बनाती है, “नहीं तो प्रेम-कहानियाँ कैसे लिखते ?” कहते-कहते उसे कुछ याद आता है—“लेकिन भाईसा’ब, आप इन्ते सीधे हैं। फिर आपने प्रेम कैसे किया होगा ? लोग तो कहा करते कि प्रेम करने वाले लोग अच्छे नहीं हुआ करते...।”

मुझे हँसी आ जाती है उसकी बातें सुनकर।

वह दरवाज़े के सहारे खड़ी हो जाती है—“भाईसा’ब, प्रेम शादी के बाद हो सकता है ? गुड्डो के पापा तो कहते हैं कि वह बचपन में ही होता है, शादी से पहले। क्या वे सच कहते हैं... ?”

मैं चुप रहता हूँ।

“प्रेम क्या होता है, भाईसा’ब ?” वह फिर बड़े चिंतन के पश्चात् कहती है—“सनीमा वाले तो कहते हैं कि...”

मैं चुप रहता हूँ, पर वह ज़िद पर है—“क्या होता है, भाईसा’ब ! आप बतलाते क्यों नहीं ? लोग तो कहते हैं, आप दुनिया-जहान की सारी बातें जानते हैं। तभी तो लिखते हैं...।”

मैं बेहद परेशान हो उठता हूँ। तभी दरवाज़े के बाहर खट-खट जूतों की आवाज़ आती है। उसका पति सामने से निकल जाता है। मुझे बड़ी सकपकाहट होती है, लेकिन उसे चिन्ता नहीं।

उसके कमरे से फिर आवाज़ टकराती है—“भाईसा’ब को इत्ता भी नहीं आता।

पता नहीं कहानी कैसे लिखते हैं ?...क्यों जी, क्या होता है... ?”

मुझे उसके स्वभाव में हौले-हौले काफी परिवर्तन महसूस होने लगता है। न वह अब अधिक बोलती है, न हँसती है। गुमसुम चुप बैठी रहती है। एक बार उसने कभी शिकायत से कहा था—“गुड्डो के पापा की तरह इधर आप भी दिन-रात मुँह फुलाए क्यों रहते हैं, भाईसा’ब ?...एक बार भी आपने मुझसे यह नहीं कहा कि खादी के कपडे मुझ पर अच्छे लगते हैं। पुस्तकें पढ़ना अच्छा होता है। लिपिस्टिक लगाना छोड़कर मैंने अच्छा किया।” उसका स्वर रेत की तरह रीता हो गया था :

पत्थर के ढेले की तरह मैं चुप था, कुछ कहना चाहता था, लेकिन वह उसके लिए तैयार न थी... ।

अपने कोंपते गुलाबी अधरों को दाँतों से भींचते हुए, उसने आंचल का किनारा कसकर जकड़ लिया—“भाईसा’ब... !” वह कुछ कहती-कहती चुप हो गई और झटके से मुड़कर ओझल हो गई।

इधर मुझे काम कुछ अधिक रहता है। अतः सुबह जल्दी निकल पड़ता हूँ और काफी रात गए लौटता हूँ। वह दिखलाई नहीं देती।

गर्मी के दिनों में जमुना ही नहीं सूखती—नल भी सूख जाते हैं। प्रातः नौ बजे पहले ही नल सीटी बजाने का पूर्वाभ्यास करने लगते हैं। ऊपर की मंजिलों में तो बूँद भी नहीं चढ़ पाती, इसलिए सारी व्यवस्था नीचे से ही करनी होती है।

मैं फुरसत में था—एक दिन। बाहर खड़-खड़ा प्रेस वाले की प्रतीक्षा में था, तभी वह सामने से गुजरी। एक हाथ में अधभरी पानी की बाल्टी, दूसरे में पट्टी। माथे पर रिबन-सा संकरा सफेद टुकड़ा आर-पार बँधा था।

“क्यों—क्या हुआ ?” चौंककर मैंने पूछा।

हवा जैसे थम गई। पानी जैसे ठहर गया। उसने बाल्टी नीचे रख दी। दोनों हाथों से मुँह पर बिखरे बालों को पीछे धकेला और शून्य में न जाने क्या टटोलने लगी ?

उसकी इस चुप्पी से मैं सकुचा-सा आया—“क्यों, गिर पड़ी थीं क्या सीढ़ियों में ?”

वह उसी तरह देखती रही।

फिर मुँह को आंचल से पोंछा और चुपचाप चली गई।

मैं असमंजस में डूबा खड़ा सोचता रहा।

करीब बारह का घंटा ठनका। मैंने करवट ली। उठा और सुराही उड़ेलकर फिर सो गया। रात अभी काफ़ी थी।

तभी दरवाज़े पर आहट-सी आई—खट-खट।

मैंने ध्यान नहीं दिया। शायद चूहे उछल रहे होंगे।



फिर वही टिक-टिक । और फिर लगातार... ।

मैं झुंझलाकर उठ बैठा हूँ—“कौन ?”

कोई आवाज़ नहीं। केवल सफ़ेद चादर में लिपटी एक छाया-सी खड़ी सामने आ जाती है ।

मेरे मन में तरह-तरह की शंकाएँ जगीं। बिजली के बटन पर हाथ गया और धूल की तरह ढेर-सारी रोशनी बिखर पडी। उनींदी आंखों में दर्द-सा होने लगा ।

“क्यों... ?” मैंने प्रश्नभरी दृष्टि से देखा ।

“भाईसा'ब, मुझे नींद नहीं आती। गुड्डो के पापा मुझे रोज़ मारते हैं।” उसने भोले-भाव से कहा ।

“क्यों ? क्यों मारते हैं ?”

“पता नहीं।” हताश होकर उसने कहा—“मुझमे कहते हैं कि मैं भली औरत नहीं हूँ ।”

“क्यों ?”

“कहते हैं—मैं सब जानता हूँ। तुम अब लिपिस्टिक क्यों नहीं लगाती ? किताबें क्यों पढ़ती हो ? खादी की धोती क्यों पहनती हो ?... भला देखिए, इसमें क्या हरज है... ?” वह कुछ और समीप आकर ठिठक गई ।

‘भाईसा'ब, वे कहते हैं, तू अपने भाईसा'ब को प्यार करती है। घुल-घुलकर बाते करती है। क्या वे आपसे बातें नहीं करते ? फिर मैं भी कभी बोल ली तो कौन-सा अपराध कर बैठी ? बतलाइए... ?”

मेरा रक्त जमने लगा। मुझसे कुछ कहते न बना ।

पर वह कहती गई—“कल मुझे क्रोयला तोडने वाली मृगरी से मारते थे। कहते थे—“तू उसी साले के साथ भक्तन बनकर हरद्वार चली जा और ब्याह कर ले... ।” वह दाँतो मे जीभ काटती है, “चवऽ।... देखिए न, ऐसा पाप बोलते है ?... ऐसा भी कहीं हो सकता है ? मैं भक्तन बनकर आपके साथ हरद्वार क्यों जाऊँ ? जिस औरत का ब्याह हो गया—वह कहीं किसी और के साथ जा सकती है ? ऐसी बातें सोचने से परलोक बिगडता है न। फिर पता नहीं उन्हे क्या हो गया है ?”

वह मेरी ओर भयभीत आतुर आखों से देखती है—“आप ही बतलाइए क्या मैं आपको प्यार करती हूँ ? कहीं ऐसा हो सकता है।—खुद ही तो वे एक दिन कहते थे कि प्रेम, विवाह से पहले होता है—बचपन मे। फिर मेरा ब्याह हुए आज कित्ते बरस बीत गए... ।”

उसकी रीनी आँखों में अजीब उदासी उभर आई—“आप पढ़े-लिखे हैं ? समझा दीजिए न। कहिए कि हम एक-दूसरे को प्यार नहीं करते, केवल बातें करने हैं... ।”

वह मेरी ओर देखती है, “आप चुप क्यों हैं ? देखिए न, उन्हें कितना गुस्सा आता है ? मेरी कलाई की हड्डी तोड़ डाली। किसी दिन वे मेरी जान लेकर रहेंगे।... सोचिए, तब मेरे गुड्डो का क्या होगा... ?” उसकी फ्लकों पर ओस की बूँदों की झालर

लटक गई। और बच्चों की तरह उसकी नाक बहने लगी।

मैं किसी तरह उसे चुप कराता हूँ। मनाता हूँ। विश्वास दिलाता हूँ कि कल सब ठीक हो जाएगा। मैं उन्हें समझा दूँगा।

वह आँखें पोंछती है, “सच, समझा देंगे न! भूलेंगे तो नहीं!”

मैं सिर हिलाता हूँ—और वह चली जाती है।

सुबह घड़ी भर रात पहले जागता हूँ। असबाब बाँधकर ताँगा मँगवाता हूँ।

ताँगे पर सामान लादकर मैं चलने को ही था कि देखता हूँ वह खिड़की पर खड़ी है। दोनों आँखों की खिड़कियाँ खोले—“भाईसा’ब, आप क्या चले जा रहे हैं…?” उसका मुँह खुला-का-खुला रह जाता है।

“हाँ।”

“पर, आपने उन्हें समझा दिया न कि…!” सहसा उसे जैसे कुछ याद आ गया। वह अधीर होकर देखती है।

मैं क्या कहूँ उससे! सिर हिलाकर स्वीकृति देता हूँ और ताँगेवाले से चलने का इशारा करता हूँ।

“अरे, सुनिए…सुनिए तो…ओ …sss!”

ताँगा सहसा रुक जाता है।

वह भीतर जाकर फिर खिड़की पर खड़ी हो जाती है। अपने पति का हाथ थामे है—“जी…देखिए, देखिए वो भाईसा’ब जा रहे हैं…! देखिए उन्होंने आपको समझा दिया न कि…वे …! तो अब तो आप मुझे गाली नहीं देंगे! रोज हथौड़ी से नहीं मारेंगे न!” वह जोर से रो पड़ती है, “देखिए, मेरा हाथ टूट गया…!”

ताँगा खट-खट दूर निकल भागता है। मैं पिछली सीट पर बैठा देखता रहता हूँ—आँसुओं से भीगा, उसका पट्टी बँधा सफ़ेद हाथ साफ़ दीख रहा है।

□

## सीमा से कुछ और आगे

कल रात तार मिला और मिलते ही वह जाने की तैयारी में जुट गया।

तैयारी के नाम पर कुछ भी ऐसा न था, जिसे 'नया' कहा जा सके। वे ही तन पर टगे कपडे। अधफटे, पुराने जूते। टूटी हुई चितकबरी अटैची। जमा पूंजी—कुल मिलाकर छब्बीस-सत्ताईस रुपए—जो होटलवाले के लिए रख छोडे थे।

टिकट हो जाएगा—उसने सोचा। अटैची में दो-चार जरूरी वस्तुएँ ठूँसी और मुँह-अधेरे स्टेशन की ओर निकल पडा। सुबह छह बजे वाली 'जनता' मिल गई तो दोपहर तक बरेली पहुँच जाएगा। उसके बाद बस या ट्रेन, सुभीते से जो भी मिले।

सारे कामों में कहीं उतावली न थी। वह इत्मीनान के साथ हर काम पूरा कर रहा था, जैसे सब सहज और स्वाभाविक हो।

परतु रेल में बैठते ही कुछ अजीब-सा अहसास हुआ उसे। जो कुछ हुआ या हो रहा है—सच नहीं लगा। कोट के भीतरवाली तिरछी जेब से उसने तार फिर निकाला। फिर पढा। विश्वास तब भी न हुआ। टाइप के गिने-गिनाए केवल चार-पाच शब्द। लिखा था—'फादर एक्सपायर्ड। कम सून।' नीच हस्ताक्षरों की जगह बच्चू का नाम था।

जमुना-ब्रिज से जब ट्रेन खडखडाती हुई आगे बढ़ी, तो उसने खिडकी से बाहर झाँका—सूरज उग रहा था और जमुना का काला, हरा जल अजीब ढंग से जगमगा रहा था।

शायद उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई। विस्फारित नेत्रों से बस ताकता रहा। पिताजी गुजर गए, उसका दिल अब तक भी गवाही देने के लिए तैयार न हो पा रहा था।

गत कितने वर्षों से वह घर नहीं गया। पिताजी ने घर आने के लिए एक तरह से लिखना ही छोड दिया था। कहते-कहते हार चुके थे। अम्मा बच्चू से यदा-कदा पोस्टकार्ड गिरवा देती थी—“तुम्हारे पिताजी आँख से नहीं देख पाते। कारोबार अब

कुछ शेष रहा नहीं। जिनके पास जितना उधार था, सब डूब गया, पर दूसरों की देनदारी सिर पर टंगी है। छोटा मकान गिरवी रख दिया। बच्चू अब आठवीं पास कर लेगा। उसके आगे पढ़ाने के लिए भी सोचना है। रिचा सयानी हो गई है। इतनी बड़ी लड़की घर रखते भी लाज आती हैं। इसके साथ की सभी के ब्याह हो गए... जब से तुम्हारे जीजा गुजरे, निर्मल भी अपने बच्चों के साथ यहीं रहती है। वहाँ है ही कौन जो ...।”

पत्र अधूरा पढ़कर वह रख देता था... कभी-कभी यों ही पड़ा छत की ओर देखता हुआ रात गुजार देता—अजीब-सी एक ठंडी उदासी उसके जिस्म के भीतर कहीं स्पज की तरह भीग गई थी। आँखों के नीचे गहरी झाइयाँ उभर आई थी। उसे सूझता न था कि क्या करे !

धीरे-धीरे सब सिकुड़ने-सा लगा। घर के बारे में विचार आने कम हो गए। पता नहीं क्यों बातें भूलने की उसे बीमारी-सी हो गई थी। ऐसी बीमारी, जिसका कहीं कोई इलाज दीखता न था...।

खिड़की से सनसनाती हुई धूलभरी ठंडी हवा आ रही थी, उसे खबर न थी। इंजन का कोयला दो-तीन बार आँखों में गिरा, पर वह पलकें मीचें वैसा ही बैठा रहा।

अंतिम बार पिता को उसने तब देखा था, जब कुरुक्षेत्र-स्नान के लिए ताऊजी के साथ दिल्ली आए थे। चंद्र-ग्रहण या सूर्य-ग्रहण का कोई पर्व था। शायद जाड़ों के दिन। इतनी बड़ी दिल्ली में घर कहाँ खोजने। अतः मिल के गेट पर, चादर ओढ़े आधी रात को ही बैठ गए थे। सुबह छह बजे सायरन बजते ही वह जब कर्मचारियों की भीड़ के साथ गेट के भीतर घुसने लगा तो विस्मय से देखा—पिताजी उसकी बाँह पकड़कर खड़े हैं और बच्चों की तरह लिपटकर, सिसक रहे हैं...।

हाँ, उस दिन वह काम पर न जा पाया था। उन्हें साथ लेकर उल्टा डेरे पर लौट आया था, जहाँ नीचे मकान-मालिक की भैसैं बँधी थीं। तमाम कीचड था। बित्ते भर की दुछत्ती में टूटे किवाड़ से आया पानी भीतर भरा था। जूटे बर्तन और गंदे कपड़े। रजाई बरसात में बुरी तरह गल गई थी।

“अरे, तू ऐसी जगह रहता है, नीरे।” ताऊजी ने सहज आश्चर्य से पूछा।

वह कुछ उत्तर न दे सका। पिता ग्रामीण-सुलभ अबोध भाव से देखते रहे।

चाय पीने के बाद उठने लगे तो कहा, “नेरी अम्मा भी साथ आई है, बसत (छोटा मामा) भी। गाँव के ही और बहुत जने हैं—स्टेशन पर। कहते थे—नीरेन के डेरे पर आराम से नहा-धोकर, खाना बनाएंगे। रूखा चबैना खाते-खाते ऊब गए हैं। पर ऐसे में उन लोगों को लाना कैसे हो सकेगा... हाँ, तू ही चल। सबसे वहीं मिल लेना...।”

किसी तरह, कहीं से कुछ पैसे जुटाकर वह तैयार हुआ, तो पिताने टोका, “दाढ़ी तो बना ले। कपड़े ठीक ढंग के पहन ले। गाँव के भाई-बिरादर देखेंगे तो क्या कहेंगे... अरर, 5 अ 5... इस सर्दी में चप्पल पहने है। तेरे पास जूता नहीं।”

वह दाढ़ी बनाकर, उन्हीं कपड़ों में, जब वैसा ही चप्पलें घसीटे चलने लगा, तो

इस बार किसी ने कुछ कहा नहीं तीनों चुपचाप चलते रहे।

प्लेटफार्म के किसी एकात कोने में, यात्रियों की भीड़ से अलग, सब बिखरे पड़े थे—धूप के पीले चकत्तो के ऊपर—मधुमक्खियों की तरह।

इन सब परिचितों की भीड़ में वह अपने को अजनबी सा अनुभव कर रहा था, निपट अकेला।

वह देखता रहा—माँ इन चँद वर्षों में बहुत बदल गई है। अभाव और गहरे सघर्ष की छाप उनकी बूढ़ी आकृति पर स्पष्ट पढ़ी जा सकती है। पिता लाठी के सहारे भी अब मुश्किल से चल पाते हैं। शरीर काँपता है।

स्टेशन पर कुछ देर उखड़ा-उखड़ा-सा यो ही खड़ा रहकर, जब वह सबसे विदा लेकर चलने लगा तो पिता ने पीछे से भागते हुए पुकारा। एकात में कुछ पास आकर, हौले से बोले, “कुरुक्षेत्र से लौटते समय अब शायद भेट न हो सकेगी हॉ, घर लौटने का इरादा तूने अब कतई छोड़ दिया है ?”

वह चुप रहा।

“मिल में कब से है ?”

“पिछले महीने से।”

“कुल कितने मिल जाते हैं ?”

“नब्बे-पचानबे।”

“कब तक की नौकरी है ?”

“फिलहाल दो महीने की।”

“फिर क्या करेगा ?”

वह कुछ कह न सका।

ढलती जिन्दगी में यह सब भी होना है। बूढ़े पिता इसके लिए तैयार न थे। कुछ और पास आकर, अपनी अँगुली से चुपके से अँगूठी उतारकर उसकी जेब में डालते हुए बोले, “अब कुछ नहीं बचा है मेरे पास। इतना पढ़ाने-लिखाने के बाद भी तू अपना ही गुजारा न चला सकेगा, सोचा न था। खैर, हरि इच्छा। अपने लिए दूध लगा लेना। घर की चिंता न करना। मैं दो-चार साल और जी गया, तो सब ठीक कर जाऊंगा।” उनका गला गदरा आया था।

अमरोहा से आगे टिकट-चेकर ने टिकट माँगा, तब भी वह वैसा ही पड़ा रहा। बिना देखे टिकट उसने सामने बढ़ा दिया।

ट्रेन कब कहाँ पहुँची, कब कहाँ बदली, उसे ठीक-ठीक याद न रहा। तीसरे दिन, रात के झुटपुटे में वह बस की धूल से सना, घर पहुँचा तो वहाँ एक अजीब-सी उदासी मिली—एक विचित्र-सा वातावरण।

उसे देखते ही अम्मा बिलख-बिलखकर रोने लगी—जैसे सारा रुदन उसी के आने के लिए रुका प्रतीक्षा कर रहा हो। रिचा एक कोने में खड़ी, फटी धोती के आँचल में मुँह छिपाए सिसक रही थी—गत वर्ष पिता ने बच्चू का यज्ञोपवीत पता नहीं क्या

सोचकर कर दिया था ! नीरेन के आने की आशा अधिक न देखकर, उसे ही ब्राह्मणों ने सिर मुड़ाकर क्रिया-कर्म पर बिठला दिया था... बड़े भैया को देखते ही वह भी रुलाई न रोक सका, बिफरकर रोने लगा...

ब्राह्मणों के अलावा निकट के नाते-रिश्ते के कुछ और लोग भी आए थे। सब चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए।

नीरेन की आँखों में अजीब-सा वीतराग था। कहीं कोई स्पष्ट भाव नहीं—न दुःख का, न सुख का। तटस्थ दर्शक की तरह वह सबसे अलग—सब देख रहा था।

“तार कब मिला नीरी ?” निर्मल’दी ने पूछा।

“परसों।”

“टनकपुर में कोई मिला था ?”

“मैं किसी से मिलने नहीं गया।”

“तो कल रात कहाँ रुका ?”

“बस के अड्डे पर।”

सर्दी अधिक थी। कोई काली-मिर्च की चाय लाया तो वह पी न सका। गिलास हाथ पर थमा का थमा रहा।

“खाना कहाँ खाया था ?”

वह चुप रहा। सूखे होंठों पर जमी पपड़ी दाँतों की सहायता से अनजाने, अनायास उतारने लगा।

“रिचा, खाने की जुगत कर ! बैठी रो क्यों रही है ?”

रिचा अभी उठ भी न पाई कि नीरेन वैसा ही बुदबुदाया, “भूख नहीं, आज नहीं खाऊँगा।”

“क्यों नहीं खाएगा ?” अम्मा रुलाई भरे स्वर में गुस्से से बोलीं, “जब से दिल्ली से चला है, इसने खाना नहीं खाया होगा। मैं जानती हूँ। तभी तो इसके यह हाल हैं। सूरत कैसी हो गई है, पहचाना तक नहीं जाता।”

बच्चू ने सिर मुड़ाया है। सफेद कंबल ओढ़े पयाल के बिछौने ऊपर बैठा—बौद्ध भिक्षु-जैसा लग रहा है। ग्यारह दिन तक उसे यहीं सोना है, जब तक क्रिया-कर्म का टंटा पूरा नहीं होता। सिर के समीप, बगल के कोने में, जौ की ढेरी के ऊपर ताँबे की छोटी पतीली है, जिसके भीतर रखा घी का दीपक दिपदिपा रहा है। पास ही दो-तीन ब्राह्मण लेटे खरटि भर रहे हैं।

बाहर के प्रायः सभी मेहमान अब सो गए हैं, बस वह जाग रहा है, अम्मा जाग रही हैं।

“...पिछली सर्दियों में बीमार हुए थे। उसके बाद थक-थक-से आए...” अम्मा जैसे अपने को सुनाकर कह रही हैं, “पिछले हफ्ते तबीयत एकाएक अधिक खराब हो गई तो बच्चू वैद्य बुला लाया, पर उन्होंने दवा न ली। उल्टे बेचारे वैद्य पर उबल पड़े। कहने लगे, तू भी हमारा धुआं देखना चाहता है ! मुझे दवा नहीं लेनी। खुद-ब-खुद मैं

ठीक हो जाऊँगा...तू जा...।”

“वैद्य चला गया तो बच्चू पर बिगड़े—क्यों बे, तू बिना मुझे पूछे क्यों गया था ? नब्ब देखकर वह लाल पानी पिला देगा। दस-पंद्रह का बिल हाथ में थमा देगा। बता, कहाँ से चुकाएगा पैसे ?”

वह चुपचाप सुनता रहा।

माँ आगे बोलीं, “अन्न बहुत पहले छूट गया था। दूध भी नहीं लेते थे...तेरा मामा पचास रुपए दे गया था, उससे कुछ खर्चा चला। कभी-कभी कुछ फल रमा भिजवा दिया करता था। मरते समय घर में धेला तक न था। तेरे ताऊजी ने ही सब इंतजाम किया। उनका भी सौ-सवा सौ चुकाना होगा...ऐसी हालत में—‘गरुड-पुराण’ कैसे होता...अस्थियाँ हरद्वार बहा आते, पर अभी तो क्रिया-कर्म का ही काम सिर पर पड़ा है। सब कैसे निभेगा... ?”

वह आँखें मीचे बैठा था। सब सो गए, तो वह भी अपने कमरे में चला गया।

यहाँ पिता सोते थे, उसे याद आया। सभवतः यहीं उनकी मृत्यु हुई होगी। दीवार पर धुँ से पीला लक्ष्मी का पुराना रगीन चित्र अब तक टंगा है। नीचे मोटे-मोटे अक्षरों में आरती के भजन लिखे हैं। आले में उसके भेजे हुए कुछ पुराने पत्र बेतरतीब पड़े हैं, जो धूल और धुँ से इतने पीले पड़ चुके हैं कि पढ़े तक नहीं जा सकते...और बगल वाले कमरे में करम का दीया अकेला जल रहा है। उसी के पास बच्चू प्रगाढ़ निद्रा में सोया है। पास ही कमरे में किसी के रोने का स्वर अब तक व्याप रहा है...।

अंधेरे में वह सारी रात बैठा रहा, सो न सका। सुबह सब उठे, तब भी वह वैसा ही जागा बैठा रहा।



## भेड़िए

मछेरा जैसे जाल समेटता है—वह निगाहों का पैमाना छोटा कर लेती है। एक बिन्दु की परिधि एक दुनिया समा लेती है...।

“आज पहला दिन है।” किसी का भारी हाथ कटकर उसके कन्धों पर गिरता है, “कुछ तो रहम करो बेचारी फाइलों पर! इनसे आज का ही नहीं, अब उम्र भर का वास्ता है।”

मिस अनिल सामने खड़ी है। अकारण मुस्करा रही है।

अनिल उसे किसी फिल्म एक्ट्रेस-जैसी लगती है—भारी...नाटी...कुछ-कुछ मूँछों वाली...। आज लेडीज़-रूम में मंजीत ने उसका परिचय कराया था।

अनिल ने हाथ मिलाया। सहलाया। दबाया और हौले-से शरारत से चूम लिया।

“तुमने माइण्ड तो नहीं किया ?”

नन्दिता कुछ न कह पाई थी।

“तुम मेरी बेटी की उम्र की हो। भले हो मेरी मैरेज नहीं हुई तो क्या हुआ...।”

हरबिन्दर हँसती है, “मिस अनिल की मूँछों का भी तो कुछ लिहाज करो!”

सब हँस पड़ती हैं।

कोई मिस अनिल के कन्धों पर हाथ रखती है, “रियली, डेली जेन करती हो ?”

फिर साम्मालित ठहाका।

कोई त्राश-बेसिन से परे खड़ी है। किसी दूसरी के कान में कुछ फुसफुसा रही

नन्दिता समझ जाती है। उसका एक हाथ कटा है। उसी की बात है...।

“आइए, बैठिए न!” वह फाइल पर हटाकर कहती है। बगल की खाली कुर्सी के लिए खिसका ले गया है। अतः रैक की फाइलों पर ही अनिल तरह कुचलकर दब जाती है।



“काम कैसा है ?”

“ऐसा ही ।” होंठो की सिकुडन के साथ-साथ वह हाथ हिलाती है, ‘बोरिंग...।’

“क्लीग ।”

“ठीक हैं ।”

“और असिस्टेण्ट ?” उसकी पलके बड़ी हो आती है । “मिसेज कपूर ने उसे बड़ी लिफ्ट दी ।” वह कहना चाहती है, पर कहती नहीं ।

“ठीक है ।”

“ठीक नहीं, अच्छा .. ।”

“अच्छा-वच्छा क्या ।” नन्दिता कहती है, “सुबह से पाँच दफा चाय मँगा चुका है ।...लोफर-जैसा लगता है ।...नई फाइल में टैग बाँधन को कहा । मुझसे एक हाथ से ठीक ढग से बाँधी न गई, तो घोड़े की तरह मुँह फाड़े हँसने लगा, “तुम्हें तो नाडा बाँधना भी नहीं आता, मिस .।”

मिस अनिल हँस पडती है, “और क्या कहा ?”

“कुछ नहीं ।”

“हाथ-वाथ तो नहीं दबाया अभी ?”

नन्दिता सशक्ति दृष्टि से देखती है, “न्ना ।”

“वाणिज्य-विभाग का ‘बायरन’ है यह । बचकर रहना... । इसका कोई दीन-ईमान नहीं, कब क्या कर बैठे ।”

नन्दिता चुप हो जाती है, जैसे बचकर रह गई हो ।

उसका बायाँ कटा हुआ हाथ मानी के पल्लू से हमेशा की तरह छिपा है । दाएँ हाथ को मेज पर रखे, पिन से ब्लाटिंग-पैड पर टिक-टिक छेद कर रही है ।

“हाथ काले क्यों कर लिए ?” मिस अनिल नन्दिता की हथेली में डाकखाने की मुहर लगाने वाली काली चिकनी स्याही का निशान-जैसा देखकर पूछती है ।

“उस कलमुँहे डीलिंग-क्लर्क ने काले कर दिए ।’ वह सरोष कहती है ।

“कैसे ?”

“कैसे क्या ।” विचित्र वितृष्णा से नन्दिता कहती है, “सर्विस-सीट पर पार्टिकुलर्स लिखने के बाद अगूठे का निशान लगाया । फिर हर अगुली का अलग-अलग । मुझसे कहने लगा तुम्हे अंगूठा लगाना भी नहीं आता । यो दबाओ—यो... । एक-एक कर फिर मेरी अंगुलियों को दाईं मे बाईं ओर सर्विस-सीट पर खुद ही दबाने लगा । मेरी साड़ी पर भी एक डोरा लग गया । मैंने खीझकर देखा, तो मुस्कराने लगा । साड़ी पर कोई बात नहीं, कालिख मुँह पर नहीं लगनी चाहिए... । बेशरम !” नन्दिता मुँह बिदोरकर देखती है और मिस अनिल पिन की नोक से दाँत कुरेदती मुस्कराती है ।

“अभी तीन भी नहीं बजे ।’ नन्दिता अंगड़ाई लेती है, “कैसे साढ़े पाँच बजेंगे । कैसे दिन कटेगा ! इस माहौल में कैसे जिन्दगी बीतेगी... !” उसकी आकृति उदास हो

जाती है।

मिस अनिल चली जाती है। नान्दता साड़ी में छिपा कटा हुआ हाथ देखती है—जैसे एकान्त में अपने मन की गहरी गुप्त बातें अनायास उभर आती हैं...।

उसका मन गहरे में डूब जाता है।

अपना बायाँ हाथ वह हमेशा साड़ी में छिपाए रखती है। न जाने क्यों उसे विचित्र-सा लगना है। किसी को भी जाने या अनजाने वह इसका आभास नहीं होने देना चाहती। भले ही इसी कारण से उसे सर्विस में रखा गया है कि वह 'विकलांग' है, नहीं तो भर्ती कब से बन्द है। मरकारी दफ्तरो में इमर्जेन्सी के बाद नौकरी मिलना और भी कठिन हो गया है—असम्भव सा।

वह फिर फाइल पर पुते अक्षरों को पढ़ने लगती है। सूझ नहीं पाता—यह कौन-सा केम है ? कहाँ से आरम्भ होकर कहाँ पर समाप्त होता है ?

असिस्टेंट ने सुबह चाय के साथ-साथ बर्फी भी खिलाई थी। मिस 'नान्दता' कहकर बनावटी ढग से होंठों को सिकोड़कर दो-तीन बार बुलाया भी था। और अब फिर किसी फाइल के साथ वह बुला रहा है। "पूछ रहा है, उसके कुल कितने भाई-बहन हैं ... ? कहा रहती है... ? किस बस से जाती है... ? उसे बड़ा आश्चर्य होता है, यह जानकर कि उसकी बड़ी बहन अब तक कुंवारी है...। फिर वह उसकी उम्र के बारे में पूछता है और फिर यह भी पूछना नहीं भूलता कि दिन भर घर में पड़ी-पड़ी क्या करती है... ? किसी दिन वह अपनी बहन के साथ उसके घर आए तो अच्छा रहेगा। वह उसकी बहन को लेकर अपने दोस्त के घर जाएगा और फिर कहीं न कहीं नौकरी पर भी लगा देगा...।

काठ की वर्गाकार मेज पर पानी की बूँदे बिखरी हैं। पानी-भरे तीन गिलास। टिन की दो कुर्सियाँ मुँह बाएँ रूठी हैं। नीचे रेलवे प्लेटफार्म की तरह लोगों का शोगुल है। केबिन में इस समय और कोई नहीं है।

“इससे पहले कहा थीं ?”

“किसी प्राइवेट कॉलेज में।”

“किस पोस्ट पर ?”

“एज ए क्लर्क...।”

“चाय में चीनी कितना लेती हो ?”

“एक चम्मच—बस्स।”

“यहाँ का माहौल ऐसा ही है।” मिस उपाध्याय की आवाज़ है, “सब सर्कमस्टेंसेज हैं। कौन नहीं चाहती, उसकी एक गृहस्थी हो, फूलता-फलता एक सुखी परिवार हो। पति ऑफिस से आए, तो वह घर की देहरी पर प्रतीक्षा में खड़ी रहे। किन्तु सारा ढाँचा ही अब बदल गया है। ज़िन्दगी एक व्यवसाय बन गई है...।” वह एक गहरी साँस लेती है।

नन्दिता कुछ कहती नहीं। जिज्ञासा से उसकी ओर ताकती रहती है।

“सुमन और बूढ़ी असिस्टेंट सोबती के चक्कर से बचना। उनकी सोहबत में बिगड़ जाओगी।……ऐसी कोई रात नहीं, जिसे वे घर पर बिताती हैं। परसों प्रभा कहती थी, कनाॅट-प्लेस के रीगल वाले बस-स्टॉप पर सुमन रात के ग्यारह बजे खड़ी थी। तभी एक टैक्सी रुकी। दो आदमी पता नहीं उसे कहां ले गए:……डेढ़ सौ रुपए महीने की नौकरी में दो-दो सौ की साड़ियाँ कहां से पहनी जाती हैं……?”

नन्दिता को यह सुनकर अचरज नहीं, अजीब-सा लगता है। मिस उपाध्याय के साथ-साथ वह कैण्टीन से आती है……। मिस उपाध्याय को सब ‘मीरा’ कहती हैं। कहती हैं कि उसके गिरधर नागर किसी ऐंग्लो-इंडियन लड़की से इसी पिछली मई में चर्च में जाकर ब्याह रचा चुके हैं। किन्तु वह अभी तक भी अपने को ‘उन्हीं’ की मानती है। ज़हर का घूंट अमृत मानकर पीती है।

ऑफिस पहुँचकर मिस उपाध्याय को अपने कमरे में चला जाना चाहिए था, पर वह जाती नहीं, नन्दिता की सीट पर बैठ जाती है। उसे नन्दिता बछिया-जैसी निरीह लगती है।

कुछ क्षण चुप रहकर वह सामने की सीट की ओर इंगित करती है।

नन्दिता समझ नहीं पाती।

“आज सैटरडे है न! कल फुल सन-डे मनाया जाएगा।……गंजी टाट वाला बूढ़ा पंडित भी साथ जाएगा। (उसका तात्पर्य ए.ओ. से था) कोमलसिंह अपना सफारी बैग, कम्बल, कोट, सारा ‘किट’ उठाकर लाया है। देख रही हो न सामने! आज मेरिना या किसी दूसरे होटल में रात कटेगी। जगह भी तो चाहिए न!……एम. को सबने खराब कर दिया है। तीन-तीन चार-चार साथ जाते हैं……।”

नन्दिता की पलकें फैल-सी जाती हैं। टाइपिंग-सेक्शन की ओर उपाध्याय चली जाती है। नन्दिता फिर फाइलों की ओर देखती है। फिर घड़ी की ओर। उसे लगता है, फिर वह अकेली रह गई है……।

सामने की पॉचवी सीट पर सुमन चहक रही है। बड़े भदे ढग से हाथ हिला रही है। हँस-हँसकर बातें कर रही है। उसके बाहर की ओर उभरे मसूडे बड़े भदे लगते हैं। छाती बच्चों वाली औरत की तरह भर आई है। नितम्बों का भार सम्भाल नहीं पा रही है। अभी उम्र ही क्या है! वह झटके से गरदन हिलानी है।

“ज़मीन से जितना ऊपर दिखती है, उससे ज्यादा ज़मीन के भीतर है।” कोई पिछली सीट पर बातें कर रहा है।

“देख तो ठाकुर, तेरी चाची कैसे कूल्हे मटकाकर चल रही है! मछली के कटे हुए लाल टुकड़े-जैसी वीभत्स लग रही है।”

नन्दिता सारी फाइलों की धूल झाड़ती है। उन्हें करीने से लगाती है। सारे लेटर्स एक पैड में बाँधती है। सीट को साफ करती है, जैसा तुलसी का चौरा ठीक कर रही हो।

माँ की बातें उसे फिर याद आ रही हैं, जो उन्होंने आज सुबह फिर कही थीं, “सुन, जल्दी आना! हाँ, तुम देर से लौटती हो, तो मेरा खून सूखने लगता है। हमें तुम्हारे पैसे का मोह नहीं, पर ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए कोई सहारा तो चाहिए न! माँ-बाप कब तक रहते हैं। हम गुज़र गए, तो क्या करोगी?”

वह अपने बिन्ते-भर के रूमाल से पैड के तिकोने किनारे साफ करती है।

असिस्टेंट पास से गुज़र रहा है, ‘तुमने तो सचमुच सीट चमका दी!’

“जी नहीं, ऐसे ही कुछ ठीक-ठाक कर दिया।”

“मेरी बात का बुरा तो नहीं मानती!”

“नहीं, सर। आप मेरे पिताजी के समान हैं। जो कुछ कहेंगे, सब मेरे भले के लिए ही तो न!”

उसे झटका-सा लगा। जिस गहराई से, जिस सहजता से, उसने यह सब कहा, वह कल्पना भी नहीं कर सकता था।

सवा पाँच पर वह सीट से बैग थामे उठ ही रही थी कि चपरासी ने बताया, साहब बुला रहे हैं।

वह डरी-डरी-सी बैग थामे सुपरिण्टेण्डेंट के कमरे में जाती है।

“काम आ रहा है समझ में?”

“जी हाँ।”

“एक हाथ से काम चल जाता है?”

“जी।”

“कुछ परेशानी हो तो कहना। आइ थिलप हेल्प यू....।”

नन्दिता सिर हिलाती है—कृतज्ञता से।

वह चलने लगती है, तो फिर सामने से स्वर आता है, “कभी हमारे घर आओ न, आजकल हम अकेले हैं....।”

“क्यों नहीं आऊँगी, सर।” बड़े सरल-भाव से नन्दिता कहती है।

उसे बड़ी कोफ्त होती है—यह लड़की कैसी है—बुद्धू।

लेडीज़-रूम में सब अपने होंठों को पोतने, बाल और साड़ी के पल्लू ठीक करने लगती हैं। जैसे बाहर फैशन-परेड की तैयारी हो।

कोई आँखों पर जल के छीटे डाल रही है, “तुम्हारे केस का क्या हुआ?” दूसरी से पूछ रही है।

“कौन से केस का?”

“वही, फरीदाबाद वाला....।”

दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं।

“यह साड़ी कैसी पहन रखी है, मिस नन्दिता! कितनी रफ है।” अपनी इम्पोर्टेंट साड़ी पर फाल देती हुई सुमन कहती है।

नन्दिता कहती नहीं कुछ, हँस भर देती है।

“शाम का क्या प्रोग्राम है ?” किसी ने अपने बया के घोसले-जैसे बालों को दूर से ही सहलाया ।

“कोई खास नहीं ।”

“सीधी घर जाती हो ?”

“हाँ ।”

“काफी फ्रेश लगती हो । मुँह पर कौन-सा क्रीम लगाती हो ?”

“कोई नहीं ।”

“आज कॉफी लो न हमारे साथ ।”

“कॉफी कडवी लगती है ।” नन्दिता मुस्कराती हुई कहती है ।

इस उम्र में तो जहर भी मीठा लगता है, डियर ।” वह हँसती हुई मिस उपाध्याय की तरफ देखती है । फिर छोटे-से रूमाल से होठों को पोछती हुई कहती है, “तुम्हारे गिरधर नागर के क्या हाल है ?”

“किस गिरधर नागर के ।” कोई पास ही शीशे में अपनी आकृति ठीक करती हुई बीच में बोल पड़ती है ।

“मीरा के, नागर नम्बर-नौ के ।”

मब हँसने लगती है । मिस उपाध्याय झेप जाती है ।

नन्दिता शीशे में नहीं देखती । मोर की निगाह जैसे अपने पाँवों पर जाती है, वैसे ही उसकी पलके भी कहीं अटक आती है ।

वह भीड़ के साथ बाहर आती है । बर्ष के छत्ते पर जैसे अगारा गिर पड़ा हो—सब इधर उधर, अपनी अपनी दिशा में बिखरने लगती है । साइकिल सवारों का जुलूस सा चला जा रहा है ।

उसके मन में कुतूहल का भाव जागता है । पीले-पीले टिफिन-कैरियर उठाए लोग जा रहे हैं, भागे जा रहे हैं ।

खुली हवा में उसे ताजगी महमूस होती है—ल्कापन-सा ।

अब वह अकेली ही फुटपाथ पर चलने लगती है । सामने रेल-पुल की सीढियों पर, पाँवों पर उलझी साड़ी का किनारा ठीक करने के लिए झुकती है । चुपके-से अपना कटा हाथ फिर देखती है, जो अब सचमुच बहुत छोटा नजर आ रहा है ।

□

## न जानना

“जब से तू आया इसमे काफी चेंज आ गया है, राजी।” बुआ कहती है—“इतना ‘गे’ पहले कभी नहीं लगता था। तुझे आने मे देर होती है तो मेन-गेट के बाहर खडा हो जाता है..।”

मे केकी को हवा मे उछालता हूँ, फिर गोदी मे दबाता हूँ—“अच्छा, बतलाँ हम क्या लगते है तुम्हारे ?”

वह केवल छोटी-सी बत्तीसी दिखलाता है।

मैं उसे फिर दीवार पर टंगे फोटो के पास ले जाता हूँ—“अच्छा, बतलाओ, ये कौन है तुम्हारे ?”

“पा—पाऽऽ।”

“बहुत बुरे है तुम्हारे पापा ।” मैं गुस्से से मुँह बनाते हुए देखता हूँ।

वह दो-तीन हल्की हल्की चपते मेरे गालो पर जमाता है और फिर शरारत से हंसता है . ।

लगता है बुआ के ऑफिस जाने मे अभी समय है। वह पलंग की पाटी पर बैठी कुछ बुन रही हैं। मरदाना स्वेटर-जैसा लगता है। उनकी अगुलियो पर सरकता मटमैला उन्नी डोरा और परस्पर तेजी से चोच लडाती दो प्लास्टिक की मीके ।

“कल रीगल मे केकी को पिक्चर दिखला लाएँगे, हँ बुआ। सुना बहुत अच्छी है, बच्चो के लिए।” “तुम भी चलोगी न ?”

बुआ मेरी ओर देखती है, पर कहती कुछ नहीं।

उनका चेहरा, पता नहीं क्यों, भारी-सा लगता है—कुछ-कुछ उदास . । जब से बुआ के हाथ की सुनहरी चूडिया टूटी, काफी बदल-सी गई है। वैसे अभी उम्र ही क्या है। तीस भी पूरे नहीं हुए होंगे।

“बाबूजी कुछ कहते थे, राजी ?” बुआ कुछ सोचती हुई पूछती हैं—“तू कानपुर से ही तो आया होगा न.. ?”

“हाँ, चलते-चलते भेंट हुई थी—स्टेशन पर।” मैं उत्तर देता हूँ—“वे किसी मुकदमे की पैरवी में इलाहाबाद जा रहे थे...। कहते थे—दिल्ली कितने दिन ठहरोगे ?” बहू से कहना कभी-कभी चिड़ी भेजा करे। और वहाँ उसे कोई कष्ट हो तो इधर चली आए। जब से हमारा अविनाश गुजरा है वह एक बार भी इधर नहीं आई...।”

मैं वे बीस रुपए आगे बढ़ाता हूँ जो उन्होंने जल्दी में दिए थे—केकी के लिए। बुआ देर तक उन मुड़े-तुड़े नोटों को कागज के पन्ने की तरह थामे रखती हैं। फिर किसी किताब में पुस्तक-चिह्न की तरह रख देती हैं—केवल एक हरा कोना-सा दीखता है...।

“तेरे एकजाम कब से है ?” वे कुछ रुककर पूछती हैं।

“फिफ्थ से।”

“फिर यहाँ दिन भर पड़ा-पडा क्या करेगा... ?”

मैं हंस देता हूँ—“कुछ किताबें देख लूंगा। यह लास्ट चास है। फिर ओवर-एज हो जाऊँगा...।”

प्लास्टिक की दोनो सलाइया ऊन के गोले के आर-पार निकल जाती हैं। बुआ कपड़े ठीक कर ऑफिस की तैयारी में जुट जाती हैं।

“...तो दिन में चाय-वाय बना लेना। शाम को कनाट-प्लेस की तरफ घूम आना...।”

बुआ चली जाती है।

केकी की तबीयत आज कुछ ठीक-सी नहीं। अतः वह सुबह स्कूल नहीं गया। बुआ जब ऑफिस जाती हैं तो घर की चाबी पड़ोस की एक बुढ़िया को दे जाती हैं, जो दिन में केकी को स्कूल से आने के बाद खाना खिला देती है। बुआ के आने तक उसकी देख-रेख करती है। इसके बदले बुआ प्रति माह कुछ पैसे दे देती हैं।

केकी लेटा है। मैं शाम को कहीं भी जा नहीं पाता। कुछ देर यों ही आस-पास टहलता हूँ और फिर खिड़की के पास कुर्सी लगाकर बाहर की ओर देखता हूँ। पता नहीं क्या-क्या सोचता रहता हूँ...।

मुझे अनायास वे दिन याद आने लगते हैं, जब बुआ ने लखनऊ यूनिवर्सिटी से पॉलिटिकल साइंस में एम. ए. पास किया था, जब बुआ की शादी हुई थी और जब बुआ एक दिन दिल्ली के लिए चलने लगी थीं, उनकी अटैची में अपने और केकी के कुछ साधारण-से कपड़े और ‘अपाइण्टमेंट लेटर’ के अतिरिक्त कुछ भी न था...। पिताजी जब स्टेशन तक छोड़ने आए तो बुआ बुरी तरह रो रही थी...।

केकी आँखें मलता हुआ मेरे पास खड़ा हो गया है। दूर कहीं सड़क की बत्तियाँ जलने लगी हैं। धुएँ की तरह अधेरा कमरे में फैला है। मैं घड़ी की ओर देखता हूँ—बुआ अब तक नहीं आई। बाहर कुछ-कुछ पानी बरस रहा है...।

तभी दूर कहीं कार का-सा हार्न सुनाई देता है...। कुछ देर के बाद कॉलबेल बजती है। मैं किवाड खोलकर देखता हूँ—बुआ हॉफती-सी खडी हैं—पर्स बगल में दबाए।

“अरे, तू कही गया नहीं ?” वह विस्मय से पूछती है।

मैं संक्षिप्त-सा उत्तर देता हूँ।

वह केकी के माथे पर हाथ लगाती है, “दूध पी लिया था दिन मे ?”

“हाँ।’ केकी सहमा-सा देखता है।

“अब भूख तो नहीं ?”

केकी डरा-डरा सा चुपचाप एक किनारे बैठ जाता है। कुछ भी अधिक बोलता नहीं—जैसा कि उसका स्वभाव बन गया है।

बुआ मेज़ पर पर्स रखती है। मैं देखता हूँ, बाहर वर्षा के बावजूद उनके कपडे सूखे हैं—केवल सूखे बालो पर कुछ उलझी बूँदे...।

“विपिन भैया का कारोबार सुना अब अलग है ?” बुआ चाय की प्याली मे से उठती भाप की लकीर की ओर देखती है, “तो तुम लोगो के चूल्हे-चौंके भी अब अलग-अलग होंगे... ?”

“हाँ...।”

“सुना था, उन्होने तुम्हे कुछ भी हिस्सा नहीं दिया ?”

मैं चुप रहता हूँ।

“फिर घर का खर्चा कैसे चलाते हो ? उतनी ही आमदनी मे गुजारा चल जाता है ?”

मैं चुप रहता हूँ।

बुआ कुर्सी पर दोनों पाँव समेटकर बैठ जाती है। अगुलियो के सारे सिरे साडी की किनारी में दबा लेती हैं। सिप्-सिप् कर एक साथ दो-तीन घूँट निगलकर प्याला बडे आत्मविश्वास से मेज पर रख देती है।

“हँसमुख अभी ससुराल मे ही होगी न ?”

“हाँ, वहीं से बी एड कर रही है।”

“कानपुर तो अधिक रुका न होगा ... ?”

“न।”

“बाबूजी अब भी कोर्ट अटैण्ड करते हैं ?”

‘कभी-कभी...। आपकी सास कह रही थीं, अगले महीने शायद कुसमी की शादी होगी। शीला से कहना, कम-से-कम उस मौके पर जरूर आए।”

मैं कुछ क्षण ठहरकर कहता हूँ, जैसे सहसा कुछ याद आ गया हो, “बुआ, आपने देखा नहीं... ! आपके मकान वाली गली का नाम अब जीजाजी (फूफा) के नाम पर रखा है। कार्पोरेशन ने एक बहुत बडा बोर्ड लगाया है...। जीजाजी ज़िन्दा होते तो मेजर के रैंक तक तो अब तक पहुंच ही जाते न।”



बुआ कुछ कह नहीं पातीं। उठकर बाहर चली जाती हैं।

सुबह बुआ की आँखें कुछ-कुछ लाल दीखती हैं। मुझे लगता है, उन्हें ठीक ढंग से नींद नहीं आती। मैं रात को बाथरूम के लिए दो बार उठा और मुझे अहसास हुआ कि वह जागी हुई हैं...।

शाम को—

बुआ के ऑफिस के आगे, कर्जन रोड वाले बस-स्टैंड पर हम खड़े हैं—बुआ, केकी और मैं। बहुत-सी बसें एक के बाद एक गुजरती हैं—पर रुकती नहीं। तभी एकाएक एक स्लेटी रंग की कार फिसलती हुई रुकती है। कोई एक अपरिचित-सी आकृति खिड़की के बाहर मुँह निकालती है—बुआ कुछ कदम लपककर आगे बढ़ती हैं—केवल एक मिनट के लिए।

कार सर्र से निकल जाती है और बुआ फिर अपनी कतार पर। उनके चेहरे पर पुछी हुई स्लेट की तरह कोई भाव नहीं, जैसे कुछ ही हुआ न हो।

तभी एक बस रुकती है। कतार में बारी-बारी से सब चढ़ते हैं और हम भी। बुआ मुझसे आगे हैं। बस के फुट-बोर्ड पर जब चढ़ने लगती हैं तो मैं देखता हूँ—बुआ के पर्स की बगल में दबी पुस्तक अब नहीं है, जिसके भीतर बुआ की लिखी एक चिट थी, जिसे कल रात मैं गलती से पढ़ गया था...। वस्तुतः जो मुझे पढ़नी नहीं चाहिए थी।

हम रीगल के स्टॉप पर उतरते हैं। बुआ चलती-चलती जनपथ की दुकानों की ओर मुड़ती हैं।

“तू कानपुर होकर ही तो जाएगा न!” बुआ पूछती हैं।

“हाँ!” मैं सिर हिलाता हूँ।

“तो बाबूजी के लिए एक स्वेटर ले जा, दे देगा—हाँ?”

बुआ बूढ़े रंग का ऊन खरीदती हैं। फिर मेरे साइज़ की बुशर्ट देखती हैं—और मेरे मना करने के बावजूद खरीद लेती हैं...।

केकी मेरा हाथ थामे गुड्डे की तरह गुमसुम चलता रहता है। न वह किसी चीज़ के लिए मचलता है, और न किसी चीज़ की ओर बाल-सुलभ जिज्ञासा से ही देखता है।

हम सूखे मेवे की एक दूकान पर खड़े होते हैं। सामने के आदमकद शीशे में बुआ की आकृति का अक्स—! पिछली बार की अपेक्षा बुआ में इस बार काफी परिवर्तन लगता है। सलीके से कपड़े पहनती हैं तो लड़की-सी लगती हैं—अन-ब्याही...।

हम घूमते-घूमते दूर निकल जाते हैं। बुआ एकाएक सन्नाटा तोड़ती हैं—पता नहीं क्या सोचकर पूछती हैं—

“तुझे बड़े भैया खर्चा पूरा भेज पाते हैं, राजी?”

“हाँ।”

“तू कहीं सर्विस में लग जाता तो उनका बर्डन कम हो जाता....!” कहती-कहती बुआ अटक-सी जाती हैं, “अच्छा, बता, खाना यहाँ ले लें तो कैसा रहे?”

“यहाँ बेकार में पैसे....।”

“अरे, छोड़ भी। क्या तू रोज़-रोज़ यहाँ आता रहेगा?”

हम पास ही एक रेस्तरां में जाते हैं। बुआ ऑर्डर देती हैं। जब तक बैरा खाना नहीं लाता—ईवनिंग-न्यूज के दो छोटे-से पन्ने बार-बार उलटती-पलटती रहती हैं।

“मैरेज के बाद जब हम सैर-सपाटे के लिए कश्मीर जा रहे थे तो चलते समय कुछ दिन दिल्ली में रुके। अक्सर शाम का खाना यहीं लेते थे। तुम्हारे जीजाजी को यह रेस्तरां बहुत पसन्द था....।” बुआ कुछ सोचती हुई कहती हैं।

“घर में, मेरे बारे में कोई कुछ कहते हैं, राजी?”

“हाँ-हाँ। माँ अक्सर पूछती रहती हैं....।”

“तुम्हारी शादी का तो अभी कुछ तय नहीं हुआ होगा!”

“....।”

भोजन समाप्त होता है। केकी कुछ टुकड़े बिस्कुट के कुतरता है....और कुछ भी नहीं। बुआ कहती हैं, “इसकी तन्दुरुस्ती जन्म से ही ऐसी है। यह न बाहर खेलता है, न किसी से बोलता है। घोंघे की तरह गुमसुम पड़ा रहता है।”

हम स्कूटर से लौटते हैं।

दरवाज़ा खोलते ही, दरार के नीचे हल्के नीले रंग का एक लिफ़ाफ़ा पड़ा रहता है। बुआ, झपटकर उठाती हैं।

मैं देखता हूँ—जल्दी-जल्दी कपड़े बदलकर बाथरूम जाती हैं। काफ़ी देर बाद लौटती हैं। उनका चेहरा काफ़ी सजीव लगता है....।

केकी कब का सो गया है। मैं भी पढ़ते-पढ़ते सो जाता हूँ—बुआ भी कहीं पर थकी-सी लगती हैं....।

रात आधी गुजर गई होगी। मुझे जैसे नींद में कहीं दूर कार का-सा हॉर्न सुनाई देता है....।

अलार्म की घटी से जागता हूँ। रोशनी जलाता हूँ। देखता हूँ—अभी केवल तीन बजे हैं।

पास ही केकी सोया है, पर बुआ का बिस्तारा रीता है।

कुछ देर बिजली अकारण जलती रहती है। मेरी आँखों में अभी तक नींद के साए हैं। मैं म्विच ऑफ कर सो जाता हूँ....।

सुबह दूधवाले की आवाज से जागता हूँ। देखता हूँ—बुआ अपने पलंग पर खर्राटे भर रही हैं। अब आठ बजने को है—बुआ अब तक सोई हैं....।

कुछ क्षण बाद स्वय ही वह अचकचाती हुई जागती हैं—“अरे राजी, तूने जगाया भी नहीं....?”

मैं देखता हूँ—बुआ का तन अलसाया है। अभी तक भी आँखों में नींद की-सी खुमारी है।

वह जल्दी-जल्दी ऑफिस की तैयारी में जुट जाती हैं। आज बहुत प्रसन्न दिखाई देती हैं। इतना गहरा सन्तोष उनके चेहरे पर मैंने कभी भी नहीं देखा।

ऑफिस जाते समय कुछ रुपए जबरदस्ती मेरी मेज़ पर रख जाती हैं।

मेरे सिर पर झुका आसमान जैसे एक ओर हट गया हो। मैं बहुत हल्कापन-सा अनुभव करता हूँ आज।

पुस्तकें परे पटककर शाम को घूमने निकल पड़ता हूँ।

विनोद के लिए दिल्ली के कुछ रंगीन चित्र खरीदता हूँ। अपने लिए जनरल नॉलिज की नई किताबें, ताकि घर जाकर इण्टरव्यू की तैयारी कर सकूँ... !

मैं कर्नाट-प्लेस के कॉरिडोर से होकर गुजरता हूँ तो दूर कोई लड़की दीखती है, जिसके जूड़े में ताजे बेले का हार गुंथा है। कोई युवा-पुरुष उसकी बगल में बाहें डाले, कांच की गुड़िया की तरह बड़े जतन से ले जा रहा है।

केवल साथ-साथ जुड़ी दो पीठें दीखती हैं।

कांच की गुड़िया की साड़ी का रंग बुआ की साड़ी के रंग से बहुत मिलता है, वैसा ही ब्लाउज भी !

मैं अगले मोड़ पर घूम भी नहीं पाता कि वे हैण्डलूम-इम्पोरियम में चले जाते हैं।

मैं सोचता हूँ—घर लौटूंगा तो बुआ से कहूंगा कि आज एक वैसी ही लड़की दिखलाई दी थी...।

काफ़ी देर से घर आता हूँ। मैं देखता हूँ—केकी अकेला गुमसुम बैठा है। बुआ अब तक नहीं आई।

तभी मेज़ पर एक चिट दीखती है, जिसमें बुआ की ओर से लिखा रहता है कि वह अपनी सहेली कमल की शादी में करौलबाग जा रही हैं, इसलिए देर से लौटेंगी। अतः मैं खाना ले लूँ...।

मैं खाना लेकर सो जाता हूँ। केकी से भी कहता हूँ कि वह भी सो जाए।

कल मुझे 'बुद्ध-जयन्ती पार्क' और देखना है। फिर चलने का कार्यक्रम। पिताजी का ऑपरेशन भी होना था। पता नहीं डॉक्टरों ने क्या राय दी !

परीक्षा में कितने नम्बर मुझे मिल सकेंगे—इसका हिसाब लगाता-लगाता मैं सचमुच सो जाता हूँ...।

रात को कहीं मोड़पर मुड़ती हुई कार का जैसे हॉर्न फिर सुनाई देता है। मुझे लगता है बजरी में धंसते-धंसते पहिए मेरे बहुत निकट आ गए हैं।

कुछ क्षण बाद दरवाज़े पर खट्-खट सुनकर उठता हूँ।

बुआ खड़ी हैं। हाथ में ताज़े फूलों का गुच्छा।

“तूने खा लिया, राजी ?”

“हाँ।”

“कमल की सिस्टर यही पास ही डिफेस कॉलोनी में रहती है। कहने लगी—मैं छोड़ दूँगी। वे ही यहाँ तक पहुँचा गई है।”

बुआ पानी पीती है और फिर जम्हाई लेती हुई सो जाती है।

मुझे आश्चर्य होता है, केकी के बारे में उन्होंने एक बात भी नहीं पूछी। उसे आज काफी बुखार है।

कानपुर से खत आया है—बुआ के नाम। कुसुम की शादी के लिए बुलाया है। लेटरहेड पर पता छपा है—कैप्टन अविनाश मार्ग, कानपुर-५।

बुआ बार-बार पत्र उलट-पलटकर देखती है। उनका व्यवहार काफी परिवर्तित-सा लगता है। आज वह केकी के साथ बहुत देर तक खेलती रहती है। उसे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाती है। शाम ऑफिस से लौटते समय खिलौने लाने का आश्वासन भी देती है।

“बुआ, आज शाम की गाड़ी से मैं चला जाऊँगा।” वह ऑफिस जाने लगती है तो मैं कहता हूँ।

“क्यों, इतनी जल्दी क्या है रे ?”

“यहाँ कब तक पड़ा रहूँ। शायद 18 को पिताजी का ऑपरेशन हो।”

“अच्छा-अच्छा, शाम को देखा जाएगा।” कहती हुई बुआ चली जाती है।

वह आज प्रातः मुझसे पहले जाग गई थी। मैं भीतर वाले छोटे-से कमरे में देखता हूँ—उनकी पूजा की जगह आज लिपी है। देवताओं के पास जीजाजी का एक छोटा-सा धुंधला चित्र है।

केकी आज फिर स्कूल नहीं गया। उसे कुछ कुछ बुखार की-सी शिकायत अब तक है।

शाम को बुआ जल्दी लौट आती है। उनकी बाँहों के बीच बहुत-से बड़े-बड़े लिफाफे दबे हैं।

“ये कपड़े घर ले जाना। कानपुर तो रुकेगा ही न। वहाँ बाबूजी को यह स्वेटर दे देना। नीला के लिए यह फ्रॉक। माताजी (सास) से कहना कि कुसुमी की शादी में अवश्य आऊँगी।—यह साडी कुसुमी को दे देना।”

आज दिन में जो डाक आई केकी ने उसे जतन से रखा है। उसमें एक नीला लिफाफा भी है, बुआ जिसे छिटककर पुस्तकों के पीछे फेक देती है।

जल्दी-जल्दी में वह खाना बनाती है। मुझे तैयार करती है।

“राजी, सुन, कुछ ऐसी नौकरी ढूँढ, जिसमें तुझे दिल्ली में ही रहना पड़े। मैं अकेली रहती-रहती ऊब गई हूँ। भला घर का-सा वातावरण वहाँ मिलता है। फिर अकेली रहना क्या अच्छा है। पता नहीं, बाबूजी मेरे अकेले रहने पर ऐतराज क्यों नहीं करते। कुछ तो सोचना चाहिए।”

भोजन में ही पर्याप्त समय बीत जाता है। मैं घड़ी की ओर देखता हूँ। केकी किसी भी हालत में मुझे छोड़ने को तैयार नहीं।

बुआ जबरदस्ती किराए के पैसे मेरी जेब में ठूस देती है और दूर तक छोड़ने आती हैं...

मैं भागता-भागता स्टेशन पहुँचता हूँ। पता चलता है—शहीद-एक्सप्रेस को छूटे पन्द्रह मिनट हो गए हैं। मैं असमजस से इधर-उधर देखता हूँ।

इसी अनिश्चितता की स्थिति में काफ़ी समय गुजर जाता है। सोचता हूँ—अब कल ही चला जाऊँगा। व्यर्थ में प्लेटफार्म पर पड़े रहने से क्या लाभ।

मैं स्कूटर लेकर लौट पड़ता हूँ। बुआ के घर के सामने रुकता हूँ। देखता हूँ अब ग्यारह बजने वाले हैं। पानी लगातार बरस रहा है। उनके कमरे में अधेरा है। उनके दरवाजे के पास स्लेटी रंग की एक कार खड़ी है।

मैं सीढ़ियों पर चढ़ता-चढ़ता ठिठक जाता हूँ।

विचार आता है कि स्टेशन पर रात को रुकने में शायद अधिक सहूलियत होगी। हो सकता है, रात को कोई गाड़ी मिल जाए। सुबह बस तो पकड़ ही सकता हूँ। अतः मैं फिर स्टेशन की ओर मुड़ पड़ता हूँ।



## जलते हुए डैने

खबर पढ़कर सन्न रह गया। मच नहीं लगा कि शिव'दा चल बसे।

बेड़ियों से जकड़ी दुर्बल देह और सीमा भाभी का आँसुओं से भरा चेहरा बार-बार आँखों के आगे घूमने-सा लगता।

अभी कुछ ही दिन पहले की बात है, जब पुलिस का दस्ता अकस्मात् हमारे कस्बे में आया था... शिव'दा को पकड़कर ले जाने लगा तो जमघट-सा लग गया था। आतंकित औरतें, मर्द, बच्चे, बूढ़े घरों से निकल-निकलकर बाहर आए और भयत्रस्त-से चारों ओर देखने लगे थे।

सेवार की तरह शिव'दा के बाल बढे हुए थे, वैसी ही दाढ़ी। खादी के अस्त-व्यस्त, फटे कपडे। कंधे पर तौलिए का काला चीथड़ा डाले नहाने जा रहे थे कि सीढ़ियों पर ही पुलिस ने धर दबोचा। वह कुछ कहे, कुछ बोलें, इससे पहले ही उनकी सूखी, पतली कलाइयों को लोहे की भारी-भरी हथकड़ियों से जकड़ दिया और पिल्ले की तरह उनके पिंजर को घसीटकर नीचे ले आए थे।

लोहे के टोप ओढ़े, सगीनधारी लम्बे-तगड़े पुलिस के सिपाहियों के बीच धिरे कृशकाय शिव'दा कैसे लग रहे थे—अवश भाव से चारों ओर देखते हुए।

गीले आटे से सने हाथ लिये सीमा भाभी खड़ी थीं—रो रही थीं। नन्हीं रूही खड़ी थी—रो रही थीं...।

पुलिस की गाड़ी चलने लगी तो शिव'दा की देह कॉपने लगी। मुट्टियों भिचने लगीं। अजीब-से तनाव को चीरते हुए चीख पड़े सहसा... 'व' न्दे ...मा... त...र...।' शब्द पूरा भी न कह पाए कि किसी के फौलादी पंजे ने उनका मुँह भींच लिया और गाड़ी धूल का गुब्बार उडाती हुई ओझल हो गई।

सब सकते मे आ गए थे। डरे हुए लोगों का आक्रोश अब उमड़ रहा था। वे तरह-तरह की बाते कर रहे थे। क्रुद्ध बच्चे धूल के गुब्बार की तरफ दौड़कर ढेले फेंक रहे थे...।

रमाकान्त शहीदाना अन्दाज में जमकर खड़ा, आसमान की ओर अँगुली उठाए, भाषण दे रहा था—“अधेर है, अधेर। ऐसा तो अंग्रेजों के राज में भी नहीं हुआ था। मैं पूछता हूँ—इस भले आदमी का कसूर क्या है? इसने ऐसी क्या गलती की है? ...बोलो, देख क्या रहे हो—जवाब दो। शिवदास रोगी है—तपेदिक के। डाइबिटीज के। शिवदास जेल में मर गए तो उनके अबोध बच्चों का क्या होगा...?”

पुलिस का खाकी ट्रक कस्बे की सीमा से दूर चला गया था। फिर भी सर्वत्र दहशत छाई हुई थी—पता नहीं पुलिस कब, किसे पकड़कर ले जाए।

रमाकान्त पागलों की तरह देर तक बड़बड़ाता रहा तो न जाने कब उसके वृद्ध पिता उसे घसीटकर ले गए। भीतर से कुण्डी चढ़ाकर बोले—शिवदास की तरह क्या तू भी पगला गया है? सरकारी गल्ले की दूकान है मेरी। किसी ने रपट कर दी तो लाइसेंस छिन जाएगा। बता, फिर इतने बच्चों का पेट कैसे भरेगा?”

आवेश में रमाकान्त चिल्लाया—“मैं पूछता हूँ, अब आपकी दूकान में गल्ला ही क्या है? क्या अब भी अपने बच्चों का पेट भर पा रहे हैं, जो व्यर्थ में चीखे जा रहे हैं...?”

“अरे, तू तो सचमुच पगला गया है रे, रमा।” पिता हताश होकर बोले—“अब नहीं है तो फिर कभी तो होगा ही। आशा पर दुनिया जीती है।”

रमाकान्त ने अजीब-सा कड़वा मुँह बनाया—“आशा पर दुनिया जीती है...। हूँ।” और जमीन पर थूक दिया—पुच्छ से।

शिव'दा के टूटे घर में फिर कभी दीया न जला। सारी-सारी रात किसी के रोने-सिसकने की आवाजें आती रहीं। अंधेरे में काले चमगादड़-से उड़ते दीखते तो भय लगता।

लोग कहते, दूर किसी अंधी जेल में शिव'दा को ठूस दिया है, जहाँ ऐसे हजारों कैदी हैं जो पशुओं से भी बदतर ज़िन्दगी जी रहे हैं। जानवरों के बाड़े की तरह औरतों को रखा गया है। तन ढकने के लिए पूरे वस्त्र तक नहीं। औरतों के पूरे वार्ड में केवल एक धोती। कभी बाहर से किसी का कोई रिश्तेदार मिलने आता है, तब वही धोती वह तन पर लपेट लेती है। और वापस आकर उसी को फिर खूँटी पर टॉग देती है।

अपना ही देश।

अपने ही लोग।

जगह-जगह फटी हुई धरती, लाशों को नोचते हुए गिद्ध और सीयार।

मेरा सिर घूमने लगता है। शिव'दा का वह मासूम मुखड़ा आँखों के आगे तैरने लगता है, जब वह सुबह-सुबह इन वीरान खेतों में भटकते हुए बंकिम बाबू का गीत गुनगुनाया करते थे—

‘सुजलाम् सुफलाम् ...’ शिव'दा की आँखों से रक्त की बूँदें झरने लगती थीं ...।

उस साल भी अकाल पड़ा था। पूरे तीन महीने तक शिव'दा भटकते रहे। घर-घर, द्वार-द्वार घूम-फिरकर अकाल-पीड़ितों के लिए अन्न जुटाते रहे।

दुर्बल तन पर चीथड़े टंगे रहते। पाँवों में जूते तक नहीं। जब जो मिला, खा लिया। जहाँ रात हुई, सो गए।

सीमा भाभी रोती रहती। रूही जगले पर खड़ी—“ममी, ओऽ पापा तो नहीं।” फटे चीथड़े पहने जो भी भिखारी आता, उसी की ओर चहकती हुई लपक पड़ती।

कहते हैं—शिव'दा के पिता सेमुअल रामदास यहाँ के आदिवासी क्षेत्र में बने 'मिशन अस्पताल' में डॉक्टर थे कभी। खादी के कपड़े पहनते थे। चर्खा कातते थे। इसलिए विदेशी सहायता से चलने वाले इस अस्पताल में सबधित गोरे, अधगोरे अफसर और पादरी उनसे क्रुद्ध थे। उनका वश चलता तो कब का उन्हें हटा देते। किन्तु इस पूरे इलाके में उनकी बड़ी धाक थी। उनके एक इशारे पर सारे आदिवासी सदैव मर मिटने को तैयार रहते।

ऐसा कोई आदमी न था, जिसकी उन्होंने सहायता न की हो। जाड़े में, पश्मीना ओढ़कर किसी मरीज को देखने गए तो उसके शीत से ठिठुरते गात पर अपना पश्मीना डाल दिया। किसी रोगी के घर में राशन नहीं, तो दवा के साथ-साथ राशन भी पहुँचा दिया। कितने ही आदिवासी बच्चों को उन्होंने पाठशाला भिजवाया। कितनों की किताबों और कापियों के लिए पैसे जुटाए।

अन्त में सन् बयालीस का आन्दोलन शुरू हुआ। 'करो या मरो' का नारा लगा तो उन्होंने भी अस्पताल छोड़ दिया। तिरगे झड़े के नीचे आदिवासी-क्षेत्र में नये आन्दोलन का सूत्रपात्र किया। सरकार के पिटुओं ने आदिवासियों के झोपड़े गिरा डाले। स्कूल की इमारतें तोड़ डाली। कई पशु और आदमी जिन्दा जला दिए। और उसी दमन चक्र में अन्त में शहीद हो गए—सेमुअल रामदास भी।

आज भी बाबा भीखनचन्द उस दिन का आँखों-देखा हाल सुनाते हैं तो रोगटे खड़े हो जाते हैं।

सेमुअल रामदास की लहलुहान देह जमीन पर कुचले हुए केचुए की तरह छटपटा रही थी। उनकी कॉपती हुई मुट्टियों में झड़ा जकड़ा हुआ था। होठ कॉप रहे थे। फुसफुसाहट की सी कॉपती आवाज आ रही थी “इन्न क्लाब।”

यही उनके अन्तिम शब्द थे शायद।

लोग कहते हैं—उस दिन मैदान में फैला बरसात का पानी तक लाल हो गया था।

जहाँ पर सेमुअल रामदास शहीद हुए थे वहाँ अब बाजार बन गया है। 'शहीद चौक' के नाम से एक चबूतरा है (जिसमें कभी कभी कस्बे के गुडे ताश खेलते हैं)।

वही 'शहीद चौक' अब सराय बनी शिव'दा की।

वैसी ही कद-काठी, वैसा ही रूप रंग। शिव'दा जब खादी के कपड़े पहनते, लोग कहते—हू-ब-हू पिता की प्रतिमूर्ति लगते हैं। बोलने का लहजा, चलने का ढंग—कही रत्ती-भर भी तो अन्तर नहीं।



माँ जनते ही मर गई थी। कुछ समय बाद पिता भी यो अनाथ छोड़ गए तो मौसी के घर पले... दूसरे के सहारे पढ़-लिखकर शिव'दा एक दिन अध्यापक हो गए थे—आलमगंज के इसी प्राइवेट स्कूल में।

रूप-रंग, चाल-ढाल ही नहीं, आदते भी उन्हे विरासत मे मिली थी—पिता से। रात में पौढ़-पाठशाला चलाते। दिन मे स्कूल से लौट आने पर गरीब बच्चो को घर पर बुलाकर पढ़ाते।

सीमा भाभी कुढ़ती रहती, लेकिन परमहस की तरह शिव'दा मौन साधे रहते।

कभी-कभी हँसी मे कहतीं—“याद है, आपका जन्म 25 दिसम्बर को हुआ था—ईसा की तरह।”

शिव'दा सीमा भाभी के चेहरे की ओर अबोध बालक की तरह ताकते रहते। उनकी बात काटते हुए चट बोल पड़ते—“हाँ, तब तो मुझे भी एक दिन सलीब पर लटकना होगा... देखना, जरूर लगेगी फॉसी।”

“चुप, चुप।” सीमा भाभी उनके होठों पर हथेली रख देतीं—“ऐसा क्यों कहते हैं? आपको क्यों लगेगी फॉसी? आपने क्या गुनाह किया है ऐसा...?”

यों ही व्यंग्यभाव से हँस देते शिव'दा—“तू तो निरी भोली है, फॉसी पर झूलने के लिए क्या गुनाह करना जरूरी है? बता, ईसा ने क्या गुनाह किया था? सुकरात को...?”

सीमा भाभी प्रत्युत्तर में चुप हो जाती और शिव'दा भी।

आधी-आधी रात तक वह चर्खा कातते। पुस्तकें पढ़ने और पत्नी को समझाते—ज़िन्दगी तो एक दिन खत्म होनी ही है, फिर इसे किसी अच्छे काम पर क्यों न लगाएँ? अपना पेट तो चौपाया भी भरता है। आदमों और पशु मे कुछ तो अन्तर है...।

सीमा भाभी चुपचाप सुनती रहतीं और मौन हो जातीं। कभी-कभी यह सब असह्य हो उठता तो तुनक पड़तीं—“मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए। मैं आधे पेट खाकर, फटे कपड़े पहनकर भी रह लूँगी, पर इस रूही का तो कुछ ख्याल करो। इसके भविष्य के बारे में भी तो सोचो।”

“ये जो सड़क पर टूटा कटोरा लिये भीख माँगते नंगे बच्चे देखती हो, क्या इनमें कहीं कभी तुम्हें रूही की शक्त नजर नहीं आती? एसा कितनी ही रूहियाँ है—तुम नहीं जानती... तुम नहीं जान सकतीं...।”

शिव'दा पता नहीं किस समाधि में लीन हो जाते और सीमा भाभी आसमान की ओर देखने लगतीं—कुछ खोजती हुई निगाहों मे।

एक दिन शिव'दा की नौकरी छूट गई। प्राइवेट स्कूल था—सरकारी सहायता से चलता था। मैनेजिंग कमेटी के चेयरमैन लाला सुखभ्रमसाद का आरोप था कि शिवदास

विद्यार्थियों को भडका रहे है। सरकार के खिलाफ जन-आदोलन मे भाग ले रहे है। अगर शिवदास इस स्कूल मे बने रहे तो सरकारी सहायता नही मिलेगी अगर सरकारी सहायता नही मिलेगी तो स्कूल नही चलेगा। अत सरकार बन्द करवाए, उससे पहले ही हमे स्कूल बन्द कर देना चाहिए। उन्हे डर था कि शिवदास को जबर्दस्ती हटाने पर विद्यार्थी स्कूल की इमारत जला डालेगे।

“पर स्कूल बन्द कैसे हो सकता है? इस देश मे तो अभी करोडो लोग है—निरक्षर, जिन्हे शिक्षा की जरूरत है—ज्ञान की।” शिव’दा ने कहा और स्वय ही हट गए रास्ते से।

जहाँ-जहाँ बाढ आती, जहाँ-जहाँ अकाल पडता, महामारी फैलती—शिव’दा वहाँ पहुँच जाते।

इस वर्ष चेचक से कितने ही लोग मर गए, पर अखबारो मे यों ही लीपा-पोती होती रही। हजारो लोग मरे, पर सरकारी आँकडे दस-बीस से ऊपर न पहुँच पाए। चारों ओर हाहाकार मचा था। चींटियो की मौत मर रहे थे लोग। लावारिस लोशो के अम्बार थे, पर कोई पूछने वाला तक न था।

शिव’दा प्राणो की परवाह न कर अपने कुछ साथियो के साथ निकल पडे। लोग कहते—“शिवदास वहाँ से बचकर नही लौटेंगे।”

पर शिवदास कुछ महीने बाद फिर सामने खडे थे—जीते-जागते।

और इस अकाल मे तो उन्होने हद कर दी। जब कही कुछ न बना तो सरकारी दफ्तरो के आगे धरना दिया, अफसरो की कारो के आगे लेट गए।

बडे-बडे मंत्रियो को, नेताओ को लिखा, तब भी पूरी सहायता न मिली तो शिव’दा अपने साथियो के साथ घर-घर, द्वार-द्वार घूमकर अन्न के दाने और फटे चीथडे इकट्ठा करते।

सरकारी अफसर कहते कि लोग भूख से नही, पौष्टिक तत्त्वो की कमी के कारण मर रहे है, तो शिव’दा भूख से मरे लोगो के अस्थिपिंजर अपने दुर्बल कन्धो पर लाद-लादकर थाने के सामने पटकते—“यह देखो, अब भी कह सकते हो कि ये भूखे नही मरे?” शिव’दा के दात भिच जाते। आँखो मे लाल डोरे उभर पडते।

लोग पागल समझते उन्हे और हँस देते।

कुछ आत्मीय लोगो ने कहा—“शिवदास, तुम्हारे पिता स्वाधीनता-सग्राम मे शहीद हुए थे। यह फार्म भर दो। तुम्हारे बच्चों को कुछ सहायता मिल जाएगी।”

शिव’दा ने फार्म के टुकडे कर दिए और ‘हा-हा-हा।’ पागलो तरह की अट्टहास करते हुए हँसने लगे।

—इस आदिवासी क्षेत्र मे भूख से नौ सौ पन्द्रह लोग मरे सरकारी अनाज चोरबाजारी मे बिकता रहा—शहरों में।

—दवाएँ देखने तक को न मिली दुर्भिक्ष-पीड़ितों ने जूलूस निकाले तो उन पर गोलियाँ बरसायी गईं। उन्हें देशद्रोही करार दिया गया...नेता लोग आए और फोटो खिचवाकर चले गए...थाने के आगे धरना देने वालों को चौराहों पर घसीटा गया। आदिवासी औरतो के साथ बलात्कार किया गया...।

वह रात-भर जागकर कागज के टुकड़ों पर पता नहीं क्या-क्या लिखते और उन्हें किसी डिब्बे में जतन से सहेजकर गड्डे में डाल देते—ऊपर से मिट्टी आदि से ढककर। कहते—“ये ‘कालपात्र’ हैं। कभी कोई जमाना आएगा, जब लोग देखेंगे कि जनतंत्र और समाजवाद के नाम पर इस देश में क्या-क्या नहीं हुआ?”

शिव'दा सचमुच पागल-से हो गए थे। पत्थरों पर कोयले से लिखते, बड़ी-बड़ी दीवारों पर खड़े होकर भाषण देने लगते।

उनकी इन हरकतों से परेशान होकर पुलिस उन्हें स्वयं पीटती, गुंडों से पीटवाती। न जाने कितने इल्जाम लगाकर, उन्हें कितने दिनों तक थाने में बन्द रखती—भूखा, प्यासा।

इस बार, आपातकाल के दौर में लगान की वसूली के प्रश्न पर जो आन्दोलन छिड़ा, उससे कानूनी-व्यवस्था ही खतरे में पड़ गई थी। आन्दोलनकारियों की धर-पकड़ शुरू हुई तो सबसे पहले पुलिस की निगाह शिव'दा पर ही पड़ी। बेचारों को मेमने की तरह घर से घसीटकर ले गईं...।

अदालत में मुकदमा चला तो शिव'दा ने केवल इतना ही कहा था, अपनी सफाई में—“मैंने जो कुछ भी कहा, सच कहा था। सच बोलने की सजा अगर मृत्युदण्ड है तो मुझे वह भी मजूर है...।”

शिव'दा का सारा शरीर लहलुहान था, कपड़े तार-तार।

फिर पता नहीं किस काल-कोठरी में ठूस दिया था, उन्हें तड़प-तड़पकर मरने के लिए। जहाँ से एक दिन बाहर निकला था—केवल उनकी अस्थिपिंडर।

सूखा हुआ शरीर—हड्डियों का ढाँचा मात्र। बढी हुई दाढ़ी। कैदियों के फटे कपड़े। खुली हुई निष्पाण आँखों में विचित्र-सी वेदना।

शिव आलमगज लाया गया तो एक भी आदमी बाहर न निकला—पुलिस के आर्तक से। पादरी समेत केवल चार-पाँच लोग थे।

शिव को ताबूत पर रखते समय मैंने देखा—उनके सारे शरीर पर जगह-जगह नीले निशान थे। लगता था अब भी जख्म कराह रहे हैं। सूखे हुए होंठ कुछ कहने के लिए अब भी फड़फड़ा रहे हैं।

मैं निर्निमेष उनकी ओर ताकता रहा।

उन्हें दफनाए आज कितने दिन हो गए। पर लोग कहते हैं—रात के अँधियारे में ‘शहीद-चौक’ पर शिव'दा आज भी बैठे दिखलाई देते हैं। आज भी अकाल-पीड़ितों के

लिए भीख मॉंगते हुए भटकते हैं। रात के अन्धकार में आज भी अपने खण्डहर के द्वार खटखटाते हैं तो सीमा भ्रभी दहाड मारकर रोती हैं। रूही चीख पड़ती है। पर उस वीरान खण्डहर में सारी आवाजें विलीन हो जाती हैं और फिर छा जाता है—मौत का-सा सन्नाटा !



## अन्तराल

जमीन पहले से कुछ अधिक कट गई है। जगल रूठकर दूर चले गए हैं। पुराने मकानों की जगह सेब के नये पेड़ उग आए हैं। कई वृक्ष अब बड़े-बड़े मकानों में बदल गए हैं... ।

अपनी आँखों पर मुझे विश्वास नहीं हो पा रहा—जिन कच्ची, छिछली, सडकों पर पहले घोड़े तक नहीं चढ़ पाते थे, अब उन्हीं पर बड़ी-बड़ी मोटर-गाड़ियाँ दौड़ रही हैं... ।

कहते हैं—पासी पण्डत गत वर्ष गुजर गए। मरते समय उनकी अवस्था एक सौ चालीस साल की थी... ।

बचपन में जिस पाठशाला में कभी हम पढ़ते थे—आज उसे देखने गया तो वहाँ गेहूँ के पौधे लहलहा रहे थे। टूटी हुई इमारत के पत्थरों को बटोरकर किसी दूरदर्शी अनुभवी आदमी ने देसी-दारू की दुकान खोल ली थी... ।

इस सारे कस्बे में पहले कुल मिलाकर सात-आठ दुकानें थीं—डाकखाना और पाठशाला की अलग-अलग इमारतें। पर अब देखता हूँ—सारा-का सारा नक्शा बदल गया है... ।

कस्बे के बीच एक तिमजिला मकान तनकर खड़ा हो गया है—सीमेंट और लोहे की छड़ों वाला—सफेद। ऐसे मकान यहाँ अब जगह नहीं, बल्कि कहीं-कहीं दिखलाई देते हैं—विशेषतः बड़े कस्बों में। लोग कहते हैं—यह मकान आन्देव का है... ।

आन्देव कभी गाएँ चराता था। तम्बाकू भरता था। पिताजी के साथ घोड़े खरीदने भोट-तिब्बत जाता था। बाद में कहते हैं—उसने चाय का खोखा खोला था। फेरी लगाकर कालि-पार (नेपाल) कपड़ा बेचता था और लगे हाथ 'काली-बूटी' का काला-व्यापार आरम्भ कर दिया था। काली-बूटी ने बहुत-से बड़े-बड़े गुल खिलाए। फिर बेचारे आन्देव के लिए भी वह फलीभूत हो गई, तो इसमें आश्चर्य क्या !

कल मैं परम'का के घर गया था। दूसरे विश्वयुद्ध में उन्होंने इटली के मोर्चे पर 'विक्टोरिया-क्रॉस' जीता था। बड़े ही मिलनसार। खुशमिजाज। उन्हीं के प्रोत्साहन पर मैं इतना पढ़ पाया था।

देवदार के वृक्षों से घिरे उनके आँगन में पहुँचकर, उन्हें पुकारने लगा तो पास-पड़ोस की बहुत सी खिडकियाँ सहसा खुल गईं। कुछ लोग घर से बाहर निकलकर विस्मय से मेरा मुँह ताकने लगे। एक अधेड़-सी औरत, पत्थर की चौड़ी मीढ़ियाँ टटोलती मेरे पास आई और सुरकने वाले कपड़े के बन्द बटुवे-सा मुँह खोलती हुई बोली, "क्या हो गया हो तुम्हें?"

मैं हैरत में। इसमें 'क्या' होने की कौन सी बात है।

"परम'का का घर यही है न।"

"हाँ। हाँ।।" दूसरी ओर से झुँझलाई आवाज आई।

"वे घर पर है? मुझे मिलना है।"

"अरे, तुम यह क्या कह रहे हो?" औरत चीख सी पड़ी, "कौन हो तुम? क्या किसी नई जगह से आए हो? अरे, उन्हें मरे तो अब पन्द्रह साल से भी ऊपर हो गए हैं।"

हत्वभ सा मैं देखता रहा, जैसे किमी ने मुझे हवा में उछालकर, औंधे मुँह धरती पर पटक दिया हो।

मैंने प्रत्युत्तर में क्या कहा, अब याद नहीं। हाँ, मैं बड़ा परेशान-सा लौट आया था। चौबाँटया के पास पहुँचकर मैंने किमी राह चलती वृद्धा से, अँगुली से पीछे की ओर इशारा करते हुए पूछा था, "वोऽ, जो अपने आँगन की मेड पर खड़ा है—वोऽ अधेड़-सी औरत कौन है?"

तरम खाकर उसने देखा, "चऽ। तुम नहीं जानते?" उसके शब्दों में उपेक्षा का सा भाव था, "परमा थे न पहले। लाम वाले। उनकी छोटी लडकी है—तुलि। जब से विधवा हुई—यही रहती है।"

वह चली गई। मेरे सर के भीतर, आर पार पारे की ठडी लकीर की तरह तैरता कुछ निकल जाता है। हाँ, जिस साल मैं पढ़ने के लिए अल्मोडा गया था, उसी साल परम'का की किसी एक लडकी के विवाह की बात चल तो रही थी।

उस फूल-सी कोमल, दूधिया लडकी की, इस 'रूप' में मैं कल्पना तक करने को तयार न था। अत मोच लेता हूँ—वह कोई और होगी।

जिस दिन शाम घर पहुँचा था—एक बूढ़ा व्यक्ति हमारे आँगन की मेड पर बैठे नारियल गुडगुडा रहा था। भोट के ऊनी पट्टू का वैसा ही लम्बा कोट था, वैसा ही ढीला चूडीदार पाजामा, वैसी ही सफेद धनी मूँछे—ठीक वैसी ही—जैसी पिताजी की हुआ करती थी।

क्षण-भर के लिए हवा थम गई, धरती रुक गई। ठिठककर मैं सोचने

लगा—कहीं पिताजी ही तो नहीं।

दूसरे ही क्षण भ्रम तार-तार बिखर जाता है। पिताजी का देहान्त तो मेरी आँखों के सामने हुआ था। शमशान से जब लौटे तो खूब बारिश हुई थी। टुल'दा के साथ-साथ मैंने भी सिर मुँडवाया था। उस भयंकर सर्दों में, हमने लगातार दस-बारह दिन तक, नदी के बर्फीले पानी में ठिठुरते हुए नहाया था...।

“किसे ढूँढ रहे हो, भ-ईऽ ?” मुझे कोई बटोही समझकर, सामने से बिखरी हुई आवाज आती है।

आवाज़ सुनते ही मेरे सारे शरीर में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है। मुझे पहचान पाने में फिर समय नहीं लगता।

लपककर मैं चरण छूने लगता हूँ तो वे पीछे हट जाते हैं, “मैंने पहचाना नहीं। आँखे कम... देखता... हूँ...ऽ।”

“अरे, मैं तुला हूँ—टुल'दा ।”

“तु-ला...।” अविश्वास से वह मेरी ओर देखते हैं, टटोलने की दृष्टि से—“कौन, तू-हमारा तुला है ...।” वह विस्फारित नेत्रों से देखते हैं और फिर बच्चों की तरह लिपट पड़ते हैं। उनकी भूरी आँखों से खुशी के आँसू छलक पड़ते हैं।

बहुत देर तक उन्हें सच नहीं लगता कि मैं तुला हूँ। जीवित हूँ। उनके सामने खड़ा हूँ।

एक छोटा सा बच्चा भागता हुआ भीतर जाता है और मेरे बैठने के लिए फटा काला कम्बल लाता है।

“इत्ता अर्सा हो गया—पूरा एक जुग। पर तूने कभी कुमल-पत्तर तक नहीं...।” बड़े भैया भाव-विह्वल होकर कहते हैं।

“अम्मा ने मरते समय तक तेरे ही नाम की रट लगा रखी थी। मृत्यु-शैया पर पड़ी—उनकी आँखें दरवाजे पर टिकी रही। जो कोई आता, उसी का हाथ झकझोरती हुई पूछतीं—‘तूने हमारा तुला तो नहीं देखा...’।

“लोग कहते थे कि तू मर...।” टुल'दा का गला भर आता है।

इस ठंड में मात्र फटी ठंडी कमीज टाँगे एक बच्चा, हुक्के में तम्बाकू भरकर लाता है—बहती नाक से सुलगते कोयलों के ऊपर फूँ-फूँ करता हुआ।

अँधेरा कुछ बढ़ गया है। घरों में दीए जलने लगे हैं। लोग खेतों से उठकर, घरों की ओर आ रहे हैं।

सामने बटिया में एक अधेड़ औरत गुज़रती है। एक हाथ से बछिया के गले में बँधी रस्सी, दूसरे में सिर पर धरा हरी घाम का भारी गड्ढर थामे। इस उम्र में भी इतना लम्बा घूँघट !

टुल'दा सामने निगाह पड़ते ही, उसी विह्वल स्वर में चहक पड़ते हैं—“हँ, ओ नन्दा की इजा। तू पहचान रही है ? अरे, हमारा तुला आ गया है।...देख, मैं कहता था न कि वह जरूर जिन्दा होगा...।”

भाभी के पाँवों की ओर झुकता हूँ तो वे सकपका-सी जाती है।

उनके सिर के आधे से भी अधिक बाल सन की तरह सफेद हो आए हैं। चेहरे पर अनगिनत झुर्रियाँ, काली काली झाड़ियाँ, अधफटे मैले कपड़े। कभी वह कितनी सुन्दर थी।

भीतर सिगडी पर आग सुलगने पर, हम सब जने उठते हैं। भैया पाम पडोस में गुड बॉटते हैं कि उनका तुला जिन्दा है। बीस वर्ष बाद घर आया है।

एक कोने में आग का पीला-पीला प्रकाश। किसी एक कोने में, कही देवताओं के पास, एक छोटा सा टिमटिमाता दीया। शेष सब जगह अंधेरा, बाढ़ के ठंडे पानी की तरह फैला।

जब तक पिताजी जीवित थे, इस घर में कैसी रौनक लगी रहती थी। पेशकार, अमीन सब हमारे ही घर ठहरते थे। दिन रात मेला लगा रहता था।

“गगा घर का काम सँभालेगा। तुला पढ लिखकर पटवारी बनेगा।” पिताजी अक्सर अम्मा से कहा करते थे, “जिसके दो लडके खाने-कमाने वाले हो गए, उसे और क्या चाहिए। तू बड़ी भागवान है—गगा की ईजा, बैठी-बैठी राज रचेगी।”

सामने रस्सी पर झूलते चीथडे और पीली मिट्टी में पुती टूटी दीवारों की ओर देखने मात्र से समझता हूँ—अम्मा ने कैसा राज रचाया होगा।

जिस साल मैं घर से भागा था—अम्मा जीवित थी। और पहली पत्नी गुजर जाने के बाद, तुल'दा की दूसरी शादी हुई थी।

टहलता-टहलता गौशाला वाले घर की ओर बढ़ता हूँ। पता चलता है—वह घर अब हमारा नहीं है, किसी और ने खरीद लिया है। नीचे गोठ में किसी की गाये हैं—जहाँ कभी हमारे भोटिए घोड़े बँधे रहते थे।

रात को भोजन के बाद हाथ धोने के लिए, सीढियों की बगल में, पाटी की ओर पाँव बढ़ा ही रहा था कि औंधे मुँह नीचे गिर पड़ा।

तुल'दा चीड का चलता हुआ छिलका उठाए बाहर की ओर लपके—“अर र, कैसे गिर पड़ा, तुला?”

मैं उन्हें कैसे समझाता कि पहले यहाँ कभी हाथ-मुँह धोने और धूप तापने के लिए चीड के तख्तों की चौड़ी पाटी होती थी। मुझे क्या पता था कि अब वह नहीं है।

पिछवाड़े की ओर दो दरवाजे थे, जो अब दीवारों में बदल गए हैं। आँगन पहले इतना छोटा नहीं था न इतनी सीढियाँ ही।

मैं तार'दा के घर जाता हूँ। पता चलता है कि उन्हे गाँव छोड़े अब आठ माल हो गए हैं। उन्होंने तराई भावर में अपना 'फारम' बना लिया है। सब वही रहते हैं। यहाँ केवल उनकी बूढ़ी माँ है—घर की रखवाली के लिए।

कहते हैं—गाँव में पीने के पानी की समस्या हल हो गई है। नया नौला बन गया है। उसी के पास जगल से लीसा ढोने की नई सडक। मैं भाभी से पूछता हूँ,



“हमारे आँगन के किनारे एक कागज़ी अखरोट’ का पेड़ था न।”

भाभी की समझ में नहीं आता कि मैं यह क्या कह रहा हूँ, “यहाँ तो अखरोट का पेड़ कभी नहीं था……।” वह बुदबुदाती हैं।

“सबसे बड़ा नन्दा है,” टुल’दा बतलाते हैं, “खेतीखान के हाईस्कूल में पढ़ना है। उससे छोटी—लछमी, ब्याह के बरस ही गुजर गई थी। चना घर का काम देखता है……।”

मैं देखता हूँ—सबसे छोटा टुल’दा की गोद में सो रहा है। उससे बड़ा, अपने भाई की मात्र फटी कमीज पहने, दरवाजा पकड़े, सहमा सहमा-सा मेरी ओर देख रहा है।

भैया कहते हैं, “अम्मा और बुआ का देहान्त एक ही साल हुआ था। बुआ केवल एक दिन बीमार रहीं। किसी के हाथ का भरा पानी तक नहीं पिया।……हमारा नन्दा उसके दूसरे साल पैदा हुआ था……।”

छोटी बहन माधवी के विषय में पूछता हूँ तो भैया मेरा मुँह ताकते हैं। बतलाते हैं—हरकिशन मामा भी अब नहीं रहे।……विपिन के पिताजी गुजर गए।……जिनुवा दर्जी ने जोग ले लिया।……मरने के लिए हरिद्वार चला गया था।……ठाकुर के तीनों लड़के कच्छ के रन में मारे गए।……रामजी अपनी जमीन मरते समय स्कूल के नाम कर गया था। रूपदेव टी बी से मरा था। उसका छोटा भाई विक्रम पानी में डूबकर।……हरिबल्लभ की कोई आस-औलाद नहीं रही। अब वह अपने भतीजे के पास चला गया है। कहते हैं—वह पागल हो गया है।”

मुझे आश्चर्य होता है कि एक साथ ये सब लोग कहाँ चले गए हैं? मेरे जाने से पहले के प्रायः सभी बूढ़े मर-खप गए हैं। बहुत से अधेड़ लाठी का सहारा लेकर, रुक-रुककर चलते हैं। शीशे के गिलास के पैंटे से भी मोटा शीशा पहनते हैं। जिन्हे मैं हट्टा कट्टा जवान छोड़ गया था—उनकी मूँछो तक के बाल मफेद हो आए हैं। जो अब जवान, बाल बच्चे वाले दीख रहे हैं—वे तब शायद पेंदा भी नहीं हुए थे।

बहुत से लोग—नाते-रिश्तेवाले मिलने आते हैं, उनमें से शायद ही किसी को मैं पहचान पाता हूँ।

सुबह बिस्तर से उठ ही रहा था कि झब्रैली दाढ़ी वाला, एक जवान लड़का, खाकी निकर पहने, मुझे झुककर नमस्कार करता है। कहता है, “ताऊजी, आपको पिताजी ने याद किया है।”

मैं असमंजस में पड़ूँ, इससे पहले टुल’दा मेरी विवशता ताड़ जाते हैं। कहते हैं, “हमारे कृपाल’दा हैं न। छोटे चाचाजी के घर में—उनका बड़ा लडका है महेश। बी ए पास करके अब यहीं मास्ट्री कर रहा है……।”

बी ए. पास करके मास्ट्री करने वाला लडका, मुझ अजनबी को एक नए घर में ले जाता है। देहरी के भीतर घुसते ही ढेर सारे बच्चे टिड्डियो की तरह घेर लेते हैं।

लम्बा, लाल घूँघट काढ़े एक नव-विवाहिता मेरे पाँवों की ओर झुककर प्रणाम करने लगती है तो कृपाल’दा कहते हैं, “अरे तुला, तू इसे नहीं पहचान रहा है? यह

हमारे किशन की बहू है। इसी फागुन में तो शादी हुई है। तेरी भाभी की तन्दुरुस्ती अब ऐसी ही रहती है यार। तेरी तरह खिला परदेस में ही रहने का आदी हो गया है। बरेली में है। कभी उसे चिट्ठी भेजना। परदेस में अपनों का बड़ा सहारा रहता है...।”

कृपाल'दा यह क्या कह रहे हैं? किशन कौन है? खिला कौन? मेरी समझ से सब परे की बातें हैं। मुझे सूझता नहीं, मैं कहाँ आ गया हूँ? कस्बे के नाम के अलावा अब पुराना कुछ भी तो नहीं, जिसे परिचित कह सकूँ।

मैं सोचता था—सहसा मुझे सामने खड़ा देखकर अम्मा कितनी खुश होगी। बुआ बार-बार मुँह मसार कर रोने लगेगी। माधवी के घर जाऊँगा तो वह फूली नहीं समाएगी। ताऊजी मेरे आने की खुशी में 'सत्यनारायण' की कथा करवाएँगे। परम'का अपनी बड़ी-बड़ी मूँछें उमेठकर मुझसे चीन और पाकिस्तान के हमले के बारे में पूछेंगे या इटली के मोर्चे की साहसभरी कहानियाँ सुनाएँगे। परम'का को इस बात का कितना गर्व था कि उन्होने नेताजी से हाथ मिलाया था!

मेरा मन उखड़ आता है। एक दिन गुज़ार पाना असम्भव-सा लगता है। अपने हाथ जो सामान लाया था, सब इधर-उधर बिखेर देता हूँ।

यहाँ तुला नाम का कोई आदमी कभी रहता था, सब भूल-भुला गए हैं। बहुत बार बतलाने पर, तरह-तरह से परिचय देने के पश्चात, बहुत कम लोग सिर हिलीकर पहचान पाने का अभिनय करते हैं।

एक दिन मैं चलने लगता हूँ तो बच्चे उदास हो जाते हैं। तुल'दा दूर तक छोड़ने आते हैं। कहते हैं, “यहीं क्यों नहीं रुक जाता? दोनों मिलकर काम करेंगे तो गुज़ारा और भी आसानी से चल जाएगा। अरे, भाई का सहारा कुछ कम होता है।” तुल'दा का गला भर आता है। इससे आगे वह कुछ नहीं कह पाते। चबैने की पोटली मेरी ओर बढ़ा देते हैं...।

बस-स्टेशन के पास, खोखे में चाय पीने लगता हूँ तो दूकानदार स्वयं गिन्नास धोकर लाता है। मैं देखता हूँ—चाय के ऊपर ढेर सारी मलाई तैर रही है...।

बस में बैठता हूँ। कंडक्टर टिकट नहीं देता। कहता है, “हद हो गई। अपनी गाड़ी में आपको टिकट लेने दूँगा? आप नहीं पहचान रहे हैं तुल'का, मैं देवा का छोटा भाई हूँ... पिताजी ने कहा है कि आपको टनकपुर में रेल की गाड़ी तक बिठला आऊँ।...अपने आदमी के दरसन कब-कब होते हैं...?” मेरा हाथ पकड़कर वह जबरदस्ती ड्राइवर की बगल वाली सीट पर बिठला देता है...।

बस चलने लगती है तो मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ—मुझे ठीक वैसा ही लगता है, जैसा बांस साल पहले, घर से पहली बार निकलते समय कभी लगा था...।



## समुद्र और सूर्य के बीच

उसे सपना आया—कल रात एकाएक सरकार उलट जाने से, सत्ता कुछ नए अजनबी लोगों के हाथ में चली गई है। पुराने मंत्रिमंडल के विरुद्ध भ्रष्टाचार के सगीन मामले सैनिक न्यायालय को सौंप दिए गए हैं। देश के सारे भ्रष्टाचारियों को मृत्युदण्ड मिलेगा—आकाशवाणी से नई क्रांतिकारी परिषद् ने घोषित कर दिया है....।

उसने देखा—उसके पाँवों में बेड़ियाँ और हाथों पर भारी-भारी हथकड़ियाँ झूल रही हैं। कनाट-प्लेस के भरे बाजार से, दिन-दहाड़े जुलूस की शक्ति में उसे लालकिले की तरफ पैदल घसीटकर ले जाया जा रहा है। उसका गरदन पर झुका हुआ सिर धरती में धँस रहा है। पसीने से वह भीगा है। मुँह से तमाम झाग निकल रहा है। अपने चेहरे पर खादी का एक सफेद रूमाल उसने चारों ओर कसकर लपेट रखा है, ताकि कोई उसे पहचान न सके। केवल दो खोखली, निष्पाण आँखें बाहर की ओर झाँकती दिखलाई दे रही हैं। सड़क के आर-पार असंख्य निगाहें वितृष्णा से, घृणा से, उमकी ओर घूर रही हैं। परन्तु उसे अब कुछ भी दिखलाई नहीं देता। सामने जहाँ तक दृष्टि जाती है, कुहासा-ही-कुहासा रेत के सैनाब की तरह फैला है।

उसे कहीं घुटन-सी महसूस हुई। लगा कि साँस अब रुकने ही वाली है! एकाएक उसके हाथ-पाँव छटपटाए। वह जागा, तो उसका हृदय धौंकनी की धड़क रहा था। वह पसीने से बुरी तरह नहाया हुआ था। उसका बूढ़ा जर्जर गात सूखे पत्ते की तरह काँप रहा था। अपने सत्तर साल के लंबे संघर्षमय जीवन में, उसे ऐसा भयंकर सपना कभी नहीं आया, जिसने उसका रोम-रोम कंपा डाला था।

तभी पास ही टेबुल पर रखे फोन की घटी घनघनाई। उचककर हड़बड़ाता हुआ सचेत हुआ। मरता-जीता किसी तरह मारी शक्ति समेटकर, रिसीवर की ओर लपका। “ह-अ-ह-ल” उसके मुँह से पूरी आवाज न निकल सकी। उसकी सूखी जीभ तालू पर बुरी तरह चिपक गई थी।

उसने प्रत्युत्तर में खड़ाक से रिसीवर पटक दिया। और वहीं फर्श पर वैसा ही

बैठ गया। उमके पाँवों में अब इतनी शक्ति शेष नहीं थी कि वह खड़ा रह सके। जिसमें की सारी ताकत जैसे गीले तौलिए की तरह निचुडकर समाप्त हो गई हो।

कुछ क्षण मुस्ताने के बाद वह फिर शक्ति समेटकर, पलंग के पाँव का सहारा लेकर उठा। तिपाई पर रखे शीशे के जार से पानी उडेलकर पिया। उसे कुछ राहत-सी मिली। वह बिस्तर पर मुर्दे की तरह निढाल गिर पड़ा।

आँखों में अब नींद नहीं थी। पलके छत पर लगे बुझे दूधिया रॉड पर, मरी हुई मक्खी की तरह चिपक गई थी।

ऐसा भयावना सपना कभी नहीं आया था। फिर आज? क्या सचमुच कुछ अनहोनी होने वाली है। देश की स्थिति देखते हुए, कुछ भी असंभव नहीं लगता। कभी कुछ भी हो सकता है।

वह सोचता रहा—कल रात सोते समय वह इराक की क्रांति के विषय में सोच रहा था। शायद उसी का कुछ भ्रम हो। रेडियो से भी तो अफ्रीका के किसी देश में ऐसे ही परिवर्तन की खबर थी। ऐसी ही अराजकता अनिश्चितकाल तक बनी रही तो आगे क्या होगा? वह बारूद एक न एक दिन फटने वाला है। नहीं 5 नहीं 55।

उसने झटके से गरदन हिलायी—ऐसा कभी भी नहीं होगा। अब उग्र ही ऐसी कौन सी बची है। जो दिन बीत जाए, बहुत है।

सारी रात इसी तरह असहाय पड़ा पड़ा पता नहीं क्या क्या सोचता रहा।

सुबह एक झपकी सी फिर लगी। कुछ आराम भी मिला। पर नौकर ने बैड टी के लिए जगाया, तो वह बिना उसकी सहायता के हिल न सका।

चाय की प्याली थामने के लिए जब उसने अपना कॉपता हुआ बूढ़ा हाथ आगे बढ़ाया तो उसकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उसकी कलाई में गहरे साँचे पड़े थे—जैसे वर्षों से बँधी हथकड़ियाँ अभी अभी खुली हो—ऐसे ही उभरे हुए और भी कई नीले निशान।

नौकर आज के ताजा समाचार-पत्रों का ढेर रखकर चला गया। पर वह खोलकर देख न सका। विस्फारित नेत्रों से सामने टगे चित्र की ओर देखता रहा। उसे लगा, चित्र में से आकृति चली गई है और अब केवल काला चौखटा शेष रह गया है और चौखटे का रंग भी धीरे धीरे धूमिल पड़ता चला जा रहा।

निगाहे मूँद ली उसने।

आज के पूर्व निर्धारित सारे कार्यक्रम रह हो गए। एक-के बाद एक, दिन भर डॉक्टर और मित्र आते रहे।

कुछ दिनों की परिचर्या के पश्चात् स्वास्थ्य कुछ सँभला। नियमित दैनिक कार्य फिर शुरू हुए। पर अब एक नई मानसिक व्याधि ने धेर लिया था। अब हर क्षण, वह अपने गत जीवन के विषय में ही सोचता रहता। ज्यो ज्यो वह उनसे डरकर भागता, त्यो-त्यो उनका प्रतिबिम्ब और भयावना होकर सामने उभरने लगता।

लगभग आधी शताब्दी पहले कॉलेज की पढाई छोड़कर वह 'नमक सत्याग्रह' में

जेल गया था। माँ गुजर गई थी। पिता को मेरे बहुत साल हो गए थे। छोटा भाई मामा के घर पर रहकर पढ रहा था।

‘देश सेवा एक तप है। जब तक सबको पहनने के लिए पूरे कपडे नहीं मिलेगे, मैं पूरे कपडे नहीं पहनूँगा। जब तक सबको रहने के लिए मकान की व्यवस्था नहीं होगी, मैं मकान में नहीं रहूँगा। मैं वही खाना खाऊँगा, जो मेरे देश का आम आदमी खाता है।’ उसे लगा था, यह गांधी ने नहीं, उसने कहा था। केवल उसी ने।

पर नहीं, यह सच नहीं, सपना था। यहाँ कभी भी सत्याग्रह नहीं हुआ। गाँधी नाम का कोई आदमी कभी भी इस मुल्क में पैदा नहीं हुआ। ये सब लोग विक्षिप्त हैं, जो बात बात में उसका नाम लेते हैं। रॉबिन्सन क्रूसो की तरह, हमने किसी द्वीप में, एक अज्ञात नायक की कल्पना कर ली थी और।

कुछ दिन पश्चात उसने फिर एक सपना देखा—

वह चलता चलता मिटोब्रिज पार कर, अब लालकिले के मैदान तक पहुँच चुका है। उसके पाँव बहुत थक गए हैं। अच्छी तरह उससे अब चला तक नहीं जा रहा है।

इस वक्त यहाँ कर्नाट प्लेस की जैसी भीड़ नहीं है। एक भी आदमी दिखाई नहीं देता। चारों ओर रात का सा अँधेरा है—एक भयानक सन्नाटा। अपनी हथकड़ी की रस्सी, स्वयं अपने हाथ में थामे वह अकेला चल रहा है। कोई भी पुलिस का आदमी उसके साथ नहीं है।

वह किले के प्रवेशद्वार पर पहुँचा। उसने देखा, जिस आदमी ने फाटक खोला, वह हू ब हू उसी की शक्ल का है। ठीक वैसा ही कद, वैसा ही रंग, वैसा ही वस्त्र। कही कोई अन्तर नहीं। जैसे शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देख रहा हो।

भीतर डयोटी पर खड़े सन्तरी भी उसे अपनी ही प्रतिमूर्ति लगे।

वह एक सैनिक न्यायालय के सामने हाथ नेंधे खड़ा था अब। उसका जर्जर शरीर काँप रहा था।

—देशद्रोह में बड़ा कोई गुनाह और भी होता है ?

उसने सिर हिलाया—नहीं।

—तुमने गुनाह किए हैं ?

—हाँ।

—आखिर इतना रुपया भ्रष्टाचार में बटोरकर तुम क्या करोगे ? तुमने क्या मोचा था ?

वह चुप रहा।

—बीस करोड़ रुपए की लागत से, पाँच साल की मेहनत के बाद बना सप्त-पर्णा नदी का बाँध पहली ही बरसात में टूटकर बह गया। सीमेट के बदले रेत डलवाकर तुमने चार लाख की बचत की थी न।

—जी हाँ।

—बॉध टूटने से कितने गाँव बहे थे ? कुल कितने लोग मरे ?

वह चुप रहा ।

—अनाज की कीमते बढ़वाकर, तुमने पैतालीस लाख रुपए एक रात में इकट्ठे किए थे न ?

—जी हाँ ।

—राजस्थान और बिहार के अकाल में कुल कितने लोग भूख से मरे थे ? कितने बीमार बच्चों की मृत्यु सिर्फ इसलिए हुई कि उनके इलाज की व्यवस्था न हो सकी । दवा न थी, दवा खरीदने के लिए पैसे न थे ।

—इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण है कि क्षेत्रीयता और जातिवाद की आड़ में समय-समय पर जो हिंसात्मक तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ हुई थी, उनमें अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारा भी हाथ था । जोड़-तोड़ की इन्हीं प्रवृत्तियों के बलबूते पर तुम पिछले बीस साल से शासन-तन्त्र पर जोक की तरह चिपके रहे और तुमने सारी व्यवस्था खोखली कर दी ।

—अपने निहित स्वार्थों के लिए तुमने राष्ट्र की प्रगति दौंव पर लगाई । एक वर्ग, समाज या राज्य की नहीं—तुमने उभरते हुए एक मासूम देश की दिन-दहाड़े हत्या की । देखो, देखो ! देखो ! तुम्हारे हाथ अब तक गरम लहू से सने हैं । देखो !

उसने अपने दोनों बँधे हुए हाथों की ओर देखा जो मचमुच रक्त से सने हुए थे—लाल ।

वह चीख पड़ा ।

उसकी चीख सुनते ही घर-भर के लोग सहसा जाग पड़े । लोगो ने देखा— उसका शरीर एकदम ठंडा है, तिनके की तरह काप रहा है ।

तीसरे दिन उस होश आया । पानी पीने के लिए उसने हाथ का इशारा किया, तो देखा—उसकी दोनों हथेलियों और उँगलियों पर गीला लाल वार्निश सा चिपका हुआ है ।

हजार बार उमने हाथ धोए, पर वह लाल रंग उतर न पाया ।

उसके बाद, उमने हाथ ढँकने के लिए दस्तानों का इस्तेमाल शुरू कर दिया ।

कुछ महीने अस्पताल में रहकर वह पुनः स्वस्थ हुआ, घर आया । घर आकर एक दिन उसने देखा नौकर कह रहा है—कोठी के पिछवाड़े उसे एक बेड़ी और हथकड़ी पड़ी हुई मिली । उनके पास ही ग्वादी का एक सफेद रूमाल-सा था, जिसमें सिलवटे पड़ी थी ।

वह अवाक् सुनता रहा । उससे कुछ भी कहा न गया ।

बाहर गेट पर मार्गानधारी सतरी का चेहरा उसे हू-ब-हू उससे मिलता लगा, जो लालकिले की सैनिक अदालत में मुख्य न्यायाधीश की कुर्सी पर रौब से बैठा था और उससे एक-के-बाद-एक भयावने प्रश्न पूछता चला जा रहा था ।

एक दिन उसने सतरी को बुलाकर कहा—तुम कभी लालकिला भी गए हो ?

—जी, सरकार ! उसने उत्तर दिया ।

—कब ?

—यही कोई पाँचेक साल पहले... ।

—किस काम से ।

—मेरी ड्यूटी लगी थी, हुजूर S... ।

—फिर तो नहीं गए न ?

—जी S ई नहीं, स-र-का-र- ।

—तुमने इधर कोई सपना देखा है, जिसमें तुम्हारी तरक्की हुई हो ?

उसकी समझ में नहीं आया कि बड़े सरकार आज यह कैसी बातें कर रहे हैं ।

फिर भी कुछ तो उत्तर देना ही था । हकलाता हुआ वह बोला—बस्स ! अपनी बच्ची देखी माई-बाप । जिसे गुजरे दो-तीन साल हो गए ।

—और कुछ तो कहीं ।

—जी नहीं, सरकार . ।

वह चला गया ।

पर वह सोचता रहा—उमे ऐसे सपने क्यों आने हैं ? एक दिन सहसा क्या सचमुच तत्र बदल जाएगा । और गत जीवन की सारी भूलें उभरकर सामने आ जाएँगी । उम्र भर की संजोई प्रतिष्ठा यों धूल में मिल जाएगी । भगवान न करे, अगर कहीं सचमुच ऐसा ।

उसका शरीर सिकुड़ने लगा और वह रीते आकाश की ओर काठ की तरह निर्निमेष ताकता रहा ।

कुछ दिन बाद वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के दौरे पर गया, जहाँ बाढ़ आई हुई थी । एक बाँध टूट गया था, जिसमें कई आदमी, ढोर-डंगर, मकान, खेत-खलिहान बह गए थे । निराश्रित, गृह-विहीन लोगों की भीड़ लगी थी ।

उस भीड़ में से गुजरते हुए उसे जूठी पत्तल चाटती हुई एक वृद्धा दिखलाई दी, जिसका चेहरा उसकी बूढ़ी दिवंगत माँ से इतना मिलता-जुलता था कि वह होठों पर अँगुली रखकर, क्षण भर के लिए धक् से ठिठक पडा ।

दलदली कच्ची सड़क पर कार-दुर्घटना में एक नवासी माल का बूढ़ा कुचलकर मर गया । उसने देखा, लंगोट पहने, लाठी लिए, रक्त से नहाया जमीन पर कुचले हुए केंचुए की तरह छटपटाता हुआ वह आदमी, उम आदमी से शत-प्रतिशत मिलता है, सुनहरे प्रेम में जडित, जिसका चित्र उसके ड्राइंग-रूम में आज भी टगा है ।

उसे नींद न आने की बीमारी हो गई । उमकी पलकें दिन-रात खुली रहती...

परन्तु उस रात, मुद्दतो बाद उमे फिर नींद आ गई । उसने इस बार फिर एक सपना देखा—

न्यायालय उसी तरह खचाखच भरा हुआ है। कहीं तिल धरने को भी ठौर नहीं। लाखों लोग टिड्डियों की तरह टूट पड़ रहे हैं। देश-विदेश के संवाददाताओं की भीड़ लगी है....

आज अन्तिम निर्णय होने वाला है।

सामने एक चील मँडराई। काला पर्दा-सा हटा। उसने देखा, मुख्य न्यायाधीश (जिसका चेहरा उसके संतरी से मिलता-जुलता लगता है) अपना फैसला सुना रहा है!

—अदालत पूरी जॉच-पड़ताल के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँची है कि अपने चालीस साल के सक्रिय राजनीतिक जीवन में, जन-सेवा के नाम पर तुमने सवा तीन करोड़ रुपए एकत्रित किए हैं। भ्रष्टाचार फैलाने में तुम्हारी दुहरी नीतियाँ फलप्रद रही हैं। अपने निहित तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुमने जातीयता एवं क्षेत्रीयता को इस कदर बढ़ावा दिया कि देश पुनः विभाजन की स्थिति तक आ पहुँचा है। देश को गृह-युद्ध की-सी इस भयावह अराजक स्थिति में ला खड़ा करने का दायित्व तुम पर है....।

उसका पोला मुँह खुल पड़ा....।

न्यायाधीश अपना निर्णय उमी गति से पढ़ता रहा—

अदालत इस नतीजे पर पहुँची है कि तुम्हें जितनी भी सजा दी जाए, कम है—फिर भी ....तुम्हारे चेहरे पर कालिख लगाकर तुम्हें देश के कोने-कोने में भेजा जाए, ताकि देशवासी (जिनके विश्वास की तुमने हत्या की है), तुम्हें देखकर, तुम पर हँस सकें। लोगों की इतनी भर्त्सना और उपहास के पश्चात् भी तुम मर न सके, जिंदा रहे....तो तुम्हें चाँदनी चौक के भरे बाजार में मरेआम फाँसी की सजा दी जाए और....।

निर्णय पूरा सुनने से पहले ही वह न्यायालय के फर्श पर अचेत होकर गिर पड़ता है।

सुबह लोगो ने देखा—वह बिस्तर पर मरा पड़ा है। उसके गले में रस्सी के जैसे ताजे निशान पड़े हैं—उभरे हुए नीले-नीले डोरे। और चेहरा एकदम स्याह। जैसे कालिख पुत गई हो।

□



## तरपन

“अरी, अब रोती क्यों है ? बावली हो गई ? जाने वाला गया, लेकिन इन दुधमुँहों का तो खियाल कर। पाहुनो का तो लिहाज कर।”

“आज तेरहवी है। खबरदार जो आँसू बहाए। पितर का तरपन साती से नहीं किया तो पिरेत जोहनी से छूटेगा नहीं।”

“अरे, दिन चढ आया है छत पर। कुश तिल गिन लिये है। कहाँ है तुलस्या की बहू।” बाहर से बामनो की एकसाथ अनेक आवाजे टकराई।

मधुलि ने जाडे से नीले पडे अपने अधर भीच लिये। किसी तरह हृदय का आवेग थामकर आँसू पोछने लगी।

घुटनो तक का घूँघट काढे, फटी अँगिया, फटी धोती मे लिपटी वह दया की, दुख की मूरत, अपने तीन अनाथ बच्चों को लिए चाँक, बरामदे मे आ खडी हुई।

“बहू, देखती क्या है। साम-जाम जल्दी जुटा। जुगत तैयार कर। नहीं तो अबेर हो जाएगी। पिण्ड-दान तो दिन चढने से पहले होना चाहिए, हर हालत मे। सास्तरो मे लिखा है।”

शास्त्रो मे लिखा है भगवान ने, पर मधुलि के टूटे कपाल पर तो नहीं।

‘गरुड-पुरान’ की कथा में उसने कभी सुन रखा था कि पिरेत की भूखी आत्मा पिडदान पाने के लिए भटकती रहती है, इसलिए सुबह हर हालत मे तरपन हो जाना जरूरी है। इससे अधिक सुनने-समझने की सामर्थ्य उसमें न थी और न रही ही। किसी तरह अपने को थामती, हाथ जोडती बोली, “साम-जाम क्या जोडूँ, बामन ज्यू ? किसी तरह कुश-तिल बहा दो। तरपन कर दो। तुम बामन हो—कुलदेवता। जैसे भी हो ‘उनको’ पितरों मे मिला दो। इन अनाथ बच्चों के सिर पर हाथ धर दो। मेरे पास तो देने को कुछ भी नहीं।” मधुलि ने अपने काँपते अधर भीच लिये, आँखें मीच ली।

पर अनगिनत आँखे उपेक्षा से, आश्चर्य से, एक साथ उस पर बरस रही थी, “यह उम्मीद किसी को भी नहीं थी, यह क्या अँधेर करने जा रही है आज।”

“तो क्या हरज हे, बहू।” बूढ़े वामन दा ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरा जो अब नमाखू पीते पीते पीली पड़ गई थी, सूखी घाम की तरह, “अधिक नहीं तो न सही। अपनी सामर्थ्य व मुताबिक थोड़ा बहुत जिनना कर सकती है, कर दे। पितरा में तो उसे मिलाना ही है। बनि वामनो को खिला दे। पाँच पाँच दम दस के नहीं तो न सही, सवा रुपए का ही गादान करा दे। कुँआरी कन्याआ के पाँव पूज दे। बछिया को गो-ग्रास दे दे। जो तिल बह जाँगे, और चाँदण क्या। वैसे तो क्रिया-कर्म में जितना लगाएँ सो थोड़ा है। यहाँ देगे तो वहाँ मिलेगा। गरुड पुरान में भी कुछ ऐसा ही लिखा है। क्यों?” उन्होंने बगल में त्रिगजे माँध वामन से पूछा, जो किसी दूसरी ही उधेड-बुन में लगे थे। वामनी से कह आए थे कि आँगन में घाम आने तक जरूर-जरूर लौट आएँगे। क्रिया कर्म से भूखे लौटने का तो प्रश्न ही नहीं। पर अब ?

उन्होंने अनमने भाव से केवल सिर हिला दिया, जिसका आशय था—हाँ।

गरुड पुरान की बात सुनकर मधुलि चौकी। अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई बोली, “वामन ज्यू, गरुड पुरान की सामर्थ्य मेरी कहाँ। यह सब तो बड़े भागवानो के भाग में होता है, जो फूलो के डोले पर चढ़कर स्वर्ग जाते हैं। मेरे पास तो जौ-तिल बहाने को भी पैसे नहीं। गो घ्रास के लिए आटा नहीं। बच्चे तीन दिन से भूखे हैं।” मधुलि अपने को सँभाल न पाई।

कैमी अनहोनी बात है। बेचारा तुलसा उमर भर अपनी हड्डियाँ तोड़ता रहा। खून पसीना बहाता रहा। दूसरो के दुख में दुखी हुआ, हँसी में हँसा। सभी की उस गरीब ने भलाई की। सभी के हाथ बँटाए। लेकिन आज उस मृतक के बँधे हाथ कोई नहीं खोलेगा। बिना कफन के वह गया और बिना तरपन के ही रहेगा। कुश तिल भी उसके गगा में नहीं बहेगे। कुछ लोगो के दिलो में रहम आया—अनायास। अकारण। लेकिन आधकाश ऐसे थे जो जल-भुनकर राख हुए जा रहे थे। बड़ी बेसब्री के साथ इधर उधर झाँक रहे थे। अपनी पीठ से मिले पेटो पर हाथ फेर रहे थे। ढीली, घुटनो तक की धोती को कस-कमकर बाँध रहे थे।

मधुलि अदर जाकर औंधे मुँह गिर पड़ी। अँधेरे कोने में देर तक पड़ी रही—सिसकती, सुबकती।

“मधु। मधु।” दूर के नाते की आमा ने (जो सवेदना प्रकट करने आई थी) उसे झकझोरा, “अरी, करम की बाती का तेल सूखने को है। इत्ते दिनों से बिना नागा दिन रात जल रही है। आज तेरहवी को पिड-दान से पहले बुझ गई तो कितना अनर्थ होगा। लोग क्या कहेगे? फिर तू तो बाल-बच्चो वाली है न। इन अबोध बच्चो की आत्मा क्या कहेगी? तू क्या कहेगी दुनिया के सामने?”

“तेल तो नहीं है, आमा। रत्ती-भर भी नहीं।” मधुलि ने होठो-ही-होठो में बड़ी मुश्किल से कहा।

“अरी, अरी है तो क्या। पाम पडोस में ही एक-आध कटोरी पैंचा ले न। उठ जल्दी कर। रोने का वक्त है क्या यह? वामन बाहर बैठे है।” आमा ने सयानेपन से

झिड़ककर कहा।

मधुलि ने माटी की टूटी दीवारों की ओर देखा। घास की झीनी छत की ओर देखा, सूरज की किरणों, जिससे झुक-झुककर आतुरता से उस अँधियारी सीलनभरी कोठरी की ओर झाँक रही थीं। एक गहरी उसाँस ली। बुरौझ के लाल फूलों-जैसी पलकों को मला। पीतल की पिचकी कटोरी बगल में दुबका के, पिछवाड़े के रास्ते पड़ोस के घर में घुसी।

“मधुलि बहू, कैसे आई? पंगत खाने के लिए बैठ गई? भाँड़े-बर्तन लेने आई हो क्या?” पड़ोस की सास-माँ ने उसकी ओर सहानुभूति से देखा। फिर उसके टूटे करम को जी भर कोसा। फिर कहा कि अभी उमर ही कौन-सी थी उसकी, भरी दोपहरी में जो अँधियारा देखना पड़ा।

माथा झुकाए, पलकें झुकाए वह खड़ी रही।

“कैसी आई थी, बहू?”

“सासु ज्यू……।” सकपकाती मधुलि बोली।

“कह, कह!”

“थोड़ा तेल चाहिए था पैंचा। करम की बाती बुझने को है। बामन बैठे हैं। आँगन में।” उसका गला रुँध आया।

“अरी, अभी तक भी करम नहीं हुए।” होठ काटती, पोले मुँह को फुलाती सास-माँ बोली, “बामनों की अकल पर क्या मिट्टी पड़ गई है। अभी तक बैठे-बैठे क्या कर रहे हैं?”

मधुलि कोई जवाब न दे पाई।

“बहू, तेल की तो आज एक बूँद नहीं,” सास-माँ ने सन्नाटा भंग करते हुए कहा, “पिछले शनीचर से बिना छौँका खा रहे हैं। परसों किसी तरह कनस्तरी निथारकर बच्चों के बाल बाटे।”

“लेकिन हॉ, मैं बतलाती हूँ।” कुछ रुककर बोलीं, जैसे एकाएक कुछ याद आ गया हो, “ऊपरवालों के घर परसों ही तेल आया है, मंडी से। एक-आध कटोरी अभी दे भी देंगे तो कौन-सी बड़ी बात हो जाएगी। पास-पड़ोस के होकर क्या इत्ते भी काम नहीं आएँगे……।”

मधुलि सिल पत्थर की तरह क्षण-भर अममजस में डूबी रही। फिर ऊपर की ओर मन-मन भर के भारी-भारी कदम बढ़ाने लगी। पीतल की पिचकी कटोरी अभी तक बगल में वैसी ही दुबकी बैठी थी।

दूर से ही घर के किवाड़ों में मोटी साँकल चढ़ी दीखी। उसका दिल धक् से बैठ गया। वह लौटने के लिए मुड़ने ही वाली थी कि, “मधुलि।” आवाज सुनाई दी ऊपर से।

मुड़कर देखा—साबी की माँ आगन के नीचे सगिया मिग्च गोड़ती नजर आई। खेत पर ही वह चली गई।

इस वक्त, इस तरह खोई-खोई-सी, यों भटकती-फिरती देखकर साबी की माँ को अचरज हुए बिना न रहा। मोटे-मोटे हाथों में नाचती कुदाली रुक गई, “यहाँ कैसे, मधी ! किरिया-करम हो गए ?” पूछा जिज्ञासा से।

“नहीं, काकी ?”

“क्यों ?”

“काकी…… ?”

“कह, कह।” साबी की माँ ने उझककर देखते हुए प्रश्न किया।

“बड़े काम से आई हूँ……।”

“अरी, कुछ कह भी न।” उसकी उत्सुकता ही नहीं, आशंका भी बढ़ आई, एक साथ।

“काकी, एक धार तेल दे दे, पैंचा। जल्दी ही लौटा दूँगी।……करम की बाती बुझने को है।”

“हाइ……। तेल कहॉ।” काकी ने हत्प्रभ होकर कहा, “थोड़ा-सा कभी मंडी से लाए थे, साबी के बाजू। सब इधर-उधर यों ही खत्म हो गया। दो-चार बूँदें कठिया में हों तो निधार ले।” काकी ने बड़ी परेसानी, बड़ी झुंझलाहट से, अपने मुगटर-जैसे मोटे-मोटे हाथ मटकाए। बड़े अजीब ढँग से मुँह निचोड़ा। जैसे बिना बुलाए मुसीबत सिर पर आ चढ़ी हो।

“थोड़ा-सा भी होगा तो काकी, बहुत है। बाती चीर लेंगे। कुछ छोटी कर लेंगे। कम कर लेंगे……।” मधुलि ने सहमी-सी दबी आवाज में कहा।

काकी ने कुदाली मेड पर पटकती। ओढ़नी को सिर में सरकाया। मोटे घाघरे के छोर कसकर मोटी कमर पर बाँधती घर की ओर बढ़ीं। बोली, “अभी तक भी पिडदान नहीं किए ? दिन चढ आया है माथे पर। इजू, नू भी गऊ है। निरी गऊ। जल्दी-जल्दी काम करवा। खाना-पीना करके जान छुड़ा। बामनो का क्या है ? कोई मरे या बचे, उन्हें तो दक्षणा से मतलब……।”

कुछ बूँदे कटोरी में निधारकर मन-ही-मन काकी के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर, वह मूक-भाव से घर की ओर बढ़ी। रह रहकर मन में शंका समा रही थी कि कहीं बाती बुझ न जाए। कही……।

चलते-चलते, किवाड़ के पास पाँव ठिठक गए, एकाएक। जिसकी शंका थी, वह भी होकर ही रहा; आखिरकार। घर भर में कुहराम मचा था। मधुलि ने देखा—बाती बुझ गई है, अभी-अभी। टिर्माटमाती, कॉपती दीप-शिखा के बदले, केवल धुएँ की एक लम्बी लकीर-सी मिहर रही है। घर-बाहर की औरतें खुसर-पुसर बातें कर रही हैं। भूखे भेड़ियों की तरह बामन लड़ रहे हैं। इस अपराध की कौन-कौन-सी सजाएँ हो सकती हैं, कौन-कौन-सी नहीं। ब्रह्म-पुराण, गरुड़-पुराण, शिव-पुराण आदि न मालूम किन-किन पुराणों के सटीक उद्धरण दिए जा रहे हैं। घमासान वाक्य-युद्ध छिड़ा है। कुछ आस्तीनें चढ़ी हैं। कुछ चढ़ रही हैं।

यह सारा महाभारत देखकर मधुलि खड़ी-की-खड़ी रह गई, मिट्टी में गड़े खंभे की तरह। तेल की कटोरी, जिसे सावधानी से बचा-बचाकर, किसी तरह लाई थी, न जाने कब जमीन पर औंधे मुँह पछाड़ खाकर लुढ़क गई। काली धोती और गोबर मिले फर्श की उखड़ी मिट्टी में कुछ चिकने छींटे-से उछटकर रह गए केवल।

“अब क्या होगा, इजा ?” वह मैके से आई बूढ़ी कानी माँ से लिपट पड़ी। आने वाली आशंका के भय में कॉप उठी।

माँ देर तक कुछ न बोल पाई। आँखें पोंछती हुई बोली, “अभागी, तेरे करम खोटे निकले। ‘वहाँ’ से माँगकर नहीं लाई तो फिर अब रो अपनी करनी को...।”

“बड़ बामन ज्यू, अब क्या होगा ?” बुढ़िया ने बामनों की पचायत में ‘बिघन’ डालते हुए कहा।

“होगा क्या ?” अब तक की बहस से थके बूढ़े बामन देवता ने माथे का पसीना अँगुली से समेटकर दीवार पर छिडकते हुए कहा, “क्रिया-करम की बाती बुझने से बड़ा अमकून कोई होता है, मधी को माँ। शास्त्रों में आज तलक मैंने देखा नहीं। जैसे थोडा-बहुत मुझे पता है, काशी-गया के पड़ितो ने भी देखा नहीं होगा। वैसे दो-चार ये नए लौंडे देख आए हों तो पता नहीं...।” उन्होंने बड़ी उपेक्षा में नवयुवक प्रातद्वंद्वियों की ओर देखा।

“तो क्या होगा ?” बुढ़िया ने अपनी धुंधली पलकें पोंछी और बामन ज्यू की पल-पल बदलती भाव-भांगमा को पढ़ने की असफल चेष्टा की।

“तो निदान यही है, मधी की इजा, जैसा कि दुर्ल बामन अभी-अभी कहते थे— गरुड-पुराण के मुताबिक, कम-से-कम अपनी पहुँच के हिसाब से पाँच पिडदान, पाँच गोदान, पाँच बामन, पाँच कुँवारियों के पाँच तो पूजने ही पड़ेंगे। बाकी दान-पुन का क्या, जो जित्ता करे, कम है।”

“संकट इने में कट जाण्णा ? इसके अलावा तो और कुछ नहीं चाहिए न... !” अममजम में डूबी बुढ़िया ने कुम्भी-नरक से त्राण पाते हुए कहा।

“चाहिए क्यों नहीं !” बूढ़े विप्र देवता ने खिलखिलाकर अपना मुँह नटकाया, “नुम तो दानी-मयानी हो। सब जानती-बूझती हो। सोमेसर, रामेसर के सारे तीरथ-बरत किए हैं तुमने। जो जित्ता करे, वह कम। लेकिन हाँ, देखो, सूरज सिर पर चढ़ आया है। आज दिन छिपने में पहने पिडदान नहीं हुआ तो मात जन्मों के यज्ञ-यजन से प्रेत पितरों में मिलेगा नहीं। ममझी न !” बामन ज्यू ने मुरझाई दूब और सूखते हुए कुशों की ओर बड़ी महानुभूति में देखा। उल्टा पल्टा और फिर वैसे ही रख दिया।

मधुलि फाटक पर खड़ी थी, सिर में पाँवों तक कान बनी।

“तो इजा— !” उसने सामने खड़ी माँ को भीतर बुलाते हुए बड़ी अधीरता से कहा।

“इतना तो करना ही पड़ेगा अब। जिन्दे की जिन्दा गति, मरे की मरी गति तो करनी ही होती है। बामन विचारे भी क्या करें। इससे कम में कहते हैं किताबों पर

लिखा ही नहीं है। पहले तो कम पर भी हो जाता, पर अब ।”

मधुलि मोचती रही ‘उनकी’ भूखी आत्मा पिड-दान के बिना भटक रही होगी। बामन द्वार पर धरना दिए बैठे है। बाहर के भी हित-मित्र है। बच्चे भूख से कुलबुला रहे हैं। क्रिया कर्मवाले कुश तिल गिनकर इन्तजार कर रहे है। मधुलि आसमान पर आँखे टिकाए मोचती रही। ये सारी विपदाएँ क्या आज के ही दिन के लिए लकीर लगाए बेंटी थी। सब कुछ आज ही होना था। आज ही । आँखो मे धुआँ-सा छाने लगा उमके।

“तेरे पाम टका-पाई जो है निकाल, डजू। पूरा तो करना ही होगा। कुछ तो जाते समय अभागा छांड ही गया होगा।”

“कुछ भी नहीं, इजा। धेला-टका तक नहीं।” मधुलि ने अपने सूखे अधर चबाते हुए कहा, “क्या छोड जाते। था ही क्या छोडने भडने को। कोरा कफन भी तो मरते समय साथ नहीं ले गए। किसका गोदान। किसकी वैतरनी। लकडी भी जो जली देख न पाए।”

बुढिया ने अपनी आँखे मीच ली जैसे इससे अधिक् मुन ममझ पाने की शक्ति बच न पाई हो। चुप खडी अपने पाँवो पर लिपटे नन्हे नाती के रूखे बालो मे सहलाती रही।

“तो क्या होगा ? क्या ?” उसके अधर अनायाम फडफडाते रहे।

“इजा।” उमने अधीरता मे माँ की ओर देखा, “तो क्या होगा ? कुछ तो करना ही पडेगा न।”

“हाँ।” मा सामने की ओर देखती रग।

“तो इधर उधर से ही कुछ बदोबस्त कर लाती हूँ फिर ,” कुछ सोचती हुई बहकी बहकी-सी बोली, “जैसे जैसे पिडदान ता देना ही है। तू बच्चो का देख। मै जाती हूँ।”

माँ वैसी ही खडी देखती रही।

हाँ, देख।” मधुलि ने कुछ मुडकर कहा “गोदान के लिए पधान'का की बछिया आँगन मे बाँधे रखना। पूँछ पकड लेगे, काम चल जाएगा। कुछ दाँडम की पत्तियाँ भी तुडयाना न भूलना। बामनो मे कहना कि करम का साम जाम जुटाकर अभी अभी आती है। तमाखू भरवाने रहना। बस, मै अभी आई। अभी । मधुलि एक ही माँस मे कहती हुई घुटनो तक का घूँघट काढे चल पडी गठरी मी।

पधान'का व धर की ओर भागी।

मालूम हुआ—पधान'का न्यौते मे दूसरे गाँव गए हे। गत तक लौटेंगे। चार-छह और घोरे के चक्कर काटे इधर उधर ओकरे खाई घटो तक सब बेकार। फिर बडे भरोसे मे फिर गाँव की मेठानी मानी होलदारनी के घर की ओर लपकी। खेत मे घास काटने की बाबत होलदारनी मे पुरानी अनबन थी कभी की। लेकिन ऐसी घडी मे ऐसी छोटी-मोटी बातों पर खियाल ही कौन करता है।

गुड की घुली-मिली बाते, सहानुभूति, सवेदना की बाते, हौलदारनी अपना तीखा मुँह फुराती, चटर-पटर करती रही। एकाध बार उसके दुख में दुखी होकर मोटे-मोटे आँसू दुलकाती हुई रोई भी। उसके मुँहजले खोटे करम को हाथ नचा-नचाकर खूब जी भरकर कोसा भी, लेकिन जहाँ पैसे पाई का नाम आया—वहाँ मैले, धिनौने, काले दाँत दिखला दिए।

बहुत समय बीत चला था। अब किधर जाए, क्या करे? चौराहे पर खड़ी सिमटी सी मधुलि को कुछ सूझता न था। सरज तेजी से फिसल रहा था। पेड़ों की परछाइयाँ लम्बी होती जा रही थीं। भूखे बामन कोस रहे होंगे। माँ कोस रही होगी। अधी चल-फिर नहीं सकती। वैसे ही दीवारों से, दरवाजों से टकरा रही होगी। आँगन में दूसर की भूखी बछिया प्यासी टँगी होगी। बच्चे रार मचा रहे होंगे। कुछ भी उसे सूझ न पाया। तभी एक विचार कौधा। कसी की दुकान में क्यों न चली जाय। शायद कुछ लिहाज कर ही दे। कौन जानता है। ऐसी अबेला में तो बन का बाध भी सुना साथ देता है। राकस भी देवता बन जाता है।

वह अनजाने, अनचाहे कसी की दुकान की ओर बढ़ी। दूर घाटी पर बनी दुकान की ओर। चलते चलते ख्याल आया उसे—कसी कभी कितनी ललचाई आँखों से उसकी ओर घूरा करता था—जब वह नई नवेली थी। पीली पिछौड़ी, नीली घाघरी पहने, पाँवों में झाँवर झनकाती हुई जब वह लकड़ी के लिए सबके साथ जगल जाती तो पुल पर खड़ा किसी न-किसी बहाने उसकी ओर देखता रहता था। एक-आध बार नौले पर छेड़ने की भी कोशिश की। लेकिन उसने सात पुस्तों तक के पुरखों के नाम लेकर गगरी फनकाते हुए वह श्राद्ध किया, कि उसकी सूरत ही सूख गई थी। तब से आज तक कभी नजर उठाने का भी साहस न किया। लोगो ने कहा तो सुना, खीसे निपोरता हुआ कहता था कि लोगो ने दुश्मनाई से उस पर अपराध थोपने की कोशिश की। वह तो उसे अपनी बहन से भी बढ़कर मानता है।

ऐसी स्मृतियों का ऐसे समय में याद हो आना उमें बड़ा अटपटा-सा नग रहा था। ग्वय पर ही झुँझलाहट हो रही थी।

“कसी ददा ?” मधुलि ने घुटनों तक का घुँघट काढे, ओढ़नी का आँचल दाँत से दबाते हुए, सहमी आवाज में कहा।

कसी ने अटपटे भाव से उसकी ओर देखा, “कह, कह। सामान चाहिए क्या कुछ?”

“सामान क्या ददा ?” बहकी-बहकी मधुलि बोली, “समझो कि भीख चाहिए। आज ‘उनका’ तरपन है। दिन छिपने को हो आया है। अभी तक भी पिडदान नहीं हुआ। देर-सबेर तुम्हारे पैसे लौटा दूँगी, पाई-पाई करके। तुम्हारे खेतों में काम कर दूँगी। कहो तो घास-लकड़ी घर पर डाल जाऊँगी। ऐसे भी नहीं चुकेंगे तो घर के भाँड़े-बरतन गिरवी रख दूँगी, बेच दूँगी। ऐसे भी नहीं चुकेंगे तो अपने बच्चों को हुडकियो के हाथ बेच दूँगी, लेकिन तुम्हारा उधार माथे पर धरकर नहीं मरूँगी। यह

लोक तो बिगड़ा सो बिगड़ा ही, क्या परलोक भी बिगाड़ूँगी। उनका पिंडदान करवा दो। तरपन करवा दो आज। उमर-भर अहसान नहीं भूलूँगी।” कहते-कहते मधुलि की बड़ी-बड़ी आँखें भर आईं। पगली-सी धुन में वह कहे जा रही थी। किसी भी कीमत पर 'ना' सुनने से पहले गले में पत्थर बाँधकर डूब मरने को तैयार थी।

उसके चेहरे की ओर कंसी देखता रहा। दुष्टता के सूचक अपने पतले-पतले भिचे होंठों को दाँतों से रगड़ता हुआ सोचता रहा—अभी तक इस ढली जवानी में भी यह बदजात इतनी खूबसूरत है। उसे विश्वास न हो पा रहा था, अपनी बादाम-सी छोटी, ऊँघती आँखों पर—झीनी-झीनी फटी धोती, टूटे काले बटनों वाली मैली अंगिया कुछ-कुछ फटी-उधड़ी-सी, सफेद पिंडलियाँ संगमरमर-सी, मुरझाया पर गोरा गुलाब-सा मुखड़ा। उस पर झलकती पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदें। कंधों के नीचे तक लोटती बालों की खुली लटें—पके पांगर के रंग की—

“क्या चाहिए?” उसने उखड़ी आवाज में पूछा।

“कुछ पैसे—। पिंडदान के लिए चावल—। लाल खरुवा—। गोदान के लिए—।” नीची निगाहें किए वह बोली।

“बैठ-बैठ, भीतर बैठ—।” वह उसकी ओर देखता रहा।

मधुलि वैसी ही ठिठकी खड़ी रही जैसे बहरी हो। सुना ही न हो कुछ।

“भीतर बैठ न, आराम से। सारा सामान अभी बाँधे देता हूँ। बोल— क्या-क्या? लाल कपड़ा— चावल—।”

“अरे, घबरा न। भीतर बैठ न।” लाल कपड़े का टुकड़ा उसने च र र— र— र— चीरा।

जग लगी मैली तराजू से चावल तुले फिर। तुले क्या, तुलने का बहाना हुआ। वैसे ही कसी ने उसके सामने फैले ऑचल में फैला दिए। एक-आध अजुली और गेर दी ऊपर से और फिर मुस्कराते हुए देखा। पर मधुलि की निगाहे जमीन पर चिपकी थीं।

पैसे गिने। लाल खरुवे के टुकड़े में ऐंठकर बाँध दिए। कुछ और सामान जिसकी जरूरत थी, सब एक साथ बाँधा और बँधी पोटली मधुलि की ओर लपकाने लगा।

मधुलि झुकी। झुकते ही उसके झीने आवरण से घिरे उरोजो की गोलाई साफ झलकी।

हाथ हौले से सामान थामने के लिए उमने बढ़ाए ही थे कि कंसी ने लपककर उसकी बाँहें थाम लीं। झटके से फिर अपनी ओर खींचा और कमकर जकड़ लिया।

“अरे। अरे। अरे।” वह चीखी।

ऑचल पर बँधे चावल की हल्की गॉठ खुल पड़ी। सारे चावल सहसा बर— बर— इधर-उधर बिखर गए।

“चुप— चुप—। हल्ला न कर।” वह एक हाथ से उसका मुँह बंद करने की कोशिश करने लगा।



पर मधुलि ने चीखते हुए झटके से गरदन एक ओर मोड़ ली। मुँह मोड़ लिया। देह मोड़ ली ऐंठकर, “खबीस...राकस!” साँपिन की तरह फुँफकारती हुई उसने पकड़ छुड़ाने के लिए पूरी ताकत लगाई। छटपटाई अनेक बार! लेकिन पकड़ खुलने के बदले और जकड़ गई। मधुलि का दम घुटने-सा लगा। साँस रुकने-सी लगी। आँखों पर धुँध-सी छाने लगी।

जब कुछ भी उसे सूझा नहीं तो उसने मरते-जीते कंसी की कलाई पर पैने दाँतों की दड़क दे मारी। कंसी तिलमिला उठा। कुछ क्षण तक सहमा रहा। पर नसों के तारों पर पैने दाँत गड़ने की असह्य पीड़ा के कारण कमर पर पड़ा बाँहों का फँदा कुछ ढीला हुआ कि मधुलि के पत्थर काटने वाले, लकड़ी तोड़ने वाले, मरे हुए शिथिल हाथों में बिजली-सी छू गई। उसने दाँत पीसते हुए झटका दिया। फिर झटका दिया। कलाई की पकड़ खुल पड़ी इस बार। बचते-बचते भी कंसी धक्के से चाय की रीती पेटी पर जा टकराया औंधे मुँह।

तभी उछलकर चावल की बोरी, तेल के दो-तीन कनस्तर एक साथ लाँघने की कांशिश की मधुलि ने। फटी धोती में पाँव उलझ गया और वह धड़ाम से धरती पर जा लुढ़की। दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते माथा झनझना आया। आँखों के आगे जुगनू मँडराने लगे। लेकिन मरती-जीती, हाँफती-काँपती, घुटना दबाती फिर किसी तरह कंसी के उठने से पहले उठ खड़ी हुई। चाय की भट्टी से जलती लकड़ी उठा ली। द्वार पर खड़ी होकर चिल्लाई, “अब आ तो! अब आगे बढ़ा तो मुख झुलस दूँगी... राकस... खबीस...! शरम नहीं आई तुझे! मुझे बेबस, बेसहारा, गरीब समझकर ही तूने...! क्या तेरी बहन, क्या तेरी माँ...मुसीबत की मारी तेरे पास आती, तब भी ऐसा ही करता!” मधुलि ने तन पर टंगे तार-तार हुए चीथड़ों की ओर देखा तो उसकी डबडबाई आँखों पर आँसू नहीं, खून छलक आया इम बार।

उसके नथुने फड़क रहे थे। बाल बिखरे थे। जीर्ण-शीर्ण काली झीनी धोती छीना-झपटी में बुरी तरह फट चुकी थी। हवा में चीथड़े उड़ रहे थे, रह-रहकर। घुटने में चोट लगने से लहू बह रहा था, लेकिन उसे किसी चीज़ की खबर न थी। हाँफती-काँपती वैसे ही वह बढ़ रही थी, बढ़ी चली जा रही थी। किधर? कहाँ? कुछ भी सुध-बुध न थी। उसका हृदय अभी तक धौंकनी की तरह धड़क रहा था। शरीर अभी भी काँप रहा था—थर-थर! बुझी आँखें अभी तक धधक रही थीं—अंगारे की तरह।

बार-बार जी में आता—आत्महत्या कर ले। चट्टान से कूदकर, नदी में डूबकर मर जाए। दुनिया के सारे झंझट, सारे पाप कट जाएँगे। ऐसे राकसों के बीच भला कैसे जिन्दा रहेगी? कैसे बचेगी? कब तक बचेगी? जब सिंग पर किसी का साया नहीं, सहारा नहीं। लेकिन बच्चों का क्या होगा? वह जैसे दौड़ती-दौड़ती एकाएक ठिठक पड़ी। वे अभागे, बिना कपाल के कहाँ-कहाँ भटकेंगे?

दुधमुँही रती, दुधमुँही घंटी, दुधमुँहे ललिया के अबोध चित्र रह-रहकर पलकों पर तैरने लगे।

तभी एक धमाका-सा हुआ, पास ही चट्टान के फटने से। अचकचाती हुई वह खड़ी हो गई। होश आया तो देखा—सड़क बनाने वाले मजदूर छिछली घट्टानों पर जोंक की तरह चिपके हैं। कमर पर मोटी-मोटी रस्सी बाँधे झूल रहे हैं—निराधार! सब्बल से खौप-खौपकर नई सुरंग बिछाने में मशगूल हैं।

‘वह’ भी तो ऐसे ही लगे रहते थे न! उसका हृदय भर आया।

वह फिर घर की ओर भागने लगी। तभी देखा—ओवरसियर साहब मजदूरों के साथ दूर सड़क पर खड़े थे। उसके मस्तिष्क में न जाने क्या कौंधा! वह फिर उसी दिशा में बावली-सी मुड़ गई।

पैट पहने, टोप लगाए, हाथ में फीता लटकाए, मजदूरों के बीच साब खड़े हैं। मधुलि ने आशा से, रही-सही अंतिम आशा से, उधर देखा। साब के बूटों पर माथा टिकाककर फूट पड़ी, “सरकार, माई-बाप! मेरे करम फूट गए!”

साब झटके से पीछे हट गए, “क्या बात है? क्या है, जमादार?” आश्चर्य से बोले।

सभी चुप! एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे।

“अरे, आखिर बात क्या है?” साहब ने झुँझलाकर चारों ओर निगाहें फैलाई।

“हुजूर, यह तुलम्या की बहू है।” जमादार ने साहस समेटकर दबी आवाज में कहा।

“तुलसा कौन?” होंठों पर अँगुली धरी साब ने।

“वही हुजूर, वही, जो बारह-तेरह दिन पहले पिछले मोड़ की चट्टान पर सुरंग के साथ उड़ गया था, जिसकी लाश शिनाखत नहीं हो सकी थी—सरकार...!”

“ओ, दूर नीचे गोरी-गंगा में जिसकी लाश उतार लगी-सी लगती थी।” हुजूर ने दूरबीन से देखते हुए कहा था, “समझा-समझा। तुम्हारा मामला ऊपर भेज दिया है परसों।” साहब ने सिर खुजाते हुए कहा, “साल-छह महीने तो रुको कम-से कम। लाश शिनाखत हुई समझी गई तो कुछ रुपया मुआवजे में मिल ही जाएगा।”

“मरकार...सूरज छिपने को है...!” वह अधीर हो रो पड़ी।

“घबराओ नहीं। घबराओ नहीं! जवाब आते ही जमादार तुमको इतला कर देगा। ऊपर से हुक्म आने तक तो रुकना ही पड़ेगा, हर हालत में।” साहब ने अपनी असमर्थता प्रकट की।

“हुजूर... हुजूर...!” मधुलि का रुदन और बढ़ आया।

मजदूरों ने उस नासमझ, गँवार, अधनंगी फूहड़ औरत को बाँह पकड़कर साहब के सामने से परे हटा दिया। ज्यों-ज्यों वे उसे हटाते, त्यों-त्यों वह और जोर-जोर से रोती-चिल्लाती। चीखती!

पागलों की तरह बाल बिखरे थे मधुलि के। शरीर पर टंगे चीथड़े हवा में उड़ रहे थे। विकराल-भैरवी-सी बनी वह बेतहाशा घर की ओर भागी जा रही थी।

सूरज उझक-उझककर सामने की पहाड़ी से झाँकता हुआ डूब रहा था।

सारे गाँव में तरह तरह की बातें हो रही थीं। तरह तरह की अफवाहें उड़ रही थीं। चर्चाएँ छिड़ रही थी—जली भुनी। कुछ को दुख था, रज था बड़ा। लेकिन कुछ मुँह छिपा छिपाकर हँस रहे थे। आपस में मिरच-मसाले लगाकर बातें कर रहे थे।

“अरे, अँधेर हो गया। अँधेर। कैसी कलजुगी औरत है। डाइन ने जौ तिल भी नहीं बहाए। पिडदान तो दूर रहा।”

“तुझे पता नहीं, हरपातया। तू नहीं जानता तिरिया चरित। कहते हैं डकन ने अपने आप फूँक मारकर दीया बुझा दिया था। कुलच्छना किसी के साथ लगी होगी। फिर क्या बहाने लगी कुश-तिल।”

मधुल ने लडखडाते कदम देहरी पर धरे ही थे कि देखा—सारे बामन सराप देते हुए जा चुके हैं। शायद जिदों का ही श्राद्ध कर गए हो तो बड़ी बात नहीं। हित मित्र, घर बाहर के सब चले गए हैं। एकाध बामन कोने में खड़े, धोती कन्धे पर झपकाए, पोटली बगल में दुबकाए चलने को तैयार हैं—भूखे, प्यासे खीझे। ठहाका मारकर हँस रहे हैं, “अरे, क्या देर लगती है। कौन जानता है इसी कुलच्छना के दुख से दुखी होकर तुलस्या ने आत्महत्या कर डाली हो। किसका पिड देना, किसका तरपन। मुँह छिपाकर न जाने किसके साथ भाग गई। निठोर, बच्चों का तो ख्याल करती। दो चार दिन तो रुकती। इतना भी धीरज नहीं। बेशरम। बेहया। छिनाल।”

मधुलि ने कानों पर हथेली रख ली। आँखें मीच ली, धड़ाम से घर में घुसते ही किवाड़ बंद किए और भीतर से कुडी चढ़ा ली।

न जाने कब तक वह अँधेरी कोठरी में पड़ी रही, सुबकती। सारी बस्ती, सारा गाँव, सारा ससार जब सो गया तो उसने अधियारे में डरते डरते फाटक खोले। बच्चों का हाथ थामे नदी की ओर चल पड़ी।

काली अमावस भी रात घिर आई थी। साँय-साँय कर बर्फीली ठंडी हवा शरीर को छीलती हुई तेजी से सनसना रही थी। घरघराती गोरी-गंगा नागिन की तरह झाग उगलती, फनफनाती, मनमनाती भागी जा रही था—खाँडिया की सफेद चट्टानों पर उछलती उमडती। उसके श्मशान से डरावने तट पर मधुलि खड़ी थी। अपनी नन्ही नन्ही अजुलि में पानी भरे तीन अनाथ, अबोध नगे बच्चे खड़े थे। सूखे तिनके की तरह जाड़े में काँपते हुए—आँखें मीचे डूबे सूरज को जलधार चढ़ा रहे थे। तरपन कर रहे थे। माटी का पिडदान दे रहे थे। माटी की गऊ की पूँछ थामे गोदान कर रहे थे।

“हे गगामाई, तू ही देखना। तू ही विचार करना। ओ अनत ओ अतरजामी। तू ही तू ही ई ई।” मधुलि ने अपने काँपते हाथ जोड़ते हुए माटी की गैया के माटी के खुर पर माथा टिका दिया।



## एक वट वृक्ष था

(एक धार्मिक नीति-कथा, जो किसी गुरु ने अपने शिष्यों को कभी सुनाई थी।)

किसी जमाने की बात है।

एक नदी, एक वृक्ष और एक ब्राह्मण पास-पास रहते थे। ब्राह्मण बूढ़ा था—बहुत गरीब। अतः अपना दो समय का भोजन भी मुश्किल से जुटा पाता था। उसके तीन बेटे थे। तीनों बहुत सुन्दर थे। उनकी माँ बचपन में ही गुजर गई थी, इसलिए उन्हें उनकी अँधी दादी ने पाला था।

एक बार अकाल पड़ा। सरकारी गल्ले की अधिकृत दूकानों में कुछ भी राशन न मिलता था। ब्लैक में खरीदने के लिए उनके पास पैसा न था। इसी का परिणाम हुआ कि उनकी बूढ़ी दादी भूख से दम तोड़कर एक दिन चल बसी। पर, कहीं कोई हो-हल्ला नहीं हुआ। बहुत से लोग मर गए, तब भी नहीं। गाँव के पटवारी, पेशकार, बी.डी.ओ.—सब हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे। क्योंकि सरकार ने भुखमरी को छूत की बीमारी घोषित कर दिया था, जिसके इलाज के मुतल्लिक डॉक्टरों का एक कमीशन भी बिठला दिया था। जब तक उसकी रिपोर्ट नहीं मिल जाती, सरकार की ओर से कोई भी आवश्यक कदम उठाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था।

बेचारा ब्राह्मण परेशान था। उसे सूझता न था कि अब क्या करे? कैसे अपने बच्चों की रक्षा करे? प्राण बचाए?

अन्त में हर ओर से हताश होकर, उसने अपने तीनों आज्ञाकारी बेटों को एक दिन बुलाया और उन्हें परदेस जाकर कुछ काम ढूँढने का आदेश दिया। तीनों बेटों ने बात मान ली। पर उनके पास कपड़े न थे। इसलिए वे रात के अँधियारे में चीथड़ों को लपेटकर छिप-छिपकर घर से निकल पड़े।

जब झीनी झोपड़ी के टूटे दरवाज़े से तीसरा बेटा—सबसे छोटा—अकेला गुज़र रहा था तो बूढ़े विप्र का बूढ़ा हृदय कराह उठा। उसे लौटाकर पास बुलाता हुआ

बोला—मेरे लाडले बेटे, रुको। यो नगे सिर परदेम नही जाते—शास्त्रो मे ऋषि-मुनियो न लिखा है।

अत उसने यजमान के घर से श्राद्ध मे मिला गाढे का सफेद टुकडा, यो ही सुई स सिलकर उसके नगे सिर पर रख दिया।

और वह चल पडा। सारी रात चलता रहा। मुबह एक गाँव के निकट पहुँचा तो भूख, प्यास निद्रा और थकान के मारे वह बेहाल हो चुका था। अन्त मे हारकर वह एक पीपल के पेड के नीचे सो गया। टोपी जतन से उतारकर, पत्थर पर रख दी।

दोपहर ढले उसकी नीद खुली तो उमे अपनी आँखो पर विश्वास ही नही हुआ। उसने देखा—मामने मेवा, मिष्ठान्न और खीर का भरा थाल है। गाँव के पच-सरपच, रबडी मलाई के दोने, दोनो हाथो मे कमल के फूल की तरह लिए, श्रद्धानत खडे है।

उसने भरपेट खाना खाया। फिर खूब रबडी पी और जब वह डकार लेकर मुँह पोछता, दूसरे पडाव की ओर जाने लगा तो बाल वृद्ध सभी नर-नारी उमे छोडने के लिए नदी के तट तक उमडकर चले आए।

अपना इनना अधिक स्वागत सत्कार देखकर आश्चर्य के साथ-साथ उसे प्रसन्नता भी हुई।

दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे—जिस गाँव मे भी वह गया, वहाँ ऐसे ही सम्मान की पुनरावृत्तियाँ होती रही।

एक दिन वह मन्दिर के चबूतरे पर, पालथी मारे बैठा मलाई के लड्डुओ का भोग लगा रहा था, नभी पुजारी की द्राष्ट उस पर पडी। वह आरती अधूरी छोडकर भागता हुआ आया और हाथ जोडकर खडा हो गया।

“हे पुजारी।” ब्राह्मण-पुत्र ने पूछा, “मुझमे ऐसा कौन सा आकर्षण देख रहा है तू, जो परब्रह्म की पूजा छोडकर यहाँ आग्य है।”

“भगवन्।” पुजारी ने उत्तर दिया, “आप महापुरुष है। आपने दुनिया को महायुद्धो से बचाया है। समार मे आपने अमन फैलाया है। आप विश्व के नेता हैं, जीवन्त देवता है—परमेश्वर।”

“सो कैसे, पुजारी।” ब्राह्मण सुत ने मवाल किया, “मै तो निरक्षर, महामूर्ख हूँ। पढना लिखना तक आता नही। बोलते समय हकलाता हूँ। फिर ‘विश्व का नेता’ कैसे हो सकता हूँ?”

“पढने लिखने का, नेता हाने मे कोई सम्बन्ध नही होता, देव।” पुजारी ने कहा, “महाराज विक्रमादित्य की न्याय-शिला का महात्म्य तो आपने पढा ही होगा। पढा नही भी होगा तो सुना जरूर होगा—वह अनपढ ग्वाला ज्योही उस दूब से ढकी स्फटिक शिला पर बैठता—बिना कानून जाने ही, एकाएक जज बन जाता था। वैसे ही इस टोपी की (जो आपने पहन रखी है) महिमा भी अपार है, श्रीमान्। जो इसे धारण करता है—वही ज्ञानवान, धनवान बन जाता है। लक्ष्मी उमकी खरीदी हुई दासी बन जाती है। भला-बुरा जो कुछ भी वह कहता है—वही वेद-वाक्य बन जाता है। कन्याकुमारी से

कश्मीर तक, कच्छ से कामरूप तक ही नहीं, दूर-दूर देशों तक, इसका प्रताप फैला है। खुश्चेव ने एक बार इमें पहना था, इसीलिए वर्षों तक वह भी यश का भागी बना था।”  
ब्राह्मण-पुत्र को, बिना वट वृक्ष के नीचे बैठे ही ‘ज्ञान’ प्राप्त हो गया।

जब वह मन्दिर से निकला तो उसने अपने को बदला हुआ पाया। एक तालाब के किनारे वह झुका तो उसके विस्मय की सीमा न रही। उसने अपने बदले किसी दूसरे को खड़ा पाया, जिसने सफेद टोपी पहन रखी है। उसे लगा—उसका रूप बदल गया है। उसका रंग बदल गया है। उसकी बुद्धि बदल गई है।

अब वह बोलते समय हकलाता नहीं। झूठ बोलते समय उसका चेहरा काला नहीं पड़ता, न उसे बुरा काम करते समय लज्जा ही अनुभव होती है……।

वह ज्यों-ज्यों बड़े शहरों के निकट पहुँचा, उसका अचम्भा भी बढ़ता चला गया। मंगल-ग्रह पर दो हाथ-पाँवों वाले, हिन्दी बोलने वाले मनुष्य को देखकर जो प्रतिक्रिया पहले अन्तरिक्ष-यात्री की होती—कुछ-कुछ वैसा ही अहसाम उसे भी हुआ।

उसने अपने लोगों का पूरा एक सम्प्रदाय देखा, जिनसे मिलकर उसे अपार हर्ष हुआ। पुराने समय में जैसे बड़ी आँख को देखकर छोटी आँख को सुख पहुँचता था, वैसे ही उसने स्वयं को भी सुखी एवं सुरक्षित अनुभव किया।

एक दिन सज्जनों का सत्संग हो रहा था। वह भी जूते उतारकर, चुपचाप देहरी पर बैठ गया और गाल पर हाथ रखकर सुन्ने लगा।

कोई ‘महापुरुष’ आसन पर विराजे प्रवचन दे रहे थे—

“भद्रजनो, राम नाम की अपार महिमा की तरह वस्त्रों की भी महिमा अनन्त है। और वस्त्र विशेष में भी टोपी की। इस घोर कलिकाल में इसके माध्यम से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। गूंगा बोलने लगता है। इसे पहनते ही लंगड़ा पहाड़ को लॉघ जाता है। अंधे को सब-कुछ दिखलाई देने लगता है और रंक अपने सिर पर छत्र धारण करके चलने लगता है। इसीलिए महानुभावो, तन-मन-धन से हमें इसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए। जो इसका अनादर करते हैं, वे देश के दुश्मन हैं। मनुष्य-मात्र के दुश्मन है। जो मनुष्य-मात्र के दुश्मन हैं, उनके विरुद्ध कानून बनाना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है।” (तालियाँ)

सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास होने के पश्चात् ब्राह्मण-पुत्र अपने डेरे पर लौटा। लौटते ही उसने डायरी में एक सूत्र नोट किया—

‘जिसके पास जितने अधिक टोपी वाले सपोर्टर्स हैं—वह इस देश में उतने ही बड़े ओहदे वाला, बड़ा आदमी घोषित किया जाता है।’

इसलिए उसने अपने शहर के सारे टेलर-मास्टर्स को रातों-रात ‘बुक’ कर लिया।

टेलर-मास्टर्स ने विनीतभाव से कहा, “भगवन्, हम आम जनता के कपड़े सिलते हैं। हम कपड़े नहीं सिलेंगे तो सारे लोग नंगे रह जाएँगे……।”

“तो क्या होगा, टेलर-मास्ट्रो।”

“उनकी लाज कैसे बचेगी परमात्मा।”

ब्राह्मण सुत खलखिलाकर हँस पड़ा, ‘महामूर्खों, लाज नीचे का बदन नगा रहने से नहीं जाती। लाज जाती है—सिर नगा रहने से। जिसे अपनी टोपी की प्रतीक्षा का भान नहीं, उसके नगा रहने या न रहने से दुनिया में क्या अन्तर पड़ना है फिर अमेरिका जैसे समृद्ध देश में लोग नगे रहने की आदत डाल रहे हैं तो हम उनसे पीछे क्यों रहे। आज के जमाने में, दुनिया की दौड़ में, जो राष्ट्र पिछड़ गया—वह कहीं का भी रहने वाला नहीं है। क्या तुम यह चाहते हो कि हम अन्त में कहीं के भी न रहे।”

“हम यह कैसे चाह सकते हैं कि हम कहीं के भी न रहे अन्त में। नगेपन की शॉर्टेज भी दूर होनी चाहिए देव, फूड-शॉर्टेज की तरह।”

“यही तो हम भी चाहते हैं।” ब्राह्मण-पुत्र ने मुस्कराते हुए कहा—“यदि तुमने समय पर पर्याप्त टोपियाँ सिल दी, मेजोरिटी से मैं जीत गया, तो देश का नक्शा बदल देंगा। एक हिन्दुस्तान के भीतर ववालीस करोड़ हिन्दुस्तान बना देंगा।”

टेलर-मास्ट्रो ने अधिक हील हुज्जत न की। वे थोक के भाव धडाधड टोपियाँ सिलने में जुट गए।

चुनाव हुए। असख्य धन लुटा। टोपियाँ बँटी और इसके बावजूद ब्राह्मण पुत्र की जमानत जब्त हो गई तो वह भागता भागता ‘महास्थविर’ के पास पहुँचा। बोला, “महाप्रभु, जमानत जब्त हो गई है इस चरणदास की। अपने ही मुहल्ले के एक मूर्ख भिश्ती ने इसे पराजित कर दिया है।”

“भिश्ती का राज अधिक नहीं चलता, भन्ते। इतिहास यही बतलाता है।”

“भिश्ती का राज चले या न चले, पर परमेश्वर, मेरे सुनहरे सपने धूल में मिल गए हैं। मेरा कैरियर चौपट हो गया है। मैं अब क्या करूँ ?”

“बोलो। क्या तुम लाट गवर्नर बनना चाहते हो ?”

“मैं लाट गवर्नरी लेकर क्या करूँगा, देव। मैं बहुतो स सीनियर हूँ। पैनल पर मेरा नाम नीचे न रखाए। गवर्नरी देकर मेरा कैरियर न बिगाड़िए, प्रभुजी। मैंने बड़ी सेवा की है—भले ही गुटबन्दी के कारण मेरी मूर्ति अभी चौराहे पर नहीं लगी तो क्या हुआ।”

“तुममें ऐसी क्या विशेषता है भन्ते, जो तुम दिन-दोपहर इतना बड़ा खाब देख रहे हो।” मुस्कराते हुए महास्थविर ने कहा।

“महाप्रभु, मैं इस देश को स्फुटनिक की तरह आगे ले जाना चाहता हूँ। गरीबी और अमीरी, मैं दोनों को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता हूँ। मैं उम्र भर इस देश की सेवा करना चाहता हूँ। मैं एक हाथ में एटम बम और दूसरे में कबूतर पकड़े रहना चाहता हूँ। भ्रष्टाचार, भाई भनीजावाद मिटा देना चाहता हूँ। मैं ‘ममम्या’ शब्द को डिक्शनरी से हटा देना चाहता हूँ। मेरे मन में अथाह व्यथा है, देव। मैं कुछ कर गुजरना

चाहता हूँ।”

देवता अट्टाहाम कर हँस पड़े—“तभी तो तुम्हारी जमानत जब्त हुई है, ब्राह्मण-पुत्र। जब देश में समस्याएँ ही नहीं रहेगी, तो तुम कहाँ रहोगे? गत वर्षों की कूटनीति कहती है कि हमने देश में समस्याएँ खड़ी करने में जो योगदान दिया, वह ऐतिहासिक महत्त्व का है। जिसने किसी सम्प्रदाय की सेवा नहीं की, किसी प्रदेश की सेवा नहीं की, वह देश की सेवा कैसे कर सकता है। इसलिए साम्प्रदायिकता की भावना, क्षेत्रीयता की भावना का फैलाना जरूरी है—तभी देश-प्रेम की भावना का विस्तार होगा। जो आदमी अपना उद्धार नहीं कर सकता, अपने भाई-भतीजों का घर नहीं भर सकता, वह देश को भी समृद्ध नहीं कर सकता।”

“तो मैं इस देश को समृद्ध करने के लिए क्या करूँ, देव?” हाथ जोड़कर ब्राह्मण-पुत्र ने कहा।

“तुम सरकारी अस्पताल में जाओ।”

“प्रभुवर, मैं अभी मोक्ष नहीं पाना चाहता।”

“मोक्ष नहीं, भन्ते। वहाँ अपना इलाज करवाओ। यदि तुम जीने-जी वहाँ से लौट आए तो फिर तुम्हें मृत्यु-पर्यन्त कोई मार नहीं मकेगा।”

चाणक्य के वशज ने देश को समृद्ध करने का वज्र सकल्प ले लिया था, इसलिए वह सरकारी डॉक्टरों के पास पहुँचता है।

वे बिना जाँच पड़ताल किए, उसका सिर फाड़कर कटोरी में भेजा निकाल लेते हैं। माने पर चाकू चलाकर एक बड़ी प्लेट में कलेजा परोसते हैं। इन दोनों वस्तुओं को जाँच करने के लिए डॉक्टरों का एक बोर्ड बिठलाते हैं और जब तक डॉक्टरों की रिपोर्ट नहीं मिलती, तब तक के लिए फिलहाल यो ही जख्म मिलकर वापस भेज देते हैं।

महास्थानिक पास बुलाते हैं बिठलाते हैं, बाने करते हैं—“भन्ते, तुम आज यह समझदारी की जैसी बातें कैसे कर रहे हो।” साश्चर्य कहते हैं—“क्या तुम सरकारी अस्पताल में हो आए हो।”

वह सिर हिलाता है “महाप्रभु, उन्होंने मेरा वजन कम कर दिया है। मुझे लगना है—गेर शरीर में से कुछ निकाल लिया है।”

महास्थानिक मुस्कराते हैं—“याद फालतू पूजे निकाल भी लिए हो तो क्या दर्ज है, विप्र मुत। दधीचि ने देश की सेवा के लिए अपनी हाँडुयाँ दे दी थी।”

‘देवना, अब मुझे अपने में अक्ल ही महसूस नहीं होती।’

‘मुस्कराते ने कहा है भन्ते कि जो अपने को बुद्धिमान कहते हैं—वे सबसे बड़े मूख होते हैं और तुम अपने को अक्लहीन अनुभव कर रहे हो, इससे चारितार्थ होता है कि तुम महाज्ञानी हो। इर्मालिए बाई इलेक्शन में खड़े होकर इन्द्रासन तक को प्राप्त कर सकते हो—मन्त्रीपद कौन सा दुष्कर कर्म है, भन्ते।’

महीनो बीत गए थे। डीरिंग-क्लर्क की ‘कार्य-कुशलता’ में डॉक्टरों के बोर्ड की



रिपोर्ट वाली फाइल ही खो जाती है। क्लर्क, मेडिकल सुपरिन्टेण्डेंट का रिश्तेदार है। अत धीरे-धीरे बात ममाप्त हो जाती है।

परन्तु इस बीच मच ही ब्राह्मण पुत्र ने उप-चुनाव जीतकर अपना मनोरथ पूर्ण कर डाला था।

एक दिन वे (ब्राह्मण-पुत्र) अपने एयरकंडीशण्ड कमरे में बैठे—बाह्र रोकने के लिए ईंटों के स्थान पर रही फाइलो के इस्तेमाल की योजना का नक्शा बना रहे थे कि बाहर एक जुलूस नारे लगाता हुआ रुक गया।

वे घटी बजाकर सेक्रेटरी को बुलाते हैं—“बाहर हमारी जय-जयकार के नारे इस बेवक्त कौन लगा रहा है, सचिव ?”

“सर, लगता है, इन लोगो की माँगे है।”

“माँगे तो औरतो की हुआ करती है सचिव, जिनमे मिन्दूर भरा जाता है।”

“सर, ये पुरुष हैं। अत इनकी माँगे भी दूसरी तरह की होनी चाहिए।”

“कैसी है, दिखलाओ। हम खुद देखेगे।”

वे बाहर निकलते हैं। अधिकार भरे स्वर मे आदेश देते हैं—“मब अपनी अपनी मार्ग दिखलाओ, श्रमिको। हमे तुमसे सहानुभूति है, इर्मानिए हम खुद देखना चाहते हैं।”

“ गरीब परवर, हमे खाना चाहिए।”

‘ अरे, तुम कैसे मूर्ख हो। क्या यह होटल है, जो यहाँ खाने के लिए आए हां।”

“हुजूर, हमे खाने के लिए अनाज चाहिए, होटल नही।”

“अनाज। अनाज का यहाँ क्या काम है, श्रमिको। यह ऑफिस है। यहाँ फाइले हुआ करती है। अगर तुम्हे फाइले चाहिए तो खुशी से ले जाओ। शिक्षा, परिवहन और निर्माण की फाइल ले जाओ।”

“सरकार, हम भूखे है—हमे अन्न के दाने चाहिए।”

“ये मूर्ख कैसी बाते करते है। इतनी-सी बात भी समझ मे नही आती।” वे मिर खुजाते हुए मोच ही रहे थे कि सेक्रेटरी बोल पडता है—

“सर, गलती हमारे कार्यालय की नही हे। लगता है भगवान के यहाँ ही भूल हो गई है। दाने-दाने मे इनके नाम की मुहर लगने से गह गई है।”

किसी तरह समझा बुझाकर, उनकी माँगो की जँच के लिए कमीशन बिठलाने का आश्वामन लेकर वे चलते है कि तेरह हजार लोगो का एक जुलूम फिर आ धमकता हे।

“तुम्हे क्या चाहिए ?”

“सरकार, हमारे दुख जल्दी मे दूर कर दीजिए। हम अधिक कष्ट नही सह सकते। हमारी यातनाओ की पराकाष्ठा हो चुकी है।” लोग बिलख बिलखकर रोने लगते है।

उनका हृदय द्रवीभूत हो उठता है। वे बडे. शान्तभाव से, संयम से प्रवचन देते

हैं—

“मूर्खों, तुम व्यर्थ में रो-रोकर अपना समय क्यों खो गये हो ! जानते नहीं, दुःख-सुख, जीवन-मरण सब उस परमापता परमेश्वर के हाथ की चीजें हैं। हमारे पूर्व-जन्म के संस्कार इस जन्म में फलीभूत होते हैं। पिछले जन्म में तुमने पुण्य-कर्म नहीं किए तो इस जन्म में तुम्हारे बदले दुःख क्या मैं भोगूंगा ? हाँ, मैं अधिक-से-अधिक सहानुभूत का प्रस्ताव पाम कर सकता हूँ। इसके अतिरिक्त बतलाओ मेरे पास क्या है...।” वे कोठी के भीतर जाकर दावत में जुट जाते हैं, क्योंकि लंच-टाइम हो गया है।

आधी रात तक लांग धरना देकर बैठे रहते हैं। हिलने का नाम नहीं लेते तो पुलिस डण्डे बरसाकर भीड़ को तितर-बितर करती है और ऑसू-गैस छोड़ती है।

सेक्रेटरी दूसरे दिन बतलाता है, “आपकी अमृतवाणी सुनकर लोग द्रवीभूत हो उठे थे, सर। सब गदगद होकर अपनी आँखें पोंछते हुए जा रहे थे।”

साहब का सीना फूलता है।

साहब सन्ध्या समय घूमने के लिए निकलते हैं। वहाँ सड़कों पर भूख से मरी पडी लाशों के ऊपर चीलें मँडराती दिखाई देती हैं।

“यह क्या है, सचिव ?”

“कुछ नहीं, सर।” वह लापरवाही से कहता है, “इनके दुःख के दिन पूरे हो चुके हैं। सांसारिक बन्धनों से अब ये मुक्त हैं—इन्हें सच्चे अर्थों में सच्ची-शांति मिल चुकी है।”

साहब को मन्तोष होता है। चलो, कुछ लोगों को तो सच्ची शांति मिली।

शांति मिलने की बातें साहब सोच ही रहे थे कि विरोधी-पक्ष के नेता आरोप लगाते हैं कि सरकार की लापरवाही से पाँच हजार आदमी मौत के कुएँ में एक साथ डूब गए हैं।

साहब उन्हें निकालने के लिए किमी विदेशी फर्म को मजबूत रस्सियों का आर्डर देते हैं तो लोग चिल्लाते हैं कि वे सब-के-सब मर गए हैं।

साहब को आश्चर्य होता है। सब-के-सब मर गए हैं तो इसमें इतनी परेशानी की कौन-सी बात है। वे स्वयं ही समझाने लगते हैं—

“महानुभावों, चोला बदलने का दूसरा नाम मरना है। वास्तव में मरना क्या है, कोई बतला सकता है ?”

सब एक-दूसरे का मुँह ताकते हैं।

“वस्तुतः ‘मरना’ शब्द ही गलत है। क्योंकि आदमी की आत्मा अमर रहती है। फिर बाहर का ढाँचा बदलने से क्या अन्तर पड़ता है, इसलिए आपकी शिकायत आधारहीन है। इसलिए सब अपने-अपने घरों को चले जाइए...।”

लोग ज़िद करते हैं—लेकिन उसका कोई असर नहीं होता, तो अन्त में विरोधी-पक्ष के नेता बंगाल-बन्द, केरल-बन्द की तरह ‘भारत-बन्द’, ‘एशिया-बन्द’ और ‘विश्व-बन्द’ तक की धमकी देकर चले जाते हैं।

साहब बेकरी वालों को बुलाकर तुरन्त हुक्म देते हैं कि तुम बन्द बनाना इसी क्षण से बन्द कर दो। देश में सारी परेशानियों की जड़ इस समय यही है।

उन सबके जाने पर सब लोग साहब की सूझ की प्रशंसा के पुल बाँधते हैं—साहब का सीना कुछ और फूलता है।

इस तरह दिन में हजार बार, बार-बार सीना फुलाने से साहब को 'सीना फुलाने की' एक नई बीमारी हो जाती है और इसी असाध्य बीमारी के परिणामस्वरूप एक दिन वे अनायास चल बसते हैं।

उनके यों चल बसने से लोगों को दुःख होता है।

एक दिन सब मिलकर महापुरुषों के चित्र की बगल में एक महापुरुष का चित्र और लटका देते हैं और उनके आदर्श अधूरे कार्यों को पूरा करने का परस्पर ठेका उठा लेते हैं...।

शिष्यों, इस कहानी से सबक मिलता है कि जो शास्त्रों के वचन का अनुसरण करते हैं, धर्म की राह पर चलते हैं, जिन पर पिता की विशेष कृपा होती है, जो टोपी धारण कर घर से निकलते हैं और जो देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत रहते हैं—वे किसी-न-किसी दिन अवश्य महान् व्यक्ति बनते हैं। मरकर भी वे अमर हो जाते हैं।



## स्मृति-चित्र

चलते-चलते हम सहसा रुक जाते हैं। अन्नपूर्णा के गेट की ओर मुड़ते हुए मैं पूछता हूँ, “चाय तो पियोगी न ?”

इस बार वह कुछ कहती नहीं, बस हौले-से हँस देती है।

कॉफी के लिए वह पहले मना कर चुकी है, उसे आदत नहीं है। उसी तरह ‘कोल्ड-ड्रिक्स’ के लिए भी, क्योंकि उसका गला खराब है। अभी कुछ ही दिन पहले उसे फ्लू हुआ है।

मैं काउण्टर से कूपन खरीदकर दो प्याले चाय लाता हूँ। जब तक मैं पीने के लिए नहीं कहता, वह पीती नहीं। बच्चों की-सी जिज्ञासा से इधर-उधर देखती रहती है। उसकी सीपी-जैमी बड़ी-बड़ी आँखों में कुतूहल का अजीब-सा भाव है।

“दिल्ली पहले भी आई थी कभी ?”

“जी हाँ पिताजी के साथ, एक बार।”

“कब ?”

“यही, जब बहुत छोटी थी।”

“क्यों, अब बहुत बड़ी हो गई हो क्या ?” मैं हँस पड़ता हूँ, तो वह झेप-सी जाती है, “जीई55 नहीं। अब्ब भी तो ..।”

उसका स्वभाव निरीह लगता है, बेहद सरल। आज की दुनिया में ऐसे आदमी का गुजारा किस तरह हो सकता है।

“हाँ, मोदीनगर कब से हो ?” मुझे सहसा कुछ याद आता है।

“जी, इसी ‘मे’ से।”

“पे-स्केल तो ..।”

“जी, सब जगह करीब-करीब यही है, पूरे यू. पी. मे।”

इलाहाबाद से एम. ए. करने के बाद, उसने बी. एड. किया था। पहले बुलन्दशहर के किसी गर्ल्स कॉलेज में थी, फिर चन्द दिन खुरजा में।

‘रहती हॉस्टल में ही हो?’

“जी, स्टाफ-क्वार्टर्स में अभी एक कमरा मिला है। शायद दो-तीन महीने बाद पूरा फ्लैट मिल जाएगा।’

दोनों मोन भाव से कुछ सोचते रहते हैं। कही शून्य में एक भँवर सा बनता है, बिगड़ जाता है। मैं क्षण भर का सन्नाटा तोड़ता हुआ पृच्छता हूँ, “मोदीनगर कितनी दूर होगा यहाँ से?”

“यही तो है—यही, मेरठ में इधर।”

मुझे दल्ली में रहने लगभग बारह-नेरह साल हो गए हैं पर अब तक मैंने मेरठ मोदीनगर नहीं देखा। हाँ गाँजियाबाद एक दो बार अवश्य गया हूँ, वह भी बहुत जरूरी काम से। मुझे अक्सर सैनी का बात याद आती है। विभाजन के बाद से वह दल्ली में रह रहा है, किन्तु उसने अब तक कुतुबमीनार नहीं देखी।

चाय ठंडी है, फीकी। न मोठा, न दूध, न पत्ती—कुछ भी तो नहीं। ऐसी चाय अक्सर ग्लेवेल फ्लैटफार्म पर ही देखने को मिलती है। केवल दो फ्रूट पीकर प्याला अलग रख देता हूँ। पर, वह उसी तरह अटूट आस्था के साथ पीती चली जाती है।

“चाय और मँगोई जाय?”

“अभी तो पहला ही प्याला खत्म नहीं हुआ।” वह हम देती है “लगता है, आप बहुत चाय पीते हैं।”

मुझे अब याद नहीं है क्या उत्तर देता हूँ। उत्तर देना भी हुआ नहीं।

चाय समाप्त कर हम बाहर में गेट के पास आते हैं। मैं देखता हूँ—चाय पीने के बाद उसका चेहरा कुछ और ताजा लग रहा है। उसके व्यवहार में भी अब उतनी जिज्ञास नहीं।

“मोदीनगर में जब बस में बेन्टी सड़क चड़ी धुकर पुकर हो रही थी मन में।” वह मुस्कराती हुई कहती है “मेरी दल्ली से आने वाली कुलीगज भी आज छुट्टी पर थी, नहीं तो उनके साथ आ जाती। मच, भीड़ भाड़ में मुझे डर लगता है। मैं सोच रही थी, बेन्टी आप स्टेशन पर न मिले तो फिर कहाँ जाऊँगी।

मैं उसकी बातें सुनता रहता हूँ। जनपथ की रंगीन दुकानें आज बहुत आकर्षक लग रही हैं। लगता नहीं कि यह भारत के किसी शहर का कोई हिस्सा है। आधे से भी अधिक लोग विदेशी हैं।

कॉटेज एम्पोरियम का बड़ा सा वार्ड देखकर वह ठिठक पड़ती है। अँगुली से इशारा करती हुई पृच्छती है “इसी एम्पोरियम में मिसेज किमिजर ने अभी शॉल खरीदा था न। अभी कुछ ही दिन पहले ना।”

“हाँ, पर तुम्हें कैसे पता?”

‘मैंने अखबार में फोटो देखा था। मिसेज टीटो का भी एक बार इसी एम्पोरियम में चित्र छपा था।’ उसके चेहरे पर अजीब सा कुनहल है।

“यह लुफ्तहाँसा क्या होता है?” दूर सड़क पर के उस पार एक बड़ा-सा नीला

साइनबोर्ड देखकर वह पूछती है।

“जर्मन एयर-सर्विस, एयर इंडिया की तरह।”

“आप भी तो कभी बाहर जाने की योजना बना रहे थे? शायद कनाडा की तरफ कहीं। एक पत्र में आपने लिखा था।”

मैं कुछ देर तक मोचता रहता हूँ, “हाँ।” मात्र ‘हाँ’ कहकर फिर चुप हो जाता हूँ।

एक यूरोपियन महिला अपने गले में गेंदे के बड़े-बड़े फूलों की माला डाले, तेजी से सामने से निकल जाती है। बहुत-सी विदेशी महिलाएँ शाम को लक्ष्मीनारायण मन्दिर जाती हैं। वहाँ से गरुआ टीका माथे पर लगवाने के बाद, बाहर गेट पर से फूलों की मालाएँ खरीदकर स्वयं अपने गले में डाले, बाजारों में इधर-उधर घूमती दिखती है।

हमारे पॉव फिर ईस्टर्न कोर्ट की ओर बढ़ते हैं। इम्पीरियल होटल के सामने, फुटपाथ पर लद्दाखियों की छोटी छोटी दुकानें हैं—छोलदारियों की शक्ल में। इन्हें देखकर उसे बहुत आश्चर्य होता है “ये लोग ठीक भोटियों-जैसे नहीं हैं।” वह मेरी ओर देखती है।

कॉमे की, पीतल की, मगमरमर की प्राचीन बुद्ध प्रतिमाएँ, मुँह फाड़े खड़े ताँबे के तिब्बती शेर, पारदर्शी पत्थरों की मालाएँ, हाथीदाँत के ताजमहल। लोग कहते हैं—ये ‘सदियों पुरानी’ आधिकारिक प्राचीन मूर्तियाँ यही दिल्ली में, दरियागज के पिछवाड़े कहीं बनती हैं, विदेशी यात्री जिन्हें मुँहमाँगी कीमत पर खरीदकर अपने देश ले जाते हैं।

इसी पिछले शनिवार को इवाना मान घूमता घामता यहाँ तक मेरे माथ आया था। मुझे याद आता है—तथागत की एक छोटी-सी काली मूर्ति के इमी दुकानदार महिला ने उसे सवा दो सौ रूपय बनलाए थे।

जापानी इवाता मान ने विस्मय से मेरी ओर कम से-कम दो बार देखा था।

वह एक ऊँची, बहुत ऊँची, आसमान की छूती हुई, निर्माणाधीन नई इमारत की ओर विस्फारित नेत्रों से देख रही थी। यह इमारत शायद ‘योजना आयोग’ या किसी और मंत्रालय की है।

आगे पेट्रोल पम्प के बाद, दुकानों का मिलासला समाप्त हो जाता है और एक अँधेरा, उजाड़-सा क्षेत्र शुरू होता है।

मैं उससे लौटने के लिए कहूँ, इससे पहले ही वह मुड पडती है।

“मोदीनगर कितना बड़ा शहर है?” कुछ बोलना है, इसलिए यो ही बोल पडता हूँ। ऐसे मौकों पर चुप रहना बहुत भारी लगता है।

“जी, छोटा-सा टाउन है, इंडस्ट्रियल।”

“हल्द्वानी के बराबर?”

“जी नहीं, उससे छोटा।”

“रानीखेत के बराबर?”

“जी नहीं, उससे भी छोटा।”

“तो क्या फिर गेटिया के बराबर।”

प्रत्युत्तर मे वह जोर से हँस देती है।

मुझे स्वयं आश्चर्य होना है। गैठिया का नाम आज न जाने कितने वर्षों बाद अकस्मात् याद आ गया। जाडो मे, छुट्टी के दिन उधर माल्टा खरीदने जाते थे। लौटते समय सेनिटोरियम के बाद बडी अजीब सी घुटनातोड चढाई पडती थी। नैनीताल की अपेक्षा वहाँ माल्टा सस्ते मिलते हो, कोई ऐसो बान न थी, परन्तु कभी कभी यों ही घूमने मे बडा मजा आता था। वह उम्र ही ऐसी थी।

“नैनीताल कब मे नही गई ?” मैं पूछता हूँ।

“यही कोई तीनेक साल मे।” वह मेरी ओर देखती है “आ प ?”

“मै- मै बहुत असें से।”

इतना बडा हो गया हूँ, एक अर्थ मे दुनिया देख चुका हूँ, परन्तु आज भी जब कभी नैनीताल का नाम याद आता है, मैं अजीब-सा अनुभव करता हूँ। चेखव की कहानियो और बर्फ से ढके नैनीताल मे मुझे एक विचित्र साम्य लगता है।

जनपथ की भीड को चीरकर आगे निकलना बडा मुश्कल है। क्रॉसिंग पर आकर कुछ राहत-सी मिलती है। कुछ खुली हवा सी भी।

बडी देर बाद हरी रोशनी की बारी आती है। सडक पार करते समय उसकी आकृति देखने लायक होती है। लगता है इस भीड भाड का देखकर वह काफी परेशान हो गई है।

अपने लिए उसे कुछ ऑपल पेट्स खरीदने है। दो तीन दुकाने देखने के बाद वह खरीद लेती है। पैमे चुकाते समय मेरे मुँह की ओर देखती है, “यह हाँबी भी अब महँगो पडने लगी है।”

उसे चित्र बनाने का शौक है। अधिक अभ्यास न होने के बावजूद वह बहुत अच्छे चित्र बना लेती है। मैंने एक बार कभी उसे लिखा था कि वह कुछ और चित्र बना ले तो कभी दिल्ली मे प्रदर्शनी लगाएँगे। यह बात पढकर वह शायद बहुत देर तक खिलखिलाकर हँसती रही थी। उमने लिखा था—उसे इतनी बडी आर्टिस्ट समझने की भूल मैंने कैसे कर ली। उमे तो अभी सीधी रेखा तक खीचनी नहीं आती।

केवल पिछले दो-तीन वर्षों से ही उमसे पत्र व्यवहार है। उसी ने पहले पत्र भेजा था। और फिर एक तरह से, यह परिचय और पत्र का मिलामिला कुछ-कुछ चलता रहा था। पर आज पहली बार उसमे मिलने पर मुझे कुछ भी अजनबीपन नहीं लगा, जैसे रोज की तरह आज भी मिल रहे हो, वैसा ही सहज-भाव था।

सामने सडक के किनारे भीड लगी है। एक पकी हुई उम्र का आदमी, छोटी-सी बॉसुरी जैमी नली मे, रगीन पाउडर भरकर फर्श पर बेलन की तरह घुमाता है, तो एक डिजाइन-सी बनती चली जाती है।

पी. आर. आर. एम.' के पास आकर हम रुक जाते हैं। ‘अन्नपूर्णा’ की चाय पानी-जैमी थी। अब तक मुँह का जायका खाब है।

“यहाँ कॉफी बहुत अच्छी मिलती है, बेहद गर्म।” मैं उसके चेहरे पर उभरती हुई

प्रतिक्रिया पढने की चेष्टा करता हूँ—“एक प्याला पी लो न। जिन्दगी भर याद करोगी।”

वह कहती कुछ नहीं। मेमने की तरह केवल देखती रहती है।

हम एक बार फिर घनी झील में बताशे की तरह विलीन हो जाते हैं। भीतर वाले हॉल में घुसने ही लगता है, जैसे कोई आदमी भीड़ में कहीं खो गया हो और इधर-उधर घूम घूमकर अपने को खोज रहा हो।

बड़ी देर तक खड़े रहने के बाद मात्र एक कुर्मी खाली दीखती है। उसे बिठलाकर मैं फिर खड़ा होता हूँ, और गिद्ध-दृष्टि से इधर-उधर देखने लगता हूँ। दूर कहीं एक खाली कुर्मी पड़ी है। लपककर उठा लाता हूँ।

लॉ बोहीम, मोनालजा, गेलार्ड, मिकैडो—मुझे कहीं की भी कॉफी इतनी अच्छी नहीं लगती। खुद कुर्सी ढोने में, कभी कभी खुद प्याला उठाकर लाने में, एक विशेष आनन्द आता है, ठीक घर का जैसा लगता है। बनावट या दिखावा मुझे कतई पसन्द नहीं, पता नहीं मेरा स्वभाव ऐसा क्यों है ?

मैं कुछ गभीर हो जाता हूँ। वह अपने नए खरीदे पेट्स उलट पुलटकर देखने लगती है। मैं टेबुल की छाती पर कफन के चीथड़े की तरह पड़ा ‘ईर्वांग न्यूज’ ममेरता हूँ, जिसका एक कोना चटनी की बोतल लापरवाही से रख देने के कारण लाल हो गया है, उस पर पानी के छीटे पड़ने से भद्दा भी।

‘न्यूज’ पर पहले पृष्ठ पर राजभाषा विधेयक के विरोध में होने वाले प्रदर्शनो के फुटकर समाचार है। कोयना बॉथ के टूटने से होने वाली हानि की खबरे। अंतिम पेज पर हंगेरियन राजदूत डॉक्टर कोस का चित्र है।

“कनॉट प्लेस के रीगल वाले मोड पर, दुर्घटना में अभी-अभी एक आदमी की डेथ हो गई है।” सामने खड़े कुछ लोग जोर जोर से बातें कर रहे हैं।

“तुम्हारे हाथ में भी तो कभी चोट लगी थी। अब ठीक है न ?” मैं सहसा अखबार बन्द कर उसकी ओर देखता हूँ।

“जी, वह तो कब की ठीक भी हो गई।”

मुझे याद आता है—हॉ वह ठीक कह रही है। यह बात तो मचमुच बहुत पुरानी है। शायद पिछले साल गर्मी की छुट्टियों में, घर जाने में पहले उसने कभी लिखा था।

“खाना मैंमें में खाती हो ?”

“जी ...।”

वह काफी सिमटकर बैठी है, परंशान-सी। लगता है यहाँ का शोरगुल उस राम नहीं आ रहा। अपनी कलाई पर काले बारीक फीते से बँधी डिब्बियानुमा छोटी सी घड़ी पर बार बार उसकी निगाहे टकराती है।

कुछ-कुछ गेरुए रंग की खादी की साड़ी। उसी से मैच करना आधी बॉह का ब्लाउज। घड़ी के अतिरिक्त शरीर पर और कोई आभूषण नहीं। इस सीधे सादे लिबाम में वह अच्छी लग रही है, बहुत अच्छी। सादगी का भी तो अपना सोदर्य है न।



“जितेन अभी आगरा है न ?” मैं कुछ सोचता हुआ प्रश्न करता हूँ।

“जी हाँ।”

“कुछ इम्प्रूवमेंट ?”

“जी पिताजी अभी कुछ दिन पहले गए तो थे। कहते थे—कोई खास नहीं। अब भी वैसी ही हरकते करता है। चीजे तोड़ता-फोड़ता है। कपडे नहीं पहनता, एकदम नंगा रहता है। यही तो प्रॉब्लम है। घर लाएँ भी तो केसे।” कहते कहते उसका चेहरा बेहद उदाम हो आता है।

कॉफी आती है। उसके प्याले में बिना पूछे, तीन चम्मच चीनी डाल देता हूँ। शायद अब भी उसे कड़वी लगे। प्लेट में रखे बडे की बगल में खूब चटनी भी। महिलाओं को चटनी बहुत अच्छी लगती है।

बडे गरम है। तोड़ते ही उनके बीच से भाप सी निकलने लगती है।

पिछले माल उमने लिखा था—मदर की डैथ हो गई है। जितेन को आगरा भेज दिया है। सबसे छोटा भाई दिग्गू अब ननिहाल में रहता है, घर में देख रेख कान करे ? पिताजी को ऑफिस के हजार कामों से ही समय कहाँ।

मैं अब ऐसी कोई भी बात नहीं करना चाहता, जिमसे वातावरण बोझिल बने। वह बड़ा तोड़कर, बिना चटनी लगाए, यो ही चुपचाप खाती चली जाती है। उसकी निगाहे टेबुल पर रखे अधभरे गिलास पर अटकी है जिममें एक तिनका तैर रहा है।

आधा ही पीकर वह प्याला परे रख देती है। कहती है, “दिन में अधिक चाय कॉफी पीने से रात को नींद नहीं आती।”

मैं हँस पड़ता हूँ तो वह भी उसी तरह हँसने लगती है।

बिल के पैसे चुकाकर हम बाहर आते हैं। एकदम गहरा अँधरा लगता है। परन्तु मडको की भीड़ वैसी ही। शोरगुल वैसा ही। कारों, स्कूटरों की एक लकीर-सी फीने की जैसी गोलाई में मरकती चली जा रही है, जिमका कहीं कोई अंत नहीं।

कुछ हिज्रहाइकर्म, फौजियों की तरह पीठ पर मामान लादे कॉफी हाउस के बाहर निकल रहे हैं। लगता है, पूर्वी यूरोप के किसी देश के हैं। दो पीछे वाले खड स्कूटर के ऊपर घोडे की तरह बैठा कोई मोग आदमी प्लेट पर स ठठा उठाकर पकौडे खा रहा है। इधर उधर में घरे खडे दो तीन लोग उसका साथ दन की मोच रहे हैं। यहाँ के पकौडे का आकार भी अजीब है—छोटे छोटे अडों जमा।

सामने एक पेटेड कार खडी है। कहते हैं—भेन के पाम भी एक पेटेड गाडी है। हाँ सक्ता है उमी को हो।

कल रात आकाशवाणी में आते समय एक लडका भीड में साथ-साथ चल रहा था। अधीर सा व भी आग आता कभी पीछे। अन्त में उसमें रहा न गया, तो बाला, देखिए, ये लोग मेरी मिस्टर को कहीं ले जा रहे हैं। में पार्लियामेंट वाल बस स्टॉप में इनका पीछा कर रहा हूँ।”

मैं देखना हूँ, पाँच छह लडकों के बीच एक लम्बी लडकी चल रही है। सब

जोर-जोर से बातें कर रहे हैं, जैसे आपस में झगड़ रहे हों ! पर लड़की ठहाके लगाकर हँस रही है । यदि मैं गलती नहीं कर रहा तो निश्चय ही इन सबने पी रखी है ।

‘कोआप्स’ से एक छोटा-सा पैकेट सूखे मेवे का खरीदते हैं । टहलते-टहलते बात करना और बीच-बीच में कुछ चबाते रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है ।

‘कोआप्स’ के सामने जामुन के टेढ़े-से पेड़ की बगल से होते हुए हम किसी तरह सड़क पार करते हैं ।

“पिताजी का ट्रांसफर दिल्ली हो जाता तो अच्छा रहता ।” वह इस तरह से कहती है, जैसे स्वयं को सुना रही हो ।

“क्या अच्छा... ?” मैं उसकी ओर देखता हूँ ।

वह हँस देती है, “जी, कुछ भी तो नहीं ।”

दोनों फिर चुपचाप चलते हैं । कभी-कभी वह एकाध कदम पीछे रह जाती है, तो बहुत अटपटा-सा लगता है ।

पिछले बहुत दिनों से वह उधर आने का कार्यक्रम बना रही थी, किन्तु कुछ-न-कुछ रुकावट आ पड़ती । हाँ, इसी शुक्रवार को उमका ऐक्सप्रेस तार मिला था—“चार बजे शाम बस-स्टॉप पर मिलिएगा । मैं आपको पहचान लूँगी ।”

सचमुच बस-स्टॉप पर पहले उसीने पहचाना था ।

“इतनी परेशानी उठाकर आई हो, पर दिल्ली तो देखी ही नहीं ।” मैं खुले में आकर अपनी हथेली पर थमा खुला पैकेट उसकी ओर बढ़ाता हूँ ।

“देख तो ली... ?” दो-तीन दाने एक साथ मुँह में डालती हुई वह कहती है, “आपसे भेट हो गई, यही क्या कम है !” वह चुप हो जाती है ।

‘बुद्धजीवियों’ का ‘काँफी-हाउस’ पीछे छूट गया है । गेलार्ड के आगे, रीगल के पोर्च की बगल में तिब्बती शरणार्थी माहलाएँ हाथ में बुने ऊनी स्वेटर बेच रही हैं । लोग भीड़ की शकल में खड़े हैं । उनके चौड़े कन्धों पर झूलती ढेर मारी रगीन स्वेटरे नहीं, उनके चेहरों की ओर अधिक ध्यान से देख रहे हैं ।

सिनेमा के बड़े-बड़े रगीन बोर्ड पान्छे छिप जाते हैं । ‘गं-टाइम’ के सामने डम मर्दी में भी लोग आइगक्रॉम खा रहे हैं । मिट्टी की कच्ची शिल्पई के ऊपर जेमे बर्फ का गोला रखा है ।

“पता नहीं यहाँ कितने लोग रहते हैं । चारों तरफ आदमी ही आदमी ।” वह कहती कहती अटक मी आती है । फिर कुछ रुककर बतलाती है, “आज शाम की छुट्टी है। डार्मिस्ट्रेस ने न जाने कितनी प्मन्नतो के चाद दी ।”

उसे रोडवेज की आन्तम बस में अभी लौटना है—वहाँ, जहाँ एक कमरा है । एक खिड़की है । खिड़की पर खार्दी का एक बहुत भारी हंग पर्दा है, जिस पर से वह गुजरती भीड़, उड़ती धूल धूप और वर्षा की बौछारें न जाने क्या-क्या देखती रहती है ।

“कभी उधर आइए न। वहाँ काफी लोग आपको जानते हैं।”

दिल्ली परिवहन की बसों की अनन्त प्रतीक्षा में, हमेशा की भाँति आज भी धीरज टूटने लगता है तो हम स्कूटर ले लेते हैं। चाबी भरे खिलौने की तरह स्कूटर फट-फट करता, जमीन से लगा-लगा सरकने लगता है। वह एक किनार पर गठरी की तरह चुप बंठी है सामने लोहे की ठडी राड को कमकर जकडे। फटी फटी आँखों से दिपदिपाती नियाँ रौशनियाँ और आसमान को छूती ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं की ओर देख रही है।

कश्मीरी गेट तक का रास्ता देखते देखते तय हो गया, पर वह उसी तरह चुप है।

अब नौ बजने वाले हैं। रोडवेज की बस पर आधी सवारियाँ चढ़ गई हैं। टिकट की कतार आँधक लम्बी नहीं। लोग कह रहे हैं, अभी अभी कुछ मिनट पहले एक स्पेशल गई है।

मैं लपककर टिकट लाता हूँ।

बस की खिडकी वाली, कोने की सीट पर वह बंठी है। बगल की खाली सीट पर पर्स और रगो वाला कागज का थैला रखा है। मैं देखता हूँ—खिडकी का शीशा टूटा है। खिडकी खुली होने के कारण सर्दी अधिक लगेगी। उमें स्नेटर साथ लाना चाहिए था। मॉझ होते ही कितनी ठंड हो जाती है। फिर चलती हुई बस में। अभी कुछ ही दिन पहले उसे फ्लू हुआ है।

वह खिडकी पर झुकी बाहर झाँक रही है। बस चलने में आँधक में आँधक दो तीन मिनट हैं। सहम्मा उसका हाथ खिडकी में भीतर मुडता है। वह पमें में से एक मुडा मुडा-सा कागज निकालती है।

बस का इंजन स्टार्ट हो गया है। अपनी ही जगह पर खडी मारी बस धर्र-धर्र काँपने लगी है। उसका धीरज टूटने लगता है। वह कागज मेरी ओर बढ़ाना है।

‘आपके लिए लिखा था यह नेटर। फिर पता नहीं क्या मोचकर डाल नहीं पाई। और अब पता नहीं क्या मोचकर स्वयं दे रही हूँ। इसका गलत अर्थ न लगाइएगा। मैं कतई प्रैक्टिकल नहीं जाने के बाद आप भी क्या मोचेंगे।’

प्रत्युत्तर में मैं कुछ नहीं कह पाता, केवल उसकी उजली उजली खामोश निगाहों की ओर देखना रहता हूँ। ऐसे क्षणों में न जाने क्यों मेरी मोचने की मारी शक्ति जवाब दे देती है। बस की घरघरहट, यात्रियों की भाग दौड के साथ कुछ और बढ़ जाता है। धीरे धीरे पहिये घूमने लगते हैं। कडकटर धमाके के साथ पिछला दरवाजा बन्द कर देता है।

मैं देख रहा हूँ—वह खिडकी पर पूरी की-पूरी झुक आई है। अपने दोनों हाथों की अँगुलियों के बीच, उसने अनजान में बस का टिकट ममल ममलकर चूँह के कुतरे हुए कागज की तरह इधर उधर बिखेर दिया है। उसकी रीती आँखें अब कुछ और छोटी हो आई हैं—कुछ और छोटी। जिनके भीतर रेत का एक मारा समन्दर समा गया है।



## जो घटित हुआ

देह पर जगह-जगह नीले निशान पड़ गए हैं। घावों में से अब तक निरन्तर लहू बह रहा है। मुझे लगता है—मेरे पाँवों के पास वही क्रुद्ध घायल नाग जमीन पर फन पटक-पटककर फुँफकारता हुआ रेंग रहा है, जो साँझ ढलने से पहले, प्रायः प्रतिदिन मुझे एक बार अवश्य डंसता है……।

लोग कहते हैं—यह मात्र मेरा भ्रम है। हाँ, पिछली गर्मियों में किसी साँप ने मेरे बाएँ पाँव पर अवश्य डंक मारा था……किन्तु इसके बाद वह फिर कहीं दिखलाई नहीं दिया……।

पर कल रात……चावल निकालने के लिए पत्नी ने बोरे में हाथ डाला ही था कि एक हथेली से भी चौड़ा कुरबुरैला फन अधियारे में काटने को लपका……।

कोट के कॉलर के ऊपर हैगार में लटकी टाई, कल अपने-आप इधर-उधर मरक रही थी……चमड़े की जिम पेटी को मैं पैट बाँधने के लिए इस्तेमाल करता हूँ—आज उसकी जगह केवल एक पतली-मी पारदर्शी मफेद केंचुल पड़ी हुई मिली।

जूते पहनते समय फीता टूट गया था। टूटा टुकड़ा मैंने जमीन पर फेका तो वह कटे केंचुए की तरह धूल में अँगड़ाई लेने लगा। जहाँ पर से टुकड़ा टूटा था, वहाँ खून का छोटा-सा धब्बा दीख रहा था।

सामने रखे ग्लोब में नदियों को आममानी रंग की दुहरी लकीरों में दिखलाया गया है। मैं देख रहा हूँ—एक भी नीली लकीर अब ग्लोब में नहीं है। सब-की-सब नीचे एकत्र होकर उलझे तागों की तरह सटी हैं और एक-दूसरे को निगल रही हैं……।

राशन की दुकानों पर अनाज के बदले ढेले बिकते देख मुझे आश्चर्य नहीं होता……।

कहते हैं—अनुसंधान के क्षेत्र में हमने अद्भुत प्रगति की है……डॉक्टर बसु की वनस्पति सम्बन्धी खोजों का अगला चरण डॉक्टर बागची ने प्रस्तुत किया है—उनेके

अनुसार वनस्पतियों में ही नहीं, पत्थर, मूखी लकड़ी, ईंट और चट्टान में भी जीवन होता है और भोजन के पूरे पोषक तत्व भी । अतः सरकार ने निश्चिन्त किया है कि अकालग्रस्त इलाकों में अब अन्न के बदले पत्थर वितरित किए जाएंगे ।

छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे रोगों के बदले ढेला खा रहे हैं । मैं देख रहा हूँ—ट्रेने लद लदकर रायपुर, बस्तर और बिहार की ओर धूल उड़ाती, चिघाडती भाग रही है । कहते हैं—पंजाब, उत्तर प्रदेश और दिल्ली ने अपने अपने प्रदेशों से पत्थरों के निर्यात पर रोक लगा दी है । एक ही रात में अनाज के व्यापारियों ने बड़े बड़े पत्थरों के स्टॉक इकट्ठे कर लिए हैं । इसलिए अब केवल ऊँची कीमतों पर ही चोर-बाजारी में पत्थर बिक सकेंगे । पत्थरों का भी इस देश में अकाल पड़ गया है ।

दूर तक फैली, फटी हुई मूखी धरती पर नहर जैसी चौड़ी दरारे पड़ गई हैं । बाँसियाँ खण्डहरों में बदल रही हैं । जनशून्य पृथ्वी पर कहीं एक भी प्राणी नहीं—चारों ओर केवल हड्डियाँ-ही हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं ।

कुछ लोग हड्डियाँ बटोर बटोरकर ट्रकों में भर रहे हैं, कहते हैं—इन्हें विदेश भेजेगे । इनसे फॉरेन एक्सचेंज मिलेगा ।

बिना मिर और धड़ के, कटे आदमी, शहरों की भीड़-भरी सड़कों पर, चीखते चिल्लाते दौड़ रहे हैं । दूर कहीं कारखानों की ऊँची ऊँची चिमनियाँ दिन-रात धुआँ उगल रही हैं । कहते हैं—ये सब कपड़े की मिले हैं—इनमें अब कफन बन रहा है ।

मकानों के भीतर अब किराये पर मकान रहा करते हैं । सड़कों पर, पैदल सड़के चलना करनी है । नदियाँ अपना जल स्वयं पीकर मूख रही हैं ।

छोटे-छोटे बच्चों ने कल अपने स्कूल की इमारत अपने ही हाथों फूँक डाली है । अध्यापकों को छेद छेदकर क्राम पर लटकाकर ईसा बना दिया है ।

ऋतु के कपड़े तार तार फटे हैं । अपनी तपाम पुस्तकों के साथ-साथ वह स्कूल से नए एटलस को भी फाड़ लाया है ।

उसकी बीमार माँ आज साग दिन बाहर धूप में बैठी उसके कपड़े सिल रही है । फटे नक्शे को गोद से चिपका रही है ।

वह आँखों से कम देखती है । मुझे लगता है—उसने सारे टुकड़े गलत चिपका दिए हैं । केरल का हिस्सा पश्चिमी बंगाल में जोड़ दिया है । कश्मीर का कच्छ में । नगालैण्ड की जगह केवल पुराने अखबार का फटा चीथड़ा लटक रहा है—और अक्षरचिन्त समेत समूचा लदाख उसने हिंद महासागर की नीली लहरों में कहीं डुबो दिया है । लम्बा से भी दूर ।

सोचता हूँ—समुद्र में डूबी धरती अब कैसे ऊपर निकलेगी । इतनी बड़ी क्रेन कहाँ से आएगी, जो इस विशाल भू-भाग को पानी से निकालकर, उसे अपनी जगह बिठला सके ।

हाँ, भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर का मारा इम्पात अगर लगा दिया जाए तो ।

किन्तु विशेषज्ञों का राय कुछ दूसरी है। वे कहते हैं कि इतनी बड़ी क्रेन भी अब पर्याप्त न होगी। इस देश की जमीन इतनी खोखली हो गई है कि कोई भी क्रेन, किसी भी तरह अब धगतल पर खड़ी हो नहीं सकती। इस मारे देश को सागर में डूबने से अब कोई भी बचा नहीं सकता।

बर्फीले पहाड, रेतीले मैदान, गहरी नदियाँ, सागर—सब जल रहे हैं। सारी मीमाओ पर विषैला बारूद धधक रहा है।

आग की लपटों के बीच, स्थित-प्रज्ञ की-सी मुद्रा में, पहाड की तरह एक आस्थापिजर खडा है—कन्धे पर बन्दूक उठाए—जिसकी खाल और हड्डियों के बीच मात्र सूखी नमो का जाल बिछा है।

पिछले बीस साल में वह इसी तरह अचल खडा है।

कहते हैं—उसकी बूढ़ी माँ है। अपने इकलौते जवान बेटे का मुँह देखने के लिए, जिसके प्राण वर्षों में अधगे पर अटके हैं।

कहने हैं—उमके छोटे छोटे बच्चे हैं, जो अब अपने बाप की शक्ल तक भूल गए हैं।

कहते हैं—उसकी पत्नी जवान है, जिसके सारे बाल अब सन की तरह सफेद हो गए हैं।

अपने फटे चीथडे के बीच रूखी रोटी के साथ उसने एक फटी पोटली छिपा रखी है। वह बतलाता है—इममें मिन्दूर बँधा है—उन विधवाओ का, जिनके जवान पात यहाँ आए दिन बकरे जेमी मांते मरते रहते हैं। जिनके लिए इकट्ठे किए गए गरम कगडे, कलकता के बाजारों में सरेंआम चोर बाजारी में बिकते हैं। जिनकी बन्दूको के लिए चन्दे में एकत्र किया गया धन, किसी 'देशभक्त' का नई इमारत की नींव भरने के काम आता है। जिनके लिए केवल नक्शों पर मडके बनती हैं, नक्शों पर विशाल पुलों का निर्माण होता है।

कछ नपुमक झडे लाने खडे हैं। मेनाएँ बहादुरी में पीछे हट रही हैं—खून का दरिया सूखी धरती सीध रहा है—और लाशों के पहाड पर पहाड खडे हो गए हैं।

उह कहता है—उसे नींद नहीं आती—इन बर्फीली वादियों से हर रोज मृतों के रोने की आवाज आती है।

बिना पृष्ठ आगे गाग वाले कुछ पशु एक ऊँचे मच पर बैठे हैं। कहते हैं—इमानियत का भार अब हमारे कंधों पर है।

एक अधा ज्योतपी चौराहे पर चादर बिछाए बैठा है और रो रहा है। कहता है—अब मपाट हर्थालयों वाले लोग पैदा हो गे हैं—बिना माथे के मनुष्य।

ईंडिया गेट से मसद-भवन तक के सारे हरे भरे मैदान रग-बिरगी भेड़ों से भरे पड़े हैं भेड़े घास कम और गीली मिट्टी अधिक आसानी से खा रही हैं ।

लोग कहते हैं—यह घास प्लास्टिक की है । भेड़ों को बहलाने के लिए विदेश से मंगाई गई है और मैदानों में बिखेर दी गई है ।

भेड़ों के हर झुण्ड के पीछे लाठी उठाए एक भैंडिया खड़ा है । कानून की भाषा में जो 'गडरिया' भी कहलाता है । गडरिया मरी हुई भेड़ों का ही नहीं, जन्दा भेड़ों का मांस भी काट-काटकर बेचते हैं ।

मैं हिमाब लगाता हूँ—इस देश में अब कुल कितनी भेड़ होंगी और उन्हें पालने के लिए कुल कितने भैंडिए ।

कहते हैं सन् 1947 में भेड़ा के बाड का विभाजन हुआ था, जिनमें इन्हीं भूखे भैंडियों ने आठ लाख भेड़े दिन-दहाड़े कत्ल करवा दी थी ।

दो कसाइयों ने अपनी माँ की जीवित लाश दो टुकड़ों में विभाजित की और थोड़े से पैसों के बदले बूचडखाने में रखकर—काट काटकर बेच डाली ।

चाँडियाघर के सारे जीव-जन्तुओं को हटाकर उनके स्थान पर प्रत्येक पिजंड में कुछ आर्दानियों को रख छोड़ा गया है ।

उस नमून के आर्दानियों को—जो इस देश में दिन-पर-दिन दुर्लभ होते चले जा रहे हैं । जिनके भीतर इस यात्रिक-युग में भी मनुष्यत्व के अकुर है ।

चाँडियाघर में सटा हुआ बन्दियों के लिए बना नया बाड़ा है—एक बहुत ऊँची लोहे की इमारत, जिसमें हजारों लोग तरह-तरह की यातनाएँ सह रहे हैं ।

“तुम्हारा क्या अपराध है ?” उनमें पूछता हूँ तो सब गँगे पशु की तरह मेरा मुँह ताकने लगते हैं ।

जेलर के पास एक रजिस्टर है, जिसमें हर कैदी के इतिहास के विषय में कुछ लिखा है ।

कैदी संख्या चार के सामने लिखा है—इस अपराधी को घूस न लेने तथा राष्ट्र के प्रति गद्दारी न करने के अपराध में, सात साल के कठोर कारावास का दण्ड मिला है ।

कैदी संख्या सत्रह—सत्य बोलने का उपदेश देकर इमने देश की होनहार नई युवा पीढ़ी को गुमराह करने की कुचेष्टा की है ।

कैदी संख्या इक्कीस—जातीयता एवं प्रातीयता पर आस्था रखने से इस कैदी ने मरगमर अस्वीकार कर दिया था । अपना अमूल्य जीवन इमने देश-सेवा में लगाकर व्यर्थ किया । देशभक्ति एक मानसिक विकार है—भयकर मक्रामक रोग । सरकार के पास इस बात के प्रमाण सुरक्षित है कि इमने जीवन-भर देश-प्रेम के इन्हीं दूषित विचारों का प्रचार किया था ।

कैदी संख्या तीस—इसने सब बोलकर, अपने समाज की प्रतिष्ठा को

जान-वृद्धकर आघात पहुँचाने का प्रयत्न किया ... । बन्दी संख्या इक्कीस की भौंति यह भी हर समय राष्ट्र के ऐक्य की बड़ी-बड़ी बातें किया करता था और देश की प्रगति के लिए व्यर्थ में चिन्तित रहता था । देश का विभाजन अस्वीकार कर इसने कानून का अपमान किया था—जब-जब देश में संकट आया—इसने अपनी सम्पत्ति ही देश के लिए नहीं लुटाई, बल्कि अपना रक्त तक देने की भूल की थी ।

इस मानसिक रोगी ने कई विचित्र धारणाएँ पाल रखी थी । कहता था—गरीबों को जीने का हक मिलना चाहिए । जबकि गरीबों को जिन्दा रहने का हक क्यों मिलना चाहिए, इसके पास इस तर्क का कोई भी ठोस उत्तर न था ।

भावुक होना एक कमजोरी है । यह व्यक्ति बेहद भावुक था । समय के साथ न चल सकने के अपराध की इसे जिननी सजा दी जाए, कम है ... ।

कैदी मरख्या चालीस, पैमठ और एक सौ दो को आज प्रातः मृत्युदण्ड दिया गया । उन्होंने गांधी, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और परमहंस को राष्ट्र का शत्रु घोषित करने में इन्कार किया था—और इस देश का अब और अधिक विभाजन न हो, इसके लिए आमरण उपवास भी ।

मत्तलज की रंग अन्न तक पगम है । उस काल-कोठरी के पास में हर रात रोने की आवाज आती है—जहाँ भगवतिमह, राजगुरु और मुखंदेव को फॉमी पर चढ़ाया गया था । जलियाँवाला बाग में आज भी गोलियाँ चलती दिखलाई देती हैं ।

बन्देमातरम की आवाज में गुंजता अण्डमान अब निर्वासितों में भर गया है—कहीं तिल रखने को भी जगह नहीं ।

इम्फाल की मरहद पर, लोग रहत है, उन्होंने अभी कुछ दिन पहले, ननार्जा को जगलो में भटकते देखा है । पुकार पुकारकर यह कहते सुना है— तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा ।

पेरिस के बाजारों में भिक्षा-पात्र लिए, फटे चौर और नगे पाँव भाँख मॉगने वृद्ध बुद्ध का गरीब चित्र कल एक विदेशी समाचार एजेंसी ने छपा है । डेनमार्क के बच्चे हिन्दुस्तान के गरीब बच्चों के दूध के लिए अपने जेबखर्च का पैसा इकट्ठा कर भन्न रहे हैं ।

त्रिविकानन्द का भाग्य धरती में भी नीचे झुक गया है—वे पागलों की तरह चीख चीखकर कह रहे हैं— भुख मनुष्य को दर्शन की दीक्षा देना पाप है ।”

शायद मेरी आँखें धुंधला गई हैं— चागे और अंधेरा छा रहा है ।

कल शाम कर्नाट प्लेस की भीड़ में खड़ा एक विदेशी मुँह बिचकाकर कह रहा था— “बुद्ध और गाँधी को बेचकर भी तुम अब अधिक नहीं जी सकते । विदेशी सहायता पर चलने वाला राष्ट्र मुर्दा राष्ट्र कहलाता है । जिस देश ने अपने चरित्र को बेच डाला, वह स्वाधीन नहीं रह सकता । उसे जीवित रहने का कोई हक भी नहीं ।”



लगता है मेरे हाथ बंधे हैं, मुँह बंधा है—और नगी पीठ पर कोई कोडे लगा रहा है ।

रात को भोजन करने बैठता हूँ तो लगता है—अपना मॉस खुद परोसकर खा रहा हूँ। पानी के बदले अपने दुधमुँहे बच्चों का रक्त निचोडकर पी रहा हूँ—और इतने कपडे पहनने के बावजूद निपट नगा हूँ ।

बैठा-बैठा मैं कुछ टटोल रहा हूँ। बच्चों के पाठयक्रम की एक नई पुस्तक हाथ आती है, जिसके पहले अध्याय में लिखा है—

‘30 जनवरी, 1948 को गांधी ने गोडमे की हत्या की थी इंग्लैण्ड पर भारत ने दो सौ साल तक राज्य किया था ब्रडी जगली ओर क्रूर कौमे है अफ्रीकियों की। वे भोले-भाले यूरोपियनों को गुलाम बनाकर, जहाजों में भर भरकर अफ्रीका लाते थे और वहाँ उनके साथ पशुवत् व्यवहार करते थे काली कौमो ने गरीब गोरी कौमो पर जो अमानवीय अत्याचार किए हैं—इतिहास उनके लिए कभी भी उन्हें क्षमा नहीं करेगा।’

मुझे लगता है—यह सब सच लिखा है। इसे मैंने स्वयं अपनी आँखा के आगे होता हुआ देखा है।

मुझे अब तक भलीभाँति याद है—पहले ओर दूसरे, दोनों महायुद्धों में जीत हिटलर की ही हुई थी। जापान ने दुनिया में सबसे पहले परमाणु बम बनाया था, जिसका प्रयोग लन्दन और वाशिंगटन में किया था। और इतिहास में दृमरी बार 15 अगस्त, 1947 को भारत गुलाम बना था। जाते-जाते धूर्त गोरो ने अपनी बिरादरी के कुछ कालों के हाथ में इस देश की सत्ता सदा के लिए सौंप दी थी।

□

## पाषाण-गाथा

नदी पार करने के पश्चात् हल्की-सी चढ़ाई थी और उसके बाद यह दूसरी दुनिया । घने वनों के बीच बिछी हरी चादरें—ओर-छोर का कहीं पता ही न चल पाता ।

अभी गर्मी आरम्भ नहीं हुई थी, फिर भी गेहूँ के बित्ते-भर ऊँचे पौधे हवा में लहलहा रहे थे । किसी ने बतलाया—ये नई किस्म के पौधे हैं, इससे ऊँचे नहीं जीते । जितना लम्बा डंठल है, उतनी ही लम्बी बाल भी लगती है ।

उस पार आसमान की ओर उभरी एक नीली धुँधली रेखा साफ दिखलाई दे रही थी—पर्वतों की माला ।

सामने कतार में झोपड़ीनुमा कच्चे घर थे—घास-फूस के । अब याद नहीं, उनकी छतें टीन की चादरों से ढँकी थीं या घास-पयाल से । इतने लंबे वक्फे में तो बहुत-सी बाते यो ही धुँधला जाती हैं ।

हाँ, जब हम वहाँ पहुँचे तो अजीब-सा लग रहा था । एक ऊँचा-सा काला शेड दाहिनी तरफ खड़ा था—वर्कशाप जैसा । काले कपड़े पहने कुछ मजदूर काम पर जुटे थे । कहीं भट्टी में गरम लोहा तप रहा था । घन काँ भरपूर चोट से तपते लोहे को निश्चित आकार दिया जा रहा था । कुछ मजदूर लोहे के भारी शहतीर को उठाने का असफल प्रयास कर रहे थे । वहाँ शोरगुल कुछ अधिक था । धुएँ के साथ-साथ धूल थी । उड़ती हुई रेत इतनी अधिक कि देर तक ठहर पाना कठिन लग रहा था ।

तभी सामने अधेड़ उम्र का एक आदमी आया । उसकी घनी मूँछें डरावनी लग रही थीं । भौंह के काले बाल गुच्छे की तरह गुँथे हुए ।

“फारम का काम आने वाला अउजार हम अपनेई ठीककै लेइत हैं ।” उसने कहा ।

“कब से हैं यहाँ ?” मैंने पूछा ।

“तिन साल येहि चैत मा पूरा होई जाई ।”

“रहने वाले कहाँ के हैं ?”

“सुलतानपुर कै ।”

बगल में खडे अधिकारी ने मेरे कान के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाते हुए कुछ कहा—इतने धीमे स्वर मे कि सामने खडा व्यक्ति न सुन सके। फिर भी पता नही, किस तरह वह भाँप गया। बोला, “हमहु भी सजा आफता अहि—मुजरिम ।”

“किस अपराध मे ?”

“दफा तीन सौ दोई—उमर कइद ।”

मुझे आघात सा लगा।

“जुर्म ?”

“क तल ।” उसने सहजभाव से कहा।

पर मेरा मुँह तनिक खुल-सा आया।

“यहाँ सभी कैदी लगभग ऐसे ही हैं।” अधिकारी ने बतलाया, “अधिकतर दफा तीन सौ दो के हैं—आजन्म कारावास वाले।”

आस-पास खडे अन्य व्यक्तियों को भी उन्होने इशारे से पास बुलाया।

हत्या। मार पीट। डकैती।

सुबह तडके जब यहाँ के लिए रवाना हुए, तब कुछ कुछ सर्दी थी। किन्तु इस समय दोपहर की धूप कही चुभ मी रही थी।

समीप ही पेड के नीचे धूल से ढँकी, काठ की टूटी हुई दो तीन पुरानी कुर्सियाँ पडी थी। रूमाल से उन्हे साफ कर किसी तरह बैठ गए।

साथ आए सज्जन चाय की व्यवस्था करने चले गए।

कुछ देर पश्चात् पुलिस अधिकारी के पीछे पीछे एक नाटा सा व्यक्ति केतली और लोहे के गिलास थामे, लम्बे लम्बे डग भरता चला आ रहा था। उसकी सामने वाली जेब कुछ उभरी हुई थी—बिस्कुट के छोटे पैकेट का ऊपरी हिस्सा साफ दिखलाई दे रहा था।

चाय लाने वाला भी कोई कैदी था, बनाने वाला भी।

पता नही चाय क्यों इतनी बेस्वाद लगी एक अजीब सी गंध आ रही थी। पानी ही ऐसा होगा, मैंने मान लिया था।

इस खुली जेल के बारे में कुछ विशेष जानकारी हासिल करने के लिए मैं यहाँ आया था। इन विकट अपराधियों को, इस तरह मुक्तभाव से विचरण करने देख, मुझे अजीब सा लग रहा था—एक त्रिचित्र सी दहशत। ये भागते नही होंगे ? आपस मे ही कभी फिर कत्ल।

“अभी आपको कैदियों के फार्म की ओर भी जाना है। गहूँ की यह फमल इन्ही कैदियों ने उगाई है। यहाँ पहले बियाबान जगल था। इन्ही लोगो ने उमे साफ किया था।” खाकी कपडे पहने एक व्यक्ति पास आकर बोला।

कुछ क्षण विश्राम करने के पश्चात् हम फिर आगे बढे—खेतों की तरफ।

यहाँ परती धरती तोडी जा रही थी। दो-तीन ट्रैक्टर धूँ-धूँ करते हुए, ढेर सारी धूल एक साथ उडा रहे थे। ट्रैक्टरों के पीछे-पीछे कुछ लोग नंगे पाँव दौड-से रहे

थे—जो भी पत्थर सामने दीखता, उठाकर एक ओर जमा करते चले जाते।

जहाँ ट्रैक्टर चल चुके थे, वहाँ टोलियों में बिखरे लोग घास-फूस इकट्टी करके जला रहे थे। जगह-जगह घास की ढेरियों के पास धुआँ उठ रहा था। बुआई के लिए खेत यथाशीघ्र समतल हो जाएँ, सब इसी प्रयत्न में जुटे दीख रहे थे।

सिर पर मोटे खदर की मैली-सी टोपी, उसी कपड़े की आधी बाँह की बंडी, घुटने तक का वैसा ही पाजामानुमा कच्छा पहने कितने ही लोग यंत्रवत् काम में जुटे थे। अलग-अलग दिशाओं में अनेक टोलियाँ फैली थीं।

घंटों तक पैदल इधर-उधर चलने के पश्चात् अन्त में हम उस सिरे पर पहुँचे, जहाँ कैदी मजदूरों ने अपने ही प्रयत्नों से एक नाले का बहाव रोककर, छोटी-सी कृत्रिम झील बना ली थी। बीच पानी में कई पेड़ आधे-आधे डूबे थे। किनारे की लाल कच्ची मिट्टी अभी तक भी गीली थी, जैसे अभी-अभी झील का निर्माण-कार्य समाप्त हुआ हो।

कुछ और आगे बढ़कर अँधेरे जंगल के सिरे पर पहुँचे तो वहाँ गीली जमीन पर शेर के पंजों के जैसे निशान दिखलाई दिए।

“यहीं पर कुछ दिन पहले शेर ने एक कैदी को मार डाला था……।” पुलिस अधिकारी ने और आगे न बढ़ने के लिए चेतावनी-सी देते हुए कहा।

जब हम पीछे मुड़ने लगे तो सूरज फिसलता हुआ क्षितिज के समीप पहुँच चुका था।

फार्म की सीमा-रेखा के निकट, एक ऊँचे वृक्ष की शाखाओं पर, हवा में झूलती एक झोपडी-सी अटकती थी—इतनी छोटी कि एक व्यक्ति पाँव फैलाकर मो भी न पाए।

“यह किसालए…… ?”

“रात में पहरेदारी के लिए यह मचान बना रखा है कि कहीं कोई कैदी निकल न भागे।”

“पहरेदारी कौन करता है ?”

“इन्हीं कैदियों में से……।”

तभी सामने से गुजरते कैदी को आवाज लगाई तो वह सहमता हुआ खडा हो गया।

“आजकल यही पहरेदारी कर रहा है।”

“मारी रात इम जंगल में अकेले बैठे डर नहीं लगता ?”

वह बोला कुछ नहीं—बस, यो ही देखता रहा।

“कभी घर जाने को मन करता है ?”

उसने मात्र सिर हिला दिया।

“अब कितने बरस बाकी हैं ?”

“……”

“यहाँ की जिन्दगी बहुत कष्टकर है न।”

इस बार भी वह काठ-सा देखता रहा ।

उसकी उदास आकृति पर राख-सी पुती थी । सूनी आँखे यत्रवत खुली । घाम सी उगी दाढ़ी के बाल बेढगे लग रहे थे ।

“कोई कैदी इम खुली जेल से कभी भागना तो नहीं ?” मै प्वालस अधिकारी से पूछता हूँ—चलते-चलते ।

“एमे वाकये कम ही होते है ।”

सूरज ढलने के साथ-साथ सभी कैदी मजदूर डेरे की दिशा में लौट रहे थे—हारे थके-से । पाय सबके मिगे पर जलाने के लिए एकत्र की गई लम्बी-मूखी लर्काडियो का छोटा सा गड्ढर था । सब बेजान से लग रहे थे—मशीन को तरह ।

पू्नी क्षेत्र मे एक छोटा-सा हिस्सा अभी देखना बाकी था । जल्दी-जल्दी उसे देखकर लौटे तो आममान पर ढकना-सा लग गया था, काले कबल का, एकदम घुप्प अधियारा ।

अप्रेजी के ‘एल’ के आकार मे बनी झोर्पाडयो के आगे खुला-सा बंजर मैदान था—छोटा सा, जिस्मे बीसियो चल्हे अलग अलग जल रहे थे । अल्युमीनियम की पिचकी हुई काली पतीलियो पर चात्रल जेसा कुछ बुदबुद करता हुआ उबल रहा था । टिन भर के श्रम से थके सभी कैदी रात का भोजन बनाने मे जुटे थे ।

“राशन सरकार देती है ?”

“जी हॉ ।”

“पेट भर जाता है ?”

“हॉ ।”

एक जवान कैदी की ओर मुडना ह, “घर म मिलने कभा कोई आता है ?”

‘दूर के रिश्ते वी एक बुआ थी । माल छह महीने मे कभी खाने-पीने का कुछ सामान बेचारी डाल जाता थी । पर इस वर्ष माघ महीने मे वह मर गई’ ।” उसका मामूम चेहरा एकाएक उदास हो आया था ।

“घर मे ओर कोई नहीं ?”

“नॉ ।”

उसके चेहरे पर अजीब सी व्यथा अजीब सी विवशता थी । उसे देखकर लगता नहीं था कि इससे इतना बड़ा अपराध हुआ होगा जिमकी ऐसी काठन मजा भुगत रहा है ।

कैदियो की झोर्पाडयो भीतर स बरकनुमा थी— ग्नुली हुई । नीचे मिट्टी के कच्चे फर्श पर मूखा पयाल बिछा था, उसके ऊपर कोई फटा कबल या चटाई मात्र । किसी किसी कैदी के पास छोटा सा बदरग बक्का भी था । कहीं पर जंग लगे टूटे कनस्तर में पिचका हुआ पुराना ताला भी लटक रहा था—शायद घर से भेजी वस्तुएँ सुरक्षित रखने के लिए ।

मै सोचता रहा—वस्तुएँ भी क्या होगी, इन अनिकेत विस्थापितों के पास । तन के कपडे, फटे कबल, चावल, आटा, बीड़ी, गुड । इनके अलावा और क्या ?

ऑगन की दाहिनी तरफ, एक कोने में मूर्ति का-सा जैसा एक ढाँचा खड़ा था।

“यह मूर्ति किसी कैदी ने बनाई है क्या ?” जिज्ञासा से मैंने पूछा।

“जी हाँ।”

उसी के निकट चूल्हा जल रहा था। एक बूढ़ा कैदी गर्दन झुकाए, ऊँघता हुआ बैठा चावल उबाल रहा था। मैवार की तरह उलझे बाल। कोटरो में धँसी निस्तेज आँखें। झुर्रियों में ढँका चेहरा।

“इसी ने बनाई है पहले बरेली सेंट्रल जेल में था। सुना है, वहाँ भी ऐसा ही कुछ करता रहता था।” पुलिस अधिकारी ने बतलाया।

हमें पाम देखते ही उसने उठ खड़े होने की कोशिश की। उसकी कमर धनुष की तरह झुकी थी—अधखुली आँखों में जिज्ञासा का सा जैसा भाव।

“बहुत अच्छी बनाई है।” मूर्ति को मैंने हाथ से छूकर देखा परखा।

वह सकोच से और छोटा हो आया—मिक्कुडकर। मेरी ओर देखता हुआ बोला, ‘यो ही कुछ अब आँख में बहुत कम देख पाता हूँ। हाथों में भी जान नहीं रही।’

यहाँ कैसे आ गए ?’

कुछ देर वह वसा ही देखता रहा—निर्णमप। फिर धीरे से बुदबुदाता हुआ बोला, हत्या और बलात्कार का ज़रम लगा है माव ।

अब आग के आगे निकट होने के कारण उमका सूखे खजूर में चेहरा और भी पीला लग रहा था। मकड़ी के जाले जमी अर्नागनन रखाओ से ढँकी आकृति पर एक साथ कितने ही भाव आ जा रहे थे—पाना पर डालत प्रतिबिम्ब की तरह।

कैसे हा गया यह सब ?

किम्मत में यही लिखा था खजूर। उमकी लिखी का कान टाल सकता है ?

ठंडी हवा से उसके तन पर लटके चाथड़े ही नहीं उमका सारा बूढ़ा शरीर सूखे पत्तों की तरह काँप रहा था। अपनी कुर्तानया की बगल में दोनों नगे हाथों को मर्दों से बचाने के लिए छिपाने का असफल प्रयास कर रहा था।

कदियों के साथ इतना लंबी उम्र गुजारने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कोई भा आदमा बाँसकली’ बुरा नहीं होता। आवेश के एकमी क्षण में कभी कभी कुछ का कुछ हा जाता है। पुलिस अधिकारी ने दार्शनिक अंदाज में कहा।

हम लोग थोड़ी देर यों ही खड़े रहें। एक एक पल भारी लग रहा था—एकदम बोझिल। चूल्हे की धुँधला आग के उजाले में मूर्ति का ढाँचा अब ओर भी साफ दिख रहा था।

भारी मन में हम लोटने लगे। अभी कुछ ही कदम अँधेरे में रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़े तो पीछे में किसी के आने का आहट हुई।

मुडकर देखा—वह फिर सामने खड़ा था—तनिक हॉफता हुआ।

“आपका मफलर रह गया था। जमीन पर गिरा था।” उसने मफलर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा।

जब मैं मूर्ति को टटोल रहा था, तब कधे पर से शायद नीचे गिर पड़ा हो !

“आप ही रख लीजिए ।” मैंने पता नहीं क्या मोचकर कहा ।

“नहीं-नहीं ।” वह और कसरा आया ।

“अरे भाई, हम कह रहे हैं । रख भी लीजिए । क्या फर्क पड़ता है ।”

मैंने मफलर उसके हाथ में दिया, तो वह ठगा-सा खड़ा देखता रहा ।

“आप और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ बनाएँ, हमारी शुभकामनाएँ हैं…… ।” मफलर अभी तक भी उसके हाथ में यों ही धरा था ।

कुछ सोचता हुआ बोला, “मैंने कुछ और भी मूर्तियाँ बनाई हैं—मिट्टी की । दिन की रोशनी में आप आते तो दिखलाता । आपके चेहरे के भावों से लगता है, आप कला के अच्छे पारखी हैं…… ।” कहते-कहते वह सहसा चुप हो आया । फिर तनिक रुककर बोला—“आपको भी यही लगता है कि मैंने हत्या की है ?”

“……”

उस अंधकार में मैं महसूस कर रहा था, वह अपलक मेरी ही ओर देख रहा है ।

“किसी से कहिएगा तो नहीं……,” वह मुझे पुलिस-अधिकारी से कुछ दूर एकान्त में ले जाता हुआ बोला, “यह भूल……यह भूल मुझसे नहीं, मेरे बेटे से हुई थी । भरी जवानी में उसे फाँसी के तख्ते पर झूलते या उमरकैद की सजा काटते मैं कैसे देख सकता था ? इसलिए जुर्म मैंने खुद ओढ़ लिया ।……यों मुझे अब जीना ही कितना है—हद-से-हद माल-छह महीने बस…… ।” उसका स्वर भारी हो आया ।

“बच्चे कभी मिलने आते हैं ?” मैंने असह्य मौन तोड़ते हुए कहा ।

वह कुछ भी बोल न पाया—प्रत्युत्तर में ।

“चिट्ठी पत्री आती है…… ?”

“ना…… ।” कहीं खोया-खोया-सा वह बोला, “कौन लिखेगा मुझे चिट्ठी……सब मुझसे घृणा करते हैं । यही समझते हैं कि यह सब बुढ़ापे में मैंने ही किया । सगे-संबंधी कतराते हैं । पत्नी मेरा मुँह तक नहीं देखना चाहती…… जिस बेटे के लिए मैंने यह सब किया, वह मुझे कब का मरा मान चुका है…… । ये सार कैदी, जिनकी चादरें मुझसे भी अधिक मैली हैं, मुझ पर थूकते हैं…… । किन्तु मुझे इस सबसे दुःख नहीं होता । मेरे बच्चे सुख में रह रहे हैं—इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए ?”

उसकी आवाज भीग आई थी । किन्तु वह अपनी रौं में बोलता रहा, “यहाँ मजदूरी से मुझे साढ़े चार रुपए रोज मिलते हैं । अब तक मेरे खाते में जितने भी रुपए जमा हैं, सब मैंने उनके नाम करवा दिए हैं । मेरे मरने के बाद उन्हें अच्छी रकम मिल जाएगी……बहुत अच्छी…… ।” उसकी लड़खड़ाती आवाज में कहीं अपरिमित संतोष का-सा भाव उभर रहा था । इससे अधिक वह कुछ बोल न पाया ।

उस सघन अंधकार में धूल उड़ाती हुई हमारी जीप जब लौटने लगी, तब मैंने सहसा मुड़कर देखा—वह वैसा ही पाषाणवत् खड़ा था ।



## आदमियों के जंगल में

“आखिर कुछ तो करना ही होगा।” कधे के नीचे सरकते पश्मीने को बाँहों पर टिकाते हुए उन्होंने कहा, “इतने दिन यहाँ हो गए, पल-भर के लिए तिनका तोड़ने की बात तुमने कभी सोची? पढ़े-लिखे हो, जवान हो। बताओ, दुनिया में तुम क्या नहीं कर सकते। दिन-रात जब देखो, किताबें। किताबें।। किताबें।।। आखिर क्या होगा इन सूखी किताबों में डूबने से? किताबों के कपड़े पहनकर अपनी इज्जत तो नहीं ढक़ सकते। किताबों के पन्ने थाली पर परोसकर पेट तो नहीं भर नहीं सकते। जिन्दगी कोरी किताबों से नहीं, पैसे से चलती है, बेटे। नकदनारायण पल्ले न हों तो उम्र-भर सडक नापते फिरोगे। इसीलिए कहता हूँ हाथ पाँव हिलाओ, कुछ करो। सुना है, तुम्हारा बूढ़ा बाप, बेचारा अब चल फिर नहीं पाता। किसी दिन दम तोड़ गया तो दर-दर भीख माँगते फिरोगे।”

आवेश में अर्वािन काका न जाने क्या-क्या कहते चले गए। जितनेन स्तब्ध-सा देखता रहा—काठ-सा। पहले जैसा होता तो शायद एक भी शब्द सहन नहीं कर पाता, परन्तु अब जड-सा हो गया है, हर तरह से।

अजीब-से वीतरागी भाव से देखते हुए, वह चुपचाप आगे बढ़ा। भिडे क्वाड धकेलकर अन्दर घुसा। मेज के सहारे खड़ा, खिडकी की राह बाहर झाकता रहा। अपलक देखता रहा—शून्य-भाव से।

उसे भी कुछ करना चाहिए, उसका भी कुछ कर्तव्य है—यह तो सचमुच वह भूल ही चुका था। दूसरों की दया पर पलते-पलते इतने दिन हो गए थे। पिताजी ने हर तरह से हारकर, लाचार होकर, पुरानी मित्रता का लाभ उठाकर उसे यहाँ भेजा था, ताकि दो रोटी का जुगाड हो सके—बुढ़ापे का कुछ सहारा। सबसे बड़े बेटे के ही लक्षण ऐसे हो तो दूसरों का क्या होगा—यही चिन्ता घुन की तरह उन्हें खाए जा रही थी। उनके जीते-जी, इतना पढ़ाने-लिखाने के बाद भी अगर कुछ न कर सका तो आगे क्या होगा? वह भी क्या करे। वर्षों की बेकारी ने उसे हर तरह से बेकार बना दिया था।



उसे अपने मे कुछ भी करने-धरने की सामर्थ्य न लगती। उस पर आए दिन की चिन्ताओ ने उसे बुरी तरह कुण्ठित कर दिया था। फिर वह किताबो मे न डूबे तो क्या करे।

“बाबूजी ने आपसे क्या कहा ?” अचकचाते हुए उसने मुडकर देखा—शकुन्त सामने खडी थी।

जितेन ने सुनकर भी जैसे सुना नही।

“उनकी बात का बुरा न मानिए। पैसे का ही सम्बन्ध सबसे बडा सम्बन्ध रह गया है न दुनिया मे। बाबूजी हर प्रश्न को इसी दृष्टि से देखते है।” शकुन्त सामने की ओर देखती रही।

कुछ क्षण बाद मुडकर बोली, “जितेन भैया, एक बात कहूँ ?”

“कहो।”

“बुरा तो नही मानेगे ?”

“ना।”

“कुछ काम धाम खोज क्यों नही लेते। बाबूजी कुछ कहे, या आई (माँ) कुछ कहे या बाहर के लोग, सच मुझे अच्छा नही लगता। क्या आपको लगता है, जितेन भैया ?” जितेन ऋ कधो को झकझोरते हुए, शकुन्त ने न जाने क्या सोचते हुए कहा। शायद वह कुछ और भी कहने जा रही थी कि बाहर से आवाज सुनाई पडी। वह सरपट भागकर ओझल हो गई।

पर, अभी तक भी वैसा ही खडा था जितेन, न जाने क्या क्या सोचता हुआ। उमे ख्याल आया—सच ही तो कहने है अर्वािन काका। पिताजी बूढे है। उम्र भर मुर्नामर्गारी करत करते, दूसरो के तलुवे महलाते सहलात वृथीलियाँ घिस गई है। भली भौंति अब चल फिर भी नही पात। पढ लिख भी नही सकते। थोडा-सा काम करने पर आँखो मे पानी झरने लगता है।

इतने दिन बीत गए, उसने भूलकर भी यह रात क्यों नही सोची ? अम्मा घर मे महर्गी धोबिन का सारा काम मरती जीती स्वय करती रहती है। दमे का पुराना रोग है। दिन रात खौ खौ कर खौसती रहती है। अम्मा के रुखे मफेद बालो पर टिका, जीर्ण धोनी का फटा पल्ला उमे माफ नजर आया। सचमुच उमका टिल भर आया।

दूमेरे दिन अर्वािन बाबू के कमरे मे टाँगखल होता हुआ जितेन बुदबुदाया, “बतलाइए काका, मै क्या काम करूँ ?”

अपने चश्मे की ओट मे छिपी आँखो मे अर्वािन बाबू उसकी ओर ताकते रहे—एडाँ से चोटी तक। एक पढा लिखा नवयुवक। ऐमा प्रश्न ?

‘कही एप्लाई करो। अखबारो मे विज्ञापन देखो। लोगो मे मिलो पर हौं, तुम्हारी ‘एज’ क्या है ?’

“एज।” माथे पर पडी मिलवटे सहलान्म हुआ जितेन बोला, “यही तो मुसीबत

है। ओवरएज हो गया हूँ, काका! सरकारी काम का तो रहा नहीं।”

“बरखुरदार, किसी भी काम के नहीं रहे तुम!” अवनि काका कहना चाहते थे, लेकिन चुप रहे। फिर पश्मीने को बाँहों पर से सँभालते हुए बोले, “तो प्राइवेट कोशिश करो। कुछ पते मैं दे दूँगा।”

जितेन चुप रहा।

वह भी चुप रहे।

जितेन जब जाने लगा तो उन्हें सहसा कुछ याद आया, “अच्छा देखो, जब तक काम ढूँढो, एक घंटा बच्चों को ही दे दिया करो। शन्तु के इस्तहान करीब हैं।”

“अच्छा!” जितेन चुपचाप चला गया।

शाम को बस्ता बगल में दबाए शकुन्त कमरे में दाखिल हुई, “आप पढ़ाएँगे? बाबूजी ने कहा है।”

“हाँ, पढ़ाना तो है, लेकिन मुझसे पढ़ाया भी जाएगा? अब मैं सब कुछ भूल गया हूँ। कुछ भी तो याद नहीं।” बाल-सुलभ, भोले-भाव से वह बोला।

“क्यों नहीं पढ़ाया जाएगा? लेकिन, जितेन भैया, अब मैं पढ़ना नहीं चाहती।”

“क्यों?”

“क्यों क्या? बस यों ही।”

“तो क्या चाहती हो?” जितेन ने उसकी ओर देखते हुए पूछा।

“बताऊँ...?”

“हाँ, बताओ।”

“बस, मर जाना चाहती हूँ, जितेन भैया।” शकुन्त जैसे रोती-रोती अकारण खिलखिलाकर हँस पड़ी।

जितेन ने किताब हाथ में ले ली और सरसरी निगाह से देखने लगा कि उसे पढ़ाना क्या है। कुछ पन्ने पलटने के पश्चात् जैसे ही वह कहना चाहता था कि अब पढ़ो, शकुन्त चहक उठी—

“जितेन भैया! जितेन...!”

“क्या है?” विस्मय से उसने देखा।

“देखो न, आपकी कमीज की सारी आस्तीन साफ हो गई। अब कल से क्या पहनेंगे?” उसने पाम पड़ी कमीज खींचकर थोड़ी-सी और फाड़ दी।

जितेन देखता रहा—शकुन्त चारण्गई की पाटी पर बिल्ली की तरह सिमटी बैठी है और फटी आस्तीन की ओर देख रही है।

“बैठो, पढ़ो न!” उसने खीझकर कहा।

पर शकुन्त ने जैसे सुना ही नहीं।

“अरे, सुनती नहीं?” और ऊँचे स्वर में जितेन बोला।

शकुन्त इस बार सच ही सामने बैठ गई—नन्हीं बच्ची की तरह।

“पढ़ोगी नहीं?”

“ना !”

“क्यों ?”

“क्या पढ़ूँ ?” उसने मुँह बनाते हुए कहा, “सुबह-शाम, कॉलेज-घर...जब सुनो—पढ़ो, पढ़ो, पढ़ो। सच, मुझे नहीं पढ़ना है, जितेन भैया, माफ करो। आखिर क्या होगा इन सूखी किताबों में डूबने से ? किताबों के कपड़े पहनकर हम अपनी इज्जत तो नहीं ढक सकते। किताबों के पन्ने थाली पर परोसकर पेट तो नहीं भर सकते। किताबों का घर बनाकर, सिर टिकाकर रह तो नहीं सकते। जिन्दगी कोरी किताबों से नहीं...।” शकुन्त बड़ी गंभीर, बनावटी मुद्रा में हँसी रोकती हुई बाबूजी का सारा संवाद शब्द-शब्द दुहरा गई।

जितेन देखता रहा।

फिर वह हाथ जोड़ती हुई बोली, “माफ करो, जितेन भैया, पढ़-लिखकर क्या होगा, देख लिया।”

“क्या देखा ?”

“यह।” मुस्कराती हुई शकुन्त बोली, “आस्तीन साफ हो गई। तलुवे घिस गए।” वह हँस पड़ी। न चाहते हुए भी उमकी शरारत पर जितेन हँसे बिना न रहा।

शकुन्त फिर चारपाई पर बैठ गई। सुई-डोरा लिए कमीज सिलने लगी, जितेन की ओर पीठ फेरकर।

जितेन की समझ में नहीं आ रहा था कि वह इस ढीठ लड़की का क्या करे ? हारकर वह भी चुप-चाप बैठ गया और फिर किताबों में खो गया।

बहुत देर बाद उसने देखा—शकुन्त चली गई है। पर सारा कमरा सुव्यवस्थित है। किताबें करीने से लगी हैं। हैंगर पर लटकी कमीज की आस्तीन ठीक है। बटन ठीक हैं। बिखरे कागज के पन्ने सब एक माथ बंडल में बँधे हैं। अखबारों की गड्डी एक कोने में धरी है। जूते के फीते ठीक ढंग से चढ़ गए हैं।

सुबह कॉलेज जाती हुई वह फिर सामने खड़ी हुई।

“जितेन भैया, अभी तक आप पढ़ने में लगे हैं। सूरज माथे पर चढ़ आया है।”

जितेन ने अपराधी की तरह उसकी ओर देखा, जैसे सच ही भूल हो गई हो।

“आपको एम्प्लायमेंट एक्सचेज जाना था न आज।”

वह भूल ही गया था कि उमे कहीं जाना भी है। अतः वैसे ही बोला, “हाँ।”

“देखा है आपने ?”

“नहीं।”

“तो किसी से पूछा ?”

जितेन क्या उत्तर देता।

शकुन्त ने पर्स में से एक कागज निकाला, जिममें घर की देहरी से एक्सचेंज के गेट तक का नक्शा पेंसिल से खिचा था। उसके ऊपर उसने चुपके से एक रुपए का नोट भी रख दिया।

“यह क्या ?”

‘कुछ नहीं।’

“क्यों ?”

“आई ने जेबखर्च के लिए आज दो रुपए दिए थे न। आठ-बारह आने में अपना गुजारा चल जाता है। अधिक से क्या करूँ ?”

जितेन कुछ कहना चाहता था, पर कह न पाया।

कुछ दिन इसी तरह पद-यात्रा करता रहा। आधियार बादलो के बीच सुनहरी रेख कभी चमकती, कभी ओझल हो जाती। जितेन का जूता जवाब दे गया। चुपसे से शकुन्त ने अपने जेब-खर्च के बचे-बचाए पैसों से एक चप्पल खरीदकर रख दी। कमीज सिलाई की सीमा से बाहर हो गई तो कपडा लाकर, अपनी महेली के घर सिलाकर, आई-बाबूजी की निगाहे बचाकर, जितेन के कमरे मे टाँग दी।

जब भी जितेन काम ढूँढने के लिए जाता, जब भी शकुन्त उसके कमरे मे आती, हमेशा दुहराती, “जितेन भैया, कही काम-काज ढूँढो न, फूर्ती मे। ताई को भी यही बुला लेगे। सब साथ रहेगे।”

एक दिन एक पत्र आया। जितेन अभी तक लौटा न था घर। शकुन्त ने उलट-पलटकर ध्यान से देखा—महिला की राईटिंग लगती है। जितेन के कस्बे के डाकखाने की मोहर है। शकुन्त अपने को खत खोलने से रोक न पाई।

लिखा था टेढे मेढे अक्षरो मे—‘भैया, आप पत्र क्यों नहीं देते ? हम हर रोज डाँकाए की राह देखते है। पिताजी अब काम पग नहीं जा सकते। अम्मा अक्सर बीमार रहती है। कहती है— जितेन को कही कुछ काम मिले तो उसके पाँव उलझे देख’ हम हर रोज प्रतीक्षा करते है—कब भैया को काम मिले, कब भैया घर आएँ, कब भाभी ।’

पत्र पढकर देर तक आँखे मीचे, शकुन्त न जाने क्या-क्या सोचती रही। इतने मे चप्पल की आहट आई बाहर से। देखा—जितेन हमेशा की तरह मुँह लटकाए आ रहा है।

‘देर हो गई आज।’ माथे का पसीना पोछता जितेन स्वयं ही बुदबुदाता हुआ बैठ गया।

शकुन्त ने पत्र आगे बढ़ा दिया।

जब वह पढ चुका तो शकुन्त ने कुछ मोचने एए कहा “जितेन भैया, आप ब्याह क्यों नहीं कर लेते ?”

एक बार जितेन ने भरपूर उमे देखा, णडी से चोटी तक। फिर व्यग्य भाव से मुस्कराया।

“हँसे क्यों ?” कुछ लजाए स्वर मे शकुन्त बोली।

“यो ही।”

“फिर भी।”

“बस, यो ही ।”

“बताओ भी न, बस यो ही क्या ?”

“क्या बताऊँ ?” जितेन पास रखे अखबार से पखा झलने लगा । तनिक सोचता हुआ बोला—“एक आदमी की आँखे सावन-भादो के महीने में निकाली गई न, शकुन्त ।”

“तो ।” शकुन्त ने उसकी आर देखा, जिज्ञासा से ।

“तो क्या, उसके बाद जब कभी कोई उसमें पूछता—क्यो भाई, कैसा दीखता है । जानती हो वह क्या उत्तर देता ?”

शकुन्त अवाक् उमकी ओर देखती रही ।

वह अट्टहास कर हँस पडा, “सो हाल है तुम्हारा ।”

बहुत दिन इसी तरह बीत गए । एक दिन एकान्त में बुलाकर अर्वान काका ने कहा, “बेटा, यहाँ काम काज के आमार दीखने नहीं । अच्छा है तुम घर जाओ । सुना है तुम्हारे पिता की तबीयत खराब है ।”

“अच्छा ।” कहकर जितेन अपने कमरे में चला आया ।

देर तक उदाम बैठा रहा— न जाने किम आल-जाल में उलझा सा । तभी शकुन्त भागता हुई आई, “जितेन भैया जितेन ।”

देखा—जितेन की आँखो में आज गहरा काला रंग है । चहग एकदम फीका—पीला ।

शकुन्त ठिठक पडी ।

“जितेन भैया ।” दबे स्वर में बोली ।

“क्या ?” बिना उमकी ओर देखे जितेन ने कहा ।

“आज उदास क्यो है ?”

“नहीं तो ?”

“आप झूठ बोलते है ।” शकुन्त और पाम आ खडी हुई ।

जितेन चुप रहा । शकुन्त उमकी ओर देखती रही ।

“कुछ काम मिला ?” मौन बेधती बोली वह ।

“मिल गया ।”

“कहाँ ?”

“यही ।”

शकुन्त खिल उठी, “क्या काम ?”

“बस, ऐसा ही ।”

“तो कल में काम पर जाओगे न ।” शकुन्त ने मुस्कराकर कहा ।

“हाँ ।”

“नहीं, जितेन भैया, आप ठगते है । यो ही ठगते हैं ।” जितेन की ओर वह

निर्निमेष ताकती रही।

जितेन कुछ भी बोल न पाया। किसी भी तरह नहीं। शकुन्त ने हजार बार पूछा, लाख बार पूछा, तब भी नहीं। अतः वह रूठकर बाहर चली गई।

उसके बाद जितेन ने फिर किसी से कोई बात न की। हर समय वह एकांत में बैठा रहता। न पढ़ता-लिखता, न घूमता-फिरता, न बोलता-चालता। खाना रख दिया तो खा लिया, नहीं तो वह भी नहीं।

जितेन भैया को क्या हो गया है! शकुन्त की समझ में न आता।

कॉलेज से लौटते हुए एक दिन उसने देखा—बाबूजी, आई, नौकर-नौकरानी सब खड़े हैं। जितेन का सारा सामान बिखरा पड़ा है बाहर। मुँह लटकाए जितेन चुप खड़ा है। कोई कुछ बोलता नहीं। सभी मौन साधे हैं।

अपनी फटी दरी में मैला कंबल लपेटकर जितेन ने अपनी बगल में दबाया। पुरानी तार-तार फटी कमीज, पुराना बिना तलुवे का जूता यों ही पहना। फिर नीची निगाहें किए बाहर की ओर निकल पड़ा।

शकुन्त देखती रही—जितेन के कपड़े बुरी तरह फटे हैं। घुटने छिले हैं। एकाध जगह से लहू टपक रहा है।

“चलो, सुकर करो……!”

“मुसीबत गई। पगला किसी दिन कुछ बिचपात करता जरूर।”

“अरे, कर तो रहा था। हाथ उठाता था। नौकरों ने पीटा, नहीं तो न जाने क्या कर बैठता!”

शकुन्त ने जैसे कुछ सुना नहीं। लपककर वह छत की ओर गई।

देखा—जितेन, आँखें मीचे, भरी दुपहरी में, सड़क पर चला जा रहा है। कुछ बच्चे उसके पीछे-पीछे भाग रहे हैं। उस पर पत्थर फेंक रहे हैं। ढेले उछाल रहे हैं। पर, जितेन को जैसे कुछ भी सुध नहीं।

“जितेन भैया, ऐसे कहाँ जाओगे—कहाँ?” शकुन्त पुकार-पुकारकर पूछना चाहती थी। पर शब्द कण्ठ में ही अटककर रह गए। केवल बेबस, अपलक ताकती रही वह—जब तक एक काली छाया-सी आदमियों के घने जंगल में ओझल न हो गई।

□

## तलाश

वह चुपके-से मेरे पास आता है। कहता है, “आपको पता है .. ?” और रहस्यमय ढंग से अजीब-सा मुँह बनाकर मेरी ओर देखता है।

मैं गर्दन लम्बी कर उसके चेहरे की ओर झुकता हूँ। आशका से उमकी आँखों में कुछ टटोलने लगता हूँ। इस तरह घबराया देखकर सहज ही मुझे आश्चर्य होता है।

“किसी से कहोगे तो नहीं ..।” इतनी धीमी आवाज में कहता है कि मुझे अपने कान उसके मुँह के समीप ले जाने पड़ते हैं।

“नहीं,” की मुद्रा में मैं सिर हिलाता हूँ, “कुछ कहो भी तो ..।” तनिक अधीरता से कहता हूँ।

उसके रक्तिम नेत्र माथे पर चढ़े हैं। रूखे बाल बिखरे हुए हैं। मैले, पीले दाँतों से बदबू-सी आ रही है। वह हॉफ रहा है। वैसे ही हॉफता हुआ फुसफुसाता है, “इस शहर के पानी में मैं जहर मिलाने जा रहा हूँ।”

“क्या कहा .. ?” मैं चौक पड़ता हूँ। अपने कानों पर मुझे विश्वास नहीं होता। उसके खुरदरे, मैले, मजबूत हाथों को जोर से जकड़ लेता हूँ, “यह क्या कह रहे हो ? होश में तो हो न ?” मैं चीख-सा पड़ता हूँ।

“हा.....हा .. हा।” वह अट्टहास कर उठता है, “मैं बिल्कुल होश में हूँ। मुझे कुछ भी नहीं हुआ है। जो मैंने कहा, सच है—मैं उसे करके रहूँगा।” वह अपनी बात पर तूल देते हुए कहता है।

“पानी में जहर मिलाकर तुम्हें क्या मिलेगा ?” मैं पसीना-पसीना हो जाता हूँ।

मेरी स्थिति देखकर वह फिर हँसने लगता है, “आप वास्तव में बहुत भोले हैं। अरे, कुछ तो मिलेगा—मैं यों ही थोड़े कुछ कर रहा हूँ.....इतना कुछ मिलेगा कि फिर जिन्दगी में कुछ और करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।”

लाल-लाल अगारे-जैसी आँखों तथा भिचे हुए पतले होंठों की ओर मैं देखता हूँ। उसके भीतर का हिंसक पशु बाहर झाँकने लगता है।

अब तक भी मुझे यह सच नहीं लगता। केवल कुछ निहित स्वार्थ के लिए, कोई आदमी ऐसा जघन्य अपराध कर सकता है।

पता नहीं, वह कब चला जाता है और मैं देर तक सोचता रहता हूँ—एक आदमी थोड़े-से लाभ के लिए इस हद तक जा सकता है? लाखों लोगो को कीड़ो मकोड़ो की तरह मरने के लिए तैयार कर सकता है? हो सकता है इस षड्यन्त्र के पीछे कुछ विदेशी नन्वो का हाथ हो। हो सकता है, चन्द स्वार्थो के लिए किसी ने इसे बहका दिया हो। हो सकता है, धन के लालच ने इसे अधा बना दिया हो। हो सकता है, सचमुच यह पागल हो गया हो। भले-बुरे का इसे अब तनिक भी भान न रहा हो।

मैं शाम को उम मुहल्ले की ओर निकल पडता हूँ, जहाँ वह रहता था। एक आदमी उसके घर के पाम में निकलकर आता है। बतलाता है कि वह तो लम्बे समय से लापता है। उसकी पत्नी रो रोकर अँधी हो गई है। दो बच्चे भूख से दम तोड़ रहे हैं।

मेरी उद्विग्नता अब कुछ और बढ़ जाती है। यह सब क्या हो रहा है, मेरी समझ में नहीं आता।

भूख ही नहीं, मेरी प्यास भी अब खा गई है। जब भी पानी पीने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ, हाथ कॉप कॉप जाता है—कही सचमुच ही उसने जहर न मिला दिया हो। मुबह अखबारो में लोगो का पढने का मिले कि पूरा का पूरा एक शहर हमेशा के लिए गहरी नींद में सो गया है।

मैं मरने से डरता हूँ—पेगी बात नहीं। हाँ, इतना अवश्य चाहता हूँ कि किसी उद्देश्य के लिए मरूँ। चूहे का मोत भगना भी कोई मरना है।

अपने एक मित्र के पाम जाता हूँ। गार्ग स्थिति विस्तार से समझाता हूँ। वह चुपचाप सुनता रहता है परन्तु प्रत्युत मैं देर तक कुछ बोलता नहीं।

“आज मुबह चाय पीने के बाद मैं मेरा मित्र चकरा रहा है। कम्बख्त ने कही कुछ मिला न दिया हो। वह मरने की सी मुद्रा बनाकर मेरी ओर देखता है—सन्नाटा तोड़ना हुआ।

वह बहमी है। मुझे लगता है—अभी देग्वते देखने हाथ-पाँव छोड़ दे तो आश्चर्य नहीं।

“पानी तो मैं भी पीया। मैं इसे सान्त्वना देता हुआ कहता हूँ, ‘फिर मेरा मित्र क्यों नहीं घूम रहा है? यह मात्र बहम है तुम्हारा।’”

मेरी बात का उस पर रचनात्मक प्रभाव नहीं पडता। उसी तरह निढाल पडा रहना है। कुछ क्षण बाद चुपचाप उठकर बाहर निकल पडता है। कमरे में बैठे-बैठे मैं सुनता हूँ, वह पडोसी से कह रहा है—“पानी पीकर आपका सिर तो नही चकरा रहा?”

पडोसी विस्मय में उसकी ओर देखता है, “लगता है, आज दिन में भी आपने पी



ली है। पीने के बाद कभी-कभी पानी भी नशा देने लगता है।” कहते कहते पड़ोसी हँस पड़ता है।

उदास होकर वह फिर कमरे में लोट आता है। कहता है “मैं सच कह रहा हूँ। मेरा सिर अब तक घूम रहा है। पहले मैं बिल्कुल ठीक था, पर पानी पीते ही न जाने क्या हो गया है?”

मुद्दे की तरह वह बिस्तर पर गिर पड़ता है। फिर तर्क के महारें बेठा बठा गुस्से से मेरी ओर देखता हुआ कहता है “देख क्या रहे हो? पुलिस में रपट दर्ज करा दो न। हो सकता है, बचाव का कोई रास्ता अभी भी निकल आए।”

पुलिस में रपट दर्ज कराई जाए या अखबारों में समाचार दे दिया जाए—मैं निश्चय नहीं कर पाता।

रात को मित्र घर आता है। वकालत पास कर चुका है पर प्रैक्टिस नहीं करता। किसी सरकारी कार्यालय में वर्षों से अच्छे ओहदे पर है। घुमापगुमा में सारी बातें उसे बतला देता हूँ। क्षण भर स्तब्ध सा वह सोचता रहा फिर कुछ सचेत होकर कहा, ‘इसका क्या प्रमाण है? तुम थाने में गए तो थानेदार तुम्हें वहीं बिठलना लोग। पुलिस को तो कोई चाहिए, बिठलाने के लिए। मुलजिम नहीं मिला तो तुमको ही अमली मुजरिम करार देकर फाँसी पर लटका दिया जाएगा।’

मित्र की बात गलत नहीं। आज का दुनिया में कुछ भी असंभव नहीं। ऐसे कई अपराधियों को मैं जानता हूँ जिन्होंने कोई अपराध नहीं किया, फिर भी जिनगी भर चक्की चलाते रहे या फाँसी के तख्ते पर झुला दिए गए।

“तो फिर?” मैं जैसे हताश होकर कहता हूँ।

“तुमने दुनिया-भर की भलाई का ठेका ले रखा है? मारा बवाल तुम अपने सिर पर क्यों लिये फिरते हो? हो सकता है कोई तुम्हें या ही डरा रहा हो। क्या यह नहीं हो सकता कि वह व्यक्ति स्वयं विक्षिप्त हो?”

“नहीं नहीं, मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ।” मैं स चीख पड़ता हूँ, ‘वह जो भी कहता है, करके रहता है। आश्चर्य नहीं कि एक दो दिन में कोई भयंकर दुर्घटना घटित हो जाए।”

‘तुम व्यर्थ में परेशान हो रहे हो। वह बड़े हल्के ढंग में कहता है ‘पानी में जहर मिलाना इतना आसान नहीं होता।’

“इस बीसवीं शताब्दी में तुम्हें कुछ असंभव लगना है?” उसकी आर दखता हुआ मैं व्यर्थ से हँस पड़ता हूँ तो वह उबल पड़ता है, ‘संभव असंभव का तुमने ठेका लिया है? तुम्हारे घर के सामने हैड पम्प है। तुम उमों का पानी पियो और आराम से पड़े रहो।”

उसके तर्कों से समाधान मिला हो, ऐसा लगता नहीं। मैं परेशान हो उठता हूँ, बेहद परेशान। इस मुल्क में यह सब भी हो सकता है, मुझे विश्वास नहीं हो पाता।

सारी गन इमां उधेडबुन में बीत जाती है। सुबह कुछ सूझता नहीं तो सीधा पुलिस स्टेशन चला जाता हूँ। इंचार्ज से सारी बातें साफ-साफ बतला देता हूँ।

कुछ क्षण तो वह ध्यान से सुनता है, फिर मेरी ओर देखता हुआ जोर से हँस पडता है, “आप सचमुच बहुत भोले हैं। जिसने जो कहा, सच मान लेते हैं। जिस आदमी का आप ज़िक्र कर रहे हैं, उसे तो कब की फॉसी भी हो गई।”

भीतर जाकर पुगने कागजों के ढेर में से वह एक पीला-सा फोटो निकालकर लाता है, “इसी की बातें कर रहे हैं न।”

मैं ध्यान से चित्र देखना हूँ—“हू-ब-हू वही आकृति है……।”

“हू-ब-हू नहीं, वही है, वही …।” वह जोर देकर कहता है।

मैं अपने भीतर कुछ टटोलने लगता हूँ, “उसके दाएँ गाल पर हल्का-सा भूरा तिल था।”

मेरे हाथ से फोटो छीनकर वह स्वयं देखने लगता है, “यह देखिए तिल। अब तो सदेह नहीं रहा न।”

अपना-सा मुँह लेकर मैं लौटने लगता हूँ। स्वयं पर ही मुझे संदेह होने लगता है। अभी दो-तीन दिन पहले तो वह मिला था, और आज यह कहता है, उसे कब की फॉसी हो गई। तो क्या इसी की शकल का कोई और व्यक्ति था वह ? या……ग्या……

इसके कुछ ही दिन बाद।

रात को दरवाजे पर खट-खट की आवाज से जागता हूँ। विस्फारित नेत्रों से देखता हूँ—वही आदमी सामने खड़ा है। कह रहा है, “आपने यह गुप्त बात सब जगह फैला ही दी न। मैं जानता था, आप कितने अविश्वसनीय हैं, धिनौने। आप मित्रा से मिले न। मेरे घर भी गए। रपट दर्ज कराने के लिए पुलिस स्टेशन जाना भी न भूले। आप चाहते हैं न कि पुलिस मुझे पकड़ ले और यह दुर्घटना होने से रह जाए ?” वह निर्विकार-भाव से हँस पडता है, “आप जानते नहीं कि यह सारी ‘ऐतिहासिक’ घटना होकर रहेगी। जिनके पास रपट दर्ज कराने गए थे, उन्होंने मुझे सारी बातें बतला दी।”

“पुलिस का तो कहना था कि तुम्हें फॉसी हो गई है।”

मेरी बात काटता हुआ वह हँस पडता है, “आपको क्या पता मुझे कितनी बार फॉसी हुई और कितनी बार मैं फिर जी उठा हूँ। आप भी निरे भोले हैं। अरे भाई, यदि फॉसी हो गई होती तो यहाँ आपसे बातें करता ? भले आदमी, पुलिस जो कहती है, वह क्या हमेशा सच होता है ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इस काम में मैंने पुलिस को भी साथ लिया हो। हो सकता है मेरे बदले उन्होंने किसी और को फॉसी पर लटक दिया हो। हो सकता है किसी राजनीतिक नेता का भी मुझे संरक्षण प्राप्त हो……।”

मेरा माथा ठनकता है।

वह दरवाजा बन्द कर, भीतर सोफे में धँस पडता है, “आप समझते होंगे कि मैं

कोई भयंकर अपराध करने जा रहा हूँ—यही कुछ। ऐसा ही न...।”

मैं प्रश्न-चिह्न की तरह उसकी ओर देखता हूँ—अवाक्-सा।

“मैं कोई पाप नहीं कर रहा।” वह आश्वस्त होते हुए उत्तर देता है, “जो लोग नारकीय यातनाएँ सह रहे हैं—कीड़ों से भी बदतर जिन्दगी जी रहे हैं, उन्हें यातनाओं से मुक्ति दिलाना चाहता हूँ। मैं तो सोचता हूँ कि हर कुएँ में ज़हर डाल देना चाहिए। जिन्हें हम जिन्दगी नहीं दे सकते, उन्हें तिल-तिल जलाकर मारना कहीं की इंसानियत है।”

“पर मैं इस तरह की मुक्ति के पक्ष में नहीं हूँ। यह अमानवीय है—घोर अपराध। इससे बड़ी कायरता, अदूरदर्शिता और क्या हो सकती है?”

“दूरदर्शिता या अदूरदर्शिता क्या है, इसका निर्णय लेने वाले आप कौन होते हैं? आपको अपनी ही स्थिति का पता नहीं तो फिर दूसरो की चिन्ता में क्यों घुलते हैं?”

वह उठकर मेरे समीप खड़ा हो जाता है, “आप में अपनी ही लाश को दूर से देख सकने की सामर्थ्य है? इतना साहस है?”

मैं कोई भी उत्तर देने की स्थिति में नहीं हूँ। “तुम कुछ भी कहो, मैं इस पक्ष में नहीं। लोगों को यंत्रणाओं से मुक्ति दिलाने का यह दानवीय मार्ग मुझे बतई पसन्द नहीं।” दो टूक उत्तर देकर मैं चुप हो जाता हूँ।

वह शायद इसे अपनी पराजय समझता है। अतः बुरी तरह खीझ उठता है, “जो अपना भला खुद नहीं कर सकते, जो अपना हक खुद नहीं ले सकते, वे बुजदिल हैं—कायर। और कायर को जीवित रहने का क्या अधिकार?”

“उन्हें कायर किसने बनाया?” मैं तनिक रुककर बुदबुदाता हुआ पूछता हूँ।

“जिसने भी बनाया हो, लेकिन उन्हें नारकीय यंत्रणा देने, देते रहने का कोई अधिकार नहीं। और न उन्हें यह यंत्रणा भोगने, भोगते रहने का ही...।” धूप-छाँह की तरह उसके चेहरे पर अनेक भाव उभरते हैं और ओझल हो जाते हैं।

कुछ देर बैठने के पश्चात् वह बाहर निकल पड़ता है, और मुझे भी साथ ले जाना नहीं भूलता।

रात का अँधियारा है—दबा हुआ मन्नाटा। हम दोनों चुपचाप चलते रहते हैं।

“ये कोठियाँ किनकी हैं?” अजनबी की तरह देखता हुआ, सड़क के उम पार इंगित करता हुआ, वह पूछता है।

मैं अनुमान लगाता हूँ, “संसद सदस्यों की जैसी लगती है।”

वह हँस पड़ता है, “इनका भी कोई अर्थ रह गया है अब? क्या आपको लगता है ये सही नुमाइंदा हैं? सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं?”

मैं चुपचाप चलता जाता हूँ। उत्तर नहीं देता।

“सड़क के आर-पार ये जो विशाल कोठियाँ हैं, आप जानते हैं, यहाँ फाइलों की खेती होती है, आँकड़ों की फसल उगती है।” कहता-कहता वह स्वयं ठिठक जाता है।

“मैं पृछता हूँ—आखिर यह खिलवाड़ कब तक चलेगा ?” वह जैसे स्वयं को सुनाकर आवेश में कहता है।

“.....”

तनिक मुड़कर फिर देखता है, “यह जो गोल इमारत देख रहे हो, जानते हो यहाँ क्या होता ? इसे मैं सबसे बड़ा षड्यंत्र का अड्डा मानता हूँ। आप मुझे पागल कह सकते हैं, किन्तु मैं पागल नहीं हूँ।”

कहते-कहते वह एकाएक बहुत गंभीर हो जाता है। कई बार उसके होंठ कुछ कहने के लिए फड़कते हैं, किन्तु सहसा फिर भींच लेता है।

एक विशाल समाधि के पास पहुँचकर वह रुक जाता है, “जानते हो, गांधी की हत्या किसने की थी ?”

“.....”

“इन घिनौने लोगों के बीच वह जी ही नहीं सकता था। इसलिए जानबूझकर उसने आत्महत्या की थी। मालूम है, क्राइस्ट अपना सलीब खुद लेकर गया था ! अपने हाथों स्वयं उसने अपने शरीर पर कीलें ठोंकी थीं। सुकरात ने ज़हर का प्याला स्वेच्छा से पिया था....। जिस व्यक्ति में तनिक भी संवेदना होगी, वह इस दुनिया में जी नहीं सकता।” वह मेरा कंधा पकड़कर झकझोरता है, “आपको मालूम है, तत्स्तोय मरने के लिए उस बर्फीली रात में क्यों घर से बाहर निकला था.... ? यह दुनिया इस खेग्य भी नहीं है कि इसे ज़हर दिया जा सके—इस पर इतना भी रहम किया जाए.... इस पर इतना ज़हर भी बेकार हो....। इसलिए मैंने अब इरादा ही बदल दिया है। इन मरे हुआँ को मारना भी नपुंसकता है।”

अँधेरे में छिटककर वह दूर चला जाता है—ओझल होता हुआ।

मैं अकेला रह जाता हूँ—उस अँधियारे में। कुछ क्षण काठ-सा खड़ा रहकर, चुपचाप घर की राह लेता हूँ।

घर पहुँचकर भी नींद नहीं आती। तरह-तरह के मपने, तरह-तरह के विचार उमड़ते रहते हैं। हर प्रश्न-चिह्न मुझे एक मीनार-सा नजर आता है। उसने अजीब-सी हिकारत से मेरी ओर क्यों देखा था ? उसकी धधकती आँखें क्यों मेरी नंगी पीठ पर अंगारे की तरह चिपक गई थीं ? क्यों मैं अब तक उनसे झुलस रहा हूँ ?

दूसरे दिन मैं फिर उसके घर की तरफ मुड़ता हूँ। वहाँ ताला लटका मिलता है। पता चलता है कि वहाँ कोई दूसरा आदमी अब रह रहा है। जिस व्यक्ति से मैं मिलना चाहता हूँ, वह अब तक लापता है—उसके भूखे बच्चों को दम तोड़े आज तीसरा दिन है।

□

## आँखें

बापू की याद अब नहीं, केवल धुँधली-सी रेखाएँ उभरती हैं—फिर ओझल हो जाती हैं—बीते सपनों की तरह।

फिर भी एक अभाव तो अंत में खटकता ही है। लगता है कहीं कुछ खो गया है। आँधियारे में कुछ बिखर गया है। कुछ अनहोना हो गया—जो होना नहीं चाहिए था। एक टीस, एक पीड़ा उठती है—अभाव की, जो क्षण-भर में तिरोहित हो जाती—जब बाबा की ओर देखते।

बाबा ने लू से झूलसते, हम सब अभागों को अपने बूढ़े पंखों की शीतल छाँह में समेट लिया था। जब से बाबू गए, बाबा ने उनकी जगह ले ली। कभी हमें कोई अभाव अखरने न दिया।

जब भी कोई दुःख हुआ, बाबा का गोद में मुँह छिपाकर रो दिए—बाबा ने स्नेह से सिर सहला दिया। प्यार से झिड़क दिया या समझा दिया या हँसा दिया अथवा स्वयं ही हँस पड़े, अनायास! बाबा जब हँसते या हँसने का प्रयास भर करते, वातावरण कहकहों से गूँज उठता। लेकिन कहकहों के पीछे कितनी बेबसी, कितनी वेदना, कितना दुःख था, इसका हिसाब कभी किसी ने नहीं लगाया और न लगाने की आवश्यकता ही अनुभव की।

लम्बा-चौड़ा परिवार—बीस-पचीस जनों का! छोटे काका, मँझले काका, उनसे बड़े—सबसे बड़े काका! उस पर फूफाजी, जिज्जी और बच्चे-कच्चे। पूरी एक बरात-सी लगती—सुबह-साँझ! पर बाबा सबसे न्यारे थे। माला के बड़े मनके की तरह सबको गूँथे रहते। सभी के लिए उनके विशाल हृदय में स्नेह था, सौहार्द था, मोह-ममता थी। लेकिन हमारे लिए उनका हृदय और भी विशाल था।

घर में कभी बच्चों में छीना-झपटी, मार-पीट हुई तो बाबा हमारी ही तरफदारी करते। काका घर में खाने-पीने की चीज़ लाए नहीं कि बाबा की सबसे पहली पुकार हमीं पर पड़ती। आई और काकी में झगड़ा हुआ नहीं कि बाबा आई को ही

समझाते—“बहू, तू सबसे बड़ी है। सबसे सयानी। तुझे सबसे अधिक महना चाहिए। जो सहना है, जीत उमी की रहती है। हमारा परभान कैसा गरु था।” बाबा की आवाज गले में ही भँवर खाकर रुक जाती।

तीस-पैंतीस साल की सरकारी नौकरी के बाद बाबा रिटायर हुए थे। मुश्किल से दो-ढाई बरस आराम में बैठे होंगे कि बापू के बैकुण्ठवास के दो-तीन ही महीने पश्चात देखा—बाबा सदृक में छिपाया अपना बद गले का उन्नी कोट पहन रहे हैं। पाँवों में सिलपट के जूते डालकर मेरी ओर इशारा करते हुए कह रहे हैं, “रिचा, लाठी तो निकाल बैठा। दालान के पिछवाड़े खूँटी पर टँगी होगी।”

“कहाँ जाना है, बाबा ? मैं भी चलूँ बाजार ?”

बाबा ने उत्तर नहीं दिया, जैसे मुना ही न हो। कुछ क्षण खड़े रहे, किन्हीं विचारों में डूबे। फिर लाठी थामे टक-टक चल पड़े।

अब गोज ही बाबा का यह नियम हो गया।

मेरी समझ में न आता। दादी से एक दिन पूछा तो बोली, “काम पर जाते हैं। पिरायभेट बक में।”

“बाबा की नौकरी तो खत्म हो गई, फिर काम पर क्यों जाते हैं, दादी ?” मैंने फिर पूछा तो इस बार आई ने उत्तर दिया, जो पास ही मुगौड़ी भिगो रही थी, “अरी, क्यों जाते हैं। तुम्हारे खातिर और क्यों ? हमें टूटे कपाल के पैदा न होते तो इस उम्र में उन्हें सुख देने के बदले दुःख देते।”

समझी नहीं। आई यह टूटे कपाल की कौन सी नई बात कह रही है। मैंने माथे पर हाथ लगाकर देखा, कही दरार दीखी नहीं। फिर हमने इस उम्र में बाबा को कौन-सा कष्ट दिया है ? कष्ट तो काका देते हैं। बिना बात लड़ते झगड़ते हैं। जो मन में आया, कहते हैं। कुछ भी लिहाज सयानेपन का करते नहीं। फिर हमारा क्या दोष ?

दोनों बड़े चाचाआ की नौकरों शहर में ही थीं। दोनों का स्वभाव कुछ तीखा था। बात बात में हर किस्म का झिड़क देते। बच्चों को चिटि जड़ देते और इतने जोर से चिघाड़ते कि शरीर में कंपकंपी छूट जाती। इसलिए उनके सामने जाने में भय लगता।

अतः किसी चीज का जरूरत पड़ी तो काकी से कहा। काकी ने हाथ नचाते हुए मुँह बनाते हुए अनमना सा उत्तर दे दिया और काका की ओर इंगित कर दिया। लेकिन काका के सामने जाए कौन—इसलिए होठ मिए, चुप हो गए। पर जरूरत तो दबाए दबती नहीं। चिगारी की तरह उभरकर ऊपर आती जाती है। अब आई का ऑचल खीचा—झुंझलाकर झगड़कर। बेचारी आई के पास क्या था ? कहाँ से देनी वह ? हमारे बहुत जिद करने पर दादी से वह देनी और दादी बाबा से।

जितनी जरूरत हुई, जितना कहा—बाबा चुपचाप जब से निकालकर सामने रख देते। उनके पास हो या न हो, फिर भी हमें तो मिल ही जाते। कभी भी उन्होंने क्यों और किसलिए नहीं पूछा। मन्नु स्लेटी और स्याही के पैसे लेकर सिनेमा देख आता। जिज्जी किनाबो का बहाना बना ब्लाउज ले आती या चुन्नी खरीद लाती या सहेलियो

के साथ कॉलेज में आती जाती खर्च कर डालती। बाबा सब जानते थे, पर चुप रहते।

एक दिन दादी ने कुछ सुनाकर कहा तो बाबा सदा की तरह शांत स्वर में बोले, “बिचारी का बाप होता तो कितना खर्च करते। तू नहीं जानती, परभात की माँ। बच्चों का मन कैसा होता है।”

सभवतः यही एक कारण था कि बाबा को इस उम्र में भी दूसरों की चाकरी करनी पड़ती। काका का स्वभाव बदल नहीं सकता, यह वे भलीभाँति जानते थे। और यह भी उनसे छिपा नहीं था कि वे ही हमारा ख्याल नहीं करेंगे तो दूसरा कौन करेगा। बाप का अभाव न अखरे, सब हमारे साथ परायों का सा सलूक न करे—बाबा इसके लिए सब-कुछ करते।

घूमना कम कर दिया। पूजा-पाठ कम कर दिया। सुबह थोड़ा सा समय बचता। बाबा खाया अनखाया कर वैसे ही हड़बड़ाते हुए तैयार होने लगते। जल्दी में कभी टोपी भूल जाते, कभी छतरी, कभी कलम।

घर बैठे बैठे भी बाबा की अँगुलियाँ अपने आप चलती रहती, जैसे नोटों को गिन रहे हों। बातें कही करते, मन कही और होता। एकांत में बैठे बैठे कभी अपने-आप बृट्बुटाते रहते—एक सौ अस्सी। नब्बे दो सौ पूरे दो सौ।

“बाबा, आप ये क्या करते हैं?” कभी पूछती तो बाबा उसी धुन में कहते, “कुछ नहीं। कुछ नहीं। अरी अरी पगली। च्व। तूने गडबड कर दी।”

“क्या बाबा। क्या?”

बाबा फिर खो जाने।

पुराना दमा था। मौसम के बदलाव से कुछ बढ़ आया तो बाबा चार-छह दिन काम पर न गए। एक रोज तनिक सुधार दीखा, फिर तैयार होने लगे। लाठी तक थामी न जानी, फिर भी रिकशा पर बैठकर जाने टुल थे। बाबा सचमुच बहुत कमजोर हो गए थे अब। हाथों पर नस्से के तार साफ झलकते। खाल लटक आई थी। विषाद भरा चेहरा झुर्रियों में ढँक गया था। बापू की मौत, बाबा के लिए हर तरह से असह्य हो आई थी।

आई, दीदो, जिज्जी—सब बैठी थी। मैंने हठ करते हुए कहा, “बाबा, आप काम पर क्यों जाते हैं? अपने बदले जिज्जी को क्यों नहीं भेज देते? सब लडकियाँ आजकल नौकरी करती हैं। जिज्जी भी करेगी। खूब पैसे कमाकर लाएँगी। क्या हरज है?”

“चुप चुप। बकरी की तरह मुँह बहुत फुरफुरानी है।” आई कह ही रही थी कि बाबा ने जोर से तमाचा मेरे गाल पर लगाया। पाँचों अँगुलियों के पाँच निशान पड़ गए, “अरे, अभी मैं मरा तो नहीं। मरा तो नहीं।” खॉमते-खॉमते बाले, “मेरी बहू-बेटियाँ मेरे होते हुए दूसरों की चाकरी करे। जिस दिन मैं मर जाऊँ, उम दिन ऐसी-वैसी बातें मुँह से निकालना। समझे! समझे।” बाबा का तिनके-सा शरीर आवेश में काँप रहा था। आवाज भर्रा आई थी। बाबा के मर्म पर शायद गहरी चोट पड़ी थी—बहुत गहरी।

बाबा की बुझी पलके सहसा भोग आई ।

फिर भी वह काम पर गए ।

उसके बाद दो-तीन महीने न जा सके । फिर चार-छह दिन गए और फिर कभी भी नहीं !

जिन अभागों के जीवन में बचपन से ही हर तरह का अभाव रहता है, दुःख रहता है; अनवरत संघर्ष रहता है, उन्हें उम्र से पहले ही अक्ल आ जाती है । वही हाल हमारा था । प्रतारणाओं ने बचपन में ही बड़े-बड़े सबक सिखला दिए थे ।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समझ आती गई, बाबा को कम परेशान करने लगे । बाबा की आँखें पहले से ही कमजोर थीं, जो धीरे-धीरे धुंधली होती चली गई । अतः बाबा से पैसे के लिए ज़िद करना, रूठना-झगड़ना भी हमने छोड़ दिया था ।

काका ने खर्चा देना एक तरह से बंद कर दिया । बाबा का कमाया धेला-टका पहले ही चुक गया था । लोक-लाज के लिए तिनकों के सहारे टिका, मिला-जुला परिवार था । बाबा के हुकूमत के दिन हमेशा के लिए ढल चुके थे ।

पत्थर की तरह बाबा दिन-रात बिछौने पर पड़े रहते । पहले वे रोज उजले कपड़े पहनते थे, लेकिन अब हफ्तों में किसी ने बदल दिए और कभी वे भी नहीं । सोना, खाना—सब अनियमित चलता । हाथों से टटोल-टटोलकर कभी बाहर आते और सर्दियों में धूप में बैठे-बैठे वक्त गुज़ार देते ।

दादी अपनी असमर्थता प्रकट करतीं । होंठों-ही-होठों में बुदबुदातीं, “क्या करूँ ! बच्चे रार मचाते हैं । सुबह से साँझ तक घसीटते फिरते हैं । उनकी ही चाकरी में सारा समय बीत जाता है ।”

प्रत्युत्तर में बाबा अबोध बालक की तरह देखते रहते, कुछ कह न पाते । घर में जगह कम थी । काका ने कहा, “मिलने-जुलने वाले आते रहते हैं । बैठने-बिठाने की भी तगी रहती है ।... जगह-जगह खँखारना-खाँसना अच्छा नहीं लगता... पीकदान गर्लें-गले तक भरी रहती है । मक्खियाँ भिनभिनाती हैं । बदबू के मारे बैठना बेहाल हो जाता है ।”

बाबा ने चुपके से जगह खाली कर दी । अब वे पिछवाड़े के बरामदे में ही पड़े रहते—जाड़ों की किटकिटाती भयंकर ठंड, गर्मों की तपन और बरखा की बौछारों में भी । जब तक आई-दादी उठाती नहीं, वे वैसे पड़े रहते ।

पिछवाड़े के बरामदे में दिन में भी रात रहती है । सीलन और मच्छरों की भिन-भिन अलग । पर किसी के पास इतना समय न था जो यह सब ठीक कर देता । शायद ही कोई उधर झाँकता हो । बच्चे भी पास फटकते न थे । पता नहीं क्यों डरते थे ।

जब भी मैं खाली होती, बाबा की चारपाई की पाटी पर बिल्ली की तरह बैठ जाती । बाबा पूछते—“अब साँझ है या सवेरा ? पता नहीं सूरज कब उगता है, कब



छिपता है। इन अंधी आँखों ने कही का भी नहीं रख छोड़ा। मुँहजली मौत भी तो आती नहीं।”

बाबा की मुरझाई आकृति और उदास हो आती।

लेकिन मैं तान अलापे रहती, “बाबा, आज बरखा हुई—इत्ती-इत्ती बरखा, बाबा इत्ती…… ई”……दोनों बौनी बाँहें फैला देती, “आज भालू का नाच देखा, बाबा। भालू का मालिक उसे पीटता है, लेकिन वह उसे काटता तक नहीं। रमचन्ना कहता है—भालू अपने मालिक को बहुत प्यार करता है। जानवर भी प्यार करते हैं, बाबा। उसके भी बच्चे होते हैं।”

बाबा का ध्यान मेरी बातों की ओर न रहता। वे केवल अपना सिर हिला देते। मेरे नन्हें हाथों को थामे सहलाते रहते। फिर होंठों पर लगी पपड़ी पर जीभ फेरते हुए कहते, “तुझे दूध मिलता है, रिचा ?”

“हाँ, बाबा।”

“कित्ता ?”

“काँच की कटोरी भर।”

“पर, तू तो बहुत कमजोर लगती है आजकल।”

“नही बाबा, मैं तो मोटी हो गई हूँ—बैलून की तरह।” कहकर खिल-खिल हँस पडती। बाबा के मुँह की ओर ताकती, “आपको तो बाबा दीखता नहीं। फिर कैसे कहते हैं कि मैं कमजोर हो गई ?”

“कौन कहता है, मुझे दीखता नहीं !” बाबा मेरे बिखरे बालों को सहलाते, “तेरी अग्रेजी की किताब खो गई थी न उस दिन …।”

“हाँ, बाबा। आपको कैसे पता ? आपने कहाँ देखी ?” अचरज से कहती। पर दृमरे ही पल मुरझा जाती। क्योंकि किताब न होने के कारण पिछले कुछ दिनों से मुझे कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ रही थीं, बाबा को क्या मालूम। रोज बहनजी की डॉट पडती। सबके सामने कुर्सी पर खड़ा करती, फिर बाहर निकाल देतीं। लेकिन कम्पा करती। बाबा से कहने का कितनी बार निश्चय किया, सामने कितनी बार इमी इरादों से जाती, पर लौट आती। गले से आवाज ही न फूटती थी।

“तो तू कैसे काम चलाती है ?”

“कभी मत्तू से माँग लेती हूँ, कभी रोजा से। पर वे भी मना कर देता हैं, बाबा।”

“तो तूने मुझसे क्यों नहीं कहा ?”

मैं कुछ उत्तर न दे सकी।

“बोल न, तूने मुझसे क्यों नहीं कहा ?”

मैं फिर चुप !

“बोलती क्यों-नहीं ? तूने मुझसे क्यों नहीं कहा ? मैं मर तो नहीं गया था।”

बाबा ने प्यार से डपटकर कहा तो उनकी गोदी में मुँह छिपाकर रो दी।

बाबा से पूछे बिना तिनका तक न हिलता था कभी। लेकिन अब सब सुनी-अनसुनी कर देते। बड़े काका तो बिना बात उलझ पड़ते, “आप हर चीज में दखल क्यों देते हैं? चुपचाप खाइए और आराम से पड़े रहिए।”

बाबा का चेहरा सूखे खजूर के बराबर हो जाता।

दादी किसी को नाखुश न करतीं। काका-काकी का ही पक्ष लेतीं। फिर बाबा के पास आकर कहतीं, “आप भी निरे नादान हो जाते हैं कभी-कभी! क्यों ज़िद करते हैं? झगड़ने से भी क्या कोई बात बनती है! वे जैसा करते हैं, सब सह क्यों नहीं लेते? अरे, मेमने ढँके जा सकते हैं, मौने (बकरी के बड़े बच्चे) तो नहीं!”

इधर-उधर से, चारों ओर से निराश होकर, छोटे काका पर ही बाबा की सारी आशाएँ अटकी थीं। जो कोई भी घर आता, उन्हीं का बखान करते। दादी से पैसे लेकर मुझसे चिट्ठी लिखवाते। दो-चार अक्षर ही बोल पाते कि अटक पड़ते। सिर खुजाते, रूखी घास की तरह उगी दाढ़ी पर हाथ फेरते या अँगुलियाँ चटकाते। फिर भी सूझता नहीं तो कह पड़ते, “अच्छा, अब घर की कुशल-बात तू अपने मन से लिख दे और लाल लेटर बॉक्स में गेर दे।” चिट्ठी गिरवाने के बाद कहते, “च 5। पता लिखवाना तो रह ही गया, रिचा।”

इस बुढ़ापे में जब सारे पंख कट गए, आशाओं की डोर शिथिल हो गई, तो एक तिनके के सहारे बाबा के प्राण अटके थे।

लम्बे अरसे के बाद छोटे काका आए। बाबा का कुम्हलाया चेहरा चमक उठा। शायद बाबा उनसे जी भरकर बातें करना चाहते थे। कुछ कहना चाहते थे। कुछ सुनना चाहते थे। पर बाबा एक बार भी भली-भाँति मिल न पाए। काका केवल दो दिन रहे, फिर चले गए। बाबा से जाड़ों में कभी उधर आने को कह गए और सौ रुपए सबकी निगाहें बचाकर उनके हाथों में रख गए।

बाबा देखते रहे—मुट्टी में भिंचे नोटों की ओर—अंधी आँखों से!

एकादशी, दशमी आदि तीज-त्यौहारों को देहरी पर बामन आते। बहू-बेटियाँ आतीं। बाबा ने जीवन भर सबको समझा और दिया। पर अब कहाँ से देते?

बाबा के हाथ में कुछ भी न था। फिर भी आई, दादी से कपड़े-लत्तों के बारे में पूछते रहते। न होने पर भी वे कह देतीं—उनके पाम सब-कुछ है। उन्हें किसी भी चीज की तंगी नहीं।

आई, काकी या जिज्जी की फटी धोतियों से तन ढाँपती हैं। फिर भी कहती हैं, सब-कुछ है। यों झूठ बोलकर उन्हें क्या मिलता होगा! समझ में आता न था तब।

बरसात बीती। जाड़ो के दिन आए। बाबा को सूझता न था, क्या करें? किधर जाएँ? वास्तव में घर की घुटन-भरी जिन्दगी से बुरी तरह ऊब चुके थे। त्राण पाने के लिए कहीं दूर—बहुत दूर चले जाना चाहते थे। लेकिन कहाँ?

तभी छोटे काका की चिट्ठी आई। बाबा को जैसे मनचाही राह मिल गई।

वे तैयारी में जुट गए। जरूरत के सारे कपड़े ले गए। कौन जाने वहाँ से कब लौटना हो। मन लग गया तो साल छह महीने वही बरेली में ही रह लेगे।

कपड़े लिए। लाठी ली और मुझे भी साथ ले जाना न भूले, ताकि बाहर-भीतर जाने में दिक्कत न हो।

छोटे काका की अच्छी नौकरी थी। उनके सब बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते थे। अच्छे स्कूलों में पढ़ते थे। उनके पास ढेर सारे अच्छे खिलौने थे। तीन पहिए वाली साइकिल थी। काकी भी हमारे स्कूल की बहनजी की तरह ठसके से रहती। बाप रे बाप, तीन तीन ट्रक साइडियो से भरे थे। होटलो की तरह मेज पर बैठकर खाना खाते थे। मुझसे खाते समय मेज पर, लाख बचाव करने पर भी जूठा छूट ही जाता तो काकी वही पर झिडक देती। तब बाबा मेरी तफरदारी करने, “लडकी बडी अक्लवाली है, बहू! यहाँ रहते-रहते सब सीख जाएगी। पहाड के छोटे कस्बों में बच्चे क्या सीखते हैं। तभी तो यहाँ लाया हूँ। अब यही छोड़ जाऊँगा। तुम लोग ही इसे कुछ सिखा देना। वहाँ तो डॉट फटकार की ही हो जाती है बेचारी।”

बाबा अपनी आदत से मजबूर, देर तक कहते रहते। काकी मुँह बिचकाती, हाथ नचाती, पर बाबा को तो दीखता ही न था।

थोड़े ही दिनों में बाबा का दम यहाँ भी घुटने लगा। जी भर गया। बात असल में यह थी कि घर में काका की बनिम्बत काकी की अधिक चलती थी। उनके मैकेवाले अच्छे खाते पीते घर के थे। बरेली में ही एक दो मकान थे, दुकाने थी। वह मकान भी उन्ही का था। उन्ही के साथ एक हिस्से में काका भी रहते थे।

नानाजी (काकी के पिता) बात बात पर बाबा की खिाँल्लियाँ उडाते, मुँह बनाया करते। उनकी देखा-देखी बच्चों ने भी यही सीख लिया। बाबा को दमा था। बार-बार खॉंसी आती। बच्चे भी उनके मुँह के मामले मुँह ले जाकर खौं खौं खॉंमने लगते। बाबा को डकारे आती। वे भी बिना बात डकारते। बाबा कुछ झुककर चलते। वे भी वैसा ही झुका करते। बाबा ‘हमारे जमाने में ऐसा होना था, हमारे जमाने में वैसा होता था, हम ऐसा करते थे’ ऐसी पुरानी बातें सुनाया करते थे। नाना को यह भला न लगता। उन्होंने बाबा का नाम ‘हमारे जमाने में’ रख दिया। उनके घर के सब लोग उन्हें ‘हमारे जमाने में’ ही कहा करते—काका-काकी के मामले ही। पर वे गुस्सा न होते। उल्टे उनकी हँसी में हँसी मिलाकर, खिलखिलाकर हँस देते।

नाना अक्सर मुझसे पूछा करते, ‘तेरे बाबा का एक बाजार बन्द है या दोनो।’

मुझे गुस्सा आता, बहून गुस्सा। लेकिन पराए घर में कर क्या सकती थी।

बाबा स्वभाव से ही सरल थे। छल प्रपच आना-जाना न था। जिसने जो कहा, सब सच मान लेते।

जाडा उस साल अधिक था। उम पर पिछली रात से झमाझम पानी गिर रहा था। टिन की छत पर तडातड बौछारों के अतिरिक्त कुछ सुनाई न देता था।

हम लोग नीचे की मजिल में बैठे थे—नाना के कमरे में।

बाबा तमाखू पी रहे थे। नाना को सुना रहे थे—उन्होंने अपनी छोटी-सी कमाई के बल-बूते पर इतने लडके कैसे पढाए। इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण कैसे किया। कैसे मकान खडा किया। भाई-बिरादरी में नाक ऊँची कैसे रखी।

नाना इन बातों से उकता गए थे। ध्यान कही और था। बाहर बौछारों की ओर देख रहे थे। तभी उन्हें क्या सूझा, बात काटते हुए सहज चिन्ता से बोले, “अरे राम...सडक का पानी कमरे की ओर आ रहा है, जोशीजी।”

“क्या कहा? कमरे की ओर पानी आ रहा है—।” विस्मय से बाबा के होठ खुले।

“हाँ, जोशीजी, जमीन जलमयी हो गई है। सडके, नहरो की तरह लबालब भर गई है। इतना पानी भला कहाँ जाएगा?”

इम अप्रत्याशित दुर्घटना से बाबा भयभीत हो उठे। दीखता तो था नहीं, चेहरे पर वैसे ही हवाइयाँ उड़ने लगी।

“तिवारीजी, अब कहाँ-कहाँ तक आ गया पानी?” थोड़ी देर बाद पूछा बाबा ने।

“बस, कमरे में एक इंच भर गया।”

धीरे-धीरे दो इंच, तीन इंच, तेरह इंच भर गया।

बाबा की आकृति का रंग उतरने लगा, “अब कित्ता, तिवारीजी?”

“यही कोई तेरह-चौदह इंच।”

“और अब?”

“अरे, बाप रे। चारपाई तक।” नाना कह ही रहे थे कि बाबा ने हडबडाकर पानी की थाह लेने के लिए नीचे हाथ बढाया, पर नाना ने रोक दिया, “बौरा गए क्या? पानी में डूबेंगे?”

बाबा का बूढा शरीर तिनके की तरह कॉपने लगा।

“लो जोशीजी, अब चारपाई तक ही पहुँच गया। चारपाई बहने ही वाली है।”

“मुझे बचाओ। हाथ राम मैं डूब गया।” बाबा हवा में हाथ पाँव छटपटाते हुए जोर से चिल्लाए।

सब हँस पडे।

भागने भागते उमर से काका आए काकी आई। सब आए और खिलखिलाकर मुँह फाडे हँसने लगे।

हँसी देर बाद थमी। सबने बाबा को आश्वासन दिया कि पानी कही भी नहीं आया। यो ही केवल हँसी कर रहे थे। तब भी बाबा का हृदय धडकता रहा। शरीर रह रहकर कॉपता रहा। चेहरे पर अजीब-से आतक का भाव छा गया।

इम घटना ने बाबा को बुरी तरह झकझोर दिया।

उस रात वे सोए नहीं। तमाखू फूँकते रहे। दूसरे दिन सुबह उठते ही मेरा हाथ

शामे गाड़ी में जा बैठे। काका ने कितना मना किया, पर माने नहीं।

रास्ते में हल्द्वानी पडता था। वहाँ मेरी सबसे बड़ी जिज्जी मुदर्शना ब्याही थीं। बाबा इस दयनीय दशा में वहाँ न रुकते, फिर भी रुके।

जीजाजी डॉक्टर थे। अच्छी-खासो आमदनी थी। ऊँचा घर था। बड़ी आवभगत हुई हमारी।

बाबा ने अपनी आँखों की जाँच करवाई।

जीजाजी बड़ी मेहनत से देखने लगे।

“क्या ये अच्छी नहीं हो सकतीं। पंडतजी?”

जीजाजी बड़े ध्यान से देखते रहे। अंत में बोले—डॉक्टरी लहजे में, “लगता है, कतई बेकार हो गई हैं। इलाज-विलाज से कुछ होने वाला दीखता नहीं।”

“किसी भी चीज से नहीं?”

“ना! इलाज हो ही नहीं सकता।”

“तो क्या हो सकता है?” माथा दबाते हुए एक गहरी साँस भरकर बाबा ने कहा, “मेरी आँखें मिल जातीं तो...।” इससे अधिक कुछ कह न सके।

रात को खाते समय बाबा ने फिर यही चर्चा छोड़ी। न जाने वे किस धुन में थे। जीजाजी ने विस्तार से बताया, “इलाज हो ही नहीं सकता। हाँ, आँखें बदली जरूर जा सकती हैं। किसी और की पुतली चढ़ाई जा सकती है, लेकिन वह सब कुछ महँगा पड़ेगा, हम जैसे लोगों के वश की बात नहीं।”

बाबा चुप हो गए, पर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। घर लौटने पर भी उनका वही दशा रही। जो कोई भी टकराता, आँखों का ही जिक्र करते। लोग हँसते। तरह-तरह की बातें करते। बाबा सब मान लेते।

उस दिन सोनी, मन्नु, रावी सब बाहर मैदान में खेल रहे थे। आई काकी के साथ मंदिर गई थीं, जिज्जी सहेली के घर। काका अभी तक लौटे नहीं थे। मैं टटोलती-टटोलती बाबा के कमरे की ओर बढ़ी। खिड़की से झाँका। बाबा की चारपाई पर दादी बैठी थीं। बाबा बच्चों की तरह सिसक-सिसककर रो रहे थे। कह रहे थे, “मुझे आँखें मिल जाएँ तो परभात की माँ, मैं इस नरक से उबर जाऊँ। अपने लिए चाहे न भी कर सकूँ, तो भी उन अनाथ बच्चों के लिए तो कर ही सकूँगा। मेरे जीते-जी उनका यह हाल है तो आगे क्या होगा। ढले की तरह पड़ा-पड़ा मैं अब अधिक जी ही नहीं सकता।”

“तो क्या करूँ?” दादी के रुंधे कंठ का भीगा स्वर था, “ये मेरे गहने ले लो। टूटा-फूटा जो कुछ बचा है—वह सब ले लो। अपना इलाज करवा लो। मेरी आँखें लेकर, मेरे परान लेकर भी तुम्हें सुख पहुँचे तो वह भी ले लो। पर बच्चों की तरह यों न रोओ। तुम्हारा दुःख अब देखा नहीं जाता।” दादी भी उन्हीं की तरह सिसक-सिसककर रोने लगीं।

“अब क्या देखना है, जिसकी इती लालसा है ! एक पाँव मसान में, दूसरा घर पर। इस बुढ़ापे में भी क्या कहीं आँखें लौटती हैं। न जाने किसने बहका दिया ! जिसने जो कहा, सब सच मान लेते हैं।” काका ने झिड़ककर कहा।

बाबा सहम गए, लेकिन मन में उधेड़-बुन लगी रही।

खर्चे के लिए कहा तो काका ने दाँत दिखला दिए। मँझले काका ने पूछा, “औरत का इलाज करवाना पैसे के बिना रुका हुआ है। बाबा की उमर तो पूरी हो गई, लेकिन उस बेचारी ने अभी क्या देखा है ?”

गहने बेचकर, दादी को साथ लेकर एक दिन बाबा घर से निकल पड़े। जाते समय रोष में बोले—“इस घर में अब बिना आँखों के पाँव नहीं धरूँगा, नहीं तो लौटकर ही नहीं आऊँगा।”

बाबा चले गए। उनके बिना हमें सूना-सूना लगता। बाप का अभाव असल में अब अखरने लगा था। आई को कुछ सूझता नहीं था। दिन में ही तारे छिटक आए थे। बाबा लौटकर नहीं आए तो क्या होगा ?

तभी सुना, बाबा बड़ी जिज्जी के घर चले गए।

एक-दो महीने बाद सुना—जीजाजी के साथ बम्बई चले गए। जीजाजी ने इलाज का जिम्मा ले लिया है।

फिर सुना, दादी की एक आँख उन्हे पहना दी गई है और बाबा अब फिर पहले की तरह देखने लगे हैं।

बाबा आने वाले थे आज। मैं, मन्नू और सोनी को लेकर सुबह से ही बस के अड्डे पर धरना देकर बैठ गई। जो भी बस आती, उसी की ओर लपकती।

दिन ढले बाबा की बस आई।

बाबा धीरे-से लाठी के सहारे उतरे।

“बाबा बाबा !” कहते हुए हम उनसे लिपट पड़े, जैसे बाबा भागे जा रहे हो।

बाबा ने पहचाना नहीं। आँखें मलते, हाथ से टटोलते हुए बोले, “कौन मैं... चा है... तू ? अरी, तू तो पहचानी नहीं जाती ! अरे मन्नू... तुझे क्या हुआ ! बीमार पड़ा था क्या ? तेरा तो चेहरा ही बदल गया। कैसे लोफरों जैसे गंदे बाल बना रखे हैं ! फटी हुई गंदी निकर। तेरा काका क्या तुझे दो आने भी नहीं देता ?”

बाबा के खिले चेहरे का उत्साह धीरे-धीरे फीका पड़ने लगा। घर में पाँव धरते ही मानो एकाएक बदल गए। अथाह पानी में डूब गए।

खुली-खुली आँखों से वे सब देखते रहे, जैसे भूल से अनजानी जगह पर आ गए हो, जो जीवन में पहले कभी देखी न हो।

“बहू, बच्चों के ये क्या हाल कर रखे हैं ? उस अभागे की आत्मा क्या कहती होगी !... अरी, तू तो अपनी सास से भी बूढ़ी हो गई ! दो-तीन ही साल में सारे बालों पर सफेदी ?”

आई की आँखें डबडबा आईं।

पर बाबा उसी गति से कहते रहे, “रोज हमारा परभात आता है। कहता कुछ नहीं, केवल ‘बाबा’ कहकर चुप हो जाता है। परसों सफेद कपड़े पहने, रीता लोटा थामे खड़ा था। कहता था, प्यास लगी है, बाबा। जल सूख गया है।”

आई की आँखे और जोर से बहने लगी तो बात की दिशा बदल दी, “घबरा नहीं, बहू! भगवान सबकी सुनते हैं। देखना, मेरे परभात की औलाद सबसे अधिक फलेगी-फूलेगी।……दो टुकड़ों का अभाव तुम्हे कभी भी न रहेगा……।”

“अरे, मेरी चादर दो बरस से बदली नहीं। कैसी कोयले की तरह काली हो रही है। क्या मैं इसी सीलन-भरी गंदी जगह में रहता था। सूँघो तो……सूँघो तो……सूँघो तो……कैसी भिन-भिन बदबू आ रही है।”

“मन्नू बिल्कुल लोफरों जैसा हो गया है। रिचा कहती है—वह पढता नहीं, ताश फेटता है। बीडी सुलगाता है। गुडा हो गया है—आवारा। क्या घर में कोई भी इसकी देख-रेख नहीं करता? किस तरह बिगड़ गया है।”

“रिचा, तू कपड़े बदल, बेटा। देखती क्या है? क्या तेरे पास बदलने को और कपड़े नहीं?”

“बहू, इस फटी जीरन धोती में तू लाज कैसे ढँकती है? तेरी सास के पास भी क्या ये ही चीथड़े हैं? तुम सब कैसे गुजारा करते थे आज तक? क्या मेरे सारे लडके एक परभात के साथ ही मर गए। सच, मैं क्या निपूता हो गया?” बाबा का चेहरा तमतमा आया, “रिचा, कल से मैं फिर काम पर जाऊँगा, बिट्टो। तू मुझे लाठी पकड़ा देगी—हाँ। सुबह जरा जल्दी उठ सकेगी? मेरा कोट निकाले रखना। चाय जरा जल्दी बनाना। जल्दी जगाना।”

बाबा का बूढ़ा दिल मारी दयनीय दशा ने बुरी तरह दहला दिया था। धुँधली आँखे धधकने लगीं—अंगारे की तरह। इतना आवेश, इतना आक्रोश, इतनी गहरी व्यथा का भाव, इतना आतंक—उनकी प्रशात आकृति में कभी भी झलका नहीं। उनका रोम-रोम जल रहा था।

शाम को काका आए, पर बाबा बोले नहीं।

उस रात उनसे खाना नहीं खाया गया। पानी पीकर औंधे मुँह बिस्तर पर दुलक गए।

मैं दो-तीन बार दूध लेकर गई। जगाया, पर जागे नहीं। आई ने जगाया। मन्नू ने जगाया। सरोज उनके तपते पाँवों को सहलाने लगी, लेकिन बाबा हिले-डुले तक नहीं। काठ की तरह लेटे रहे, छत की ओर अपलक ताकते रहे।

अत में हाथों से रास्ता टटोल-टटोलकर दादी पहुँचीं, “ये बच्चों का मा क्या करते हो? खाना ठंडा हो गया। बहू चूल्हे पर बैठी है।”

बाबा ने सुना नहीं। वैसे ही बहके-बहके बोलें, “परभात की अम्मा, मेरे होते हुए मेरे परभात के बच्चे अनाथ हो गए। परभात की माँ……इन आँखों में क्या यह भी देखना था……सचमुच, आँख कम देखती है……परभात की माँ……अच्छा हुआ! सारा जग

बौरा गया है ! अंधा हो गया है !”

दादी पलकें भींचे रो पड़ीं ।

बाबा छत की ओर ताकते रहे ।

दूध का गिलास पानी हो गया ।

सुबह लाठी लिए, कोट लिए, जूते लिए बाबा के कमरे की ओर बढ़ी । देखा, बाबा अभी तक सोए हैं ।

“बाबा । बाबा !”

हिले-डुले नहीं बाबा । रिचा कहकर उन्होंने पुकारा नहीं ।

बाबा के मुँह से चादर हटाई ।

बाबा का शरीर बर्फ की तरह ठंडा था । मुँह खुला हुआ, आँखों की सफेद चमकीली पुतलियाँ खुली हुईं ।

कौन जाने, वह चमक किस चीज़ की थी ! उसमें उनके कौन-से सपने, कौन-सी आशाएँ, कौन-सी आकाँक्षाएँ थीं !.....बाबा को यदि आँखें नहीं मिलतीं तो शायद वे इतनी जल्दी हमें यों मझधार में छोड़कर न जाते ।





## काला धुआँ

बुझी हुई आग के सहारे एक शव पड़ा है, औरत का ।

बहुत बार मर चुकने बाद, अभी तक भी वह साँस लेती, चलती-फिरती है ।

इसी के पास एक दूसरा शव है—दुधमूँही बच्ची का । उसके दूध के दाँत भी अभी टूटे नहीं । आज शाम तक भी जो चलती-फिरती, चहकती-हँसती थी, पर अब मिट्टी के टूटे खिलौने की तरह निढाल बिखरी है । नन्हा सिर लटका हुआ-सा है—मैले, फटे चीथड़े में दो-तीन बार कसकर लपेटा गया है । खून की कुछ बूँदें मिट्टी के कच्चे फर्श पर ढुलकी हैं । झीना चीथड़ा पानी की तरह भीगा है । ठंड से रक्त जम चुका है । हड्डियाँ सूखे बाँस की तरह अकड़-सी गई हैं ।

पास ही जानवरों के रीते बाड़े में एक और शव है—

एक पुरुष का—अधेड़, कुरूप, नाटा-सा ।

उसे खंभे से जकड़कर बाँधा गया है । उसके दोनों हाथों में रक्त के ताजे निशान हैं । उसने पत्थर पर नारियल की तरह पटक-पटककर अपनी अबोध बच्ची का सिर तोड़ दिया था । यह किसी और की नहीं, उसी की है— जिससे वह बहुत प्यार करता, जिसे गोदी में खिलाता, जिसकी हँसी में हँसता और दुःख में रोता था ।

एक आदमी ने चाकू से अपने सीने की जगह से कुछ बाहर निकाला और टुकड़े-टुकड़े कर मसल दिया ।

यह कार्य कोई बाप ही कर सकता है, कोई अपना ही—पराया नहीं ।

औरत करवट बदलती है । सुबक-सुबककर नन्हीं बच्ची की तरह रोती है । जिसे वह अपने मुँह के टुकड़ों पर, अपने लहू के कतरों पर, अपनी छाती से लगाकर पालती थी, आज वह मिट्टी के ढेले की तरह निर्जीव पड़ी है । कल से कोई नहीं—जिसे वह प्यार कर सकेगी, अपना दिल जिससे बहला सकेगी । उसकी पहली दोनों संतानें भी काल के गाल में अकाल ही समा गई थीं, पैदा होते ही ।

तब भी वह इसी तरह अकेली रह गई थी—निपट-निःसहाय ।

तब भी वह इसी तरह रोई थी—मुँह भींचकर !

पर, उसकी आँखों से अब आँसू नहीं ढुलकते—पलके सूख-सी गई है।

वह छटपटाकर, पत्थर पर माथा पटक-पटककर, अपनी बच्ची की तरह मर जाना चाहती है, किंतु मग नहीं पाती।

शायद चाहकर आदमी को मौत भी नहीं मिलती।

अगागे की तरह धधक्ती रक्तम आँखों से वह अँधियारे की ओर देखती है—  
मशान का मा सन्नाटा। अँधेरा ही अँधेरा।

उमकी देह सिहर जाती है।

वह घुटनों में मिर गडा लेती है।

उसका आधा शरीर नगा है। मैली सी फटी चादर पूरे शरीर को समेट नहीं पाती। हर छोर अधूरा है।

बर्फ़ीली हवा बह रही है। खपच्चियों के किवाड पर से सीटी की जैसी आवाज आ रही है। हिम के भाग से दबी दुर्बल झोपड़ी चरमरा रही है।

वह करवट बदलती है—सामने की ओर देखती है फिर।

उसका पाँत, जिसने अभी अभी आज ही शाम को अपनी मासूम बच्ची की हत्या कर डाली थी—खभे के सहारे लटक रहा है।

अभी कुछ क्षण पहले वह बुरी तरह कराह रहा था। डडों से, हाथों से, लातों से मुक्कों घँसों से और बड़े बड़े पत्थरों से उसे बेरहमी में मारा गया था। प्रहार पड़ते ही वह हर बार बुरी तरह चीख उठता था। हाथों को पाँवों को छटपटाता, रस्सी तुडाने को आतुर होता पर उसकी निर्जीव नमों से उनकी रस्मियाँ हजार गुना मोटी थीं।

लोग उसे गालियाँ देते और उसके मुँह पर निर्लज्ज भाव से थूकते—“यह पत्थर है। निंदयी। इस अबोध बच्ची के गले पर छुरी फेरते हुए इसके हाथ नहीं काँपें होंगे। कसाई। आदमखोर।’ घृणा से मुँह सिकोडकर चले जाते।

एक दूसरे की ओर मुडकर कुछ बड़े चिंतित स्वर में कहते “इस नरभक्षी के जीते जो बेचारी पत्नी वैधव्य का सा जीवन बिता रही है जब से ब्याह हुआ इसकी तीन मन्ताने हुई किंतु इसने एक को भी पहनने के लिए चीथडा तक न दिया। कफन भी दूसरों को जुटाना पडा। जो बाप अपने बच्चों के लिए कफन तक के पैसे न जुटा सके जिस मर्द के जीते जी औरत दूसरों के खेतों में काम करके दूसरों की जूठन पर अपने बच्चों का पेट पाले।’

तब उनकी अर्नागनत नगी निगाहे रस्मियों से बँधे कुरूप पुरुष की ओर नहीं— उस स्त्री की ओर बर्छों की तरह भेदती हुई मुडनी जिसकी उम्र अभी आधक नहीं जिसके शरीर का माम अभी शिथिल नहीं घोर गरीबी के बावजूद जिसके चेहरे का रंग फिटकरी के पानी की तरह साफ है। चीथडों की रीती ठौर पर धूप के चकत्तों की तरह गोरा सुडौल शरीर चमकता है।—बदजात औरत।

कितनी ही निगाहें उसकी उधड़ी गोरी पिडलियों पर अटक जाती। कितने ही लोग एक स्वर में बरस पडते, “यह पुरुष राक्षस है। इसने ब्रह्म हत्या की है। इसे फाँसी

या जनम-कैद होना चाहिए। इसके मुँह पर कोयला पोतकर... इसे फिर कभी मुड़कर इधर नहीं आना चाहिए—यह गाँव हमारा है। इस औरत को देखभाल हम करेंगे।”

औरत अपने तन पर सुई की तरह चुभती हजारों आँखें देखकर शर्म के मारे धरती में दूर तक धँस जाती है। सोचती है—उसके पुरुष ने बच्ची के बदले उसका भी माथा पत्थर पर क्यों नहीं पटक दिया? अभी तक वह क्यों जीवित है? इस दुनिया में जो पैदा हो गया, उसका जीना जरूरी है क्या...?

उसका पड़ोसी, अभी कुछ समय पूर्व, उसका हाथ पकड़कर सबके सामने जबरदस्ती अपने घर ले गया था। बड़बड़ाता हुआ कहता जाता था, “यह कैसे हो सकता है कि तुम भूखी रहो? पड़ोस में रहकर हमारा इत्ता भी धरम नहीं...।” उसके आदमी का नाम लेकर उसने जोर से मिट्टी पर थूका और फिर ढेर सारी रोटियाँ उसके सामने बिखेर दी थी—जैसे पशु के सामने पटकते हैं।

उसकी बच्ची का शव देर तक फड़फड़ाता रहा था—अधमरी चिड़िया की तरह। प्राण भलीभाँति छूट नहीं पाए थे—शायद। रक्त की लाल लकीरे-सी आँगन के कई पत्थरों तक चली गई थीं—कच्चा नारियल बुरी तरह टूट गया था।

तीसरा शव...।

औरत रोटियाँ निगल नहीं पाती...।

विस्फारित नेत्रों से, ठंड से ठिठुरती हुई वह इधर-उधर देखती है—एक काली छाया चील की तरह अंधकार के सागर के ऊपर मँडरा रही है।

दो शवों के बीच औरत फिर बैठ जाती है।

उसे ख्याल आता है—वह रोटियाँ देने वाला आदमी बड़ा भला है। ऐसे ही और बहुत-से भले लोगो ने पहले भी उसके सामने रोटी के टुकड़े फेंके थे। जब वह दूमरो के खेतो पर निराई करती, तब बहुत-से लोग बहुत-से बहानो में उसके पास खडे हो जाते—फटे चीथड़ों के बीच, उसके उघड़े अगों को देखते—उसके दुःख दर्द की आने पूछते और उसकी सहायता करने के लिए आतुर हो पडते।

माघ-पर्व के दिन जब उसके पास नहाने के बाद बदलने के लिए कोई कपडा न था—अँधियारे में वह अकेली ही गधेरे में नहाने चल दी—और पानी में विवम्र बाहर निकलने के बाद एकमात्र चीथड़ा लपेटकर घर आई तो उमने मुना-दो पुरुष फुम फुसाते हुए बातें कर रहे हैं। उत्कंठा और आश्चर्य में एक-दूमर का मुँह ताक रहे हैं।

आदमी कहीं न-कहीं पर चौपाया भी अवश्य होता है शायद।

उसकी पथराई पलके ऊपर उठती है—उसका पति अब रस्मियों में झुका, लोथंडे की तरह गिरा पड़ा है—शायद अभी मरा नहीं। यों मरेगा भी नहीं—मरना इतना आसान है।

वह सोचती है—उसे बच्ची को यों सिर पटक-पटककर नहीं, गँडामे से काटकर मारना चाहिए था। परंतु हौले-हौले किशतों में जीने और मरने का हमारी आदम आदत है शायद!

वह ठड से सिकुडती हुई, झीना कपडा नीचे तक सरकाती है तो चर चर जहाँ से हाथ लगा, वही से खिच जाता है और सारे शरीर में सफेद दरारे-सी पड जाती है।

सात के बदले अब वह शून्य का अश बनकर आँखे मूँदकर सिकुड जाती है और सोचती है—उमका पति ऐसा क्यो है ?

वह शायद पति नहीं, केवल पुरुष है—नर, जिसे स्त्री की कभी-कभी आवश्यकता अनुभव होती है। जहाँ वह सुगमता में, साधिकार प्राप्त हो सकती है—उस ठौर का नाम है घर।

वह जन्म से ही ऐसा है। सारा दिन चीथडो से ढँका, आवारा फिरता है। कौन उसके बारे में क्या सोचता है, क्या कहता है—उसे वास्ता नहीं। पर इधर जब से ज्यादा पगलाया है, स्त्री की उसकी भूख बढ आई है।

वह चौराहे पर खडा होकर, हर राह गुजरती औरत को घूर-घूरकर देखता है। पहले सनातन भुखमरी के बावजूद हट्टा-कट्टा था। आबनूसी होने के बावजूद सुन्दर था। इसीलिए किन्ही अच्छे घरों में कभी-कभी खाने को कुछ अच्छा मिल जाता था उसे।

पर अब जग लगी कील की तरह भदा हो गया है—टुबला-पतला। रात को चाहे कितनी दूर, कही हो—घर आए बिना नहीं रहता।

उसकी पत्नी उससे घृणा और प्यार दोनों साथ-साथ करती है। सभवत इसलिए कि मादा के साथ साथ माँ भी है। वह नोच-नोचकर उसके शरीर के कपडो को फाडती है। उसके बालो को खीचती है। पर जब वह कुछ भी नहीं कहता तो उसे अबोध-अनाथ बच्चे की तरह समेट लेती है और फिर चुपचाप रोती है।

उसे ख्याल आता है, उसके जर्जर शरीर को बहुतो ने, बहुत ढग में नोचा है। अपने बड़े बड़े नाखूनो से उतारकर भरपेट मास खाया है और फिर उसे छिटककर दूर फेक दिया है—जूठन का तरह।

वह उन नाखूनो के निशानो की ओर देखती है और न जाने कितनो को, कितनी गालियाँ देकर अपने कलेजे की आग उगलती है और शात होने का प्रयत्न करती है।

उसे चारो ओर पजे हाँ पजे, नाखून ही नाखून दीखते है।

वह फिर अपने नाखूनो को देखती है—जिनमें रक्त के छोटे वार्निश की तरह चिपक गए है।

काँपते हाथो से वह अपनी बेटा का शव पास खीचती है। नदी के किनारे ढुलकते, चिकने पत्थर की तरह बच्ची का सिर लटक रहा है। शरीर बर्फ के टुकडे की तरह ठडा।

वह उसे और पास खीचती है ।

बच्ची के सिर के बिखरे रूखे बालो पर कत्थई गोद की तरह खून जम गया है। उसकी आँखे मुँदी है, होठ खुले। दूध के दो दाँत बाहर की ओर निकले—जैसे वह गहरी नीद में डूबी, डरावनी हँसी में हँसने का प्रयत्न कर रही हो।

उसे लगता है, अभी-अभी वह जागेगी तो दूध पीने के लिए तडफडाएगी। हाथो से कुछ टटोलती हुई होठों को चिपचिपाएगी और फिर हाथ कुछ न आने पर जोर-जोर

म रोना शुरू कर देगी।

उसकी साँस तेजी से चलने लगती है। नसो में भयकर तनाव-सा आता है, सिर फटने को है। शरीर जलती रस्सी की तरह ऐँठने लगता है। वह अनुभव करती है— धीरे धीरे वह भी मर जाएगी। सुबह चीलो की तरह लोग चारों ओर से घिर-घिरकर आएँगे और उड़ जाएँगे।

तब उन्हें बहुत दुःख होगा। सब पछताएँगे कि उम्मे एक रात भी अकेली क्यों रहने दिया। यदि कोई पास होता तो वह आत्मघात न करती। आत्मघात करना पाप है। इससे प्रेत योनी मिलती है। आदमी की आत्मा भटकती रहती है। उम्मेका अगला जन्म मनुष्यों के नहीं, भूत प्रेतों के बीच होता है।

एक सुन्दर युवती का भूत बनना किमी को भी भाता नहीं।

उस औरत को उन सब पर दया आती है। और उसका हाथ फिर बच्ची का धड़ महलाने लगता है।

वह बार-बार पलके खोलती है बार-बार मीचती है। बिछौने पर ही बैठ जाती है। उम्मे अहमाम होता है, वह धीरे धीरे पिशाचिनी बननी चली जा रही है। उसके दाँत कुछ बाहर की ओर निकल आए हैं। नाखून भी कुछ कुछ लंबे से। शरीर का रंग काला म्याह हो गया है।

वह जोर में ठहाका लगाकर हँसना चाहती है, पर हँस नहीं पाती। उसकी जीभ तालू पर चिपक गई है। साँस समाप्त हो चली है।

अमहाय होकर फिर बिछौने पर बिखर पड़ती है वह। बहुत दूर तक पड़ी रहती है—काँठ की तरह अचेत सी।

जब होश आता है तो उसका हाथ सबसे पहले अपने दाँतो पर जाता है, जो सचमुच बहुत छोटे हैं—हमेशा की तरह। फिर नाखूनों को सहलानी है। बच्ची के शरीर की तरह उसका तन भी ठंडा है।

बच्ची के धड़ पर माथा टिकाकर वह फूट फूटकर रोने लगती है।

जब बहुत दूर तक रोने की आवाज थमती नही, तो जानवरों के बाड़े के पाम बँधा शव छटपटाना है—“अरी, बदजात! रो क्यों रही है? परमात्मा के लिए घड़ी भर को मान दे। पता नहीं कितने दिनों में मीया नहीं।”

सिसकना थम जाता है। वह अपने मुँह में कपड़ा ठूँस लेती है। उम्मे लगता है, अगर वह रोएगी नहीं तो सचमुच मर जाएगी। उम्मेका दम घुटने लगता है।

वह नहीं चाहती कि उसका पाँत घड़ी-भर भी चैन की नींद न ले सके, क्योंकि कल उसे लंबी यात्रा तय करनी होगी। बहुत दूर तक पहाड़ी रास्ता पार कर, पैदल हाँ जेल तक जाना होगा। धावों से उसका शरीर भर गया है। जगह जगह माम उतर गया है। लहू के काले निशान दूर से ही दीखते हैं, जैसे साँप डम गया हो।

उसका उदास मन गहरे विराग में भर जाता है।

अभी तक भी दूर किसी बर्फाली अँधेरी घाटी से मीयारों का क्रन्दन साफ सुनाई

दे रहा है। जिम दिन किमी की मृत्यु होती है, सीयार इमी तरह रोने हे। उसे लगता हे आज भी कोई मरा है। कोई मरने वाला है।

एक छोटा सा शव गलवाही के बीच थामती है। बहुत जोर से दबाकर छाती से लगाती है—छाती से दूध उतर आता है। उसे अहमाम होता है—वह भी माँ है।

फटे बाँस की आवाज से उसकी तद्रा फर टूटती है। लगता है एक मधुर सपना बिखर गया। वह फिर उमी छटपटाहट के बीच घुटने सी लगती है।

बाँस की दगर से दग्वती है फिर अचकचाकर। उसका पति गरदन धरती पर झुकाए धमगादड की तरह तडप रहा है। जमीन पर कुछ पानी बिखरा है। कीचड के बीच, जानवर की तरह लम्बा मुँह किए लंबी जीभ से वह पानी चाट रहा है।

वह चाहती हे उधर जाए। उसके घावां से भरे शरीर को सहलाए। अपने हाथो एक जग, अंतिम बाग पानी पिलाए पर दरवाजे पर गाँववालो न नाला लटका दिया हे—बहुत भारी।

वह टपकती झीनी छन की ओर देखती ह।

दूर किमी घर मे से चिगाग भी फूट रही ह।

तभी टट्टर चमगाता ह। आगन मे किमी क चलने की आहट आती है। कोई उसकी ओर भँह किए हाल मे बाहर मे फुमफुमाता हे

“पचायत बेठा ह ।”

,”

‘चौधरी ने त किया हे कि भजन क वन पर मिट्टी का ढेल छिडक्कर, आग लगाकर बच्ची का सा उमी म डाल दिया जाए नही तो गाँव की बदनामी होगी। पुंलस का अभा पता नही इसलिए पयाल दबी की टबी रह जाणगी।”

औरत का शव भार भी ठडा पडने लगता ह।

लाग कहत हे कि भजन का फाँसा हागी और तुझे उमर कैद। पुंलस सारा गाँव नूट लेगी। बह बेरिया को लाज लुटेगा सो अलग।”

वह चुप है कुछ कह नहीं पाती।

गाँव क सर लाग तुम्हे बहुत चाहत हे। उनकी डच्छा हे कि तुम गाँव मे ही रहा। हाई पूछे ना कह दना तुम्हार घर मे आग लग गई थी जिममे सब जलकर मर गए।”

‘चौधरी का लटका तुम्हारे लिए सब कुछ करने को नैयाग है। बिमुन प्रधान भी तुम्हारी मदद करने म हाई कमी नहीं करेंगे। तुम मुख से रहोगी ।”

भामने म कोरे स्तर नही आता, केवल मुबक मुबककर सिमकने का स्वर व्याप रहा हे।

‘तुम बोलती क्यो नहीं।’

“गॉववालों से मैं क्या कहूँगा ? सुबह होने से पहले ही पंचायत फैसला कर लेना चाहती है।”

अब भी कोई उत्तर नहीं मिलता तो वह उसका झोंटा पकड़कर खीचने का प्रयास करता है।

फटा चीथड़ा हवा में उड़ जाता है इस बार।

नंगी देह गीली मिट्टी पर लकीर बनाती हुई दूर तक असहाय-सी घिसटती चली जाती है। और दहाड़ मारकर रोने लगती है तो वह घबराकर भाग जाता है।

अब फिर अकेली है औरत। उसके पास तन ढकने के लिए अब कुछ भी नहीं है। तेज हवा के साथ अधियारे में फटे चिथड़े भी न जाने कहाँ उड़ गए हैं। बहुत खोजने पर बित्ते भर के एक-दो टुकड़े मिलते हैं, पर उनमें क्या होगा ?

सुबह होने तक सब घिर आएँगे। उनके सामने वह अपनी लाज कैसे बचा पाएगी ?

औरत कॉप उठती है।

भयत्रस्त दृष्टि से आसमान की ओर देखती है—कुछ घड़ी रात अभी बाकी है !

महसा उसके मस्तिष्क में एक विचार कोधता है। बेटी की लाश उठाए वह अधियारे में बाहर निकल पड़ती है।

बिना कफन के दो नंगे शव जंगल की ओर भाग रहे हैं। वृक्षों के झुग्गुटे में, कमी घनी झाड़ी में छिप जाते हैं—पत्तों के ढेर में ...।

पहाड़ी के इस छोर से सब साफ दीख रहा है। सहमी-सहमी-सी, कॉपती-कॉपती सी वह भयभीत आँखों से देख रही है।

भोर से पहले ही लोग घिर आए हैं। उसके कच्चे आँगन पर घेरा बनाकर खड़े हो गए हैं। भूखे भेड़ियों की तरह कुछ खाँज रहे हैं, कुछ टटोल रहे हैं। कुछ न मिलने पर उनका आक्रोश बढ़ रहा है।

झोपड़ी के तिनके-तिनके बिखेर दिए हैं उन्होंने, मिट्टी की दीवारे नोच-नोचकर उधेड़ डाली हैं। खंभे के सहारे बंधे किसी अमहाय, अकेले, अधमरे आदमी पर सब लाठियों से, धूमों से, लातों से प्रहार कर रहे हैं।

औरत देख नहीं पाती। कॉपती हुई जोर से पलके मूँद लेती है।

कुछ देर बाद दूर कहीं धुएँ की लट दीखती है उमें ...।

खंभे के सहारे बंधे आदमी के चारों ओर मख्खी धाम का ढेर लगा है। धाम जल रही है और काला धुआँ आसमान को छू रहा है। काली लकीर-सी चली गई है दूर तक !

□

## झुका हुआ आकाश

पता नहीं क्या हो गया है उसे। शाम को जब भी ऑफिस से घर लौटता हूँ—मुँडेर पर काठ के-से दो लंबे टुकड़े नीचे की ओर हवा में झूलते दिखलाई देते हैं। मैं दूर से ही समझ जाता हूँ, वह बब्बू को गोदी में उठाए, सड़क की ओर पीठ किए, बदर की तरह बैठा होगा। कितनी बार मृण्मयी से कह चुका हूँ, उमे बच्चो से यो न खेलने दो। पर वह सुने तब न ।

छुट्टे की न जाने क्या आदत हो गई है इधर। बब्बू को कधे पर उठाए सारा दिन आवारा भटकता रहता है। कभी बस स्टॉप के 'बाई रिक्वेस्ट' के नीचे अकारण घंटों तक धूप में खड़ा रहेगा कभी डिपो या विनयनगर रेलवे स्टेशन की भगदड़ में निकल जाएगा। कभी किंचित और आगे झाँगगयो की तरफ चला जाएगा। रात को देर तक न लौटने पर घर के लोग परेशान होकर सारी बस्ती ढूँढते रहे, उसे चिन्ता नहीं। अन्त में हो-हल्ला मचाता हुआ, अहिरावण की तरह बब्बू को कधे पर चढ़ाए प्रकट होगा। किन्तु सीढियों पर मुझे खड़ा देखते ही महसा सहमकर सिकुड़ जाएगा ।

“फल कहाँ से आए ?” बब्बू के हाथों में सड़े-गले फलों के दो टुकड़े देखकर पूछता हूँ तो वह अजनबी की भाँति मेरा मुँह ताकने लगता है। फिर अबोध भाव से कहता है, ‘मडी से ।’

“पईसे थे ?”

“ना ?”

“तो ?”

“मॉंगकर लाया ।” वह चुप हो जाता है अजाने ही ढेला फेककर ।

किन्तु कही ब्लेड का सा टुकड़ा छीलता हुआ पार हो जाता है। कितनी अजीब बात है। लोग देखते होंगे तो क्या कहते होंगे। भले ही हम अधिक अर्जित नहीं कर पाते, परतु इतना तो कमा ही लेते हैं कि रूखा-सूखा खाकर स्वाभिमान से जी सकें ।

किन्तु कभी अकल भी आएगी छुट्टे को, मुझे नहीं सूझता । ब्याह हो जाता तो



अब तक एक-दो बच्चों का बाप बन चुका होता । इसकी उमर के लडके कब के बीए, एम ए कर चुके हैं अच्छे अच्छे कप्टीशानो में आकर, घर गिरस्ती बसाकर सुख चैन से रहते हैं 'लेकिन एक यह चीड के दरख्त की तरह' ।

अनायास तब मेरी निगाहे सूखे शरीर पर अटक जाती हैं बाल बिखरे, होठ फटे, जिनसे कभी-कभी लहू टपक आता है । पर, वह उधर देखता तक नहीं ।

वही कॉलेज के जमाने की धारीदार पैट, कथई कलर की सफेद बटनो वाली फटी-सी शर्ट अब तक चली आ रही ह। पिछली फरवरी से, बिना फांते का फटा जूता घमीटता रहता है नए कपडे सिलाए, छुए तक नहीं ।

मृण्मयी अबोध बच्चे की तरह कभी उसे पुचकारती है, मनाती है, तब कही सिर धोने देता है। पिछले चार-पाँच महीनो में बाल नहीं बनवाए। नाई आता है, कधी कैची की दुकान फैलाता है और खिसियाता हुआ समेटकर चला जाता है। जिन्दगी भर भी बाल घोसले की तरह उलझे रहे उमें चिन्ता नहीं ।

कभी-कभी सोचता हूँ—उमसे बोलूँ, बाते करूँ। पर वह न जाने क्यों मुझसे इतना कतराता है। मैं पढ़ने बैठता हूँ तो वह कमरे में झाँकता तक नहीं, दोपहर की छाया को तरह सिमटा किनारे किनारे महमा सा आता है और छत पर निकल जाता है।

मेरे प्रान्तवशियो को, आत्मभावी मुहद स्वन्नो को, सम्बन्धी शृभचिन्तको को मुझसे अधिक उसका क्लेश है। मुझे हजार बार हजार तरह से कर्तव्य का बोध दिलाते रहते हैं, 'छुट्टे को रांची या आगरा भेजा दो। मेटल हॉस्पिटल में कुछ दिन रहेगा तो ठीक हो जाएगा। और ।' मृण्मयी भी कुछ वुछ ऐमा ही सोचता है, मैं नहीं जानता। किन्तु इतर कही भेजने पर वह अच्छा होगा—मेरा अतकरण नहीं कहता। इतना सकोची, सवेदनशील, भावुक वहाँ एक दिन भी जाँ सकेगा ?

पर इधर मुझे अहमास होता है, मरुकाश में अकूप से निकल आए है। छुट्टे कुछ कुछ समझदारों की सी बाते कर लिया करता है कभी। आधी रात को हो हल्ला मचाता हुआ—'उठो, उठो सवेरा हो गया है ।' कहता अब घर के लोगो को नहीं जगाता। न दूध की बोतले थामे अँधेरे में ही मिल्क डिपो की ओग निकल पडता है। बस, आँखे खुल जाती है ता वेसा ही छत को आर देखना पडा रहता है। रोज मुबह पेपर खोलकर देखता है। 'वाटेड' के हर कॉलम को अडरलाइन करता है। उसकी भाभी जब शैतानी करने पर बब्बू को मारने लगती है तो हाथ पकड लेता हे फिलॉसफी की अपनी पुस्तक में से 'क्वाट इज—इज' वाला अध्याय आद्योपान पढकर सुनाता हे। फिर गभीर होकर कुछ सोचता ह। माथे की मिलवटों को दबाता हुआ पूछता है—कुछ-कुछ ऐमा ही कि ददा अम्मा को रगुलर खर्चा भज पाते है या नहीं ? बब्बू अब बडा हो गया। इन खामचे-जैसे स्कूलो में बिगड जाएगा। 'ददा की जिन्दगी इस गृहस्थी के जजाल में उलझकर बेकार हो ग.

मृण्मयी उसकी हर बात पर 'हों' में 'हों' मिलती है। उसकी दृष्टि में इतना बड़ा होने के बावजूद वह बम्बू से बड़ा नहीं। यदा-कदा समझाती रहती है वह—'सडक पर बीड़ी की डंठियाँ क्यों ढूँढते हो? पीना है तो सिगरेट पी लिया करो। उसके जेब-खर्च के लिए वह रोज पैसे देती है तो छूता तक नहीं। लेकिन उसके बहुत ज़िद करने पर असमजम में, सारे पैसे मुट्ठी में भींचे रहता है। फिर गाँठ बाँधकर सिरहाने रख लेता है। कहता है, 'इस तरह ढेर सारे पैसे जुटाकर अगली पढ़ाई के लिए यू.के. जाऊँगा' ।

"यो फटेहाल नग-धडंग आवारा घूमने में बदनामी होती है।" मृण्मयी समझाती है तो वह विस्मय से उसकी ओर देखता है। फिर उल्टा उसी को उपदेश देना शुरू कर देता है—"घूमने-फिरने से एबिलिटी बढ़ती है, भाभी। यू.डोट." कहकर अंतिम शब्द 'ना' मिर हिलाकर, बिना कहे ही पूरा कर देता है।

"पास-पड़ोस के लोग कानाफूसी करते हैं। दिनभर नगे-अधनगे बच्चों की तरह मुँडेर पर बैठे रहना आपको अच्छा लगता है? औरत, बहुएँ होती हैं सबके घरों में।"

इस बार वह कुछ न कहकर निराधार शून्य में ताकता है। फिर गूँगा-सा कुछ टटोलता हुआ उठता है और चला जाता है।

बालकनी या मीढियो में जहाँ भी रचमात्र ठोर मिली नहीं, गमछा बिछाकर बैठ जाता है। कागजों को फाड़ फाड़कर आयताकार दो तीन गाँड़ुयों बनाता है। पत्थर के पेपरवेट से बड़े जतन से दबाता है। एक चौड़े-से टुकड़े पर पहले मेरा नाम लिखता है, फिर अपना और फिर उसके नीचे एक बड़ा सा पीपल का पत्ता बनाता है। लिखता है—पुराण-पुरुष का जन्म इमां में हुआ था ;

पढ़ने-लिखने, घूमते फिरने से जब थक जाता है, तो किसी खभे के सहारे, बगल में बहि मोड ननकर खड़ा हो जाता है। स्वामी त्रिवेकानन्द के-से गाभार्य भाव से आसमान की ओर देखने लगता है। तपती भरी दुपहरी में, छत पर अकेला बैठा आकाश में उड़ती इक्की दुक्की चीलो या हवा में तैरते ग्लाइडरो को गिना करता है। मेरे मेहमान आते हैं तो कमरे से चुपचाप उठकर बाहर चला जाता है। चाहे कितनी भी भूख ज्यो न लगी हो कभी शिकायत नहीं करता। बीड़ी पीता है तो मुझे देखते ही हथेली में मसल मसलकर बुझा देता है।

कभी कभी पत्रान्त में बड़ा अपनी घुटनों के पास फटी मैला पैट का अपलक देखना है तो एक त्रिचत्र सा तटस्थ भाव उसकी आबनूसी आँखों पर बिखर जाता है। लगता है पानी में बहुत दूर तक कुछ टटालन के पश्चात् अपने रीते तथों को देख रहा हो।

"तुम्हारा पैट इतना फट गई। पता नहीं कैसे पहनते हो  
वह कुछ नहीं कहना।

'कल गाँव से बुआ आने वाली है। कुछ मेहमान और भी। क्या सोचेंगे। नए कपड़े पहन लोगे, हाँ'

वह 'हाँ' का उत्तर नहीं दे पाता ।

"तुम बाहर से आए मेहमानों की तरह क्यों रहते हो ? जिस चीज की जरूरत अनुभव करते हो, अपनी भाभी से माँग क्यों नहीं लेते ?"

उमका मौन टूटता नहीं। मेरे बार-बार पूछने पर केवल इनना ही कहता है कि उसे जरूरत ही अनुभव नहीं होती कभी ।

"मुझे लगता है, अब तुम धीरे-धीरे ठोक हो जाओगे। अगली जलाई से फिर तुम्हें यूनिवर्सिटी में एडमिशन दिला देंगे—हाँ ?"

वह मेरी ओर देखता है ।

"तुम्हारे कारण सब परेशान है। अम्मा को हम इस उम्र में आकर भी सुख नहीं दे पाते। कैसी ट्रैजडी है ।"

छुट्टे की आकृति वैसी ही भावना-विहीन। मुझे अहसास होता है संभवतः वह समझ नहीं पाता—ठीक-ठीक ।

मैं पूछता हूँ, "पिताजी का कौन गाँव में लैटर्ग आया। तुमने पढा ? शायद अगले हफ्ते यहाँ पहुँचेंगे।"

इस बार भी वह पहले तो वैसा ही स्थिर रहता है फिर हौले से उठता है और आश्वासन से मेरी ओर घूरकर देखता है—"नहीं। वे तो लॉन्ग ईयर ही गुजर गए। इम्पॉसिबल। उँऽऽ ।" उठकर चला जाता है।

मैं अब कुछ भी कह सकने की समर्थता जुटा नहीं पाता ।

दिन भर का थका, पना नहीं कब किताबों पर खिंची अंकों की अचोन्ही आकृतियों के बीच माथा टिकाए गहरी निद्रा में डूब जाता हूँ ।

रात को अजीब-से बहके बहके सपनों के साथ एकाएक नींद टूटती है। कुहनी पर मुड़ा, गरदन के भार से दबा हाथ 'सो' जाता है। देखता हूँ, धड़ी की छोटी सुई दो या तीन अंक छूने वाली है। मृणमयी की गरम-गरम सोंभे में पीठ झूलसा रही है बब्बू उलटते मठक की तरह लेटा, नींद में ही होत इस तरह से हिलाता है, जैसे माँ का दूध चूस रहा हो। पेट फूला है। या तो जन्म में ज्यादा भग अथवा वह अब पेशाब करने ही वाला है ।

मैं स्लीपर घसीटे बाथरूम जाने लगता हूँ। खुल बरामदे में गुजरता हुआ देखता हूँ—छुट्टे का बिस्तर रीता है। पलंग पर पानी का ढूलका, चादर बिखरी, ताकिया दूर गिरा हुआ ।

मुँडर, गुमलखाने या आम पास कहीं भी दीखता नहीं। मैं नीचे उतरता हूँ। गलियारे पर सोए फिग्रा कुन एक साथ भौंकते हुए दुम हिलाकर पीछे-पीछे चलने लगते हैं। मैं गूम्से में दा चार डेले फेकता मेन रोड पर निकल जाता हूँ ।

लगता है, आने जाने वाले सारे लोग अब मर गए हैं। अपने अपने घरों की चहारदीवारी के अन्दर भिचे कितने ही मशान के शव की तरह पड़े हैं ।

थोड़ा आगे, धुंधली अंधेरी मडक पर हर कदम बच-बचकर इस तरह रखता हूँ, जैसे चौड़े पाट की नदी पार कर रहा हूँ। तभी दूर पालम की ओर गुजरता कोई 'बोइंग' मेरे सिर के ऊपर मन्नाटे की एक बहुत भारी परत तराशता निकल जाता है।

उसके गुजरने के पश्चात् तराशी जगह के बीच पडी चौड़ी खाई फिर भर जाती है। मैं चिन्तित-सा, उदाम-मा कुछ कदम और चलता हूँ। इधर-उधर सशक्त देखता हूँ। सूने चौराहे के पास 'बाई रिक्वेस्ट' के नीचे गठरी-सी थामे, कोई खूँटे की तरह खडा है।

मैं लपककर पाम पहुँचता हूँ "छुट्टेऽऽ ।"

छुट्टे वैसा ही खडा रहता है। अचकचाता नहीं—जैसे उसने देखा ही न हो।

"कहाँ जा रहे हो इस आधी रात में ?"

उसकी पलके कही निराधार टिकी है।

"भाभी से झगडा हुआ ?"

"ना . . ."

"तो ?"

वह कुछ नहीं बोलता। मैं भी चुप रहता हूँ—उसके अधनगे शरीर पर टगे, तार तार चीथडो को देखता हूँ। सेवार की तरह उलझे बालो को।

"छुट्टे, क्या हो गया ?" बडी मुश्किल से कह पाता हूँ।

"मचमुच मैं पगला गया हूँ ।" अपने मूखे हाँठो को जीभ से भिगोता हुआ छुट्टे मेरी ओर देखता है—"आप लोगो को अधिक दुख दूँ, अच्छा नहीं लगता। कही दूर अकेले में जाकर मर जाना चाहता हूँ दहा ।" छुट्टे की आवाज लडखडाकर मूख जाती है। परन्तु जैसा होता ता वह रोता। उम्का गला गदरा जाता, लेकिन लगता है वह इस सबमें मैं पहुँच चुका है।

"तुम्हारे यो मर जाने में हमें सुख मिल जायगा, छुट्टेऽऽ ?"

छुट्टे दाँतो के बीच होठ काट मेरी ओर देखता है, फिर आँधयारे की ओर, फिर आँखे भिचामधाता पना नहीं कर ब चीथडो की पोटली उठाना है। मेरे पीछे पीछे आता है और हाँले से पहले की तरह नारपाई पर बिखर पडता है ।

रात कुछ और आगे सरक गई होगी— जो स्वाभाविक है। वह करवट पर करवट बदलता रहता है। आँग फिर पना नहीं क्या मोचकर धीरे में उठता है। अँधरा छत की मुँडेर पर धुनो पर ठोडा टिकाए बैठ जाता है और दूर कही स्टेशनरी डिपो की टिमाटमाती पीली बिनियाँ गिनने लगता है।

□

## बरस बीत गया

पर यहाँ भी लगता नहीं सुमन का मन। जब से आई है, बुझी-बुझी-सी रहती है। डॉक्टर कहते हैं—“बढ़ने की बजाय तुम्हारा 'वेट' दिन-पर-दिन घट रहा है। सभी तो टहलने घूमने जाती है, फिर तुम क्यों नहीं जाती? समय पर दवा क्यों नहीं लेती? किसी से बातें क्यों नहीं करती? बोलने से मन हल्का रहता है।”

लेकिन वह सुनी अनसुनी कर देती है।

हर हफ्ते माँ का खत आ जाता है। एक ही बात हर बार दुहराई जाती है। बाबूजी डॉक्टर भण्डारी से रिपोर्ट माँगते रहते हैं, एक्स रे की काली-काली प्लेटें भी। और फिर लौटती डाक में लंबे पत्र भेजते हैं। जिनमें साइकलॉजिकल ट्रीटमेंट की बातें रहती हैं और उबानेवाली जिरहे भी। बाबूजी स्वयं डॉक्टर नहीं, फिर डॉक्टरों की हर बात का पोस्ट मार्टम क्यों करते हैं? शायद इमीलिए न कि वे सूझ-बूझ वाले वकील कहे जाते हैं। न मालूम क्यों, अज्जु हर महीने अपने जेब खर्च से पैसे बचाकर भेजता है। अन्त में लिखता है—बाबूजी से जिकर न करना, जिज्जी। छुट्टियों में एक बार जरूर आऊँगा। जब से तुम गई हो घर सूना-सूना लगता है। कहो तो कुछ किताबें भेज दूँ, इंटरेस्टिंग है। इन्दर भैया चिट्ठी नहीं भेजते। लेकिन हाँ, भाभी ने एक चँदेरी की साड़ी भेजी थी—पता नहीं क्या सोचकर।

उसकी आँखें धुंधला गई हैं। स्पष्ट कुछ दीखता नहीं। वह केवल अँगुलियों पर गिन गिनकर कुछ घटाती-बढ़ाती है। बरस पूरा होने में अभी कूल कितना समय है।

खोए-खोए से बूढ़े ताऊजी (ठाकुर माहब) उस दिन पिडदान करेंगे। उसे ख्याल आता है कि कोसी ताई भोर में पहले ही जागकर नहा धोकर गो-ग्रास देगी। उनकी आँखों में साँझ के झुलमे बादलों की बुझती लाली होगी।

ताऊजी अपना एक हाथ दूसरे हाथ पर धरकर, गहरी साँस भरकर दूर कहीं दूँढ़ने लगेंगे—अनन्त की माँ, हमारा अनन्त मरकर भी अमर हो गया। तू रो-रोकर उसकी आत्मा को दुख क्यों देती है? फिर अपने आप बुदबुदाएँगे। स्वयं ये बातें करने

लोगों .. बैरी निकला पूरब जनम का। इस बूढ़ापे मे आनके आज यह दिन भी देखना पडा।

“सच-सच कहा, अनन्त भैया, तुम्हे कभी हिचकी लगती है ? परेड रोज करते हो ?”

“हॉ।”

“पहाडी पर भी चढते हो ?”

“हॉ।”

“तो बहुत थक जाते होंगे न। घुटनो मे दर्द होता होगा ?”

वह सिर हिलाकर उमकी ओर देखता है।

“जब तुम थककर, चूर होकर ” कहती-कहनी वह अटक जाती है, “तब एक क्षण के लिए ।”

“क्या।”

“कुछ भी तो नही।” कहकर वह अपने आप अकारण हँसने लगती है, “सच्ची, मे कभी-कभी पगला जाती हूँ। एकात मे घटो बैठी-बैठी पता नही क्या-क्या सोचती रहती हूँ। कभी तो यो ही आँखो मे जल छलक आता है। तुम भी बडे ‘वो’ हो। मुझे चिट्ठी मे ‘कैट’ क्यो लिखा ? पान नही लोंगे ?”

“न।”

“क्यो ? पहले तो रोज लेते थे।”

“अब छोड दिया। दाँत खराब हो जाते है न। कैडेट लोग ..।”

“कैडेट लोग क्या आदमी नही होते ?”

‘आदमी तो होते है, लेकिन जानवर नही होते। घाम पात नही चबाते।’

सुमन आज अपनी हार पर तिलामिलाती नही, खुश होती है। इतने लम्बे असे बाद जब म अनन्त आया है, सुमन भी कुछ बदल-सी गई है। कभी तो एकदम गम्भीर बन जाती है। काफी ‘एजेड-सी’ लगती है।

एक गिलौरी वह उसकी ओर बढ़ाती है—“प्लीऽऽज।”

बिना किसी प्रतिरोध के अनन्त पान मुँह मे डाल लेता है।

देहरादून म पान की दुकाने नही होती ?”

“होनी क्यो नही। बहुत दुकाने है। कभी चल के देखना।”

“मुझे देहरादून बहुत अच्छा लगता है।”

“तूने कब देखा ?”

“देखा तो नही, बस यो ही। बिना देखे भी तो बहुत-सी चीजे अच्छी लगने लगती है न।’ वे दुकान से दूर चले जाते है।

“मुझे इसी पिछले महीने एक ‘लव-लेटर’ मिला था।” सुमन अपने आप कहती है, जैसे स्वय को सुना रही हो।

“कहाँ से ?”

“हमारे एक क्लासफेलो ने भेजा था।”

“क्या लिखा था ?”

“बड़ी मजेदार बातें थीं।”

“तो तुम्हें अच्छी लगी होगी ?”

“अच्छी नहीं लगी।”

“तो तुम्हें गुम्मा आया होगा ?”

“गुम्मा भी नहीं आया। सच, कुछ भी नहीं हुआ—मर्त्वा।”

‘बड़ी अर्जाब हो तुम—कुछ भी नहीं हुआ।’

उसके बाद अनन्त दो तान बार फिर दिल्ली आया था। लेकिन ट्रेनिंग पूरी करके जब वह हफ्ते भर के ज्वॉइनिंग टाइम में यही दिल्ली से हाकर गया था तब वह अजमेर वाली नानी के साथ पुष्कर गई थी, जहाँ उसने रेत में दौड़ते ऊँगे का पहली बार देखा था।

लौटने पर अम्मा ने बतलाया था—अनन्त रगीन तम्बोर खीचनेवाला केमरा लाया था। तेरे कमरे से तेरा अल्बम उठा ले गया कहता था कुछ और रगीन तमवीरे लगा दूँ। मेरे पास पडी पडी बेकार हो जाएँगी। न जाने कहाँ-कहाँ जाना पड़े। फिर उन्हें में कहाँ फिराता रहूँगा।

सुमन अल्बम खोलती है। हाई स्कूल के इम्तहान के लिए जो फोटो खिचाई थी, पामपोर्ट साइज की, उनमें एक कम थी। उसके बदले छह-सात नई रगीन तस्वीरें थीं। कुछ फोटो, जिनकी पीठ पर बड़े बड़े अक्षरों में ‘ए’ लिखा था अग्रेजी का ‘अ’।

तभी दो तीन महीने बाद अनन्त का एक छोटा-सा पत्र आया था। कुछ भी तो नहीं लिखा था। सब जगह भरनेवाली बातें थी—स्कूल राज जाया कगे, ‘एक्जाम’ के बाद क्या सोचा है ? पान न खाया करो। मैं ठीक हूँ। तुम ठीक होगी।

उमके पश्चात् वह मैट्रिक पास भी हो गई। तब भी शायद कोई खत था। फिर लम्बे ३० से तक कुछ भी नहीं, फिर एक लम्बा पत्र।

वह अँगुलियों में हिसाब लगाती है। सम्भवतः सही पत्र था। उसके बाद तो ।

“दिसम्बर में मेरा साल पूरा हो जाएगा। तब लम्बी छुट्टियों में घर आऊँगा। जाडो में बरफ देखने नैनीताल जाने की सोचता हूँ। तुम भी चलोगी न। मैंने तो डिसाइड कर लिया है। अच्छा, बतलाओ, मैं तुम्हें मुफ्त में लेफ्टिनेट की बीवी बना दूँ तो क्या इनाम दोगी ?”

जब अनन्त पहली बार देहरादून में आया और खूब बढ चढकर मिलिट्रीवालों की बडाई करने लगा था तो उसने कहा था—“मुझे मिलिट्रीवालों अच्छे नहीं लगते। बड़े ‘रफ’ होते हैं, अनन्त।”

“होगे .।” तटस्थभाव से अनन्त ने देखा था, “अच्छा, एक बात बता। तू पागलो की तरह बाल क्यों बिखेर रही है हरदम ? जूडा क्यों नहीं बाँधती ? साडी के साथ ‘मैच’ करता ब्लाउज क्यों नहीं पहनती ? लेफ्टिनेट साहब को ऐसे लोग पसन्द





डाकिया नाराज़ है। अनन्त की चिट्ठी नहीं लाता। ताऊजी उदास रहते हैं। ताई कभी दुपहरी में अम्मा के पास बैठती है, तो दुल-दुल रोने लगती हैं। उसे भी इधर क्या हो गया है! वह अकारण क्यो परेशान रहती है। उस पर अम्मा की आवाज़ आती रहती है—“सुमी, कहाँ चली जाती है तू। इन्दर कब से चाय के लिए चिल्ला रहा है। देख, आज महरी नहीं आई। जरा चौका ही साफ कर दे। चाय मैं उबाल लूँगी।”

“माँ……!” सुमन तुनककर कहती है—“तुम दिन-रात चौक-चौके की बातें किया करती हो। कुछ पता भी है, यहाँ एक के बाद एक चौकियाँ हाथ से निकलती जा रही हैं। लगातार डिफीट हो रही है। देश की प्रेस्टीज डॉव पर लगी है। और……तु-ऽम ऽ।”

मा चुप हो जाती है—अपनी पुरानी आदत के अनुसार। और बिना अधिक हील-हुज्जत किए काम पर जुट जाती है।

उस पार शोरगुल-सा सुनाई देना है। एक जगह पर बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी दिखलाई देती है। सड़क पर ट्रैफिक रुक गया है। साँस रोके सब सुन रहे हैं—ढोला चौकी……कल रात की लगातार भयंकर गोलाबारी के बाद……हमारी सेनाएँ मजबूती से मोर्चा संभालने के लिए……।

ताऊजी की आँखों का रंग सफेद हो जाता है। ताई से खाना नहीं खाया जाता।

बाबूजी उड़े-उड़े-से रहते हैं। घुटने पर घुटना टिकाए, गरदन ईजी-चेयर पर दुलकाए सिगार का गहरा कश खींचते हैं—“आज गलत पैरवी कर बैठा, रायसाहब। जज भी उल्टा डिसेजन दे गया……। सुम्मी, तू दिन-रात रंडियों में क्यो चिपकी रहती है? भई, स्कूल की पढाई-लिखाई भी चौपट हो गई……। अरे, हाँ, खबर क्या है बेटा, वालों का क्या बना……? ऐसा क्राइसिस यार जिन्दगी में नहीं देखा। तीन दिन से नींद नहीं आ पा रही है। डिफेन्स अब बिना फारिन एड के चल नहीं सकता। क्या करे?”

घर में अब अधिकतर सन्नाटा रहता है। खाते-खाते अम्मा का हाथ रुक जाता है—“मामने के ठेकेदार साहब को तो देखो, एक ही ना लडका है, वह भी पलटन में।”

“च्चऽऽ, पलटन में होने से क्या हुआ। हम तो अपने इन्दर का भी भेजने की सोचते हैं…… इन्दर की माँ, आफ्टर आल, नेशन इज नेशन……।”

माँ ‘बरनमाला’ के अक्षरों से अधिक पढ़ी-लिखी नहीं। इसलिए अंग्रेजी के शब्द ममझ में नहीं आते। पिताजी के सामने वैसे ही कम बोलती है। पर पिताजी पता नहीं सरकार की किस पॉलिसी के बारे में क्या-क्या कहते रहते हैं। अम्मा बेचारी फिर हिलानी रहती है, जैसे सब जानती हो।

“सुम्मी।” माँ मौका देखते ही फिर सामने की ओर देखती हैं—“जा, जरा ठाकुर साहब के घर ट्रे में चाय दे आ। सुना है, उनका नौकर भी भाग गया……।” फिर वह पिताजी के चेहरे की ओर ताकती हैं—“क्यो जी, कोई खबर नहीं आई उनके अनन्त की?”

दस-बारह दिन भी बीत नहीं पाते कि भट्ट कन्धे में झाड़न लटकाए दबे पाँव

आता ह। बाबूजी कानून की किताबा मे डूबे है।

“मऽ. ग. काऽऽ र।”

बाबूजी गरदन ऊपर नहीं उठाते। अँगुली की नोक जीभ मे छुआकर पन्ना पलटते हैं और पुस्तक चिह्न की तरह बीच मे एक अँगुली रख देते हैं।

“टाकार साहब क घर ताला लटक रहो, सरकार।”

“हं।” बाबूजी जेमे नीद मे जागते हे, “कौन ठाकुर साहब ?”

“वही जो पड़ोस मे रहान रहे हैं- अनन्त लल्ला के बाबा।”

“क्यो ? क्यो ?”

“सुनत रहते हैं मुदोमी स हरदुवार चले गइन।”

“क्यो ?”

“आपन को ना पता नही, सरकार। कहत है, लाम मे मे कछु कपडे लने आहत रहन। तार सार आहत रहन।”

बाबूजी की पलके खुली की खुली रह जाती है। चेहरे पर एक तनाव-सा आता है। माथे की सलवटे गहरी हो जाती है -- “उफ। गाँड।”

—तुझे क्या हो गया, मुम्मी। खाना क्यो नहीं खाती ?

--नू एकात मे क्यो बैठी रहती है ?

—तुझे देखते ही डर सा लगता है।

—दो चार ही दिन मे तुझे क्यो हो गया है। दिन-रात तुझे फीवर रहना है।

डॉक्टर कहत है कि ।

‘टुम बोलता क्यो नाली ?’ डॉक्टर धायाल चेतावनी देते हैं— “अगचे बोलना नाही हँसना नाही रोना नाही बाबा, हार्ट पर बुरा अफेक्ट पडना माँगोगा।”

माँ लिपट पडती है— “तुझे क्या हो गया, बिट्टो ?”

मुमन की जीभ सूखकर तालू से चिपक गई है। वह गुमसुम बैठी रहती है। आँखे खोले भी उसे कुछ दीखता नहीं।

मडको की भीड मे एक आतक का भाव है। सामने घर की गली की ओर खुलनेवाली चौड़ी खिड़की अब फिर खुली रहनी हे। ठाकुर साहब के दोनो हाथ घुटे कपाल पर चिपके रहते हे। रेडियो ही जैसे उनके लिए एक-मात्र सहारा रह गया हो।

‘अनन्त की अम्मा मुझे तार की खबर गलत मालूम होती है। इती बडी पलटन मे एक ही नाम के क्यो आर नहीं होते ? गफलत भी तो हो सकती है ।’

ताई से कुछ कहा नहीं जाता। रोया नहीं जाना। वह ठगी ठगी-सी हवा मे तैरन लगती हे— ‘कपडे भी आपने बहा डाले मेरे अनन्त के। कोई तो याद रहने देते रुम्बरी ?’

ताई बक्मे मे स निकाल-निकालकर उन गहनो को सबको दिखलाया करती ह जो अभी कुछ महीने पहले उन्होंने अपनी होने वाली बहू के लिए खरीदे थे। और वह

कीमती सिल्क की नारंगी साडी भी दिखलाना नहीं भूलतीं जो बनारस से वह खुद खरीदकर लाई थीं।

सुमन के नंगे पाँव सीमेन्ट के ठड़े फर्श पर जम-से गए हैं। सारे पाँव में एक झुनझुनी-सी उठती है, जैसे अनगिनत सुइयों एक साथ चुभ गई हों। उसने घुटने को मोड़कर अँगुलियों को छुआ जो एकदम बर्फ की तरह ठंडी लगती हैं। हाथ अँगुलियों पर देर तक धरा-का-धरा रह गया। नाखूनों का रंग कुछ सफेद-सा हो आया है। अँगूठे की बगल वाली अँगुली बिना देखे ही सहलाई—अँगूठे से जो कुछ-कुछ लम्बी है।

“वे जल्दी मर जाते हैं, सुमन।” अनन्त बड़े चिन्तित स्वर में कहता है—“जिनकी यह अँगुली अँगूठे से बड़ी होती है। चंचल'दी की अँगुली भी ठीक तेरी तरह थी न! तभी तो वह जल्दी मर गई!”

कौन जल्दी मरता है, कौन बाद में...। वह बालकनी की तिरछी पट्टी पर माथा टिका देती है। पता नहीं, कब ड्यूटी नर्स आती है, उसका हाथ थामे कमरे में लिटा देती है, “दवा आज फिर नहीं ली तुमने।”

डॉ. अशरफ ठिठक पड़ते हैं—“फल पड़े-पड़े खराब हो गए।” बड़ी झुंझलाहट होती है उन्हें।

सुमन की खामोश निगाहें कहीं दूर गहरे में टिकी हैं।

“तुम अपने को चेंज करो, नहीं तो इलाज से कोई फायदा नहीं होने का।” डॉ. अशरफ जैसे अन्तिम वार्निंग दे रहे हों, “तुम्हारे फादर कितने चितित है। मदर बीमार रहती हैं—तुम्हारे कारण!... इस तरह तुम कब तक जिदा रह सकोगी—आइ काण्ट से...।”

डॉक्टर का वाक्य पूरा होने से पहले ही वह दवा की कडवी घूँट चुपचाप गटक जाती है। डॉ. अशरफ मुस्करा उठते हैं। उसके कन्धों को थपथपाते हैं—“यू आर सो इमोशनल।” फिर उमके चेहरे की ओर देखते हैं—“डॉक्टर भडारी कां रिलेटिव हो न?”

वह सिर हिलाती है।

“ही टोल्ड मी अबाउट यू।” वह कुछ मोचते हुए कहते हैं—“अच्छा, देखो, कल मे जरा टहला करो, अच्छा। खाली समय मे रेडियो सुनो। मैगजीने पढ़ लिया करो। थोड़ी-बहुत बातचीत से कोई हर्जा नहीं। सोचने से वगीज बढ़ती है।”

गले में आला लटकाए डॉक्टर उठते हैं, मुस्कराकर उसकी ओर देखते हैं और फिर दूसरे बेड की ओर बढ़ जाते हैं।

सुमन को लगता है, डॉक्टर ठीक कहते हैं। उसे अपने को चेंज करना चाहिए।... इधर उसे मृत्यु से भय लगने लगा है। वह पाँव फैलाए एक लम्बे समय तक इसी तरह पड़ी रहती है। किताब पढ़ती है। फिर रेडियो लगाती है, पर चैन मिलता नहीं। फिर नर्स से बातें करती है...। थोड़ी ही देर में उसका सिर भारी हो जाता है।

जब कुछ नहीं सूझता तो यों ही पलंग के नीचे कागजों को टटोलती है। कोई

एक अखबार हाथ लगता है। उसे आश्चर्य होता है। कितने लम्बे समय से उसने अखबार की सूरत नहीं देखी... !

‘संयुक्त हवाई-अभ्यास’ की कुछ खबरों के बाद किसी विदेशी नेता का भाषण... वह पहला ही पन्ना पलटती है कि एक काली लकीरों से घिरे चौखटे पर निगाहें अटक जाती हैं। पेपर को बिल्कुल निकट लाकर पढ़ती है—

‘अपने इकलौते बेटे लेफ्टिनेण्ट अनन्त की याद में... जो गत दस नवम्बर को वालौंग के मोर्चे पर शत्रुओं से लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ था... उसके बूढ़े माता-पिता उसे हर क्षण याद करते हैं। वह जहाँ कहीं भी हों, सुखी हो।’

सुमन की आँखें मिच जाती हैं। पलकों से टप्-टप् लाल आँसू टपकने लगते हैं—एक बरस, क्या सचमुच एक बरस बीत गया।



## एक सुकरात और

भीड़ से मैं तनिक परे चला जाता हूँ। मुझे सच नहीं लगता। लोग कहते हैं—सुकरात आज मर गया !

सुकरात को मैं बहुत पहले से जानता हूँ। वह नाटा नहीं, भरे-पूरे कद का, कुरूप नहीं, बहुत सुन्दर था। उसकी दाढ़ी के बिखरे सफेद बाल बर्फ की तरह चमकते थे। उसकी आँखों में एक अद्भुत आभा थी। एक लंबे अर्धे तक वह पड़ोस में रहा था। वह सितार बहुत अच्छा बजा लेता था—बहुत अच्छा गाता था—।

एक दिन वह चौराहे पर खड़ा था। उसके चारों ओर भीड़ थी। वह भीड़ को संबोधित करके कह रहा था, “जानते हो, सत्य किसे कहते हैं ?”

भीड़ में सब एक-दूसरे का चेहरा देख रहे थे। कोई भी सामने आकर कुछ कहने को तैयार न था।

कुछ क्षण वह चुप खड़ा रहा। जब कहीं से कोई उत्तर न मिला तो बोला, “अभी दिन नहीं, रात है—यह सत्य है।” उसने आसमान में धमकते सूर्य की ओर इंगित किया, “सूर्य दिन का नहीं, घोर रात्रि का प्रतीक है—।”

सब बगलें झॉकने लगे—सुकरात यह क्या कहता है ? संभवतः सुकरात सब जानता था। अतः हँस पड़ा। बोला, “मित्रो, कोई बतला सकता है, मृत्यु क्या है ?”

इस बार भी सब अनुत्तरित—उसकी आकृति देख रहे थे। इतने में सामने से एक शव जाता हुआ दिखलाई दिया। सुकरात मुस्कराया, “मरना, मृत्यु नहीं है, मित्रो ! निष्क्रिय रहना मृत्यु है। आपमें से कोई बतला सकता है या प्रमाणित कर सकता है कि वह जीवित है।—सत्य-संगत वस्तु को प्रमाणित करना ही यथार्थ का चुनौती देना है—सज्जनो, यथार्थ क्या है ?”

धीरे-धीरे भीड़ छँट गई। सुकरात अकेला रह गया। उसके हाथ में एक ठीकरा था—जिसमें चंद अल्यूमीनियम के सिक्के और मूँगफली के दाने थे—।

सुकरात सड़क की भीड़ से अलग खड़ा हो गया और ज़मीन पर बिखरी किसी

वस्तु को उठाकर खाने लगा।

सुकरात ! सबकी तरह मैं भी उसे सुकरात ही कहा करता था। उसका जन्म पूर्वी भारत के किसी छोटे-से गाँव में हुआ था। घोरतम गरीबी में उसने अपना बाल्यकाल बिताया था। बनारस के घाटों पर उसका शैशव बीता था। पूस की ठंडी रातों में श्मशान की आग से सहारे, वह काल-रात्रि बिताया करता था।

“एक सुकरात और था,” एक दिन मैंने उससे कहा, “उसका जन्म यूनान में हुआ था। वह भी इसी तरह चौराहों पर खड़ा होकर भाषण दिया करता था।”

वह इस बार भी हँस पड़ा। बोला, “सुकरात ! तुम जानते हो, सुकरात किसे कहते हैं ?...वह कौन था... ?”

मैं कुछ उत्तर दूँ उससे पहले ही वह फिर बोल पड़ा, “तुम जानते हो तुम कौन हो ? तुम ‘स्वयं’ को पहचानते हो ?”

“हाँ !”...मगर वाक्य अभी अधूरा ही था कि वह बच्चों की-सी निश्चल हँसी में ठहाका लगाकर हँस पड़ा। बोला, “तुम नहीं जानते हो।...जो कहता है—‘मैं स्वयं को जानता हूँ,’ वह प्रपंच रचता है। प्रपंच रचने वाला आदमी मूर्ख होता है। तुम जानते हो— तुम कौन हो... ?”

वह मेरी बाँह पकड़कर, मुझे सामने तालाब के किनारे खड़ा करता है। कहता है—“देखो, तुम्हें जल में क्या दिखलाई देता है ?”

मैं देखता हूँ। जल में मुझे केवल अपना चेहरा दिखलाई देता है। मेरे उत्तर को सुनकर इस बार वह हँसता नहीं—गंभीर हो जाता है।

“चेहरा !...चेहरा नहीं ! तुम झूठ बोलते हो—अब लोगों के चेहरे चेहरे नहीं होते हैं।...यही तो दुःख है। हम सब आकृति-विहीन हैं—आकृति-विहीन समाज; आकृति-विहीन सस्कृति...।”

सुकरात दूर चला गया। मैं थोड़ी देर बाद जब पुनः उसी चौराहे से लौटा तो सुकरात फिर भीड़ से घिरा था। कह रहा था, “सज्जनो, कोई बतला सकता है राष्ट्र किसे कहते हैं ? समाज की क्या परिभाषा है ?”

कहीं से जब कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला तो सुकरात स्वयं कहना आरंभ करता है—“आदमियों की भीड़ समाज नहीं कहलाती। बहुत मे प्रातो को नक्शे मे एक साथ जोड़ देने मे राष्ट्र नहीं बनता।... मित्रो, राष्ट्र कहलाने के लिए क्या आवश्यक है... ?”

लोग कहते हैं—उस दिन सुकरात पुरानी दिल्ली के किसी चौराहे पर अकेला बैठा रो रहा था ।

फिर एक दिन सुकरात के हाथ में वही टूटा ठीकरा था। सुकरात के पाँव फटे थे। लहू बह रहा था। कहते हैं—सुकरात अभी-अभी बिहार के दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्र की यात्रा से लौटा है... ।

हमेशा की तरह इस बार भी वह चीथड़े पहने था—भिखारियों के साथ भरे बाजार से गुजर रहा था। ठीकरे पर पड़े पैसे आसमान में उछालकर बिखेर रहा था। सुकरात के पीछे बच्चों की भीड़ थी। लोग सुकरात पर पत्थर फेक रहे थे। सुकरात हँस रहा था। कहता था—“मित्रो, भूख किसे कहते हैं? गरीबी का क्या अर्थ होता है? धन-सम्पत्ति वाला व्यक्ति गरीब होता है, या धन-सम्पत्तिविहीन आदमी? सज्जनो, धन क्या है? धर्म किसे कहते हैं? धर्म का सबध मंदिर-मस्जिद से है या मनुष्य की सेवा से? मनुष्य की सेवा का तात्पर्य क्या होता है ?”

सुकरात के पीछे जन-सागर उमड़ रहा था। लोग कहते थे—सुकरात समाज को भ्रष्ट करना चाहता है। सुकरात धर्म-विरोधी है, समाज विरोधी है। सुकरात देश-द्रोही है। देश द्रोह की मजा मृत्यु-दंड होती है ।

सुकरात मृत्यु के साथ-साथ छाया का तरह चल रहा था।

सुकरात के शरीर पर एक दिन आलू के गदे छिलके पड़े। वह कीचड़ से नहाया था।

मैने पूछा “सुकरात क्या तुम्हारी पत्नी तुम पर क्रुद्ध हुई ?”

सुकरात निर्मल हँसी में हँसा। बोला ‘मै अविवाहित हूँ। ये आलू के गदे छिलके नही, गुलाब के फूल की पखुडियों है, जो लोगो ने अभी अभी मुझ पर बिखेरी हैं। मै सबका शुक्रगुजार हूँ। भगवान सबका भला करे ।”

मै सोचता था—एक दिन इस बूढ़े सुकरात की कलाइयो में भी लोहे की हथकडियाँ पड़ेगी। पाँवों में भारी भारी बेडियाँ। नई दिल्ली के किसी अँधेरे कारावास में पडा यह जीवन मृत्यु से जूझेगा। इसके बूढ़े जर्जर हाथों में हेमलक का प्याला होगा। जहर का एक एक घूँट यह गिन गिनकर पिएगा। चारों ओर से घिरे इसके शिष्य रोएँगे। तब यह कहेगा—शिष्यो, रोना व्यर्थ ह। सज्जनो का न तो कोई उनके जीते-जी कुछ बिगाड सकता है, और न उनकी मृत्यु के बाद

परतु ऐसा कुछ भी न हुआ।

पूस की कडकती सर्दों में कृतब रोड के फ़टपाथ पर चीथड़ों में लिपटा सुकरात एक सुबह अपने आप मरा हुआ पाया गया।

कही कोई समाचार नही न कही कोई दुख ।

सुकरात का शव कमेटी के ठेले पर लदा भीड़ में अब काफी दूर पहुँच गया है। लोग कह रहे हैं—एक और विक्षिप्त आदमी अभी अभी गुजर गया है, जो सत्य और धर्म की आड में लोगो को बरगलाया करता था जबकि सत्य और धर्म का आज के हमारे जीवन से कही भी कोई सबध नहीं।

## अहसास

पानी पर पडी छाया की तरह एक विचार आता है और ओझल हो जाता है। वह अपलक देखता हुआ कहता है, “कुछ कुछ बदल सी गई हो अब औरत सी लग रही हो ।”

“पहले कभी लडकी सी भी लगी, मुझे तो याद नहीं ।” वह हंस देती है।

प्रत्युत्तर मे उसे भी हँसना चाहिए। पर वह हँसता नहीं, कुछ सोचता हुआ कहता है, “तुम्हारे माथे पर यह घाव का जैसा निशान पहले तो नहीं था न।”

वह मौन सहमति देती है।

“कनपटी के पास एक सफेद बाल दीख रहा है ।”

उसे आश्चर्य नहीं होता। जैसे वह बहुत पहले से जानती हो कि उसकी कनपटी के पास एक सफेद बाल है।

“अच्छे ढग से रहा करो न। तुम्हारा चेहरा गोल है। उममे ऊपर की ओर सँवरे बाल अच्छे लगोगे ।”

वह जैसे कही गहगी सोच मे डूब जाती है। सन्नाटा तोडती कहती है, “किसे लगोगे अच्छे ?”

“किसी को भी—ई-ई-ई।” वह अटक सा जाता है, “आई मी-न मेरा मत ल-ब। ऐसा कोई जिसके अच्छे लगने न लगने की तुम्हे चिन्ता हो ।”

वह कुछ नहीं कहती। गँदले पानी मे जैसे कुछ टटोलती है। योही बुदबुदाती है, “एक था तो सही, जिसके अच्छे लगने न-लगने की चिन्ता रहती थी कभी। पर आज आठ वर्ष बीत गए। समय के साथ साथ सब बदल जाता है न। फिर ओहदे का गुमान कोई कम तो नहीं होता।”

उसकी आँखो मे तैरता-उतरता कुछ अनायास विलीन हो जाता है। वह सामने बैठे पुरुष की ओर देखती है, जिसकी अँगुलियो में दबी कीमती सिगरेट सुलग रही है।

“मान लिया आठ वर्ष बाद वह एक दिन फिर तुम्हारे पास आए तो तुम कैसा



अनुभव करोगी ?”

“कैसा ही नहीं।” वह सोचे बिना ही कहती है।

“तुम्हें अच्छा लगेगा न।”

“ना।”

“तो बुरा...।”

“नहीं...।”

“तो...।”

“सच, कुछ भी नहीं। जीवन मे एक स्थिति ऐसी आती है, जब आदमी कुछ भी अनुभव नहीं करता।” वह कहते-कहते चुप हो जाती है।

धीरे-धीरे भरे बादलों का-सा भारीपन बिखरने लगता है।

“तुम्हें उसकी विवशताओ पर भी विचार कहना चाहिए न।” वह उसके दोनो हाथ पकडता है। यों ही सहलाता है, ‘सचमुच, अब भी तुम्हारे हाथ उतने ही कोमल हैं। अब भी तुम उतनी ही निरीह हो। बाहर से इतनी बड़ी दीखने पर भी, भीतर कही पहले की-सी बच्ची हो, जो बिना बात हँस दिया करती थी, बिना बात रूठ जाया करती थी और अकारण रो देती थी...।”

वह देखता है—आज भी वह अकारण रो रही है।

एक छोटा सा घर। दो-तीन तम्बीरे। काली रेखाओ मे घिरा एक गुलाब के फूल वाला। चारपाई। टेबुल-लैम्प। कुछ किताबे। चारों ओर मे निगाहे समेटकर वह फिर उसकी ओर अममजस मे देखती है।

“सामान उठा तो लाए, पर सोचा भी कि कितनी तकलीफ होगी। बतलाओ, इस छोटे-से कमर में कैसे रहोगे।”

“अधिक जगह मे क्या करूँगा / इत्ता-मा भी कुछ कम है।”

“पहले भी तो आते होगे दिल्ली। कहाँ टिकने थे ?”

“सरकारी गेस्ट-हाउस या होटल मे।”

“तो अब भी वहीं टिक जाने। आज कौन-सी नई बात हो गई थी ?”

वह उत्तर नहीं देता। उमकी ओर न जाने किन निगाहो मे देखता है। जैमे कहना चाहना हो—घर आए मेहमान से ऐसा कहने है।

टाई की गाँठ खोलकर हैगर पर मरे साँप की तरह ढागता है। मिगरेट का टिन और लाइटर मेज पर बिखरी पुस्तको के ऊपर रखे गये है।

वह दरवाजे के पास खडी देख रही है। बिस्तरबद के ऊपर चमड़े की अटैची, कॅटिया के ऊपर तौलिया और नीचे कुछ फल पडे हैं।

“यो ही दरवाजे पर खडी मुआयना करनी रहोगी या कुछ चाय-वाय भी बनाओगी ?”

“चीनी नही है, गुड़ की पिओगे ?” वह बनावटी गुम्से से देखती है।

“भई, ज़हर पिला दो, पी लेंगे, सच।” वह शरारत से देखता हुआ हँसने लगता

है।

चारपाई के ऊपर वह बड़े विश्वास के साथ इस तरह पसर जाता है जैसे उसकी अपने घर की हो। सिगरेट जलाकर धुआँ छत की ओर फेंकता है।

सामने से छाया-सी हट जाती है। पास ही कमरे से भरभराने की सी आवाज आ रही है। कुछ प्याले, चम्मच और बर्तनों की खट-खट ।

मेज सरकाकर वह गरम प्याला थोड़ी ही देर में सामने रख देती है, “कुछ पापड तल दूँ। भूख लगी होगी।”

“भूख नहीं ।” वह करवट बदलता है, “क्यों, एक ही प्याला।”

“तो क्या पचास पियोगे ?” वह शरारत से देखती है।

“पचास नहीं, अपने लिए भी तो लाओ न।”

“मैं चाय नहीं पीती . . .।”

“तो क्या अभी तक भी दूध ।” वह हँस पड़ता है।

प्याले से भाप की दुहरी लकीर उठ रही है। वह अगड़ाई लेकर बैठ जाता है।

प्याला कुछ और आगे किनारे की ओर सरकाता है।

“सच, तुम लोगों के राज में रोटी-कपडा तक मुश्किल हो गया है। लोग तुम्हें कभी चौराहों पर खड़ा कर पूछेंगे—बतलाओ, इतने वर्षों तक क्या करते रहे ?”

उत्तर में वह जोर से हँस देता है, “तुम तो खाली सौ-दो-सौ की अध्यापकी कर रही हो। पॉलिटिक्स में चली जाओ न। अच्छी रहोगी ।”

वह कहती कुछ नहीं, खड़ी-खड़ी सहमे गुस्से से देखती है।

“बैठो भी।”

बैठ जाता है वह।

“क्या सचमुच चाय छोड़ दी।”

‘छोड़ी नहीं दवा पी है अभी। कुछ समय बाद ले लूँगी।’

“तो सिर्फ एक घूंट ले लो न ? हमसे अकेले पी नहीं जाएगी।”

वह प्याला सचमुच उसके होठों से लगा देता है।

नहाने के बाद वह कुछ हल्कापन सा अनुभव करता है। थोड़ी देर तक अकेला ही ईटों से पत्नी खुरदरी छत पर टहलता रहता है। अशोक होटल के ऊपर अगारे की तरह धधकती तीन चार बतियाँ दीखती हैं। शतरज के मोहरो की तरह अलग अलग खड़े मकान। मकान ही मकान।

‘यह क्वार्टर तुम्हें अलाट हुआ है ?’

‘ना, किसी से लिया है।’

‘स्कूल कितनी दूर है ?’

‘यही मार्केट के पास।’

“पैदल जाती ?”

“जी।”

“यहाँ तो काफी अमें से रह रही हो न।”

“जी हाँ, अम्मा की डैथ यहीं हुई थी...।”

कुछ सोचता हुआ वह पूछता है, “तुम्हारा एक छोटा भाई भी तो था न !  
हाँकी-प्लेयर।”

“हाँ, कुलदीप ने नेवी ज्वाइन कर ली है। आजकल कोचीन में है।”

वह मुँडेर पर बैठ जाता है।

मरकरी-बल्ब टिमटिमाने लगते हैं। सड़कों की चहल-पहल पहले से काफी बढ़ जाती है और वह अब अधियारे मे छाया-सी लगने लगती है। वह सोचता है—वह पहले कभी यहाँ क्यों नहीं आया होगा। और आज अकारण क्यों चला आया ! अपने ही में जैसे कुछ उलझ-सा जाता है। उसे दूर तक पानी-सा दीखता है—पुल के नीचे बहता-सा—और एक बीतती हुई अनुभूति उसे बाँध लेती है।

“नहा लिया ?” वह उझककर देखता है।

“जी।” उसके यों ही बँधे बालों पर से गोल-गोल मोती-सी बूँदे निथर रही हैं।

“खाने का घर पर बवाल न करना, हाँ। कहीं बाहर ले लेगे।”

“क्यों ? मैंने तो अँगीठी सुलगा भी ली।”

“तो क्या हो गया। खाना बाहर ही रहेगा। इसी बहाने घूमना-घामना भी हो जाएगा।”

“एक दिन रूखा-सूखा ही खा लोगे तो क्या गजब हो जाएगा।” वह उलाहने से कहती है, “इतने युगों बाद आज रास्ता भूलकर आए हो। पता नहीं फिर कब...सच्ची, अब मैं अधिक बचने वाली नहीं हूँ, सच।” उसका गला भर आता है। वह धुँधले अधियारे मे अपनी हथेली आगे बढ़ा देती है, “देखें इससे आगे रेखा ही नहीं—।”

वह देखता नहीं, अनदेखे ही हथेली थाम लेता है।

“क्या बुरा मान गई ?”

“नहीं तो...।”

“ऐसा करो, पहले थोड़ा टहल आँ, फिर खाना बनाना।”

वह मान जाती है। कपड़े बदलती है, बालों को सँवारती है और तैयार हो जाती है।

नॉट ठीक नहीं। वह उसकी टाई की गाँठ ठीक कर देती है। बालों में कधी कर देती है।

“इतना भी अधिकार मिल गया तो कुछ कम है।”

दोनों एक-दूसरे की ओर पता नहीं किन निगाहों से देखकर मुस्करा देते हैं।

बिना अधिक भाव-ताव किए वह दो साड़ियाँ खरीद लेता है। गेहूँ के डंठल के आकार की सोने की ईयर-रिंग।

“मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।” वह दबे स्वर में कहती है।

“शीशे में कभी चेहरा देखोगी तो इसी बहाने याद आ जाएगी। क्या बुरा है ?”

“पिछले मात-आठ साल में क्या यही बहाना था, याद करने के लिए ?”

वह चुप हो जाता है।

बाजार में घूमते-घूमते काफी वक्त गुजर जाता है। वे लौटने लगते हैं तो वह ठिठक पड़ती है, “कुछ फल-फल ले लेते। शबरी के बेर फिर कहीं खाओगे ? सुना है बहुत बड़े आदमी हो अब।”

वह तुनककर देखता है। देग्वता है—वह यो ही मुस्करा रही है।

एक ही थाली में वे छत पर बैठे भोजन करते हैं। शिकायत से कहती है वह कि जल्दी में कुछ भी बना न पाई। सब्जी तक ठीक ढग से नहीं।

“घर जाकर अपनी श्रीमतीजी से कहोगे न कि उसे तो खाना भी बनाना नहीं आता।”

वह बड़े इत्मीनान से कहता है, “हाँ।”

कुछ क्षण सन्नाटा रहता है।

“अब कुल कितनों के पापा हो ? मेरा मतलब कुन्नु, मुन्नु, टुन्नु आदि आदि।”

“बस, केवल दो का।” वह होठों के साथ साथ हाथ भी हिलाना है। दो अँगुलियाँ खड़ी कर उसकी ओर देखता है।

“बच्चे तुम पर गए होंगे न।”

“कभी चलकर देखो।”

“किस बहाने आऊँगी ? क्या कहकर ?”

वह चपचाप निवाले तोड़ता रहता है।

‘कभी अखबार में विज्ञापन निकलवा दना कि महरी की आवश्यकता है। उसी बहाने आ जाऊँगी। तुम्हारे, तुम्हारी श्रीमतीजी के, तुम्हारे बच्चों के जूठे बर्तन मॉज ढूँगी। सीढियों के पास कहीं दो हाथ जगह दे दोगे न, पडी रहूँगी। सच, दा टुकड़े रोटी के अलावा कभी कुछ भी नहीं माँगूगी।”

सन्नाटे में मिर के ऊपर से एक हवाई जहाज निकल जाता है। मडको की चहल पहल कम हो गई है, बहुत कम।

‘कहीं विवाह कर लेती जिनगी कट जाती।”

“कट तो चुकी। थोड़ी सी जो शेष है वह भी बट जाएगी।”

‘मैं जब इंग्लैंड में लौटा तुम झॉमी गई थी। तब मैं फिर कभी हमारी मुलाकात नहीं हुई न।”

वह कुछ कह नहीं पाती। बिस्कुट की तरफ यो ही रूखी राटी के टुकड़े कुतरती रहती है।

“कुलदीप कब से नहीं आया ?”

“कोई दो-तीन साल से।”

वह खाकर अधभरे गिलास में अँगुलियों डुबो देता है। वैसे ही गीली अँगुलियों होंठों पर फेरता है। फिर रूमाल से पोंछता हुआ सिगरेट सुलगा लेता है।

“अब भी क्या बिगड़ा है... ?” वह फिर पहले की बात दुहराता है।

बड़ी सरलता से वह उत्तर देती है, “सच, अब कहीं बँधने को जी नहीं करता !”

“क्यों ?”

“क्यों क्या, बस।” वह थाली परे हटाकर आराम में बैठ जाती है, “भोजन का वक्त गुजर जाने के बाद जिस तरह भूख कम हो जाती है—वैसे ही सारी तमन्नाएँ मर-सी गई हैं। एक बिखराव-सा आ गया है, सच। क्या तुम्हें नहीं लगता ?” वह उसकी ओर देखकर भी जैसे देख नहीं पाती।

चहल-पहल अब और कम हो गई है। लम्बी यात्रा से वह थका है। अँगुलियों के बीच दबी सिगरेट राख की लकीर बनकर टूट रही है।

“कहाँ सोना पसन्द करोगे ?”

“जहाँ तुम ठीक समझो।”

“गर्मी कुछ अधिक है। कहो तो छत पर ही बिस्तर लगा दूँ ?”

वह मात्र सिर हिलाता है।

एक चागपाई ऊपर ढोकर वह बिस्तर लगा देती है। सिरहाने के पास पानी का लोटा उल्टे गिलाम से ढक देती है।

सीढ़ियों से फिर हौले-हौले नीचे उतरकर कमरे में पहुँचती है। सुराही उँडेलकर पता नहीं कितना पानी पीती है ! बाजार से खरीदी वस्तुओं को उलट-पलटकर देखती है और फिर उन्हें आगन्तुक की अटैची में चुपके में वैसे ही डाल देती है।

उसका माथा न जाने क्यों इतना भारी है ? जिम्म टूट-टूट-सा रहा है। इतनी थकान शायद उसने पहले कभी अनुभव न की थी।

हमेशा की तरह आज वह आधी रात तक पुस्तकें नहीं पलटती, करवटे नहीं बदलती, किसी के बारे में बार-बार नहीं सोचती, बल्कि नींद की गोँलियाँ निगलकर बिछौने पर निढाल गिर पड़ती है... ।



## कटी हुई किरणें

अरे, अधेर हो गया। कोरे आकाश से बजर बरस गया। नकटे हरपतिया ने अपनी ही नहीं, सारी लोहार-बिरादरी वालों की नाक काट दी। खूना के मलिहार-मुसलमानो में चला गया। कलजुग हो गया। कल्पात।

पूरे पाख लोहाघाट से धूनाघाट तक यही हरपतिया-पुरान की चर्चा चलती रही। जहाँ कहीं भी वह जाता, जहाँ कहीं भी वह आता, सभी मुँह पर थू-थू करने लगते। वह तब काठ-सा देखता रह जाता। कुछ भी कहते न बनता।

अकेले बेचारे की बनती भी क्या? अपना-सा मुँह लेकर चुप हो जाता। फिर भी रोष तो उमड़-धुमड़कर आता ही मन में। आए भी क्यों नहीं? ठीक है, लाठी का जवाब पत्थर से नहीं दे सकता, न सही। पर परमेश्वर का दिया मुख तो किसी ने सिला नहीं। इसी बदले की भावना में भडककर, इसलिए उसने भी कुछ दिनों तक 'अल्ला-ही-अल्ला' की रट लगानी शुरू कर दी तो हरज क्या।

बात अमल में यह है कि हरपतिया अब जनमजात बाँस बुनने वाला बायडी होकर भी बायडी नहीं, लोहार होकर भी लोहार नहीं, बल्कि मलिहार है, पूरा सौ फीसदी मलिहार। चौड़े बाड़े की ऊपर से सिली टोपी पहनता है। वैसी ही बण्डी-बनीन झपकाता है, चाहे फटी पुरानी ही क्यों न हो। चोटी कटाकर, जान-बूझकर ऐंठ ऐंठकर बोलता है। बात बेबात अब हरनाथ-गगनाथ की नहीं, भूमियाँ-फटकाशला की नहीं, एकदम 'पीर-अल्ला' की कसम खाता है। गुस्से से फनकता-दनकता हुआ कभी अकेले में सीने को ठोकता है—हम्म करता हुआ। देसी में नहीं, पहाड़ी में नहीं, बल्कि अधकच्ची अलनी खिचड़ी में बोलता है। तब दसजूला-बिसजूला के दसो गाँव-गिराम के सारे लोग उमक मुँह की ओर ताकने लगते हैं—“अ र र । यह क्या?”

“तू भ्रष्टी है रे, हरपतिया। निरा भ्रष्टी।” कोई दाना-सयाना, ऊँची जात का बुढ़ऊ अपने गियाण को बखानता हुआ, उस बेचारे पर तरस खाता हुआ, कभी-कदास कहे बिना न रहता, “राम-राम। बूढ़ी मलिहारनी रह गई थी सारे जिहान में। तेरे टूटे कपाल,

फूटे करम मे । अरे, किसी हुडकियानी से ब्याह कर लेता, किसी मोछियानी को रख लेता, पर मलिहारनी को क्यों उठा लाया ? तीन पाटे वाली बूढन को मुफ्त मे हाँक लाया । कुछ तो खियाल करता । तूने तो हमारे गाँव के सारे लोहारों के मुख पर गोबर पोत दिया । उनकी ही नही, हम बामन थोकदारो की भी नीची कर दी । छि छि ।”

हरपतिया कुछ क्षण माथा झुकाए अपराधी की तरह चुप सुनता रहता, कुछ न बोलता । फिर सिर खुजाता, खीसे निपोरता हुआ कहता, “माई-बाप गुसाई देवता, आपसे लुका-छिपा क्या है । जानते तो हो सब मेरी विपदा । अकेले का कौन है । कोई मरने पर लाश फेकने वाला तक नही । मुझ अभागे रडुवे को जब बायाँडयो की नौ-जात, नौ-पात मे जगह नही रही, लधौन, भिगराडा के लोहारो मे ठौर नही रही तो फिर खूँना के मलिहार-मुसलमानो में चला गया तो कौन सा गगनाथ हरनाथ का फूल का डोला जमीन पर खिसक गया सरग से ? कौन-सा मसान गया मुरदा घर लौट आया ? वश बेला तो बढ़ानी ही थी, गुसाई क्या करता । बुढापे मे गले मे पानी गेरने वाला कोई तो चाहिए था । मैं अकेला कहाँ-कहाँ माथा पटकता । फिर तुम्ही बताओ, वह तुम्हारी लोहारनियो से किस बात मे कम है । मलिहारनी क्या औरत नही होती ?”

ऐठ से हरपतिया कुछ-न-कुछ जली भुनी बहाव मे कह तो जाता, लेकिन उसके मन में खेट, किनमोडे के टूटे अदृश्य काँटे की तरह भीतर ही भीतर बार-बार काटती, कचोटती रहती । एकात में बैठा-बैठा नारियल की काली, बिना नली की चिलम पर मोस देता हुआ, गुडगुडाता हुआ, धुआँ फाँकता हुआ सोचता रहता—

—अरे, तू यह क्या कर बैठा हरपतिया । उसे ख्याल आता—क्यो जीते-जी अपनी छोटी सी जान के लिए इतनी बडी हत्या मोल ले ली । जात बिरादरी वालों ने हुक्का-चिलम बद कर दिया । बोलना-चालना, उठना-बैठना छोड दिया । अब इत्ती बडी रार लेकर क्या करेगा । बावरे, गाय भैसो के दगडे में भी क्या अकेली गूँगी गैया की चलती है ? कितना ही जोर देकर बाल या मुख पर लीसा थोपकर चुप रह, लेकिन दूसरो की जबान तो बिना बात फुरती रहती है लोहार के घर से लौटी, तेज धार की हँसिया की तरह । वचनों के बाण तो छूटते रहते हैं, शौली के छिटकते काँटों की तरह । फिर तेरी मालू के फटे पात की कटी ढाल क्या करेगी ?

वह उदास हो आता । चिलम हाथ मे थमी की थमी रह जाती । अचरज से आसमान की ओर देखता रहता । सोचता, बार-बार सोचता । लेकिन बिखरे गीले धागे की तरह और जो उलझ जाता, सुलझने के बजाय । तब एकाएक झटके के साथ वह अचकचाता हुआ रुक पडता । जैसे भँवर में डूबो बहते को महारा देने वाली बाब्यो घास की सडी गली रस्सी भी ठीक उसके किनारे पर पहुँचते पहुँचते टूट पडी और वह अथाह पानी के भँवर मे घुप-घुप छटपटाता हुआ हिचकी ले रहा हो ।

अपनी घुटी खोपडी पर फिर हाथ फेरता । सारे सपाट सिर पर उसे एक भी खूँटा इधर-उधर नजर न आता । बाब्यो की लट-सी लोटती चोटी कही भी हाथ न लगती । गले के चारों ओर फिर हाथ घूमता-घूमता अटक पडता । पीली हल्दी के रंग में रंगी छह

पलड़िया जनेऊ, जिसे हँसी में अब वह चमड़े का हलौड़ा कहता, कहीं भी अँगुलियों में उलझती न थी तो उसे रीता-रीता लगता, जैसे सधवा औरत का चरेऊ कहीं अजाने में गिर गया हो ! टूटकर तार-तार हो गया हो । या नई ब्याही दुल्हन की 'सकुन' की लाल चूड़ी अकारण चटक पड़ी हो या मॉग की रोली मिट गई हो ।

वह सुन्न रह जाता । लेकिन फिर भी उसकी सहज बुद्धि हार न खाती । बार-बार वह विचार करता—क्या चोटी रखने या न रखने से आदमी बदल जाता है ? नहीं-नहीं ! वह फिर ठिठक पड़ता ।

उसने अब रार करना छोड़ दिया । जिद्द करना त्याग दिया । न अब वह अल्ला कहता, न फटकशिला कहता ! चुप रहता । हाथ बाँधे, मुँह बाँधे ।

फिर भी कानों पर तीखी सीक की-सी कसक पैदा करने वाली लोगों की कर्कश हँसी थमती न थी, जिसे वह सह न पाता । बाहर-भीतर का हारा-थका, वचन-बाणों के बिधा साँझ को बिना जात के फिरवा कुत्ते की तरह पूँछ सिकोड़ता, मडैया में घुसता । धम्म मे औसारे पर लेट जाता या सीढ़ियों के नीचे चौड़े पत्थर पर पाल्थी मारे, ठोड़ी पर हाथ रखे उकड़ूँ बैठ जाता । “अरे, नजरिया, बसिरिया ।” आवाज लगाता । तमाखू भरने को कहता, जो थोड़ी ही देर में खुद भी दो-चार फूँक लगाते हुए नन्हे-नन्हे हाथों में थमी चिलम सुलगाते हुए, उसके सामने आस्तीन से नाक पोछते खड़े हो जाते ।

हरपतिया के कानों में अभी तक भी लोगों की बातें टकरातीं । वह तिलमिला उठना । सामने की ओर देखता अजनबी की तरह । वे बच्चे उसे अनजान, अपरिचित-से लगते । उसकी आँखे उनके बछिया-जैसे भोले-भाले मुख पर नहीं, बरफ से फटे नगे पाँवों पर नहीं, सीधे नंगे सिरों पर टकरातीं—जहाँ एक भी लम्बा बाल नजर न आता दूँढे । इतने मे रजियानी भी झुँझलाई हुई-सी रोते-चीखते नन्हें के कान कुत्ते के पिल्ले की तरह घमीटती हुई सामने खड़ी हो जाती ।

“खुदा कसम कौनियों ये को विचार त अल्ला ही कर लो . . . !” मोटे-मोटे खरसू के-से खुरदरे हाथ से एक धप्प नन्हें की कनपटी पर जमाती, “कब मे खित इन हरामजादा कन । इन मुसीबतों कनऽ ।” वह मुँह फाड़े चिल्लाती और फिर चिल्लाती-चिल्लाती अपने माथे पर हाथ धरकर स्वय भी रोने लगती । अनायाम । अकारण ।

हरपतिया के मुँह से एक भी हरफ फूट न पाता । वह कभी नजरिया की छोड़ी हुई फटी-पुरानी धुँमरैली, टखनो तक कमीज को टॉंगे, रोते नन्हें की ओर देखता, कभी फटे छीट के कुरते, फटे छीट के पाजामे में लिपटी, सिमकती रजियानी को ।

कुछ भी कहते न बनता उसे । क्या करे ? क्या न करे ? कहीं भी कोई रास्ता नहीं पीखता ।

उससे अब कोई भी बातें नहीं करता । जान-बूझकर उससे नहीं बोलता । वह एकात मे दाड़िम के पेड़ की छाया में बैठ जाता । खुट-खुट बाँस की खपच्चियाँ छीलता या गेतों में खाद डालने के काम आने वाली बड़ी 'डल्ली' को बुनता या अनाज फटकने



वाले सूप के ताने-बाने जोड़ता।

भीतर रजियानी उदास बैठी मिट्टी की हँडिया में मादरे का दलिया उबालती या बाँज की मजबूत लड़की के धधकते अगारों में जौ-मंडुवे की मोटी-मोटी रोटियाँ सेंकती।

बाहर आँगन पर तीनों बच्चे पहले तो अकेले-अकेले खेलते क्योंकि गाँव का कोई भी बच्चा उनके पास फटकता तक नहीं, खेलना तो दूर रहा। दाड़िम के लाल फूलों में बाँस के तीखे तिनके खोंस-खोंसकर 'बाघ-बकरी' बनाते। 'दूल्हा-दुल्हन' का ब्याह रचाते। फिर 'खेल मेरि दरकादरी' खेलने हुए छिटकते, धूल उड़ाते हुए हरपतिया के पास चले आते। कोई खपच्चियाँ लिए, कोई होंसया-बसूला लिए, कोई बाँस की पानी में डुबोई लम्बी फाँके लिए खड़ा हो जाता। मुँह से हरपतिया के एक भी शब्द फूटता नहीं कि वे उसे छूटने से पहले ही पूरा कर देते। तीनों उसकी सेवा में तत्पर हाथ बाँधे खड़े रहते। बाप को वे नहीं जानते। पिता का प्यार नहीं पहचानते। अम्मीजान ने कभी कह दिया था एक बार—यही तुम्हारा बाप है। उसे ही वे तब से अपना मानने लगे—जी-जान से अपना।

इतना सब होते हुए भी स्वयं हरपतिया को सब पराया-पराया-सा लगता। दिनभर का थका-मोँदा, उदास, मुँह लटकाए झोंपड़ी पर लौटता तो रजियानी को पगडंडी पर खड़ी, आँखें बिछाए बाट जोहती पाता। खाली ममय में उसके थके घुटनों को दबाती, दर्द से फटते माथे को सहलाती हुई पाता। रजियानी अभागी उस अभागे से क्यों इतना अनुराग रखती है, उसकी समझ न आता।

अपने उखड़े-उखड़े विचारों का यह सब ताल-मेल वह मिला न पाता। अपने को वह कहीं भी किसी हालात में एक ठौर ठीक से टिका न पाता। रजियानी जैसे किसी और की औरत है। वे तीनों चुटिया कट बच्चे किसी और के है।...और वह जैसे मेहमान है, चल चुकने वाला।

लाख जतन करने पर भी मन मनाए मानता न था। माने भी कैसे ? दुनिया-जहान के, घर-बाहर के, सारे लोग तो यही कहते हैं।

पर क्या वे सब सच कहते हैं। ठीक कहते हैं ! आँखें फाड़े वह फिर आकाश की ओर देखने लगता। उसके हृदय में बार-बार कुछ उमड़ता, बार-बार कुछ घुमड़ता, तब उसके धुएँ से घुटते दिल में अन्दर-ही-अन्दर वन की आग-सी भडक उठती—धू-धू कर।

किसी भी तरह जो दबाए न दबती। बुझाए न बुझती।

इस साल हरली के ब्याह में उसे पैना ही नहीं आया, न्यौता तो दूर रहा। खिमली के ससुरालवालों ने भतीजे का जनेऊ किया, पर उसे पूछा तक नहीं। पिछले ही अमौंज में उसके चचेरे भाई मधिया की मँगनी के समय उसे दूध में गिरी मरी मक्खी की तरह भाई-बिरादरी से परे छिटक दिया—हमारी तरफ से वह जिन्दा ही मर गया, सभी ने मान

लिया। भले ही सगा उसका कोई भी नहीं, अपना कहने को, फिर भी अपने ही खूँट के कका, काकी, ताई, दादी, बुआ—सब उमसे जान-बूझकर कनराए। दूर भागे। कुशल-बात तक किसी ने नहीं पूछी, आना-जाना तो दूर रहा। रजियानी के पाँवों पर पत्थर गिरने से चोट आई थी। नन्हे को जर-बुखार आता है, बहुत दिनों से। पर जैसे सबकी बला से।

किन्तु आज जब उसी मधिया की बारात तैयार होने लगी, तब भी उसके घर में उदासी रही। गलनी से भी किमी ने उधर झाँका तक नहीं। एक ही मडैया के दूसरे द्वार पर होने पर, एक ही आँगन बाड़ी, एक ही चाक-बरामदा, पयाल में छँही एक ही छत होने पर भी बुलाया नहीं गया तो सिर से पाँवों तक वह फुँक गया।

बारात तैयार हुई। छत पर घाम चढ़ने लगा। शख दूटाने लगी। फगारियों के फाग उड़ने लगे और दूल्हा के सिर पर पानी परखा जाने लगा तो बुढऊ रुदिया कका पधान से रहा न गया। अपनी रेत में उगी घास सी झुँमेरेली दाढी पर हाथ फेरते-फेरते, लाठी टेकते-टेकते आ धमके।

“हरपतिया, तेरी मटियामेट हो गई रे।” आँगन पर पाँव रखते ही छूट उन्होने इन्ही वचनों से आशीष देना शुरू कर दिया, “नाक तेरी ही नहीं, हम सबकी भी गरम राख में घुस गई है। क्या कुल में कपूत निकला तू। पर क्या करें? कलेजे की खाज के लिए क्या भी क्या जा सकता है। बुद्धि तेरी ही नहीं, आज दूसरो की भी हसै गई रे। उठ, मर। तू भी चल बरात में।”

“नहीं, मुझे नहीं जाना है तुम लोगों की बरात सरात में।” वैसे ही जमीन पर निगाहे गडाए हरपतिया बुदबुदाया।

“नहीं जाना है। नहीं जाना है।। क्यों नहीं जाना है।। हेकड कही का। तू ही नहीं, तेरा बाप भी जाएगा अब।” बूढे रुदिया कका ने प्यार मिली झिडकी में कहा, “उठ, यहाँ अकेला पडा पडा जुँई मारने के अलावा और क्या करेगा? वहाँ बरात में चल। पूरी पिनालू पर हाथ साफ करेगा। तू तो पुराना तमाशबीन ठहरा।” ब्रह अपना पोला मुँह खोले खिलखिलाए।

हरपतिया के मन में बार-बार आया—कह दे, साफ-साफ कह दे—मुझे नहीं खानी है तुम्हारी पूरी पिनालू। मुझे नहीं मनाना है तुम्हारा कौतिक। जाओ, जिन्हे जाना है। मुझे क्या? लेकिन अन्त में उनकी उमर का लिहाज कर गया। वैसे बात मानता भी कैसे नहीं। सारे लोहारों के इस गाँव-गिराम में सबसे सयाने है। उसके दिवगत बाप को भी उन्होने गोदी में खिलाया, लोग आज भी कहा करते हैं।

शख बजी फिर। बारात रवाना हुई। सबके पीछे-पीछे फटी पखी कन्धे में झपकाए हरपतिया भी चल पडा मन मारकर। एकुन्या—अकेले बानर की तरह।

बरात साँझ के समय पास ही सलना नदी के पार ढेरनाथ गाँव में सुदिया बायडी के आँगन पर पहुँची। लेकिन बरात ठहरने से पहले ही कन्या-पक्ष वालों ने आँगन की

दीवार पर चढ़कर, अँगुली हवा में उठा-उठाकर ललकारना शुरू कर दिया—“खबरदार, रुदिया ! हम लोहार-बाड़ियो की, सिलपकारों की बरात में मलिहार-मुसल्टिए को लाए तो । कन्या का ब्याह हम बाँज-बुरौंझ के पेड़ से कर देंगे, लेकिन... !”

हरपतिया के जी में आया, सबके मुँह पर पच्व से थूक दे । सबकी झोंपड़ियों में जलती मशाल लेकर आग लगा दे और जाए वापस अपने घर । लेकिन न जाने क्या सोचकर ठहर गया ।

तभी बात का बतंगड़ बने, उससे पहले ही दाने-सयानो ने बीच-बचाव करके झगड़े में झाड़ डाल दिया । मुँहजबानी पंचायत में तय हुआ कि हरपतिया मलिहार खाते समय लोहारों की पंगत में नहीं बैठेगा । ब्याह के वक्त आँगन में नहीं फटकेगा । जानवरों के कमरे में अलग कोने का एक किवाड़ खोल देंगे, वहीं चुपचाप पड़ा रहेगा । खाना उसके मुख पर वहीं फेंक दिया जाएगा और सुबह उसके कपाल पर रोली नहीं घसकाई जाएगी, दच्छन-पानी की बात तो दूर रही ।

चुप सुनता रहा हरपतिया, कानों में अँगुली डाले ।

रातभर गाय-बैलों के रीते बाड़े में आधी फटी पंखी बिछाए, आधी ओढ़े हरपतिया पड़ा रहा । जब सबने छक-छककर खा लिया, तब कहीं उसके लिए कदू के हेरे पात में कुछ सूखी पूरियाँ, कुछ सूखा साग आया । उससे कुछ भी निगला न गया । एक भी ग्रास गले से उतर न पाया, केवल लोटा भर पानी गटकाया और जाड़े से थर-थर काँपता वैसा ही मिट्टी पर लोट गया ।

बगल में बचा-खुचा, जूठा-पीठा खाना, जूठे पत्तल पड़े थे, जिनमें गॉवभर के भूखे कुत्ते टूट रहे थे । उन्हीं की भाग-दौड़, खटर-पटर, उछल-कूद, छीना-झपटी की आवाज सुनता रहा ।

उसे आँखें मींचे रखने पर भी, गाय-बैलों के झुंड गिनने पर भी, नींद न आई । वह फिर-फिर सोचता रहा—उसने क्या गुनाह किया ऐसा । कौन-सी किसी की आँगन पर बँधी बछिया खोली, दुधारू गाय दुही, जो उसे दुर-दुर कर दुतकारते हैं । बिना जात कुत्ते की तरह फटकारते हैं !

वह टूटे कपाल का क्या करे । ब्याह किया तो कौन-सा जुलम हो गया उससे ऐसा ! आखिर इतनी लम्बी उमर किसके सहारे काटता । कैसे काटता । बचुली बीच धार में धक्का देकर अभागी संसार से ही चली गई । खुद ही दो दिन चैन से दो टुकड़े रूखे-सूखे न खा सकी । फिर उसका क्या... । बकत पर सभी ने सींग छिपा दिए । दुर दुर की । आज जब हारकर मलिहारों में गया और अपने दुःख की घड़ी किसी तरह रो-धोकर काटने लगा तो फिर वही दुर-दुर ।

उसका मन अँधियारे में चीत्कार कर उठा । घड़ी-भर भी सो न सका वह । ठंडे पानी में भीगी मुर्गी की तरह बैठा रहा । वैसा ही झुँझलाया-सा फिर खड़ा हुआ और फटी पंखी लपेटे, लकड़ी हाथ में थामे, वापस घर की ओर चल पड़ा ।

रजियानी टट्टर मींचे, तीनों नन्हे छौनों को सीने में लगाए, फटी धोती, उसके ऊपर फटा टाट, फटी दरी डाले, घुटने मोड़े, चटाई पर पड़ी थी। ठंडी हवा सनसनाती हुई झीनी झोंपड़ी के आर-पार आसानी से बह रही थी, बिना रुकावट के।

टट्टर हौले-से हटाकर वह अन्दर घुसा तो छनमन की आहट सुनते ही रजियानी कान खड़े कर जाग पड़ी। इस आधी रात में, इस तरह से यों दबे पाँव छिप-छिपकर आते देख उसकी खुली छाती पर सॉप लोट गया। पलकें फाड़े उठ बैठी वह। दबी आवाज में बोली, “कैसे चले आए इस बेवक्त, आधी रात ? डर नहीं लगा रास्ते में ?... कहीं मारपीट तो नहीं हो गई।”

हरपतिया खम्भे की तरह चुप खड़ा रहा।

“मैं तो कहती थी, माने नहीं तब। हुआ क्या ?” उसने अँधियारे में खड़े आदमी की ओर आशंका से, भय से देखा।

“कुछ भी नहीं।” कहता हुआ वह बैठ गया।

“कुछ क्या नहीं।” रजियानी ने एक गहरी साँस छोड़ी। फटी गूदड़ी में अधनगी लिपटी, उससे और सटकर बैठ गई, “किसी दिन ये सारे राकस मिलकर जान लेके रहेगे, मैं तो तब भी कहती थी। खाई से बचकर तुम बाघ के मुँह की ओर बढ़ रहे हो। जिसके करम में चैन नहीं, उसे खुदा चैन देगा ही कैसे। अगर होता ही तो यह सारी नौबत ही क्यों आती।”

हरपतिया के कंठ से एक भी शब्द फूट न सका। वैसा ही कुहनियों में हथेली दबाए बैठा रहा।

“उठो, अब सो जाओ। जो होगा, देखा जाएगा।” रजियानी की आवाज में जाड़े के मौसम में बर्फीली नदियों पर से उठने वाले कुहरे की-सी नमी थी।

हरपतिया वैसे ही ठोढी पर हाथ रखे बुदबुदाया, “तू क्यों जगी है। सो जा। मुझे नींद नहीं आती। मन ही मेरा उचट गया है।” उसने एक उसाँस भरी। आग जलाने वाला अगपाड़ा जेब से निकाला। लोहे की मोटी पत्ती को सफेद पत्थर पर खटका-खटकाकर आग की चिगारियाँ निकलाने लगा, ताकि सूखी रूई-सा झूला आग पकड़ ले और तमाखू का सूखा बुरादा धुआँ दे। अँगुल भर की सुल्फई-हुकिया भी उसने दूसरी जेब से निकाल ली।

चारों ओर कुछ क्षण सन्नाटा ग्हा, रजियानी जिसे सह न सकी। उसके और पास सटकर बैठी ठंडी हथेलियों को थामती बोली, “सुनो, मेरी एक बात मानोगे ? अभी बिगाडा कुछ नहीं...।”

“क्या ?” लापरवाही से हरपतिया ने पूछा, तमाखू का बुरादा हथेली पर मलते-मलते।

“पहले वादा करो। खुदा की कसम खाओ।”

“मानने-जैसी बात होगी तो क्यों नहीं मानूँगा ! सब कसम ही समझ, रजियानी !” बड़े भोले भाव से हरपतिया बोला।

“तो सुनो, मुझे छोड़ दो। यह सब जी का जजाल है। अपने परान को दुःख क्यों देते हो, सताते हो। पानी में रहकर मगरमच्छ से दुश्मनी। तुम चन्द्रायणी कर लो। थोकदार-पचो को, पाँच गाँव के प्रधानों को मुखधुवाई दे दो। फिर बिरादरी में मिल जाओगे और सारी मुसीबत कट जाएगी।”

हरपतिया डीनी झोपडी से बाहर झलकते, डूबते-चमकते तारों की ओर टकटकी बाँधे देखता रहा। तीन-त्याडी डूब रही है।

“रजिपानी, तू कहाँ जाएगी फिर? गले में रम्सी टाँगकर मरेगो न।” हरपतिया ने अपने माथे को दबाते हुए कहा, “तू इसीलिए बुरी है न कि तू मलिहारन है। अगर तू लोहारन होती या कोई और होती, तब तो कोई हरज नहीं था न। चाहे तू तीन नहीं, छह बच्चों की माँ होती। तीस की नहीं, साठ की होती। भली नहीं, लाख बुरी होती। कुलच्छनी होती। कुलटा होती।”

हरपतिया ने उस घटाटोप अँधियारे में उसके मुँह की ओर ताका। एक गहरी साँस ली, “मैंने बहुत सोचा बहुत बहुत सोचा रजियानी। ये तुम्हारे मुलाटुला अनाथ बच्चे दर दर कहाँ भटकेगे? इन अभागों दुधमुँहों को साए की जरूरत है। बाप की जरूरत है। तेरे मालिक ने तुझे बेबान में बेआसरा छोड़ दिया, जूठे टूटे मकोरे की तरह। और नई नवेली पर डोरे डाल लिए तू बेसहारा कैसे रहेगी? तुझे आसरे की जरूरत है—पति की जरूरत है।” रजियानी के रूखे बिखरे बालों को सहलाता रहा, देर तक चुपचाप। “फिर मुझे देख—मेरा दुनिया में कौन है।” हरपतिया का गला गदरा आया। फिर खॉसता हुआ बुदबुदाया, “लोहार रहकर देख लिया। मलिहार होकर भी देख लिया। फिर इम जान पात की फॉस बाँधकर क्या करना है। ऐसी भाई बिरादरी से क्या करना है। कहने, न कहने से क्या लेना है। इनका अपना अपना यह ‘धर्म-कर्म’ सब इनके शव के माथे जाने दे। दो हाथ हमारे पाम है। कुछ भी काम कर लेगे।” हरपतिया ने रोती मिसकती रजियानी की छलकती आँखें पोछी, अँधियारे में गीली माटी से ममेटा और आँखें मूँदे सीने में लगा लिया।

□

## वह

सूरज डूबता ही नहीं, आममान में अटका रहता है। कब सॉझ ढले, रात घिरे और मैं सोऊँ। परन्तु यहाँ न सूरज छिपता है, न आममान सितारों से जगमगाता दीखता है—सारा दिन प्रकाश। प्रकाश।

मोटे-मोटे पर्दे खिडकी में लगाने के बाद भी मुझे नींद नहीं आती। दिनभर की गहरी थकान के बावजूद पलके नहीं मुँदती। मैं बिस्तर पर सोए सोए, हौले-से खिडकी का पर्दा हटाता हूँ—किंचित् थोड़ा-सा। मात्र झॉकने भर के लिए।

बाहर सफेदे के ऊँचे-ऊँचे, हरे-भरे वृक्षों की शाखाओं पर हल्का पीला प्रकाश अब तक उसी तरह अटका है, जिसे देखकर मुझे पहाड़ों पर ढलती जाड़ों की शामें याद आ जाती हैं। जब प्रकाश को छूने पर भी ताप का अहसास नहीं होता। लगता है—केवल उजास मा है चारों ओर। हल्के गग की तरह बिखरा।

ऐसा ही कभी कभी यहाँ भी लगने लगता है। सूरज के अस्तित्व के बावजूद कहीं कोई उष्णता नहीं। दिन का अहसास जगाता उजाला मात्र उजाला रह जाता है, उसमें रचमात्र गर्मी नहीं लगती। लगता है, मनसनाती हुई ठंडी हवा सारा ताप मोख लेती है। इन बर्फील थपेड़ों से सूरज भी कहीं कुछ बुझ-सा आया है।

जब से यहाँ आया हूँ, अंधेरा देखने के लिए तरस गया हूँ। अधकार का भी जीवन में अपना महत्त्व है, अपनी उपयोगिता—इसका अहसास मुझे यहाँ आने पर ही हुआ—पहली बार।

मैं नीचे ढलवाँ मैदान की ओर, किंचित् झुककर झॉकता हूँ। हरी मुलायम दूब में मैथ्यू, नोर्मा, मसाको, आन्दो बैठे हैं। दूसरी ओर मुँह किए, लाल बालों वाली कोई महिलानुमा लड़की। मैं भलीभाँत पहचान नहीं पाता, शायद इजराइल की राया है। उसे ही रूखे, झबरैले—ऐसे बिखरे बालों का शौक है।

दिन-रात एक समान। ओह, मैं गलत कह गया—रात तो यहाँ इन दिनों होती

नहीं। उत्तरी ध्रुव प्रदेश के निकट होने के कारण—छह महीने का दिन, छह महीने की रात। इन दिनों 'छह महीने का दिन' चल रहा है। मैं अनुमान लगाता हूँ, जब तक हम यहाँ रहेंगे—दिन-ही-दिन रहेगा।

लोग निश्चित भाव से बैठे हैं। बातें कर रहे हैं—हँस रहे हैं, घूम रहे हैं। मैं सोने का लाख प्रयत्न करने के बावजूद सो नहीं पाता। एक अजीब-सी बेचैनी मुझे घेर लेती है। झटके से कम्बल पर करता हूँ और काले रंग के, दोहरे मोटे पर्दे एक ओर सरकाकर समेट लेता हूँ।

खिड़की से लगी मेज पर बैठकर पत्र लिखने लगता हूँ। रंगीन परिदृश्यों वाले, नयनाभिराम चिकने 'पिक्चर पोस्टकार्ड' के पीछे कुछ पक्तियाँ लिखकर, टिकट चिपका देता हूँ। सामने रख देता हूँ, जब बाहर जाऊँगा, लेटरबॉक्स में डाल दूँगा। भारत पहुँचने में हफ्ता-दस दिन तो लग ही जाएँगे।

कल साँग सवान झील के किनारे जंगल में देर तक भटकते रहे थे। बर्च की छाल से 'भोजपत्र' की जैसी परते उतारते रहे। बहिरा मेरे साथ-साथ अबोध बच्ची की तरह चलती रही। वह भी मेरी तरह 'भोजपत्र' की छाल को बड़े करीने से अपनी नाजुक सफेद अँगुलियों से उतारकर, एक के ऊपर एक गड्डी-सी जमाती चली जा रही थी।

बचपन में इसी तरह तितलियाँ पकड़ा करते थे। थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़कर, पता नहीं जंगल में कितनी दूर निकल जाते थे।

"इनसे क्या करोगे?" बहिरा ने तनिक रुककर पूछा।

"इन्हें भारत के बाजारों में बेचकर करोड़पति बन जाऊँगा...तुम भी काहिरा ले जाकर बेच देना।" अभिनय की मुद्रा में मैंने मुँह बनाकर कहा गम्भीरता से, तो बहिरा खिलखिलाकर, बच्चों की-सी निर्मल हँसी में हँस पड़ी।

"बड़े काम की चीज है। रख लो, जिन्दगी में कभी काम आएगी।" मैंने कुछ रुककर, मुँह बनाकर, आगे बढ़ते हुए कहा तो वह इस बार कुछ सन्देह से देखती हुई बोली, "आपके यहाँ भी इसके वृक्ष होते हैं?"

"होते क्यों नहीं।" मैं ऊबड़-खाबड़ रास्ते में सँभलकर पाँव रखता हूँ, "हिमालय के बर्फीले ठंडे इलाकों में इनमें भी, विशाल वृक्ष होते हैं, जिनमें बहुत मोटी-लम्बी-चौड़ी छाल आमानी से निकाली जा सकती है..."

"क्या करने हो उमसे?" वह मामूम बच्ची की तरह, जिज्ञासाभरी बड़ी-बड़ी आँखों से झाँकती है।

"धत्त, सारा रहस्य अभी बतला दूँगा, तो आगे के लिए क्या बचेगा?"

मेरे इस शरारतपूर्ण कथन पर वह मात्र मुस्करा दी थी।

भोजपत्र के बहुत से छिलके, जो अब मूखकर गोलाई में मुड़ गए हैं—मेरी मेज के एक कोने में बिखरे पड़े हैं।

तभी कोई दरवाजे पर दम्तक देता है।

“कम इन !”

देखता हूँ—डोरथी है।

“आप भी कमाल के हैं। सारी दुनिया जाग रही है, घूम-फिर रही है, और एक आप हैं, कमरे में बंद। चलिए, जरा घूम आते हैं !”

मैं बड़ी शालीनता से, शिष्टतापूर्वक मना कर देता हूँ, “मुझे अभी कुछ लिखना है। फिर कभी……अच्छा बाई……।” मैं मुस्कराकर कहता हूँ, पर वह क्षणभर में सब समझ जाती है।

मुझे यह लड़की बड़ी अजीब-सी लगती है। जब देखो, आँखें सिर पर चढ़ी रहती हैं। नशीली वस्तुओं का सेवन अधिक करती है शायद !

क्रागेरा के अभियान पर जब पिछले हफ्ते गए तो किसी ने बतलाया था कि सारी रात यह डेरे पर नहीं लौटी। नाविकों की बस्ती में चली गई थी……।

कमरे में बैठे-बैठे मन नहीं लगता। भारतीय गीतों के दो कैसेट लाया था। उन्हें कई बार सुन चुका हूँ।

स्लीपर पाँवों में डालकर मैं बाहर निकल आता हूँ। यों ही—निरुद्देश्य !

काठ की सीढ़ियों से हौले-हौले उतरता हूँ कि कहीं कोई सो रहा हो तो नींद में बाधा न पहुँचे।

अलग-अलग टोलियों की शक्ल में—पत्थरों की सीढ़ियों पर, लोहे की सफेद बेंचों पर, हरी घास पर लोग बैठे हैं। कहीं गिटार बज रहा है, कहीं गम्भीर बहसें हो रही हैं। जोड़ों की शक्ल में, आपस में गुँथे भी कुछ लोग……।

लगभग सौ-सवा सौ कदम आगे चलकर ठीक देवदार तो नहीं, देवदार के जैसे वृक्ष की छाँह में निकल जाता हूँ। फूलों से घिरी क्यारी के पास, लकड़ी की एकान्त बेंच पर बैठ जाता हूँ।

इस इमारत के पीछे काफी शोरगुल-सा मचा है। शायद कोई पार्टी चल रही है। पार्टियाँ यहाँ रोज ही चलती हैं, चलती रहें—मुझे क्या !

सामने सागर का गहरा नीला तट, क्रागेरा के छोटे-छोटे द्वीप, टेलीमार्क की पाताललोक में बसी विशाल घाटी और उसके सामने ही बर्फ से ढके रुपहले पहाड़—मुझे कुछ याद नहीं आता—न अपना घर, न अपनी धरती !

मैं आसमान की ओर झँकता—वृक्षों की नुकीली पत्तियों पर तिरते प्रकाश के कई रंग अपनी आँखों में समेटता रहता हूँ। प्रिज्म की तरह—कितने-कितने ही तैरते आकार…… !

“अरे, तुम यहाँ हो ?” चिरपरिचित-सी आवाज से तंद्रा टूटती है।

“वहाँ पार्टी चल रही है। लोग खा रहे हैं, पी रहे हैं, नाच रहे हैं, गा रहे हैं। आप यहाँ इस कोने में क्या कर रहे हैं ?”

“मैं पेड़ की पत्तियाँ गिन रहा हूँ।” तनिक मुस्कराते हुए कहता हूँ, तो वह



खिलखिलाकर हँस पड़ती है, “कभी पेड़ों की छाल इकट्ठी कर रहे हैं, कभी पत्तियाँ गिन रहे हैं—क्या आप वनस्पतिशास्त्री हैं ?”

“लो, पियो इसे।” वह अधिकार के स्वर में कहती है, “कल भी आपने खाना नहीं खाया—मैं देख रही थी।”

मैं बेच पर बैठने के लिए इशारा करता हूँ, “तुम्हें पता कैसे चला कि मैं यहाँ बैठा हूँ।

“बैठा हूँ नहीं, छिपा हूँ कहिए।” वह शरारत से देखती है, “मैं कमरे में गई। फिर बाहर लॉन में दूँढती रही।”

प्लास्टिक के सफेद गिलास में जामुनी रंग का, किसी स्थानीय फल का रस।

“लो।”

“तुमने नहीं लिया ?”

“अरे, मैं तो जार भर पी गई हूँगी।”

“हाँ, पी लो, पी लो। काहिरा लौटकर तो पानी ही मिलेगा पीने के लिए।”

मेरे यह कहने पर वह ठहाका मारकर हँस पड़ती है।

कुछ क्षण हम दोनों चुपचाप बैठे रहते हैं। रीता गिलास मेरे हाथ से लेकर वह फेकने लगती है तो मैं रोक लेता हूँ।

“क्या करोगे इसमें ?” वह पूछती है।

“अरे, बहुत कुछ। इतना अच्छा प्लास्टिक का गिलास है। सुबह दाढ़ी बनाने के काम आएगा।”

“यू माइजर।” वह जोर से हँसने लगती है।

मेरा मन पता नहीं आज क्यों इतना उदास है। तबीयत ठीक न होना भी इसका एक कारण हो सकता है। पर मुझे पता नहीं कि मात्र यही कारण होगा।

वह बेच के नीचे बिखरी पत्तियाँ को समेटकर उन्हें कलात्मक ढंग से सजाने लगती है। मैं देख रहा हूँ—वह इन्हे मजा अवश्य रही है, पर उसका मन कहीं और है।

कभी-कभी अपने को ही ठगना कितना अच्छा लगता है।

“तुम आज नील नदी के बारे में कुछ नहीं सोच रही ?” मैं शरारतभरी गम्भीरता में, इस बोझिल वातावरण से उभरने के लिए कहता हूँ।

वह उसी तरह पत्तियाँ छोटती रहनी है। जान गई है कि मैं उसे चिढ़ाने के लिए कह रहा हूँ।

“घर के बारे में ?”

“ना।”

“परिचार के बारे में ?”

“ना।”

उसका चेहरा बहुत भारी हो आया है, पानी भरे बादलों सा धिरा।

“फिर इन तीन-चार दिनों से तुम किस मोच में डूबी हो ?” मैं उसके कन्धे

झकझोरता हूँ।

“मैं एक जिन्न के बारे में सोच रही हूँ।”

“किस जिन्न के बारे में?” मैं जिज्ञासा से पूछता हूँ।

“जिसकी तुम्हारी जैसी आकृति है। तुम्हारी जैसी भूरी आँखें हैं।” वह मेरी आँखों की ओर झाँकती हुई कहती है, “परसों जब मैं यहाँ से हवाई जहाज में बैठूँगी, तो वे आँखें मेरे साथ-साथ होंगी, काहिरा के हवाई-अड्डे पर, मेरे घर के रास्ते में, घर में—ताउम्र मेरा पीछा करती रहेंगी……।” उसका गला भर आता है। इससे अधिक वह कुछ बोल नहीं पाती।

मैं मुड़कर देखता हूँ—उसकी उदास पलकों पर आँसुओं की झालर लटक आई है।

□

## यह सब 'अ'सम्भव

मरने के बाद भी वह तीन चार दिन यो ही पडा रहा। मैंने देखा—इतने ही दिना मे उसके बाल और नाखून बहुत बढ गए है। मुर्दे के भी बाल और नाखून बढते है—कभी कभी यह सोचते ही कितनी विचित्र अनुभूति होती है।

मेरे मामने की खिडकी लोगो ने अब लगभग पूरी खोल दी है। नीम के वृक्ष, वर्किंग गर्ल्स होस्टल, युक्लिप्टम के पेड, विद्याभवन, विदेश मंत्रालय के शाही कर्मचारियो के लिए गगनचुम्बी आवासगृह, और फिर बिल्डिंगे, बिल्डिंगे ही बिल्डिंगे ।

दोपहर का सूरज शायद उसी दिशा मे, किसी ऊपर उठनी हुई इमारत के ऊपर तप रहा है। कही कही बारूद के धुएँ के बादल ऊपर की ओर उठ रहे है। एक अजीब सा धुँधलका है ।

आसपास की प्राय मभी इमारनो कां खिडकियोँ अब खुल गई है। हर दरवाजे पर भीड का कार्क लगा है। छतो पर शहतीर की रह खडे लोग—आशका से, भय से, जिज्ञासा से, उझक-उझककर झाँक रहे है।

“अश्रुगैस छोडने के बाद, पुलिस ने गोली चला दी है,” लोग उत्तेजित स्वर मे कहते है, “कनाॅट प्लेस मे भगदड मची हे। बहुत से प्रदर्शनकारी मग गए। कितनी ही बसे जलकर राख हो गई।”

दूर तक सडको के इर्द गिर्द खडी बसे ग्चमुच जलकर गख हो गही है। जगह-जगह से काला धुआँ आममान कां ओर उमडता आ रहा है। सडको पर लोग चूहो की तरह भागे रहे है। स्कूटर, बसे, कारे—पता नही एकाएक कहाँ गायब हो गई है।

मै कुछ खोजती हुई निगाहो से मुडकर हॉल की ओर देखता हूँ—लगभग सारी सीटे अब खाली है। केवल मेजों पर मरी पडी हजारो फाइले, खिडकियो से झाँकते राख-पुते चेहरे।

एक अनचाही अराजकता, एक अनचीन्हा आतक ।

मुझे याद आता है, ऐसा ही माहौल पहले भी कभी-कभी हो जाया करता था, जब हम पढते थे। आजाद नहीं हुए थे। और तब पन्द्रह अगस्त भी नहीं मनाई जाती थी। परन्तु तब उमके पीछे जोश ही नहीं, जिन्दादिली थी। मर-मिटने की तमन्ना भी। पर अब मन कही लगता नहीं। सब जी रहे हैं, इसलिए हम भी जी रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, कोई भी उद्देश्य नहीं।

मूडकर सीट पर बैठ जाता हूँ। खुली, अधखुली गदी फाइलें, दूर तक पख फैलाए पडी हैं। आज के चालान मे आए कुछ पत्र बिखरे हैं, जिनके किनारो पर अस्पष्ट अक्षरो मे तारीखें ही तारीखे लिखी पडी हैं। एक ऑफिस से दूसरे ऑफिस तक पहुँचते-पहुँचते पत्र पीले पड जाते हैं। वे कब, कहाँ से, किस उद्देश्य से, किसके द्वारा लिखे गए थे, यह बात भी 'इतिहास की बात' होकर भूली जा चुकी होती है।

वस्तुतः यह भूलने की प्रक्रिया बुरी नहीं। इमसे बहुत-सी परेशानियो से लोग स्वतः बच जाते हैं। एक छोटा-सा पिजर 'पत्थर' का पहाड नहीं उठा सकता। पत्थर के पहाड से 'कागज' का पहाड बहुत भारी होता है न।

मैं फाइले समेटकर एक ओर रखने लगता हूँ कि हमारे सेक्शन का चपगसी भजन भागता हुआ आता है। कहता है—मैनी साहब, गजब हो गया।

मुझे 'गजब' शब्द सुनकर, उसके हाव भाव देखकर, कुछ तो चौकना चाहिए था, पर चौकता नहीं हूँ।

वह मेरे और पाम आता है। उसकी लम्बी घनी मूँछो के ऊपर अटकी लाल आँखें भय से और बडी हो आई हैं। वह कुत्ते की तरह हाँफ रहा है। हाँफता हुआ कह रहा है—लिफ्टमैन लिफ्ट छोडकर पता नहीं कहाँ भाग गए हैं। वह सातवी मजिल तक की मैकडो सीढियाँ एक की छलांग मे लॉघकर आ रहा है। और—

सरदार पटेल वाले गोल चक्कर पर 'महाभारत' मचा है—वह बतलाता है। पुलिम और साधुओ मे खुल्लम खुल्ला कुश्ती हो रही है। खून से सनी आठ-नौ स्लाशे सडक पर पडी वह खुद देख आया है। हे परमेसर।

वह गहरी साँस लेता है। चेहरे से वह बेहद थका हुआ लगता है। मेरे आस पाम बहुत सी रीती कुसियाँ पडी हैं, पर वह बंठ नहीं सकता, अत खडा रहता है क्योंकि ऑफिस मे आदमी और चपरासी के बीच बहुत बडी खाई होती है न।

किन्तु मेरी आकृति वैसी ही है। वह मेरी ओर और अधिक आश्चर्य से देखता हे कि इस भयकरतम दुर्घटना को सुनकर भी मैं चुप क्यों हूँ। क्यों मुझ पर कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हो रही है ?

सच पूछा जाए तो मुझे अचम्भा होता ही नहीं। जैसे सब सहज और सम्भव हो। वस्तुतः अब विचित्र से विचित्र बात सुनकर भी अचम्भा नहीं होता। सब स्वाभाविक लगता है। इस वैज्ञानिक युग की यही 'देन' क्या कम है।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ—किसी दिन अगर प्रात समाचार-पत्र खोलने पर

बड़े-बड़े अक्षरो में लिखा मिले कि अमुक महाद्वीप कल रात किसी आकस्मिक विस्फोट के कारण समुद्र में डूब गया और बीस करोड़ लोग जलसमाधि ले चुके हैं, तो लोग बड़े इत्मीनान से, इस समाचार को इतना ही पढकर, दूसरी कोई आम-चुनाव की खबर या गल्ला-बाजार का भाव देखना आरम्भ कर देगे और चाय पीने लगेगे।

चपरासी किंचित खडा रहकर, अपना सा मुँह लटकाए चला जाता है। उसे लगता है कि उसने अपनी 'महन्वपूर्ण खबर' किसी गलत आदमी को सुनाकर 'भूल' की है। उसे पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है।

एक खुली फाइल के पन्ने पलटने लगता हूँ मैं। पूरी शीट के एक नीले कागज में किसी हरविन्दर कौर नाम की महिला ने सरकार नाम की सस्था के सम्मुख अपना दुःखड़ा रोया है। वह अनपढ औरत (जिम्ने नीचे दस्तखत के स्थान पर मात्र अँगूठा लगाया है) लिखती है कि उसका पति परीतम उमे रोटी नहीं देता। मारता है। ब्याह के बाद एक बार भी कपडे नहीं बनवाए। पिछले तीन साल से वह अपने बूढ़े बाप के घर की रोटियाँ तोड रही है। उसके माँ बाप भी अब अधिक सहायता कर पाने में असमर्थ है। न्याय के लिए, अदालत में जाने के लिए, उमके पास पैसा नहीं। अत अब वह क्या करे।

दुखियारी हरविन्दर क्या करे / बिना पैसे के उसे इस जगत में न्याय कैसे मिले ? कैसे उमकी उजडती हुई घर गिरस्ती बसे ? इस विकट समस्या पर मैं विचार कर ही रहा था कि चपरासी एक 'आवश्यक' फाइल रख जाता है।

मैं फाइल का आकार प्रकार और उमका जरूरत से अधिक भटमैला, खरगोश का जैसा रग देखकर समझ जाता हूँ कि यह केस नटेशन का होगा। नटेशन का चाचा मिनिस्टर में है। अत वह अपने को किसी भी मिनिस्टर से कम नहीं समझना। हर दूसरे-तीसरे दिन फोन करता रहता है कि उमके योग्य भतीजे की 'डिमाड' हर हालत में पूरी होनी चाहिए। इस ब्रह्माड में वह जहाँ भी ट्रासफर चाहे, वहाँ के दरवाजे र्याद बद भी हो तो उसके लिए (मात्र कुछ समय के लिए ही मही) खोल देने चाहिएँ।

मैं सोचता हूँ—दरवाजा कैसे खुले कि नटेशन भीतर चला जाए और मुझे इस रोज रोज के झड़त से त्राण मिले, ताकि मैं कुछ दिन और जी सकूँ।

अत 'प्रेम' में लिख देता हूँ—नटेशन को ल्युना नबर नौ जैसे किसी शक्तिशाली स्मृतनिक में बिठाकर, उसकी ईच्छत दिशा में, इच्छित ऊँचाई तक भिजवा दिया जाए, ताकि वह आसमान में से जिम तारे को भी, जब चाहे, एक ही झटके में तोड सके।

“नटेशन स्मृतनिक में जाएगा, पर आज मैं घर कैसे पहुँचूँगा ?” ताँतिया कहता है—“दिल्ली-परिवहन की बसे बद हो गई है। सारा यातायात ठप्प है।” पार्लियामेंट-स्ट्रीट में कर्फ्यू लगा, वह अपनी आँखों से देख आया है।

वह 'कर्फ्यू लगा देख आया है' इस निरीह ढग से कहता है, जैसे किसी चौराहे पर लगा कोई नया साइनबोर्ड पढ आया हो।

मुझे बाबुओं की बुद्धि पर तरस आता है। पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि दो-चार सौ साल में, इस देश में बाबुओं की एक नई 'जाति' बन जाएगी, जिसके पास सभ्य समाज में बैठने के अधिकार नहीं रहेंगे और तब उस दलित, शोषित जाति के उद्धार के लिए कानून बनेंगे। और समाज-सुधारक प्राणों को हथेली पर रखकर उन्हें मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने का बीड़ा उठाएँगे।

हमारा समाज इतना गिरा हुआ क्यों है कि नित नई-नई मुसीबतें खड़ी करता चला जाता है। इसका परिणाम भुगतना पड़ता है बेचारे बड़े लोगों को। उन्हें बार-बार इसी धरती पर विवश होकर पैदा होना पड़ता है।

वास्तव में यह दोष व्यक्तियों का नहीं, यहाँ की आबोहवा का है। यहाँ विद्यार्थियों को कागज-किताबों के बदले इस्पात के कारखाने की अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। और पुलिस भ्रष्टाचारियों, चोरों को पकड़ने के बदले बेचारे विद्यार्थियों का पीछा करने में, अपने को अधिक गौरवान्वित मानती है।

मैं उठकर कैटीन की ओर निकल पड़ता हूँ, जहाँ आधा ऑफिस हर समय बैठा मिल जाता है। पर आज वहाँ ऑफिस बैठा कहीं भी दीखता नहीं। केवल सफेद रीते प्याले ही मेजों पर बैठे हैं। इक्के-दुक्के कुल आठ-दस लोग।

मैं अकेला चाय पीता हूँ। देखता हूँ—सामने वाले सिरे पर कुछ आदमी खूड़े हैं। जोर जोर से बातें कर रहे हैं कि एक नागा बाबा जुलूस की भीड़ से छिटककर, पता नहीं किस तरह से ऑफिस के भीतर आ गया था। और अभी-अभी कुछ क्षण पहले यहाँ कैटीन में बैठा 'ऐस्प्रेसो' काँफी पी रहा था।

नागा बाबा के यहाँ बैठने और ऐस्प्रेसो पीने में इतना आश्चर्य क्यों? मैं समझ नहीं पाता। जहाँ लोगों को भूखा रहने का हक है, बिना दवा-दारू के मर जाने का हक है, बिना अपराध के किसी को भी मार डालने का हक है यानी कि कुछ भी कर गुजरने का हक—वहाँ किसी को काँफी पीने का और नग्न घूमने का हक क्यों नहीं होना चाहिए?

मुझे यहाँ 'बाबुओं' को फिर उनके पिछड़ेपन के लिए कोसना चाहिए था, पर जान-बूझकर कोसता नहीं। केवल सामने की खुली केबिन से बाहर जाते, ठिगने बन्दर-जैमे कैटीन वाले के विषय में सोचता हूँ; जो कुछ ही वर्षों में फूलकर, पेट्रोल के ड्रम की तरह, चारों ओर से बुरी तरह गोल हो गया है।

मोना कहती है—डार्विन अदूरदर्शी था। मनुष्य का सम्बन्ध बन्दरों से जोड़कर उसने अपने को ही हानि पहुँचाई है। बन्दरों और मनुष्यों के बीच कभी कोई रिलेशन रहा हो या नहीं, डार्विन का अवश्य हो गया है। डार्विन का नाम लेते ही बन्दर का चिद्र अनायाम उभर आता है।

बाहर भीड़ छूट गई है। आज समय से पहले ही सब खाली हो गया है। कहीं-कहीं धुआँ अब भी उठ रहा है।

कर्जन रोड से लोग इडिया गेट की ओर इस तरह से जा रहे हैं जैसे किसी

शव-यात्रा का अंतिम सिरा गुजर रहा हो ।

ऐंबुलेंस की कुछ सफेद गाड़ियाँ आहतों को लिए सफदरजंग अस्पताल की ओर भाग रही हैं । घरों को पैदल जाने वाली, काम करने वाली लडकियों को 'लिफ्ट' देने का इससे अच्छा अवसर कार, स्कूटर वालों को फिर कब मिलेगा ।

कहते हैं—बहुत-से आदमी मर गए हैं । किन्तु मुझे सच नहीं लगता । जहाँ लोग जीना नहीं चाहते, वे मरने का महत्व कैसे समझ सकते हैं । अतः मर ही नहीं सकते । यह सब 'अ'सम्भव' है !



## मनुष्य-चिह्न

पानी पर आग लग गई है। गाँव में गिरदम्भ मन्त्रा है। लोगो को विश्वास नहीं हो पा रहा है, फिर भी सब कह रहे हैं—गोबिन्दी के साथ किरपाल ने बुरा सलूक किया है। कल शर्म बात कर दी है—किमनुता की ईजा ने अपनी आँखो से देखा है ।

गोबिन्दी गठरी की तरह बंठी, फटी पिछौड़ी ओढ़े, सिर झुकाए, अपने कानों करम को रो रही है। उसका बूढ़ा अँधा बाप, टूटे छप्पर के अँधेरे कोने में बैठा, चिलम का मूत्रा धुआँ उगल रहा है। लोग उसके मुँह पर निधडक थूकते हुए कह रहे हैं—

“हँ, ओ परमा। ऐसी नौहाल औलाद पैदा करने से पहले तू डूबकर मर क्यों नहीं गया था रे। तूने अपनी ही नन्हा पुरी तिरादरी की नाक कटा डाली। अब इसे गडढे में गेरकर जिन्दा जन्मा दे। ऐसी बदचलन नुडेल के रहने से क्या ?”

नारियल की चिलम का मूठ वह और जोर में पकड़ता है। धुएँ से उमने सारी कोठरी भर दी है। उसे लगता है—इस तरह धुआँ उगलता उगलता वह पागल हो जाएगा या आज शाम तक जरूर मर जाएगा। यदि वह नहीं मरना चाहेगा, फिर भी लोग उसका गला मरोड़ मरोड़ कर अवश्य मार डालेंगे। उसे ‘मरने’ से नहीं, ‘मारे जाने’ से भय लगने लगता है। इसलिए सिकुड़कर वह और छोटा हो जाता है।

बाहर चॉक पर कुछ लोग खड़े हैं। पाम पडोस की औरते अपने घरों का जरूरी काम छोड़कर गोबिन्दी को देखने के लिए आई है। दरवाजे पर बच्चों की भीड़ लगी है। ऑगन की मेड के चौड़े पाथरो पर बैठे, कुछ दाने सयाने इस ‘नाजुक’ प्रश्न पर गभीरता से बातें कर रहे हैं—यदि यह मना करती, तो किरपवा की मजाल थी जो इसका बदन छू सकता। जरूर कुछ-न कुछ बिचपात इसकी ओर में हुआ होगा। तिरिया चिरितम पुखरस्य भागम—कौन जानता है ।”

“वह बेचारी क्या करे।” कोई दूसरा कह उठता—“गगुवा काने का ‘ढण्ठ’ है ही ऐसा। घर का नाज बेच-बेचकर लाफर हुडकियानियो की मैफल में बैठा करता है—कुत्ते का ।”



“इस ‘करम भरस्ती’ का परलोक बिगड जाना चाहिए। एक त्रिपुडधारी वयोवृद्ध शाप देते हैं—“इसने बहू बेटी पर हाथ लगाया है। त्थोनरा माई इमे भसम करेगी ।’

कुछ लोग पच-सरपचो को ढूँढने गए हैं। ग्राम सभा का सभापति भी आज मोके से घर पर नहीं है। चीड और देवदार बनी क पेडो की मुकरट मे कचहरी गया है और कम्बख्न अपनी गवाही के लिए प्रधान को भी साथ ले गया है।

बीस पूरे कर, अब इक्कीस की ह—गाबिन्दा। अब से दम वर्ष पूर्व जब वह ग्यारह की थी—उसके पति का प्राणान्त हो गया था। लोग कहते हैं—वट भेड बकरियो को चराने के लिए जगल गया था। वही दिन दोपहर उसे भेडिया उठाकर ले भाग था।

ब्याह के बाद शायद वह एक बार भी मसुगल न जा पाई थी। पति नाम का पशु कैसा होता है—उसे याद नहीं।

बिना भाई बहन और माँ के इस अकेले घर मे उमने इतन वर्ष बिताए हैं किन्तु किमी को कभी अँगुली उठाने का अवसर नहीं दिया। गत दम वर्षों मे ऐसा कौन सा दिन है, जब उसने देहरी नहीं लीपी, गाय को गोग्राम नहीं दिया और तुलसी पर जल नहीं चढाया। उसने भूलकर भी किसी की तरफ आँख उठाकर नहीं दखा—किन्तु आज उस पर एकाएक सबकी आँखे बरस उठी तो उम मूझ नहीं पाया कि वह क्या करे।

“ गोपिऽ क्या हो पडा भुरीईऽ ? कोई पूछती ह तो गाबिन्दा दुल दुल गो देती है।

कैसे क्या हुआ— ? यह जानने के लिए हर कोई आतुर है। इसलिए जानकर भी अनजान बनकर बार बार पूछने और ‘सहानुभूति’ जतलान के लिए आ रहा ह।

और गोबिन्दी अब सचमुच ही ‘धरती’ मे धँस गई ह—शरम के मारे।

दिन गहमा गहमी मे बीत जाता है। सॉझ ढले मरपच आता है। सार लोग मधुमक्खी के छत्ते की तरह उसे घेरकर खडे हो जात हैं।

रात को बर्फ गिरने का अदशा है। ठडी हवा सनमनाता बह रही है। पर इस कडाके की सर्दी मे भी सब लोग जगे हैं।

किसी तरह पच जुटते हैं और पचायत बैठती है।

“गोबिन्दी के साथ बुरा सलूक होता किसने देखा था ?’ सरपच पूछता ह।

“किसनुवा की ईजा ने ।” भीड मे से कोई जतर देता है।

“कहाँ पर देखा था ?”

“गाय-डगरो के गोठ ।”

“वहाँ किसनुवा की ईजा किसलिए गई थी ?

“दूध दुहने ।”

“किस टेम गई थी—सुबह कि शाम ?”

“शाम को ।”

“किसनुवा की ईजा ने वहाँ क्या देखा ?”

सब परस्पर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं।

“किसनुवा की ईजा कहाँ है ? उसे बुलाओ।” सरपंच अपनी गद्दी पर लालाओं की तरह जमकर बैठता हुआ पूछता है—खीझकर।

“अपनी छोटी लड़की के घर कलकोट गई है—आज सुबह।”

“क्या देखा बतलाती है वह ?”

“कि गोबिन्दी के साथ कलचुड़िया किरपिया शरम-बात कर रहा था।”

“गोबिन्दी ने कोई विरोध नहीं किया था—?”

कोई कुछ उत्तर नहीं दे पाता।

“गोबिन्दी तब किस हालत में थी ?” वह सामने बैठे चश्मदीद गवाह से पूछता है।

उसे कुछ सूझता नहीं। वह अपनी गंजी खोपड़ी खुजाता हुआ कहता है—“बुरी हालत में होना चाहिए...।”

“कितनी बुरी हालत में ?”

किसी से कोई उत्तर बन नहीं पाता।

सरपंच फिर कुरेदकर पूछता है, “और किरपाल कैसी हालत में था ?”

“उसे भी बुरी हालत में होना चाहिए।” कोई कम उम्र का छोटा पंच बहुत देर चुप रहकर, इम प्रश्न पर सोचने के पश्चात् कहता है।

कुछ पल एकदम सन्नाटा रहता है।

“किसनुवा की ईजा ने जब देखा, तो हो-हल्ला क्यों नहीं मचाया था ?”

“हो-हल्ला तो गोबिन्दी की ओर से मचना चाहिए था।” दूसरा पंच जवाब देता है।

“नहीं...।” मिट्टी के कच्चे फर्श पर मुक्का पीटता हुआ सरपंच दुहराता है—  
“पचात कहती है, हो-हल्ला मचाने का फरज दोनों का था। पंचात की निगाह में इसलिए दोनों कसूरवार हैं।”

अब गोबिन्दी की पेशी होती है। गोबिन्दी ने फटे कपड़ों में किसी तरह तन ढक रखा है। तार-तार चीथड़ों के बाच धूप के चकत्तों की तरह, कहीं-कहीं पर चमकते शरीर पर बहुत-सी निगाहें बिधने लगती हैं। गोबिन्दी और सिमट आती है।

“किरपाल ने तुम्हारे साथ क्या-क्या किया ?”

“.....।”

“तम अँधेरे में गोठ क्यों गई थी ?”

“जब उसने तुम्हे पकड़ा, तो तुमने हो-हल्ला क्यों नहीं मचाया ?”  
“...।”

“किरपाल अकेला था या उसके साथ और भी लोग थे ?”  
“...।”

“किसनुवा की ईजा का कहना है कि उसने तुम दोनों को वहाँ से बाहर निकलते देखा था। तू छिप-छिपकर पेड़ों की ओट से जा रही थी और किरपाल खेत की मेंड से नीचे कूदा था...।”

गोबिन्दी की ओर से अब भी कोई उत्तर नहीं मिलता, तो सरपंच बुरी तरह झुंझलाता है। झिडकता है। डराता-धमकाता है। किन्तु फिर भी गोबिन्दी गूंगी बनी रहती है, तो वह दूसरे लोगों से पूछकर बातों का सिलसिला आगे बढ़ाता है—

“गोबिन्दी के साथ किरपाल को पहले भी कभी किसी ने देखा है ?” वह सामने खड़े लोगों से प्रश्न करता है।

“हाँ।” भीड़ में से एक आवाज आती है। खिलुवा का बड़ा भाई रुदिया उत्तर देता है।

“कहाँ देखा था ?”

“खेत में।” रुदिया कहता है।

“क्या करते देखा था ?”

“अपने नारंग के पेड़ के पास गोबिन्दी खड़ी थी। मैं पास ही बाँछिया चरा रहा था।” रुदिया उत्तर देता है—“इतने में मरे हुए माँप की तरह जुए का हलौंडा लकड़ी पर लटकाए अपने बैलो को हॉकता किरपाल दा वहाँ से गुजरा। गोबिन्दी की ओर देखता हुआ बोला—“सतरे खिला गोबि, प्यास लगी है।”

“गोबिन्दी’दी ने नारंग तोड़कर उसकी ओर फेंके, तो किरपाल’दा ने नाक-भौं सिकोड़ी, ‘ये तो छुड़ खट्टे है मुला। पके दे न रस-भरे।’

“गोबिन्दी’दी ने कहा कि अभी पके कहाँ हैं। सब ऐसे ही है।”

“‘हैं तो सही, तूने आँगड़ी में छिपा रखे है।’ वह हँसा और गोबिन्दी’दी भी खि-खि हँसने लगी।”

सरपंच ने गोबिन्दी की ओर देखा और फिर अपने कागज-पत्तों की ओर।

“अच्छा, अब किरपाल को बुलाओ।”

“किरपाल आज सुबह अपना घोड़ा बेचकर, गेट में बैठकर चिरान के काम में, आरा लिए, मंडी-भाभर चला गया है।”

हत्प्रभ होकर सरपंच देखता रहा। जैसे सबसे बड़ा शिकार, जिदा मछली की तरह फिसलकर निकल भागा हो।

रात अब कुछ और अधिक गुजर गई है। बहुत-से लोग मर्दी में ठिठुरते हुए अपने-अपने घरों को चले गए हैं। अन्त में रहे सहे भी जाने लगते हैं, तो वह गोबिन्दी को रोक लेता है...।

“लगता है, यह मुला सबके सामने कहने से शरमा रही है !” वह पास बैठे पंचों की ओर देखता है—जैसे उनकी प्रतिक्रिया पढ़ रहा हो, “इसलिए ‘पराइभेट’ में इससे कुछ पूछना-नाछना जरूरी हो गया है, नहीं तो इनकुवारी पूरी कैसे होगी? ब्यानधुरा-बीच...” उसने कसम खाकर कहा, “यदि पंच-परमेसरो की राय हो, तो इसे कुछ देर तक यहाँ और रोक लिया जाए !”

सर्वमम्मत—सब सिर हिलाते हैं और गोबिन्दी चलती-चलती ठिठक पड़ती है। सरपंच उसे एकांत में ले जाकर पूछताछ करता है। इसके बाद एक-दो पंचों ने भी पूछताछ की। पता नहीं कब तक यह सिलसिला चलता रहा... !

सुबह सरपंच ने फैसला तैयार किया। ‘परमेसरो’ की राय से यह तय हुआ कि बेचारी विधवा गोबिन्दी के साथ किरपाल ने ‘अन्या’ किया है। उसे फाँसी या कालेपानी की जैसी सजा मिलनी चाहिए और मामला पुलिस को सौंप देना चाहिए।

तीसरा दिन अभी शुरू भी नहीं हुआ कि अपने फौज-फरों के साथ पटवारी भी आ धमकता है। आते ही बबर शेर की तरह दहाड़ना शुरू कर देता है। रोब से मुक्का आसमान में उछालता हुआ चुनौती देता है कि इतना सगीन मामला पंचायत ने किस दफा के मुताबिक अपने हाथ में लिया। यह तो पुलिस-केस है। पटवारी-पेशकार के नीचे कोई बात नहीं कर सकता... !

गाँव के मारे लोग सकपका जाते हैं। जो जहाँ है, वही पर खड़ा रह जाता है। आदमखोर से इतना आतंक नहीं, जितना पटवारी-पुलिस से।

शाम को पटवारी अधे परमा को लाठी से बुरी तरह पीटता है कि उसने अपनी जवान लड़की पर अंकुश क्यों नहीं लगाया है, उसे घर से बाहर क्यों निकलने देता है।

किरपाल भाभर की तरफ भाग निकला था। अतः उसकी बुढ़िया माँ को बुलाकर धमकाया कि उस ‘सुंगर’ को ‘हथगेड़ी’ लगेगी। गोबिन्दी के साथ बदफेली में लोग-बाग कहते हैं—उसका (किरपाल की माँ का) भी हाथ है। उसे भाग जाने की सलाह उम्मी ने दी थी—इसलिए उस औरतजात को भी अदालत में खड़ा किया जाएगा। उस पर बेइज्जती होगी, सो अलग।

किरपाल की माँ थर-थर काँपती रोने लगती है—दोनों हाथ जोड़े खड़ी।

एक ठोकर फटे जूते की पधान की नंगी पीठ पर भी पड़ती है कि उस ‘नीच जात’ की पधानचारी और थोकदारी चली जाएगी। उसने अपने गौ-गिराम में भोटियों का जैसा राज चला रखा है।...उसे भी ‘काठ’ ठोकना चाहिए !

सबकी खबर लेने के पश्चात् अंत में गोबिन्दी को बुलाया जाता है—“कहते हैं सारा गाँव तूने खराब कर दिया है।” पटवारी कहता है, “किरपिया हरामजादा इतना बुरा नहीं था। उसे भी तूने खराब किया होगा !...तुझ पर जोबन चढ़ा है, तो तू कहीं खसम क्यों नहीं कर लेती...।”

गोबिन्दी मिट्टी में समाकर हाथ जोड़ती है कि उसका कोई कसूर नहीं है। उसने

कुछ भी नहीं किया है। दिवगत पति के घर उसके लिए ठौर नहीं इसलिए विवश होकर बूढ़े बाप की देहरी लीप रही है। वह दोनों आँखों से गर गर आँसू ढुलकाने लगती है ।

“तेरे साथ बुरा सलूक कब हुआ ?”

वह कुछ नहीं कह पाती ।

“उसके साथ कितने और लोग थे ?”

वह चुप रहती है ।

“उस समय तेरा बाप क्या कर रहा था ?”

“ ।”

“तेरा हाथ पकड़कर वह कहाँ ले गया ?”

“ ।”

“कितनी देर तक तेरे साथ रहा ?”

गोबिन्दी मटके की तरह गूँगी बेठी केवल रोती रहती है ।

पटवारी अपने को असमजस की स्थिति में पाता है। उसकी समझ में नहीं आता, क्या करे। वह जितने जोर से धमकाकर पूछता है गोबिन्दी उतने ही जार में बिलखकर रोने लगती है ।

पटवारी ने अपने माथे पर आए ठड़े पसीने को पोछा आर तय किया कि इस तरह पता लगाना संभव नहीं, इसलिए वह स्वयं जगह का मुआयना करेगा। बिना स्थान आदि का नक्शा बनाए ‘रिपोर्ट’ तैयार नहीं कर सकता। मामला हर तरह से पचीदा लगता है। अतः एकांत में बयान लेने और नक्शा तैयार करने के लिए गोबिन्दी को माथ लकर जानवरों के गिने बाड़े में जाता है। कागज पत्र भी साथ ले जाना नहीं भूलता ।

अधियारे में गोबिन्दी बच बचकर सँभल सँभलकर पटवारी के पीछे पीछे चलती है। पटवारी के हाथ में लालटेन है। वह बड़े गंभीर भाव में चल रहा है। लाग अपने अधमूँदे क्वाडो से डर डरकर झांक रहे हैं। उन्हें आशका है कि अगर ठीक ठीक तहकीकात न हुई, तो कल सबकी मामूहिक पिटाई होगी ।

‘जब वह स्माला यहाँ आया तो तू कहाँ पर खड़ी थी ?’ एकान्त, घुप्प अधियारे बाड़े में पटवारी की आवाज गुँजी। वह ठिठका। उसके दा कदम पीछे गोबिन्दी भी ।

चागे ओर देखता है पटवारा—कही कोई भी मनुष्य दृष्टिगोनर नहीं होता। वह उसे बाड़े के भीतर, पयाल की ढेरी के पास ले जाता है—

“हाँ, तो तू कहाँ पर खड़ी थी ?”

गोबिन्दी चुपचाप खड़ी रहती है ।

“तो उसने फिर तुझे किस तरह पकड़ा ?”

पटवारी ने लालटन धीमी कर एक ओर रख दी।

‘वह इस तरह से, इस छोटे वाले दरबे से कूदा होगा न।’ पटवारी दरबे से बिबल्ले की तरह नीचे कूदता है।

“फिर उसने तुझे झप्प से, पीछे से इस तरह पकड़ा होगा न।”

वह उसी तरह गोबिन्दी को पीछे से झप्प से पकड़ता है।

“फिर पयाल की ढेरी पर तुझे पटककर लिटा दिया होगा न।”

पटवारी उमी तरह उमे पयाल की ढेरी पर पटककर लिटा देता है।

“तुझसे विवश होकर नब कुछ भी न बन पडा होगा न। तू मुँह भीचकर चुप पडी रही होगी।”

गोबिन्दी से चाहकर भी कुछ विरोध नहीं हो पाता। वह मुँह भीचे चुप पडी रहता है।

कुछ क्षण बाद पटवारी अपने कपडो पर लिपटी घाम झाडता हुआ उठता है।

“चलो, मुआयना आज हो गया। नकशा कल सुबह आकर, स्माला सटवारी खुद तयार कर लेगा। किरपुआ न जरूर ‘गलती’ की है। उमे फॉमी की सजा हर हालत में मिलनी चाहिए।”

किसी सीमा तक बात पूरी हो गई है, परन्तु पटवारी के मन की कमर अब तक अधूरी है। इसलिए मुबह मुबह उसने मार गॉववालो की पिटाई आरम्भ कर दी है। वह एक एक कर लोगो को अपने एकांत कमरे में बुलाता है और बेरहमी में पीटता है।

इसी सामूहिक पिटाई के दागन जब आन्देव के गजे सिर पर टलम से लाठी को एक गहरी चोट लगी तो वह मिर से पात्र तक थर थर काँप जाता है और अपने बदन में पेबन्दी गल बदरग पाजाम पर हाँ नड नड पेशाब कर देता है।

इस आग में तुम क्या जानते हो? मच मच कहना नहीं तो खाल के भीतर भुम भर दूंगा।’ पटवारी एक चॉटा मारता है। अर्गुलियो की गहरी छाप गाल पर छूट जाती है।

आन्देव व कापत हुए हाथ अपन आप जुड जाते हैं—‘सरकार, माई बाप।’

सरकार माई बाप का बच्चा। मच मच कहो—यह किमने किया? किमी और न या किरपुआ ने >”

“किरपुआ ने तो नहीं।”

‘फिर किसने >

“नरदा पधान ने।”

‘नारया पधान ने विसके साथ पटवारी की आँखे विम्मय में बडी हो आती है।

“किसनुवा की ईजा से।”

‘फिर गोबिन्दी का नाम क्यो लगाया था तुम लोगो ने?’

“लोग कहते हैं……” आन्देव कहता है—काँपता-काँपता……“कि गोबिन्दी ने अपने गोठ में उन्हें ऐसा करते देखा था।……गोबिन्दी उनकी बदनामी न कर दे……इससे पहले उसी का नाम साक दिया था—सबने।”

कुछ देर ‘सुनसानी’ रहती है। पटवारी उसकी जाँघों पर तड़ाकू से एक प्रहार करता है—“कुत्ते के…… ! गधे के…… ! जरूर तेरा भेजा खराब हो गया है। मूरख की संतान, फिर इन लोगों के बीच, मैं पूछता हूँ…… किरपुआ साला कहाँ से आ गया…… ?”

आन्देव को अब कुछ सूझता नहीं कि क्या उत्तर दे। बहुत देर तक वह काँपता, उकड़ू बैठा रहता है, फिर सोचता हुआ कहता है—“वह सुबह भाभर चला गया था। इसलिए उसी का नाम ‘पाड़ना’ ठीक समझा, माई-बाप।”

“वह कुतिया, किसनुवा की ईजा अब कहाँ है ? उसे बुलाओ !” पटवारी दाँत पीसता है।

“वह तो देवता, अपनी छोटी लड़की के घर चली गई है। जाड़ों भर वहीं रहेगी।”

लात से मार-मारकर पटवारी उसे धकियाकर सीढ़ियों से नीचे गिरा देता है।

कुछ ही क्षण बाद नरदेव पधान को ‘हाजिर’ किया जाता है। उसके दोनों हाथों पर गाज्यो की रम्सी बँधी है। उसकी नंगी पीठ पर पटवारी सिंसुड़े (बिच्छू का पौधा) की डंडी से झपाझप प्रहार करता है। ज्योंही एक झाल पड़ती है, नरदेव ‘उईजाऽ !’ कहकर तड़प उठता है।

“साले सूअर, उस समय नहीं कहता था—‘उईजाऽ !’……” पटवारी उसे घसीटकर पास लाता है।

“बता, तूने किसनुवा की ईजा से क्या किया ?”

नरदेव अपने दोनों बँधे हाथ जोड़ता है—“सरकार, मैंने कुछ नहीं किया !……वह तो मेरी सगी छोटी बहन लगती है।……ऐसा कलपान्त…… !” वह रो पड़ता है।

“……तो फिर किसके साथ…… ?” उत्तेजना और आवेश में पटवारी देखता है।

नरदेव पधान कुछ सोचता है और रूँधे गले से फुसफुसाकर कहता है—“खिलुवा की…… बोज्यू…… से…… !”

पटवारी खिलुवा की बोज्यू को बुलाता है।

खिलुवा की बोज्यू बड़ी हो-हुज्जत के बाद अपने देवर का नाम बतलाती है—नरदेव पधान का नहीं।

फिर खिलुवा की बोज्यू का देवर घसीटा जाता है। वह कहता है—“बोज्यू के साथ तो केवल छेड़खानी किया करता था, असली बात रुखली के साथ थी……।”

“रुखली अब कहाँ है ?”

“अपने पति के घर……।”

“तुम्हारे अलावा उसके साथ और किसका संबंध था ?”

“टिकुवा का।”

“टिकुवा कहाँ है ?”

“यहीं अपने खेत में कट्यूल काट रहा है।”

“अच्छा, उस गधे को हाजिर करो।”

टिकुवा रुखली का नहीं, किसी हुड़कियानी का नाम लगाता है—जो अब मर गई है।

पटवारी उस मरी हुई हुड़कियानी के बूढ़े पति को बुलवाता है।

इस तरह तीन दिन के अन्दर सत्ताईस आदमियों की पिटाई कर पटवारी तीस ‘नाजुक’ केशों का पता लगाने में सफल होता है। सारे गाँववालों को बाँधकर हौलात में डालने लगता है, तो सबके कलेजे एक साथ कॉप उठते हैं।

हर मवासे से बीस-बीस रुपये इकट्ठे करके पटवारी-परमेश्वर के पाँव पूजे जाते हैं।

जुँहों-जुँहों कर रात बीती भी न थी कि एक दिन देखा—पधान के आँगन में, देवदार के पेड़ के नीचे, पीला-सा कागज लिए चपड़ासी देवसिंह खड़ा है।

लोग कहते हैं—सरकार-दरबार को सच्ची बात पता लग गई है। पटवारी और सरपंच की करनी का खुलासा दुनिया-जहान में हो गया है।...पेशकार और पटवारी में पुरानी लाग है। पेशकार ने ऊपर बड़े ‘हाकिम’ से कहकर मामला फिर चलवा दिया है।...तहसीलदार और ‘कलस्टर’ सबको पता है।

और फिर सच ही एक दिन पूरे दल-बल के साथ, नुकीली सफेद मूँछों वाला बूढ़ा पेशकार बर्चैसह आ धमकता है।

फिर से लोगों की पेशी होती है। ‘तहकीकात’ फिर नये ढंग से शुरू होती है। लंपट पटवारी ने बदमाशी की है—इसे साबित करने पर पेशकार हाथ धोकर पड़ा है, ताकि उसे नौकरी से निकाला जा सके और इलाके में शांति रहे।

सबको बुलाता है। पहले पुचकारता है और फिर सब पर थूकता है।...सबके बयानों में यही रहता है कि पटवारी डरा-धमकाकर एक मोटी रकम ‘उघा’ ले गया है।...उसने गाँव में बकरा खाय़ा है।...बदफेली की है...सबने अपनी आँखों से देखा है...और एक पिपिया ठरुवा शराब की रीती कर गया है।

“कितने बकरे खाए उस खबीस की औलाद ने ?” धधकते अंगारे-सी आँखें दिखलाता हुआ पेशकार कहता है।

“हुज़ूर, एक बड़ा ‘हेल्वान’ था और एक ‘पाठी’।”

“‘हेल्वान’ किसका था ?”

“पदिया का...।”

“बुलाओ उस ‘बिलेडीफूल’ को...।...और हाँ, ‘पाठी’ किसकी बतलाई ?”

“तल्ले घर चरनियाँ की।”



“उस ‘डैमफूल’ को भी हाजिर करो।”

दोनों ‘फूलों’ को हाजिर किया जाता है। कॉपते हुए दे बुत खड़े हो जाते हैं।

“पटवारी को बकरा तुम बदमाशों ने खिलाया था ?”

दोनों के गले से आवाज नहीं फूट पाती, तो पेशकार फिर दुहराता है। फिर भी दोनों सहमे-से चुप रहते हैं, तो पेशकार उबलता हुआ एक साथ उन दोनों पर कूट पड़ता है।

मारते-मारते उसके हाथ थक जाते हैं और वे दोनों मिट्टी के कच्चे फर्श पर बुरी तरह धूल में लिपटे पड़े रहते हैं, तो वह उन्हें बगलवाले गोठ में बन्द करवा देता है—बाहर से कुंडा ठोककर।

“घूस किस-किसने दी थी ?” वह कहता नहीं, दहाडता है।

लोगों की टाँगें कॉपने लगती हैं।

“गंगानन्द ने....।” कोई बीच में फुसफुसाता है।

गंगानन्द न्योते में किसी दूसरे गाँव गया है। रातों-रात उसे बुलवाया जाता है।

“गंगिया के ‘ढण्ठ’, तूने घूस दी थी ?....जानता है, गधे के....घूस लेना और देना, अदालत में बराबर-बराबर जुरम है !”

गंगानन्द कोई उत्तर दे, इससे पूर्व उमके झुर्रियो वाले गाल पर एक तमाचा पड़ता है। फिर दूसरा....और तीसरा।

उसके मुँह से झाग निकल जाता है। वह बुरी तरह हॉफता है—“मैंने नहीं...सबने। सिरकार, पटवारिज्यू हौलात में डालने को कहते थे....गरता क्या न करता...सिरकार...!”

पेशकार कुत्ते के पिल्ले की तरह उसका कान पकटकर ऊपर उठाता है और उसे भी बन्द करवा देता है।

फिर दूसरों की बारी आती है।

पेशकार उस गोठ का मुआयना खुद करता है—जहाँ पर कहते हैं, गोबिन्दी के साथ किरपाल ने शरम-बात की थी। गोबिन्दी बाल-विधवा है। असहाय है। अनाथ है। उसके प्रति बूढ़े पेशकार के मन में स्वाभाविक करुणा जागती है।

इस ‘जुल्म’ के बदले उसका इगदा पटवारी को नौकरी में ही निकलवाने का नहीं, बल्कि दिन-दोपहर मूली पर चहाने का भी है।...अतः गोबिन्दी को अंकले में, अपने कमरे में बुलाकर, पाम बिठलाकर महज आत्मीयता में पूछता है—“पटवारी नौहाल ने तेरे माथ क्या-क्या किया मुला ?”

गोबिन्दी सहमी-सी कुछ कह नहीं पाती, तो वह उमके और पाम जाता है। उमके मूख बाली का सहलाता हुआ पूछता है, “बता न, किरिया, उस कमीने ने कौन-सी हरकत की थी ?....कब ? किस तरह से...। कतनी बार... ?”

गोबिन्दी चुप रहती है। इतनी आत्मीयता का बोझ वह सह नहीं पाती—‘दुधमुँही बच्ची की तरह अपने घुटनों में मुँह छिपाए चुपचाप रो देती है।

पेशकार का बूढ़ा हृदय पिघल जाता है। उसे और पास खींचकर, हर तरह से उसे सहलाने लगता है, “सरपंच कमीने के...ने भी तेरे साथ जुलम किया। लोग कहते हैं—बदजात पटवारी ने भी...। सरकार को सब पता चल गया है।...उनको कालापानी की सज़ा होगी।...सरकार उनसे नाराज है। हम नाराज हैं। सब नाराज हैं...मोची से उनकी खाल उतरवाकर उसमें भुस भर देंगे।...और तुझे इनाम देंगे...तू बहुत अच्छे चाल-चलन की है। तू गऊ है।...तू बहुत अच्छी गऊ है।...बहुत ही अच्छी...।”

पेशकार की साँस रुक जाती है...वह उसे पूरी तरह समेटकर उस पर गिर पड़ता है...कटे पेड की तरह...।



## फासला

माथे पर रूखे, घुँघराले बाल बिखरे हैं। काली काली झाड़ियों में घिरी आँख में अजीब सी रिक्तता है। पुतलियों का गहरा नीला रंग मटमैला लग रहा है। लग रहा है—कच्चा रंग जैसे अभी अभी धुल पँछ गया है।

‘पहाड़ में कब आए?’ मैं जैसे पृछने भर के लिए पृछता हूँ—मात्र औपचारिकता से।

“अर्मा हो गया ।” उसके सूखे होठों पर पपड़ी मी जमी है। सामने की ओर देखकर भी लगता नहीं कि वह कहीं देख रहा है। दृष्टि जैसे शून्य पर निराधार अटक गई हो।

‘पहले क्या करते थे ?’

“करता क्या था? काम तो कहाँ मिला नहीं। कितनी जगह फिर टकराया, पर हाथ कुछ आया नहीं। बरेली में किसी ने कोयल के टाल में चौकीदारी पर लगा दिया था परन्तु उन लोगो ने दो महीने बाद निकाल दिया—चोरी का इल्जाम लगाकर ताकि तनख्वाह न देनी पड़े। जमाना ही ऐसा आ गया है।” वह हताश होकर कहता है।

‘अब तो सरकार ने पहाड़ों में भी अनेक राजगार खोल दिए हैं। वही कोशिश करने। कुछ न कुछ तो हो ही जाना । मैं किंचित मोचता हुआ कहना हूँ।

“कहीं कहीं दिखावे के लिए कुछ खोले तो ह। पर वहाँ भी उन्हीं की चलती है जिनकी थोड़ी-बहुत जान पहचान हो, फिर जोई मुझे ऋण क्या देने लगा ।”

‘पढ़े कहाँ तक हो?’

“तीन साल हो गए दसवी पाम किए।’

‘आगे क्यों नहीं पढ़ा /’

वह बड़ी मार्मिकता से कहता है पढ़ने को मन तो बहुत था, पर पढ़ता कैसे? दो वक्त की रोटी का ही जुगाड नहीं था, तो फिर फीस कहाँ से भरता? किताबें कैसे खरीदता? इसके अलावा एक मुमीबत और थी घर में मैं ही था ऐसा, जो कुछ कमा

सकता था, मैं पढ़ने चला जाता तो औरों का क्या होता ?”

“कौन-कौन हैं घर में…… ?” मैं पूछता हूँ।

“पिताजी को गुजरे सात-आठ साल हो गए। भाई-बहन छोटे-छोटे हैं, माँ बीमार रहती है। मुझसे बड़ी एक बहन थी, पिछले साल उसने नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली……।”

“क्यों की……आत्महत्या ?” मैं अचरज से चौंककर पूछता हूँ।

“उसके मसुराल वाले कसाई निकले। बिना बात उसे तंग करते थे। मारते-पीटते थे। दिन-भर काम कराने के बाद भी भरपेट खाना नहीं देते थे।”

“तुम लोगों ने ऐसा न करने के लिए उनसे कभी कहा नहीं ?”

“पिताजी तो रहे नहीं। हम छोटे-छोटे, हमारी सुनता ही कौन ? उन्हें किसी का डर ही होता तो ऐसा जानवरों जैसा व्यवहार करते ?” वह ठंडी साँस भरता हुआ कहता है।

वातावरण तनिक बोझिल होने लगा है—असह्य। मेरी निगाहें उसके धूल से सने, खुरदरे पाँवों पर अटक जाती हैं। भूरे रंग की टूटी हवाई चप्पल, जगह-जगह से मिली हुई है। आगे का टुकड़ा टूटकर अलग होने को तैयार है।

“दिल्ली में कब से हो ?”

“इस चैत में दो साल पूरे हो जाएँगे।”

“रहते कहाँ हो ?”

“यहीं पाम ही, नेताजीनगर में दूर के रिश्ते के एक मामा हैं—बी.एस.एफ. में। उनके बरामदे में सिर छिपा लेता हूँ। बच्चे उनके पहाड़ में ही रहते हैं, इसलिए चौक-बर्तन का काम कर देता हूँ। इसके एवज में दो वक्त की रोटियाँ मिल जाती हैं। लगता है, वे भी अब मुझसे तग आ गए हैं। परसों कहते थे—घर में भतीजा आने वाला है, इसलिए कहीं अपना बन्दोबस्त कर लो।”

“नौकरी के लिए कहीं कोशिश तो की होगी ?” मैं ‘होगी’ पर अधिक जोर देता हुआ पूछता हूँ।

“कोशिश करते-करते तो अब थक गया हूँ।” सचमुच वह रोने को हो आता है, “कभी-कभी तो मन करता है कि रेल के इंजन के नीचे सिर टे दे दूँ, पर जैसे ही घर का ख्याल आता है, कॉप-कॉप उठता हूँ। मुझ पर ही उन्होंने मारी उम्मीदें लगा रखी हैं, मुझे कुछ हो गया तो वे सब क्या करेंगे…… ?” उसकी बूझी-बुझी निम्तेज आँखों के कोर भीग जाते हैं।

मैं पत्नी से चाय के लिए कहता हूँ, साथ में कुछ खाने के लिए भी।

चिन्डिया की तरह वह प्लेट में से चुपचाप टाल-मोठ और तली हुई नमकीन मूँगफली के दाने बीनने लगता है—सिर झुकाए, निगाहे नीचे किए, उसके रूखे हाथ की सूखी, पतली अँगुलियाँ कॉप-सी रही हैं।

“बड़ी उम्मीद से आया हूँ, आपके पास। आपके अलावा हमारी तरफ का और है

भा कौन ।' माथा ऊपर उठाकर वह मेरी ओर देखना है

मैं उसे तरह तरह से हूँ कि कही कुछ बन सका तो अवश्य काशिश करूँगा, वह कभी-कभी आता जाता रहे। उसकी निगह मे कही कोई जगह हो तो मुझे सूचित करे। मैं अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करूँगा।

इसके कुछ ही दिन बाद, सुबह सुबह कोई दरवाजा खटखटाता है। द्वार खोलकर देखता हूँ उसका बीएमएफ में काम करने वाला रिश्तेदार सामने खड़ा है। कह रहा है—“मदानन्द का रिग रोड के चौराहे पर एक्सीडेंट हो गया है। सफदरजग अस्पताल में अभी अभी ऑपरेशन होना है। आप चल सके तो थोड़ा धीरज रहेगा, आपकी कुछ जान पहचान तो होगी ही।”

सुबह का अखबार परे पटककर, झटपट ऋपड सभालता हुआ, मैं नैमा ही बदहवाम सा बाहर निकल पडता हूँ।

उसकी हालत सचमुच बहुत नाजुक लगती है। चेहरा एकदम सफेद ठण्डा, सारे शरीर पर पट्टियाँ, सामने स्टैंड पर ग्लूकोज की बोतल लटक रही है।

मोत में पूरे छह घंटे तक मर्घर्ष के बाद डाक्टर उसे बचा पाने में किसी तरह सफल हो जाते हैं।

लगभग दो ढाई महीने वह अस्पताल में रहा। दो चार बार फोन में मैं उसके हाल समाचार मालूम करता रहा।

उसको बर्दाकम्मती पर सोचता रहा—इसे कहने है भाग्य ? जब काम करने लायक स्थिति में ही काम नहीं मिल पाया, तो अब कैसे करेगा गुजारा।

कुछ महीने बाद बेमाखियों पर झुलता हुआ वह फिर मेरे घर आता है। मेरे सामने खड़ा हो जाता है, प्रश्नवाचक। इन्हें क्या तरह।

क्या हाल है अब ?” मैं उसकी ओर देख नहीं पाता।

‘सब ठोक है।’ वह मुस्कराना हुआ कहता है।

‘कहाँ रह रहे हो आजकल ?’

‘यही पाम ही कृष्णनगर में’, कहता रहता वह महसा चुप हो जाता है।

मैं भी चुप उसकी ओर देखता रहता हूँ।

कुछ ही क्षणा में सन्नाटा गा आ जाना है— दुभय । उसे ताडना हुआ पृच्छना हूँ — ‘एक्सीडेंट हुआ कैसे था ?’

टूक में ।’

टूक वाला पकड़ा नहीं गया ।’

नहीं। वह कुछ माचना हुआ अगर कहना है, उम्मा न ता मुझे अस्पताल तक पहुँचाया था। वास्तव में उम्मा कोई वन्दर नहीं था।”

‘तो फिर ?’

मैं ही पहिये के नीचे आ गया था—जानबूझकर।”

“क्यों ? क्यों ?”

“मरता क्या न करता । जब कहीं जीने का कोई किनारा नहीं दीखा तो मैंने यही रास्ता चुन लिया ।”

“मरने का... ?”

“जी नहीं, जीने का ।” वह बोला, “अपंग लोगों को सरकारी नौकरी में रियायत मिलती है न । देखिए, पिछले महीने से मैं काम पर लग गया हूँ । मुझे एक ऑफिस में नौकरी मिल गई है । यदि यह पॉव साबुत होता तो शायद अब तक भूखा मर रहा होता या मर चुका होता... ।” अपने कटे पॉव की ओर देखता हुआ वह ठहाका लगाकर हँस पड़ता है ।

मुझे लगता है—वह हँस नहीं रहा, बल्कि दहाड़मारकर रो रहा है । जीवन में एक ऐसी स्थिति भी तो आती है, जब इन दोनों के बीच कहीं कोई फासला नहीं रह जाता ।



## हत्यारे

नारियल के बिखरे वृक्ष, तपती रेत और दूर धुंधली-सी सीमा रेखा तक फैला अन्तहीन सागर ।

गरम बालू में ज्योंही पाँव धँसते हैं, तलुओं पर अजीब-सी किराकिराहट होती है । सूरज के ठीक माथे पर चमकने पर भी हवा में कहीं तनिक उमम नहीं । समुद्र की ओर से आते, सनसनाती हुई ठंडी वायु के झोंके बहुत सुखद लग रहे हैं ।

जमीन का अन्तिम टुकड़ा जहाँ सागर में धँसता है, वहाँ खड़ा होने पर, एक विचित्र-सी अनुभूति का अहसास होता है—इसके बाद सागर ही सागर । जल ही जल ।

मैं चलता-चलता तीन ओर में समुद्र में डूबी एक चट्टान पर, एकान्त में बैठ जाता हूँ । चट्टान ठीक हाथी की पीठ जैसी है—खुरदरी, काली—वैसा ही चारों ओर को ढलान । बीच चट्टान में लाल रंग की लक्ष्मण रेखा-सी खिंची है । इससे आगे बढ़ने का अर्थ है—खतरा । किसी भी क्षण सागर की उफानी हुई लहरें अपने साथ बहाकर ले जा सकती हैं ।

लाल रेखा पर चप्पले उतारकर, मैं कुछ कदम आगे बढ़ता हूँ—हल्के ढलान की तरफ । सागर की ऊँची-ऊँची लहरें कुछ क्षणों के अन्तराल के पश्चात् इस इस्पाती चट्टान में टकराती रहती हैं । पहले दूर कहीं एक मिलवट-सी उभरती है । सागर की सतह का कुछ हिस्सा सहसा फूलने सा लगता है, और एक मामा तक किंचित फूलकर, वह जल की ऊपरी सतह पर, फिसलना हुआ, तेजाँ में किनारे की ओर सरकने लगता है । फिर उममें लहर पैदा होने से एक सफेद रेखा आममान की ओर छलकती, आगे बढ़ती, हिचकोले खाती, ज्योंही किनारे की कठोर चट्टान में टकराती है—एक भयंकर गर्जन होता है । और फिर कुछ ही क्षणांश में लहरें टूट-टूटकर, चूर-चूर होकर, कण-कण में बिखरने लगती हैं—दूध का जैसा सफेद झाग चट्टान से नीचे उतरने लगता है ।

खतरे की लाल सीमा-रेखा से आगे आने पर भी मुझे भय क्यों नहीं लगता । मैं पीठ के बल निश्चिन्त भाव से लेट जाता हूँ । सामने की ओर देखता हूँ—जहाँ मछुआरों

की छोटी-छोटी काली पालदार नावें काले-काले बिन्दुओं की शक्ति में बदल रही हैं। क्षितिज की सीमा-रेखा के उस पार पेंसिल में खिंचा एक धूमिल-सा रेखाचित्र उभरने लगता है। धीरे-धीरे उसका आकार बड़ा होता चला जाता है—और वह स्टीमर की शक्ति में बदल जाता है। ज्योही वह कुछ आगे बढ़ता है, एक दूसरा रेखाचित्र आकार लेने लगता है, फिर तीसरा। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर तीनों एक कतार में तैरते, पास सरकते दिखलाई देने लगते हैं।

यहाँ लेटे अभी कुछ ही क्षण बीतते हैं कि पीछे से शोरगुल सुनाई देता है।

आठ-दस आर्दामयो का झुण्ड उमी दिशा में आगे बढ़ रहा है, जहाँ मैं लेटा हूँ।

उन्हें इतने पास देखकर, तनिक अचरज में मैं उठ बैठता हूँ।

एक बीमार-से, मगियल आदमी का हाथ पकड़े वे कुत्ते की तरह, बेरहमी से घमीटकर ला रहे हैं। उसकी दाढ़ी सूखी धाम की तरह बिखरी है। मैले-कुचैले नाम मात्र के कपड़े तार तार फटे हैं। घुटनों में, कुर्दानियों में, होठों में रक्त बह रहा है। उमर्नी बुझी-बुझी आँखों में गहग कातरभाव है। सूखी देह काँप रही है—एक अजीब सा आतक उस पर छाया हुआ है।

"यहाँ पर— यही पर न।" एक गठे शरीर का बालिष्ठ आदमी अपने फौलादी पंजा में उमर्की पतली सी गर्दन जर्मन की ओर झुकाता हुआ कहता है।

उमर्का जर्जर शरीर भय में अन्न आर भाँ आँधक कम्पायमान होने लगता है। काल काटने में धर्मो निग्नेज आँखे बाहर की ओर निकलने लगती हैं—-मूँह से तमाम साग सा।

"क्या बात है / क्या ?" में विस्मय में उठ जाता हूँ।

"किसीया बात। कुन्हे नहाड।" गूँह बनाता हुआ एक आदमी कहता है। कमर के नाच मात्र लुगी। ग्राथ पर चन्दन का गहग लेप।

म प्रश्नमूचक, दृष्टि में उमर्की बगल में खूट व्यर्थवत की ओर देखता हूँ।

'यह आदमी नहीं, नर अपशाच है ।'

"क्यों / क्यों ?"

"कहते हैं कल यहाँ पर बैठकर इमने आदमी का माम खाया था।"

आदमी का माम।' मर रागत खूट हो जाने है।

'हाँ हाँ, उमर्की वस्त्र का लाश भग्द में बहना हुई यहाँ किनार पर लगी थी। कल ही कल रात यहाँ, उमर्की पथर पर बैठकर यह उसे खा रहा था। यह आदमी नहीं राक्षस है— निग राक्षस । भणा में वह जमान पर धूकता है।

में देखता रहा है; उमर्का बनी बट गवतम आँखों की ओर, जो आक्रोश में धधक रही है।

चड़ान के आमपाग, इधर-उधर निगाहे घुमाना है पर कही कुछ दिखलाई नहीं देता—न रक्त, न मांस और न आस्थाय के ही टुकड़े।

कोई आदमी, आदमी का भी मांस खा सकता है, इसकी कल्पना मात्र से मैं सिहर



उठता हूँ।

“किसी ने अपनी आँखों से देखा भी है या यो ही ।” मेरा वाक्य अभी पूरा भी नहीं हो पाता कि एक पशु जैसा आदमी भीड़ को चीरता हुआ सामने आता है—“कल रात लोगों ने अपनी आँखों से देखा था। जब इसका पीछा किया तो यह लगूर की तरह चट्टानों को फाँदता हुआ ओझल हो गया था।”

“बोलता क्यों नहीं ?” किसी ने उसके नगे सिर पर इतनी जोर से चपत लगाई कि वह माथा पकड़कर, वही पर मुन्न मा बैठ जाता है।

काठ की तरह वह चुप है। उसकी भीगे चने की तरह सूजी आँखों में दैन्य का ही नहीं, गहरी विवशता का भी भाव झलकने लगता है—घोर कानरना का।

पीछे से कोई उसकी पीठ पर, जमकर ठोकर मारता है तो नारियल की तरह लुढ़ककर छिछली चट्टान से जा टकराता है। उसका माथा बुरी तरह छिल गया है। नारू के भीतर से लहू की दो पतली धाराएँ होठों के नीचे की ओर बहने लगती हैं।

“किमने देखा इसे मास खाते हुए ?” नानक आवेश में बोलने में मैं अपने को रोक नहीं पाता, तो महमा सब सहम जाते हैं। कुछ क्षण का सन्नाटा तोड़ते हुए, पीछे खड़ा आदमी, एक किशोर का हाथ पकड़कर सामने आता है—‘इमके भाई ने देखा था ।’

“वह कोई और भी तो हो सकता है।” मैं कहना हूँ।

‘और कैसे होगा ? क्या हम नहीं जानते कि इमके अलावा और कोई भी नहीं हो सकता। अपने बूढ़े जिन्दा बाप को इमने खुद समुद्र में डुबो दिया था। जवान पत्नी की हत्या कर दी थी। यह आदमी नहीं, जीना जागता राक्षस है राक्षस।’ दान पीमता हुआ, यमदूत मा खड़ा, श्यामवर्ण का आदमी धधकती आँखा में मेरी ओर देखता है।

दो तीन लोग चट्टान के किनारों पर कुछ टटोलने लगते हैं। आमपाम की चट्टानों पर तलाश जारी है।

जिम भाषा में वे अब बोल रहे हैं, उस समझ पाना मेरे लिए सम्भव नहीं। फिर भी उनके चेहरों के हाव भाव में इतना तो समझ ही जाता हूँ कि वे अब पूरे आवेश में हैं—आक्रोश में। प्रमाण रूप में कुछ न मिल पाने के कारण परशान भी कुछ कम नहीं।

आमपाम की एक-दो और चट्टानों में घुमाने व पश्चात् वे उस पशु की तरह घसीटकर ले जाते हैं—‘गाँधी मण्डप’ की दिशा में और फिर ओझल हो जाते हैं।

मैं स्तम्भित-मा वेसा ही खड़ा रहता हूँ। क्षण भर में अभी अभी जो कुछ घाटत हो गया, वह दिल दहला जाता है।

वही पर मैं फिर उसी तरह बैठ जाता हूँ। अकारण कुछ इधर उधर खोजता हूँ।

थोड़ी देर बाद चप्पले पहनकर वापस लौटने लगता हूँ।

दाई बाँह पर छोटे-छोटे आँखों की, भूरे-सफेद सीपियों की ढेर सारी मालाएँ नीचे तक लटकाने, तन पर केवल लुंगी लपेटे, एक साँवला मा किशोर पाम आता है। मालाएँ मेरी ओर बढ़ाता है—“एक में दो ।” वह दो अँगुलियाँ खड़ी कर कहता है।

उसकी बातों पर मैं ध्यान नहीं देता। चुपचाप आगे चलना रहता हूँ। अभी कुछ ही कदम आगे बढ़ना हूँ कि महसा कुछ याद आता है। मैं पीछे मुड़ता हूँ। तब तक वह ऊपर की ओर मड़क तक पहुँच जाता है।

शायद अब तक वह मेरा ही आँग देख रहा है। ज्योही मैं मुड़ना हूँ, वह लपककर फिर सामने आ खड़ा होता है।

“जिम आदमी को पकड़कर, अभी यहाँ घुमा रहे थे, क्या सचमुच उसने ऐसा किया है ?” मैं आतुरना से पूछता हूँ।

“इसका जवाब तो ऊपर वाला ही दे सकता है...।” दार्शनिक अन्दाज में इतना कहकर वह मेरा मुँह ताकने लगता है।

“ऐसी घटना पहले भी कभी हुई थी यहाँ ?”

“नहीं।”

“लगता है, लांगो ने उसे बहुत मारा है। बड़ी निदर्यता से...।” मैं अभी कहता ही हूँ कि वह बोल पड़ता है, “मार तो बेचारे को थाने में पड़ी—सुबह-सुबह। लातो में, डण्डों में, मार मारकर उसकी हड्डियाँ नोड डाली थी। कहते हैं, बेचारा चुपचाप पिटता रहा। अन्त तक—बेहोश होते तक—कुछ भी नहीं बतला पाया तो पागल समझकर इसे छोड़ दिया। हाँ, माला लेंगे ?” वह मेरे चेहरे की ओर दीन-दृष्टि से देखता है।

मात्र उसका मन रखने के लिए मैं दो मालाएँ खरीद लेता हूँ।

शाम को वह फिर दिखाई देता है—निश्चल मन्दिर के पीछे ऊँचे पत्थर की आड़ में छिपा।

मुझे देखते ही वह महसा मर्शाकत हो उठता है। आत्मरक्षा के लिए, निवृत्त भाव में इधर उधर देखने लगता है।

उसके शरीर में अब तक ताजे घाव हैं, जिनमें कथई रँग का रक्त जमकर अब एकदम काला हो गया है। घटनों को ठोढी से टिकाए वह भयत्रस्त नेत्रों से देख रहा है।

“खाना खाओगे ?” मैं पास जाकर पूछता हूँ तो वह उमी तरह टुकुर-टुकुर ताकता रहता है। शायद समझ नहीं पाता मेरा आशय।

दार्शनिक हाथ की पाँचों अँगुलियों एक साथ मिलाकर, मुँह की तरफ ले जाता हूँ—खाने का जैसा अभिनय करता हुआ, तो उसकी बुझी बुझी धुँधली आँखों में सहसा आर्तता का भाव झलकता है। तर्किक चमक-मी।

“चलो।”

थर मुनते ही उसकी पलकें कुछ और बड़ी हो आती हैं।

मैं बौह का महारा देकर उठता हूँ तो उसके दुर्बल पाँव लड़खड़ाने लगते हैं।

किमी तरह उसे पास ही एक द्वाबनुमा भोजनालय तक ले जाता हूँ और दरवाजे के पास लगी बेच पर बैठा देता हूँ। झट से एक आदमी केले का भीगा पत्तल सामने

रख जाता है, साथ ही पानी का गिलास भी ।

पतल अभी परोसा ही था कि भीतर से दौड़ता हुआ दूसरा व्यक्ति आता है । झपटकर पतल छीनता है और उसकी गर्दन पकड़कर बाहर धकेल देता है । फिर गुस्से से देखता हुआ, अपनी भाषा में कुछ बड़बड़ाता है । मेरी समझ में और कुछ नहीं, बस इतना ही आता है कि मेरे लिए वह भद्र शब्दों का प्रयोग नहीं कर रहा है । उसकी अंगारे जैसी रक्तिम आँखें धधकने लगती हैं—चेहरा आरक्त ।

ज्योही वह बाहर सड़क पर गिरता है, शिकारी कुत्तों की तरह लोग उस पर झपट पड़ते हैं । बच्चों और तमाशबीन लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है । लोग उस पर केले के छिलके, नारियल के रद्दी टुकड़े और ढेले फेकते हैं ।

एक तगड़ा-सा आदमी उसकी बाँह पकड़कर, घमीटता हुआ ले जाता है, और मरे हुए पशु की तरह बस्ती से दूर पटक आता है ।

मेरा मुँह खुला का खुला रह जाता है ।

टूरिस्ट-लाज के बाहर खुले में बने रेस्तराँ में बैठा हूँ । पास ही एक अपरिचित सज्जन हैं, किसी की प्रतीक्षा में । बतलाते हैं कि यहाँ की तमिल-पाठशाला में हिन्दी पढ़ाते हैं ।

बातों ही-बातों में उसका भी जिक्र ले आता हूँ तो वह अजीब सा मुँह बनाकर मेरी ओर देखते हैं । मेरे बार-बार जिज्ञासा प्रकट करने पर, कुरेदने पर, वह जो कुछ बतलाते हैं उसका आशय है कि वह पास की बस्ती का मछुआरा है । जन्म से बड़ा भोला, तनिक विनम्र-सा । पत्नी और बूढ़ा बाप, यही उसका परिवार था । पिता म्वभाव से क्रोधी किस्म का था, परन्तु पत्नी उसी की तरह गऊ । परपात्मा ने उसके साथ यह अभिशाप जोड़ा था कि इस घोर दरिद्रता के बावजूद वह अदभुत सुन्दरी थी । ज्योही वह नाव लेकर समुद्र में जाता, बस्ती के आवारा उसके घर की परिक्रमा शुरू कर देते । बूढ़ा गालियाँ देता, आवेश में पागलों की तरह लोगों पर झपटता, चीखता-चिल्लाता । जब वे चले जाते तो बस्ती में धूम-धूमकर लोगों को बुरा-भला कहता । एक दिन रात के अँधियारे में, अवसर देखकर उन्होंने बूढ़े को पानी में डुबो दिया तो इल्जाम लगा कि अपने बूढ़े बाप की हत्या पागलपन के दौर में उसी ने की है ।

इतना कहना भर था कि लोगों ने उसकी नाव तोड़ डाली झोपड़ा जला दी और गाँव से निकालकर पूरी तरह सामाजिक बहिष्कार में दिया । अब वह बस्ती में दूर झोपड़ी बनाकर रहने लगा । लोगों को यही सब तो चाहिए था । जब वह भोजन जुटाने बाहर जाता तो लोग उसके घर में घुसकर पत्नी के साथ खुलेआम बलात्कार करते । इस सबसे परेशान होकर एक दिन उसकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली तो इस बार भी दोष उसी के सिर पर मढ़ा गया—मानव-हत्या का । दुनिया ही ऐसी है । कहते-कहते वे चुप हो जाते हैं ।

यात्रा का अन्तिम दिन है आज। सुबह की बस से मुझे त्रिवेन्द्रम जाना है। अतः रात जी भरकर घूम लेना चाहता हूँ।

अकेला ही मैं मागर के किनारे-किनारे दूर तक निकल जाता हूँ। आममान मे झूलते नारियल के वृक्ष चारकोल से खिची मोटी रेखाओं-जैसे लगते हैं। सूनी रेतीली सड़क पर, दूर-दूर तक कहीं कोई प्राणी नहीं। चाँद अभी उगा नहीं, इसलिए सागर का जल एकदम काला लग रहा है—गाढ़ा वार्निश जैसा।

परन्तु लौटते समय उभरते चाँद का धुंधला बिम्ब बड़ा मनोरम लगता है। जल की सतह पर पीत आभा-सी बिखरने लगती है।

मैं घड़ी की ओर देखता हूँ तो समय का भान होता है। मेरे कदम जल्दी-जल्दी डेरे की ओर बढ़ने लगते हैं। अधिक रात में, इतने निर्जन स्थल पर अकेले घूमने में खतरा भी तो कुछ कम नहीं।

चलते-चलते उसी चट्टान के पास से निकलता हूँ तो आश्चर्य से मेरी आँखें कुछ और बड़ी हो आती हैं—उस गहरे एकान्त में चट्टान पर एक मानव छाया-सी हिल-डुल रही है।

अपनी जिज्ञासा को रोक नहीं पाता। अतः कुछ और निकट जाता हूँ—नीचे ढलान पर उतरकर कुछ और आगे।

चट्टान से अब कुछ ही गज के फासलों पर होता हूँ कि आकृति कुछ और स्पष्ट दीखने लगती है।

मेरे बढ़ते कदम भय से, आशका से सहसा ठिठक पड़ते हैं।

एक क्षीण मानव छाया-सी सशक्त भाव से इधर-उधर देखती हुई दोनो हाथो को डैनों की तरह हवा में झुलाती सहसा उठ रही है और तेजी से लगूर की तरह उछल-उछलकर बगल वाली चट्टान की दिशा में ओझल हो रही है।

सहसा जिज्ञासा से मैं चट्टान पर चला जाता हूँ। खतरे के बिन्दु से कुछ और आगे बढ़ता हूँ तो भयकर दुर्गन्ध-सी महसूस होती है—सड़ी हुई मछली के अवशेष इधर-उधर बिखरे दिखलाई देते हैं।

□

## तपस्या

“आखिर दिया क्या आपने हमे ?” मृत्यु से पूर्व एक दिन गण पत्नी ने सहज आक्रोश में भरकर कहा तो वे देखते ही रह गए।

“तुम भी क्या ऐसा सोचती हो ?” उन्होंने महमते हुए उतर दिया था।

“हाँ हाँ, मोचती हूँ, जरूर मोचती हूँ।” कुछ क्षण का मन्नाटा तोड़ते हुए उसने कहा, “जिन्दगी भर मेरे बच्चे एक एक टुकड़ा रोटी के लिए तरसते रहे। मेकें मे मॉग मॉगकर गुजारा चलाती रही। बच्चे आगे नहीं पढ सके, क्योंकि फीस के लिए पैसे कहाँ से लाती ? तीज त्योहारो पर बाहर निकलने के लिए झींकते रहे, क्योंकि तन ढकने के लिए कभी ढग के कपडे नसीब नहीं हुए। मैं दूमरों के खेतो मे काम करती रही, कभी उफ तक न की—क्योंकि तुम्हारी इज्जत पर बट्टा न लगे। तुम गाधीजी की ‘जै जेकार’ के नारे लगाते हुए, एक नशे की जमी हालत मे, दीन दुनिया से बेखर घूमते गे। कभी एक बार भी पीछे मुडकर तुमने यह तक न देखा कि हम जीवित है या मर गए भूले भटकते से कभी देहरी पर आ, कभी शिकायत से कुछ कहा, तो तुम यही समझाते रहे—“देश-सेवा का काम पुण्य का काम है। देश आजाद होगा कभी हमारे भी दुख दर्द दूर हो जाएँगे। पर मैं पृच्छती हूँ—आजादी के बाद भी दो जून रोटी सुख मे कब नसीब हुई ? बच्चे बडे होकर जुगाड न करते तो हम लोग कही भीख मॉग रहे होते।”

“यशवती, तुम ठीक कहती हो। एक गहरी मॉग लेते हुए ग्थीन बाबू बडे दर्द के साथ बोले, “मे जानता हूँ, प्रवाल आगे क्यो नहीं पढ पाया ? सुमिता की शादी क्यो ऐसे घर मे हुई ? बडा बेटा केदारनाथ थोडी मी बीमारी मे कैसे चल बसा ? हमने एक व्रत लिया था—देश सेवा का। धर्मी का ऋण आखिर किसी को तो चुकाना ही था किसी को तो शहीद होना ही था, हमारा सौभाग्य रहा कि हम ही हो गए।” उनका स्वर पथरा-सा आया।

उन्होंने सोचा भी न था कि यशवती के मन मे कही ऐसा भी टूटा काँटा अब तक

अटका हुआ है। आजादी के इतने वर्ष बाद भी।

“यशवंती, तुमने कभी उनके बारे में नहीं सोचा, जो गए और फिर कभी लौटकर नहीं आए? अपने रमाशंकर फरार हो गए थे, याद है? ट्रेन से कटकर मर गए, परंतु फिरंगियों के हाथ नहीं आए। दामो बहन सचमुच पागल हो गई थी, अपने ही कपड़ों में स्वयं आग लगाकर आत्मदाह कर बैठी थी। निजात मियों का सीना गोरों ने उनके बच्चों के सामने छलनी कर दिया, राबिया भाभी ने उफ तक न की। खून का घूंट पीकर भी इन्कलाब के नारे लगाती रहीं;...तुम्हारी खुशकिस्मती थी कि कालापानी से भी मैं लौट आया, पर उनका सोचो, जो गए और वहीं के वहीं रह गए...उनके बच्चों का क्या हुआ होगा? तुम अपना दुःख देखती हो, ठीक है, पर औरों का दुःख, किस पहाड़ से कम है।”

यशवंती चुप हो गई थी। कुछ ही दिनों बाद इस ससार से भी चल बसी थी, किन्तु उनका हृदय बुरादे की आग की तरह, तब से निरन्तर मुलगता रहा। जिन प्रश्नों को छोटा समझकर उन्होंने बिसरा दिया था, लौटकर अब मुडकर देखते तो सॉप की तरह फन फैलाए खड़े थे।

प्रवाल आगे पढ़ पाता तो यों जिदगी-भर क्लर्की न करता...सुमिता का बुझा-बुझा चहगा...ऋचा...केशु...काता...उनके सामने प्रश्नचिह्न की तरह खड़े हो जाते।

‘हमारा रथीन कालापानी से अब क्या लौटेंगा?’ पिता इसी मोच में चल बसे थे। अंतिम बार पुत्र को देखने की लालसा, लालसा ही बनी रह गई थी।

“रथीन के बच्चों का क्या होगा? कौन संभालेगा उन्हें? कौन उनकी देख-रेख करेगा?” बूढ़ी माँ ने रो-रोकर अपनी आँखें अंधी कर डाली थीं।

फिरंगियों ने जमीन जायदाद नीलाम करवा दी थी। अनाथ परिवार, दूसरों के औसारे पर सिर छिपाने लगा था।

कालापानी की नारकीय यातनाओं से मुक्त होकर, एक दिन वापस आए, तो यहाँ भी वैसी ही वीरानी थी...और एक दिन आजादी भी मिल गई, तब भी...।

रथीन बाबू का बूढ़ी आँखे, कही शून्य पर अटक जातीं।

“रथीन बाबू, अब अपना देश म्वतत्र हो गया, कुछ लायमेस-वायसेस ले लीजिए।” एक ऊँची-सी आवाज एक दिन कानों में टकराई तो वे सहसा बाँखला-से पड़े थे। खादी के धन्वल वस्त्रों में लिपटे ये वे ही महानुभाव थे, जो बरेली-जेल में उनके साथ साथ राम बॉम कूटते थे, गूँज की रास्सियाँ बँटते थे...। देश-सेवा के बदले में भी कुछ लिया जा सकता है—यह गणित उनकी सहज बुद्धि से परे था।

“ठीक कहते हो दिवाकर भाई, ठीक कहते हो...।” उन्होंने दुखते दिल से कहा था, “माँ की सेवा के बदले में भी कुछ लिया जा सकता है? ऐसा सोचना भी मेरे लिए पाप है। वारींद्र बाबू कहते थे—मातृभूमि की सेवा में मौ बार जन्म लेकर, सौ बार प्राण न्यौछावर करके भी माँ के त्याग का बदला नहीं चुकाया जा सकता। मैंने तो आधा ही जीवन दिया है, दिवाकर भाई।”

दिवाकर भाई 'हो-हो-हो' कर देरे तक हँमते रहे थे, "बच्चो को हम कहीं अच्छी जगह लगवा देते हैं, बुढापा आराम से कट जाएगा। अधिक आदर्शवादी न बनिए रथीन बाबू, कही ऐसा न हो कि फिर पछताना पड़े।"

अब रथीन बाबू की हँसने की बारी थी, "जिसने आमरण-अनशन किया था—देवलाली कैप मे, सच नहीं लग रहा है कि तुम वही दिवाकर दास हो। जिसने अपने रक्त से बापू को पत्र लिखा था उनके जन्मदिन पर। जिसके नाम से ही गोरे कॉपते थे।" रथीन बाबू कहते-कहते चुप हो गए थे।

स्वाधीनता-सेनानियो को पेशन मिलने लगी परन्तु रथीन बाबू ने उस ओर देखा तक नहीं।

एक विशेष समारोह मे उन्हे ताम्रपत्र दिया जाना था, कितु वे वहाँ पहुँचे ही नहीं। 'मैने भी देश की सेवा की थी मैने भी स्वाधीनता संग्राम मे भाग लिया था, इसका प्रमाण-पत्र लेकर क्या करूँगा? माँ बाप की सेवा के बदले मे भी क्या ऐसा ही ताम्रपत्र मिलेगा? भगवान् की आराधना तथा मानव सेवा के लिए भी।' मन ही मन पता नहीं, वे क्या-क्या सोचते रहे। उनका यह अति आदर्शवाद स्वयं उनके बच्चो को रास नहीं आ पा रहा है, वे जानते थे, परंतु करते क्या?

मन ने जो न चाहा, वह उन्होने जीवन भर नहीं किया तो भला अब क्या करते—जीवन की इस मध्या मे।

उनके कर्मठ जीवन के अम्सी साल पूरे होने की खुशी मे, उन्ही के माहल्ले मे एक समारोह किया गया। बडे-बडे नेता आए, बडे बडे भाषण हुए, कितु वे तटस्थ-दर्शक की तरह चुपचाप देखते रहे।

अन्त मे उन्हे कुछ बोलने के लिए ग्ता गया तो पहले कुछ बोल न पाए। फिर हँधे स्वर कठ मे बोले, "काकोगी के बाद कितने देशभक्त अँग्रेजो की गोली का निशाना बने, शहीद हुए—क्या आपने कभी मोचा कालापानी की जेल मे हम लोगो ने विद्रोह किया था। तेरह दिमम्बर की उस काली रात मे सत्रह देशभक्तो को हमारे सामने कत्ल कर दिया गया था। उनका खून मे मनी, छटपटाती लाशो को देखकर मैं सचमुच कई दिन तक पागल हो गया था। अब भी कभी कभी रात के अर्धयारे मे वे लाशे मेरी आँखो के आगे नैरने लगती हैं, ता पागलपन का एक दोग सा शुरू हो जाता है। वे सारी लाशे चीखने सी लगती हैं—वह हिन्दुस्मान कहाँ है, ज्मके लिए हमने कुर्बानियाँ दी थी ?"

वे रग-बिरगी मालाएँ, उन्होने फिर छुड़ तक नहीं। गुमगुम मे कुछ देर बंटे रहे, फिर मच से नीचे उतरकर अपने कमर मे बद हो गए। फिर कई दिन तक उन्होने कभी किमी से कोई बात नहीं की।

कभी-कभी अकेले ही बाजार की तरफ घुमने निकल जाते। लौटने पर कहते, "आज चन्द्रशेखर आजाद को मैने राशन की दुकान पर कतार मे खडा देखा था, भीड बहुत थी, इसलिए बातचीत न हो पाई।"

बिस्तर से, सुबह उठते ही, कभी बहके-बहके से कहते, “कल रात सरदाग भगर्तसह से जमकर बातें हुई। कहते थं, ‘अंग्रेजों से फिर लड़ूंगा।’...मैं कितना समझाता रहा, पर वे मानें तब न। लड़ने-झगड़ने पर उतारू हो गए...। वे हँमने लगते—अपने पोले मुँह से—ही, ही, ही।

खाते-खाते कभी हाथ का कौर रोक लेते, “यशवती ठीक कहती थी, आखिर मैंने क्या दिया उसे? जिदगी-भर संघर्ष करती रही बेचारी...मरते समय केवल हड्डियों की माला-मी रह गई थी...कभी देखी थी प्रवाल, तुमने उसकी झूठी कलाइयाँ।”

थाली पर छोड़कर वे उठ जाते और हाथ धोकर फिर अपने अँधेरे कमरे मे छिप जाते।

बच्चों से भी अब कम बातें करते। समाचार-पत्र खोलकर सामने रख लेते और घटों तक अपलक उसकी ओर ताकते रहते। सारी रात अँधेरे में बैठे-बैठे बिता देते...घर के लोगों को अब उनसे डर लगने लगा था। बच्चे उनके कमरे में जाने से कतराते थे।

एक सुबह सुबह दीपू अखबार का पन्ना फडफडाता हुआ, दौड़ता दौड़ता उनके पास आया। बड़े उत्साह से बोला, “देखा दादाजी, इसमें छपा है—सरका उन स्वाधीनता सेनानियों को मुफ्त मे काला पानी की सैर करने भेज रही है, जो कभी सजा झेलने काला-पानी गए थे। आप तो इत्ते बरम रहे वहाँ। घूम आइए न। मैं भी आपके माथ चलूँगा, आपका नौकर बनकर...।”

वह हँमने लगा, पर प्रत्युत्तर मे उनमे कुछ भी कहा नहीं गया। वे विस्फारित नेत्रों से केवल समाचार-पत्र की ओर देखते रहे।

उस सारे दिन सागर की तूफानी लहरे चट्टानों से टकरा-टकरा कर टूटती रही। टुकड़ा-टुकड़ा होकर जल की अर्नागिनत बूँदे छितरती रही। रात को भी पलक उर्मी तरह खुली रही। एक क्षण के लिए भी वे सो न पाए। सेल्युलर जेल की ऊँची-ऊँची दीवारें वे छोटी-छोटी अँधेरी काल-कोठरियाँ बाबा भानसिह की भीखे कोल्हू मे मावरकर का सारा दिन बैल की तरह जुता रहना उम किशोर क्रांतिकारी के शव का सागर की मतह पर तैरना वह वह...।

क्या था वह मन्व?

पर आज। चीधडो मे बना एक फटा हुआ मानचित्र। कटा हुआ अधूरा सपना...।

भीख माँगते बच्चे। दगों की आग में झूलमे घर। सडको पर पडे शय। चारो ओर कचरे के ढेर। पशु और आदमी एक ही पोखर मे जल पी रहे हैं।

कहाँ विलीन हो गए सपने।

सुजला। सुफला।

कहाँ रह गई खोट।



हाँ,

क्या पता हमारी तपश्चर्या में ही कहीं कमी रह गई। शायद इसीलिए यात्रा अधूरी रह गई और अधूरी रह गई सारी दास्तान।

एक दिन सुबह-सुबह देखा बच्चों ने कि बाबा पोटली बाँध रहे हैं।

“कहाँ जा रहे हैं, बाबा ?” ऋचा ने डरने-डरते पृछा।

“तीर्थयात्रा के लिए।”

“बनारस-काशी ?”

“नहीं-नहीं, कालापानी।”

“कालापानी ?”

“हाँ, बेटे, हाँ।” सामान समेटते-समेटते वे कहत गए, जैसे स्वयं को सुना रहे हैं—“पहली बार की तपस्या, लगता है, अधूरी रह गई रे कौन जाने, इस बार शायद पूरी हो जाए।”

उठते-उठते वह गिर पड़े। बच्चे उन्हें संभालते, उससे पहले ही उनकी पुर्तलियों का रंग सफेद पड़ गया था। वे फिर हिले नहीं, डुले नहीं, बस जैसे थे वैसे ही पड़े रहे।

□

## अँधेरा और

कँटीले तारो की तरह उलझी बेंत की घनी झाड़ियो को चीरता हुआ, जब वह आगे बढ़ा, तो बुरी तरह हॉफ रहा था। शरीर जगह-जगह से लहुलूहान था। बाएँ पाँव के तलुवे की मोटी खाल, सूखे बाँस का खूँट गड जाने से मूली के छिक्कल की तरह एक ओर लटक गई थी, जिससे निरन्तर रक्त बह रहा था। कन्धे पर पडी सिमरिया तार-तार फटी, कमर पर कोपीन की तरह बँधी चौकट धोती पर जगह-जगह लहू के निशान थे—काले-काले धब्बे।

सूरज उगा नहीं था। पौ फटने मे अभी देर बहुत थी। इसलिए आममान को छूते, लम्बे-चौड़े दैत्याकार हल्दू, शाल, शीशम के घने वृक्ष बड़े भयावने लग रहे थे। डाल पर बैठे पक्षियो के पख फडफडाने से कभी डरावना-सा स्वर निकलता। आकाश पर अटकी प्रेत-छायाओं का-सा भान होता।

जमीन-आसमान, जहाँ तक दृष्टि जाती अँधेरा-ही-अँधेरा।

उसके नथुने फडक रहे थे। धधकती रक्तिम आँखों में गजब का आतक था। भागते हिरन की तरह चौकन्ना होकर वह बार-बार सशक्ति भाव से इधर-उधर देखता। पेडो से उलझी घनी लताओ के झुरमुट मे तनिक-सी भी छन-मन की आहट हुई नहीं कि चौकडी भरकर भागने लगता।

अभी-अभी दूर कही गोली चलने की-सी आवाज शून्य मे गूँजती उसे साफ सुनाई दी थी। तब से उसका हृदय धौकनी की तरह धडक रहा था। शका से इधर उधर देखता हुआ मोच रहा था—

कही उम्के मन का वहम तो नहीं यह। इम विकट वन मे, इस अँधेरी रात मे गोली की आवाज भला कहाँ से सुनाई देगी ? पता नहीं उसे अब क्या हो गया ? एक विचित्र-सी दहशत उसके मन मे घर कर गई है। जो कुछ भी वह सोचता है, उसे लगता है, वह सब आँखों के आगे धाँटत हो रहा है। कभी उसे घास-फूस के घर दिखलाई देते—धूँ-धूँ कर जलते हुए कभी सुतरिया नदी में तैरती-उतरती लाशें। कभी सेमल के

बूढ़े वृक्ष तले पडी कोई निष्प्राण आकृति। गोबर-मिट्टी मे लिपी देहरी पर कीलवाले भारी-भरकम काले बूँटो के गहरे निशान। कच्चे किवाडो पर खून से रंगे हाथो के छोटे-बड़े अनेक लाल धब्बे। पूरा-का पूरा भदरपुर गाँव मुर्दों से पटा दीखता।

कभी-कभी एक और आकृति उभर उठती। मफेद कपडो मे लिपटा कोई दैत्य, बैलगाडी हाँकता हुआ, उसी के शरीर पर गाडी के पहिए चढाने लगता तो कुचलने के भय से, दोनो कानो को हथेलियों से दबाकर, बुरी तरह चीख उठता।

“का हुआ रे परसिया ?” चौककर कचनियों कहती तो वह काठ की तरह उसके भयत्रस्त चेहरे की ओर देखता रहता।

“मैंने गलत देखा कचनियों। वह बइल गाडी नाहि सर्दार सोहनसिंग का टरक था, टरक, जो मोरे सीना से पार निकर गया।”

कचनियों समझ न पाती, “का कहत हो। सोहनसिंग अब हियाँ कहाँ ? टरक-ठेला गाडी कहाँ ? कोई सुपना देखा हैगा जागते मा।”

“हेइऽ राम। सपनाहि होता, कौन देखा जेहि रोजहि देखत हूँ —।” इतना कहकर परसिया जाने लगता को कचनियों उसका हाथ पकड लेती। इम पर वह तपकता हुआ मुडकर देखता—

“पुलस पीछे परी है—बन्दूक तानि के। जब तक ई मुसीबत नाहि निकर जात, का हो सकत है। फागम वारे बिरजबासी ने म्हारे आधे खेत हजम करि डारे अब पूरे निगलने के वास्ते मुँह खालि के बइठा है। खेत धर छाई दे तो तू हि बना, कहाँ रहे ?—जौन बात सच नाहि, उहाको सुपना देखना भी पाप है, घोर पाप।”

परसिया कह ही रहा होता कि कचनियों स्वय को रोक न पाती, ‘नीका सुपना भी तो तू देखत है—जागत सोवत। उसे देखना भी का पाप है ? अगर पाप है तो फिर पुन का है रे ?’ कचनियों का स्वर उदास हो आता। उमकी ठोढी पर अकित गादने के तीन नीले नीले बिन्दु और गहरा जाते।

“पाप का है ? पुन का ? हम नाहि जानत

“हम जानत है। हियाँ से कहि दूर चले जात है। काल नादया पार नेइपाल मा बसि जात है। हुआ किमी की चाकरी करि के धान कृटि के जगल मा बॉम लकडी काटि के दो परानियो का पेट तो अघा ही जाएगा ना।”

“तू तो निरी निरी पगली है। हवा मे हाथ हिलाता हुआ परमिया कहता “दो का हि झड़टा नाहि। जोन चार परानियों और ह उ- मा धतूरा कुंठ के पिलाइ दूँ ? सुतरिया मे मुँह मे बाँध के फैकि दूँ ?”

‘उनका भी होइ जाइ। तू काह को चिनता करत है।’

“चिनता उनका नाहि पुलस की है। फागम वारे बिरजवार्मा की है। तू नाहि जानत। जे राकस है राकस—चारो ओर भेगि के खडे है मुँह फाडि के।’

“मरट होइ के का बात करत हो ?” कचनियों की बुझी आँखो मे सहसा आग की लपटे उभर आती। दाएँ हाथ से हवा मे उठती बितेभर की ओढनी समेटती हुई

कहती, “मनुस बार-बार तौ नाहि मरत, नाहि... !”

“जे तू कहत है कंचनियाँ ?” परसिया का बुझा-बुझा चेहरा दमक आता। मन का सारा संताप जैसे लहर छूकर बह गया हो। अबोध शिशु की तरह कंचनियाँ की हिरनी-जैसी बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों में आँखें डाले, जाने क्या खोजने लगता! गोदने का नीला रंग कितना निखर आया है! कानों में दूब के तिनके-जैसी पतली-पतली चाँदी की बालियों का गुच्छा हवा में हौले-हौले तैरता हुआ कितना भला लग रहा है! माथे पर बिखरी म्याह लटें एक साथ कई चितर बना रही हैं। परसिया के फौलादी हाथों की जकड़ न जाने कब, कैसे इतनी गहरी हो जाती कि कंचनियाँ की सुकोमल कलाइयों पर गहरे निशान-से छूट जाते।

ज्यों-ज्यों दबाव बढ़ता, कंचनियाँ भी त्यों-त्यों बदलती जाती। धीरे-धीरे उसका साहस पिघलकर पानी बन जाता। एकाएक भावुक होकर कहती, “तू जंगल मां रहता है। दिन-रात भागत-फिरत है। पुलस तोहार पीछे है। हमहि जहर दे दे परसि! जी के का करि हैं?” कंचनियाँ का गला भर आता। परसिया के सीने पर दुबककर वह चुपचाप सिसकने लगती।

परसिया का मन डूबने-सा लगा तब। ऐसा कब तक चलेगा, उसकी समझ में न आ पाता। आखिर इस सबका अन्त क्या होगा? कैसा होगा? कब होगा? एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न उसकी आँखों के सामने उभर आता।

सूखा, ठण्डा भात पड़ा रहता। कंचनियाँ दबे पाँव भीतर जाकर, चुपके से परात में ले आती। साथ में मछरिया का थोड़ा-सा ब्रासी झोल भी।

आँखें बन्द किए, गूंगे पशु की तरह वह चुपचाप भकर-भकर खाता रहता।

कुछ देर बाद नीचे जमीन पर बिखरे सृखे पयाल से यों हाथ पोंछता हुआ वह उठता और चुपचाप अन्धकार में कहीं खो जाता। कंचनियाँ कुछ पूछने के लिए कभी कभी आगे बढ़ती, परन्तु प्रश्न गले में हाँ भर खाकर रह जाता।

लगातार पानी बरस रहा था—कई दिनों में। गरज-बगज के साथ झमाझम बारिश हो रही थी। सतारया नदी का मटमैला पानी तट के बंधन तोड़कर दूर-दूर तक खेतों में बिखर गया था। गाँव के पीछे खादर में छोटे-छोटे तालाब जो गर्मियों में सूखकर घटक गए थे, ऊपर तक लबालब भर आए थे। कई झोपड़ियाँ कमर-कमर तक दूबी थीं। बीच में भवर की तरह माटय्याली मिट्टी मिला गदला पानी घूम रहा था। दडया के घर में बर्तन भाँडे तैर रहे थे। परगमया की कांठरिया में गाँव-गराम के लोग जुंटे थे। रोने मिसकने का दबा हुआ स्वर गूँज रहा था।

पिरथी शगम को गाय-डगरो को लाने जंगल गई थी, और लौटी न थी—आज सात दिन हो गए थे।

भोखू थारू ने खटीमा जाकर थाने में गपट दरज कराई थी। पर अब तक कोई पता-पानी मिल न पाया था।

समरू ने सारा जंगल छान मारा था। बिहारी सुतरिया नदी के किनारे-किनारे दूर तक देख आया था। सफेदे के नए जंगल तक। कही डूब न मरी हो। परतु प्रश्न यह था कि वह डूबने क्यों लगी? चनकइया के परधान के घर भात हो गया था। अगले चैत मे तो शादी ही तय थी।

भीखू के लिए दिन मे ही तारे छिटक आए। इकलौता बेटा परसिया गाँव गया था, कहीं दूर, अब तक लौटा न था। लडकी की कहीं कोई खोज-खबर न थी।

इस साल पता नहीं क्या सोचकर चकरपुर मण्डी से पिरथी के ब्याह के लिए कपड़ा खरीद लाया था। फमल पर हाथ खुले थे, शायद सोचा था कि उधारी से तो यहीं अच्छा है, बकत पर काम आएगा।

घर में किसी से रास-रंज नहीं। किसी से झगडा-फसाद नहीं। किसी किसम की कोई दुख-तकलीफ नहीं। फिर वह आत्मघात क्यों करने लगी?

तराई मे शेर-बाघ तथा वन हाथियों का ऊधम आए दिन रहता है। किन्तु बाघ भालू भी उठा ले जाता या पागल हाथी पाँवों तले कुचल डालता तो क्या रक्त, माँस, हड्डियो का या पहनने के चीथडे का—कोई निशान तो कहीं दीखता।

थानेदार हरपरसाद तहकीकात पर गाँव आया था। पिरथी के लापता होने के लिए मारे गाँव को जिम्मेदार ठहरा रहा था। उमका कहना था कि भीखू थारू ने अपनी जवान बेटी किसी परदेसी के हाथ बेच दी होगी—गाँववालों की मिली भगत से। नहीं तो लडकी एकाएक कहाँ गायब हो गई। डूबी नहीं, कोई भगाकर ले नहीं गया, किसी जिनावर ने चौरा नहीं, फिर?

कुछ साल पहले भी पाम के ही शिवपुरा गाँव में ऐसे ही एक लडकी लापता हो गई थी। बाद में पूरे दो महीने बाद पता चला कि उमके माँ-न्याप ने सितारगंज के किसी फारमवाले के हाथ, थोडे-से टके के लालच मे बेच दिया था।

भीखू ने दहाड़ मारकर परमेसर की सौगन्ध खाई थी कि वह ऐसा घोर पाप कैसे कर सकता है। अपना बेटी को, अपनी ही सगी बही को, गाय-बछिया की तरह कैसे बेच सकता है। उमे अपना परलोक बिगाडना है? राम, राम। ऐसा पाप। छिः।

जब थानेदार किसी भी तरह टलने को गजी न हुआ तो अपनी फटी मिरजई मे में मुडे तुडे, मैले-कुचैले कुछ नोट निकालकर, गिर्डागडाते हुए वह थानेदार के बूटो पर माथा टिकाकर रो पडा था, 'देवता, गेडमा ना कला। कलपान्त होई जावेगा। मरवार-दरवार ही गेडमा कहेगी तो दुनिया का नही कहेगी'।

"ममाले कर्मने। छोरररी बचकर खा गया ओर हमसे कहता है, दुनिया क्या कहेगी?"

उसकी झुकी कमर पर ठोकर मारकर थानेदार चला गया।

थानेदार को थी भी कुछ जल्दी। शाम हो रही थी। खटीना पहुँचते-पहुँचते अंधेरा हो जाएगा। लडकी खोज गई तो क्या हुआ? दो-चार दिन में मौज-मन्नी करके घर लौट आएगी। नहीं भी आएगी तो क्या गजब हो जाएगा? लडकियाँ तो आए दिन

भागती रहती हैं !

भीखू बरसात में भीगता हुआ, लाठी टेकता फिरता बाहर निकल आया। कहीं-न-कहीं तो कोई खोज-खबर मिलेगी ही।

रात घिर आई तो वह मड़ैय्या में लौटा। किवाड़ के सहारे बॉस की लाठी टिका ही रहा था कि बिन्दा टूटी लालटिनियाँ लिए भागता-भागता आया। बोला, “पिरथी की लाश बूढ़े सेमल के पीछे पड़ी है काका। बंजर धरती माँ, चील-गिद्ध लगे हैं। तमाम बास आ रही है—दुरगन्ध !”

लालटीन के सहारे, अंधियारे में रास्ता टटोल-टटोलकर भीखू के साथ-साथ सारा भदरपुर उमड़ पड़ा था।

—हियाँ तो हमने पहिले भी देखा था—कल, परसों !

—हो सकता है, घास में लाश छिपी हो, निगाह न पड़ी हो।

—लगता है, आज ही किसी ने फेंकी है।

—एक मोटर-ठेला चकरपुर की तरफ जा रहा था, यहाँ पर भी कुछ देर रुका। जे रहे पहिए के निशान !

इतनी बारिश के बावजूद भीगी मटियाली ठोस धरती पर, पहिए के निशान साफ दीख रहे थे।

—पागल हो तुम ! कोई मारि के लाश हियाँ छोड़ जाएगा—गांम के पास ! सुतरिया में बाढ़ आई है। उसी में नाहिं बहा सकता था।

जिते मुँह, उत्ती बातें !

पंचाइतनामां कर के लाश को रात में ही जला दिया था। गाँववालों को डर था कि कहीं फिर पुलिम आई तो फिर कुहराम मचेगा।

जब से सोहनसिंह का ट्रक बनबसा आता-जाता, रात-बिरात, भदरपुर रुकने लगा-था, भीखू के मन में नाना प्रकार की शंकाएँ उगने लगी थीं। धरमू पधान का छोरा झन्नू चाल-चलन का ठीक नहीं—पंचायत ने भी सरेआम ऐलान कर दिया था। शंखी जब लापता हुई तब सबसे पहला सन्देह झन्नू पर ही हुआ था।

पूरे दस दिन के बाद एक रात शंखी, तन पर नाममात्र के कपड़े लटकाए लौटी तो उसे पहचान पाना कठिन था। फिर उसने जो राम-कहानी कही, उसे सुनकर तो सबके रोंगटे खड़े हो गए थे।

उसने रोते-कलपते बताया था कि किस तरह से शहर में ‘मेला’ दिखाने का लालच देकर झन्नू ने से जबरदस्ती ‘टरक’ पर बिठलाया। जाड़ा खूब था। हवा देह को लगती थी। इसलिए अपना आधा कम्बल उसके ठिठुरते शरीर पर लपेटे रहा—नन्ही चिड़िया की तरह अपने सीने से दुबकाए कि कहीं सर्दी न लग जाए। बहेड़ी पहुँचने पर ‘मेला’ तो क्या दिखलाना था, हाँ, उसे ही एक मेला अवश्य बना दिया था। किसी खपरैल वाले पुराने मकान के अँधेरे में बन्द करके, जबरदस्ती दारू गले में उड़ेली और

सारे कपडे उतारकर, उन्हे किसी दूसरे कमरे मे छिपा दिया था, ताकि बिना कपडे के कही बाहर न भाग सके। उसे होश नही, क्या-क्या जुल्म उसके साथ होता रहा। सातवे दिन, रात के घुप्प अंधियारे मे जब खूब पानी बरस रहा था, बिजली कडक रही थी—मौका मिलते ही फटे टाट का चीथडा देह पर लपेटे बाहर निकल आई थी।

बाहर कड़के की सर्दी थी। वह भागती हुई डामर की पक्की सडक तक आ गई थी। सडक के दूसरे किनारे पर कोई टरक—ठेलेवाला ठेला रोके खडा था। बनबसा की तरफ कही जा रहा था। उसे पता नही, क्या सोचकर दया आ गई। उसने चुपचाप ठेले पर बिठला लिया—सामान के बीच मे थोडी-सी जगह बनाकर। दो-तीन दिन तक अपने पास रखे रहा। फिर जाती बेर, तन ढकने के लिए अपनी फटी लुंगी और पुराना कुरता दे दिया और रात को यहाँ छोड गया—सुतरिया के पुल के पास, नीम के पेड के नीचे।

भीखू ने देखा था। जगह-जगह उसके शरीर पर नीले निशान थे। घाव थे। दिनो तक वह बिस्तर पर पडी रही। बाद मे पता नही, क्या हुआ उसे, वह पगला-सा गई थी। अपने शरीर के कपडे वह स्वयं फाडने लगी थी। अपने बालो को बुरी तरह नोचने लगी थी। कभी-कभी जब पागलपन के लम्बे दौर पडते तो वह अपने कपडे उतारकर, पोटली की तरह उन्हे सिर पर रखकर, बीच गाँव मे से छाछट नगी निकल जाती थी। सुतरिया पर नहाने जाती तो सारे कपडे किनारे पर छोड देती। निमय्या गाँव का गराम-मेवक लल्लन एक बार उसे ऐसा बहकाकर ले गया कि फिर कभो वह गाँव लौटी न थी। बनबसा के बाजार मे लोगो ने उसे देखा था—ठेला डराइवरो की भीड मे टेशन पर छुक-छुक गाडी मे लकडी लदान करने वाले मजूरा के साथ अन्त मे किसी ने बतलाया कि वह चकरपुर से महेन्दर नगर नेपाल की तरफ भाग गई है, किसी मुसलमान फेरीवाले के साथ।

यह निर्यात कोई नई नही थी। पहले तो ऐसा ही होता था गाँव मे, जब भीखू छोटा था—तब भी इसी तरह लोग मताते थे। चमी काका की दूसरे ब्याह की नई-नवेली बहू सिनदूरी के साथ, पुलिस का मुछन्दर सिपाही हर हफ्ता खटीमा मण्डी से आकर दिन-दोपहर उनकी झुपडिया मे घुमकर बदफेली करता था। जिस दिन वह आता, काका उस सारे दिन कटे-कटे से बाहर रहते—तालाब मे मछरियाँ पकडने के बहाने। शाम तक जाल मे जितनी भी मछरियाँ आती, वे भी सब मुछन्दर के पेट मे समा जाती।

जब रात हो आती तो पचमी काका के कंधे पर कुटे हुए साफ चावल, म्गबुत उरद की दाल के थैले के साथ साथ कुमडा या कद्दू भी लदवाकर अपने साथ डेर तक ले जाता। बदले मे सतजुगी काका को क्या मिलता? कभी लात, कभी कोई गन्दी-सी गारी। पूरे सात साल तक वह इस थाने मे रहा और उसका यही मिलसिला चलता रहा। लोग कहते है कि पचमी काका के तीनो छोरे उसी मुछन्दर घर गए थे।

और ये जो तिजारथ वाले पधान-साहूकार जाडों में पहाड़ से उतरकर थडवाट में

आते थे, ये भी क्या कुछ नहीं करते !

पण्डित सीसराम पधान से पाँच बीसी रुपए करजा लिए थे उसने। हर साल बीसी ब्याज के चुकाता रहा। साथ में चावल, धान, दाल का 'सीधा' अलग से। सारी जिन्दगी-भर इतना चुकाने के बाद, आज भी साबुत पाँच बीसी रुपए ज्यों-के-त्यों उसके सिर पर हैं करज के।

सीसराम बामन माथे पर लाल चन्दन का टीका लगाकर, घोड़े पर सवार होकर आता—अकड़ता हुआ। जब भी वसूली पर गाँव आता माहूकार बनकर, उसी की झुपड़िया में दिनों तक डेरा डाले पड़ा रहता।

उसकी जवान विधवा भावज को, रात के आँधियारे में अपने बिछौने पर घसीटते उमने कई बार देखा था। हरामी कहीं का। खटीमा में कुत्ते की मौत मरा था। बड़ी माता निकल आई थी। लाश को कोई उठाने वाला तक न मिला तो कहते हैं, जमादारों ने घसीटकर गंगा में बहा दिया था सुसरे को।

परसिया जब गाँव लौटा, तब मातम छाया हुआ था। पिरथी का दाह-सम्कार हुए अभी हफ्ता भी बीता न था, किन्तु सारे घर में पिशाच-छाया-सी मंडरा रही थी।

परसिया को न रात को नींद आती, न दिन को चैन। हर समय बेचैनु-सा, बावला सा घूमता रहता, अपने ही घर के आँगन में, चिड़िया-घर के पिजड़े में बन्द चीते की तरह।

परन्तु जिस दिन से उसने पिरथी के हत्यारे का पता लगा लिया, अपना आपा खो बैठा था। थाने में बड़ी उम्मीद लेकर गया था, परन्तु वहाँ उसे बुरी तरह घुड़क दिया था। गाँवों के लोगों में, पंच-सरपंच सबसे कहा उसने पाँवों पर टोपी धरकर, पर कोई मंजूरने को तैयार न था। सबने डरा-धमकाकर वापस भेज दिया था।

रात के अन्धकार में एक दिन, फिर पुलिया के पास, नीम के पेड़ की छाँह में सोहनसिंह का ठेला रुका था। झनू के घर में देर तक कच्ची छनती रही, भात के साथ कुकड़ी भी तली गई थी।

दावत कब तक चलती रही, किसी को पता नहीं। किन्तु सुबह पौ फटने से पहले ही मारे गाँव के लोग जाग गए। पुलिया के पास खड़े टरक से आसमान को छूती लपटें उठ रही थीं और पास ही सोहनसिंह की लाश तीन टुकड़ों में कटी पड़ी थी—खून से लथपथ।

दोपहर तक पुलिस का फौज-फर्दा आ धमका था। सारे गाँव की सामूहिक पिटाई चल रही थी। गरदन झुकाए, हाथ बाँधे सब खड़े थे—केवल परसिया के अलावा।

कल रात तक वह यही था। सोने से पहले पंचायत-घर के चबूतरे पर पधान ने स्वयं उसे देखा, पगलाया-सा घूम रहा था। फिर सबह कहाँ गायब हो गया, यह रहस्य किसी की भी समझ में न आ रहा था।

घर के आगे आम के पेड़ से भीखू को कसकर बाँधा गया था। थानेदार उसकी



झुकी हुई नगी पीठ पर झपाझप सोटी मारता चला जा रहा था और वह दहाड मारकर चीख रहा था, कसाईखाने के जिबह होते पशु की तरह—गला फाड़-फाड़कर।

परसिया फरार था। इसलिए हत्या का सारा दोष भीखू के सिर मढा जा रहा था। पर भीखू बार-बार यही कह रहा था कि हत्या मे उसका हाथ नहीं।

जब कही सुराग न मिला तो अन्त मे भीखू को ही नहीं, भीखू की घरवाली अमिया और छोरी चदरिया को भी बाँधकर थाने मे ले गए थे।

आठ-नौ दिन हिरासत मे रहने के बाद जब वे गाँव लौटे तो उनका हालिया ही बदला हुआ था। भीखू के घुटने टूटे हुए थे, उससे चला तक नहीं जा रहा था। गाँव के लोग कन्धे पर उठाकर किसी तरह घर लाए थे। अमिया अपने को मुँह दिखलाने लायक भी नहीं समझ रही थी—लाज शरम के मारे। चदरिया का फूल सी देह मुरझा आई थी। आँखो के नीचे काली-काली झाँड़ियाँ। देह मे दरद के मारे चला तक नहीं जा रहा था।

पुलिस के डर से कोई सहानुभूति जतलाने घर नहीं आया था। तीनों वैसे ही रोते-कलपते सारी रात पडे रहे मडैय्या मे।

“जे गाँम छोडि के चले जात है ।”

“कहाँ—?”

“कही भी। हियाँ पुलस रोज रोज परेशान करन है। हर हफ्ता थाना मा डियूटी। हर हफ्ता मार कुटाई। हम आदमी है कि जिनावर ।”

‘तो कही दूर चले जाते है बडी नादया पार। पुलस हाकम को जहाँ पता भी नाहि चलै।’ समर्थन पाने की डूबती आशा से अमिया ने पति की ओर कातर दृष्टि मे देखा “हुआँ कौन जानत हे हमे—उस मुल, मा हम कउन है ? का करत है ?”

“अपना गाँम छोडिना इतना आसान समझत हो ? अपने घर दुआर। खेन खलिहान—।”

यह सुनते ही अमिया व्यग्य मे हँस पडी, दर्द-भरी हँसी मे, “गहन-पत्तर गए। भाडे बरतन नाहि रहे। खाने के लिए नाज का दाना तक नाहि छोडा राकसो ने। बचा खेत-खलिहान फारमवारा किसी दिन हडप लेइगा, जइसे सखी के बाप का हडपा था। फिर बचा का है हिया—सिवा घास-फूम की टूटी मडैया के।”

“तू तो निरी-निरी पगराय गई है। अपन पुरखन की जमीन छाँडि के कौन ठौर है हमहि ? हम हिया हि मरेगे—इसी मट्टी मा।” भीखू ने तनिक आवेस मे कहा तो अमिया सहम गई।

“एकहि पुत्तर है—फरार। कउन जाने जिन्ना भी है या । पुलस का का भरोसो। अपन करम ही काने है तो कउन का करि सकत है ?” गहरी साँस भरती हुई अमिया बोली, “कउन जाने का लिखा है, अपन कपाल मा ? धतूरा खाई के सोई जाहि तो तरान मिलि है।”

“हमार परसिया हियाँ कभी जरूर आवेगा, जिन्ना रहा तो—तू नहिं जानत है....” भीखू छत की ओर देखता-देखता सहसा चुप हो गया था, उसकी आकृति में अजीब-सी विवशता का, कातरता का, भाव था।

सुबह कचनियों चुपके-से आकर कुछ दाने चने के दे गई थी। उन्हे ही तवे पर भूनकर ढेर मारा ठंडा पानी पी लिया था। चंदरिया का हाथ पकड़कर वह अपने घर ले आई। झिंझने कपड़े में बँधी, पिसी हुई हल्दी की गीली गाँठ को आग की आँच में गरम कर, सेकती रही मारा दिन। कसाइयों ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जाँघो तक में सृजन थी।

परसिया के फरार होने के बाद पुलिस चुप नहीं बैठी थी। आसपास के सभी थानों में उसका हुलिया पहले ही भेजा जा चुका था, परंतु वह तराई के बीहड़ वनों में ऐसा लापता हुआ कि फिर मिला नहीं।

उसे गिरफ्तार कर पाने के सभी प्रयास विफल रहे तो पुलिस ने उसके घरवालों को और अधिक परेशान करना आरम्भ कर दिया। खेत में खड़ी फसल एक दिन जला दी। मडैय्या के बाँस छिटकाकर नीचे फेंक दिए।

भीखू की फिर पेशी हुई और चंदरिया को हर हफ्ते बुलाया जाने लगा, तहकीकात के नाम पर।

तभी एक दिन सारे थारू इलाके में फिर जलजला आया, जब पुलिस के एक सिपाही की रक्तरजित लाश सुतरिया नदी में बहती दिखलाई दी।

भदरपुर गाँव के निवासियों का कहना था कि इस दुर्घटना के दो-तीन दिन पहले, रात के आँधियारे में छिपकर परसिया घर आया था। जमनिया ने खुद अपनी आँखों से देखा था। कचनियों की झुपड़ियों के पिछवाड़े, पयाल की ढेरी के पास बैठा भात खा रहा था। ज्योंही आहट आई, कन्धे पर कुल्हाड़ी लिए खेतों की ओर भागा और फिर वहाँ से जंगल की दिशा में।

पुलिस का आक्रोश अब कचनियों पर भी उतरने लगा था। थानेदार गाँव में आकर चेतावनी दे गया था कि जो परसिया को शरण देगा, उसे भी हवालात में बन्द कर दिया जाएगा। उसे खोजने का दायित्व गाँववालों पर भी डाल गया था। अगर वे उसे ढूँढकर नहीं लाए तो गाँव का गाँव उजाड़ दिया जाएगा।

गाँव के कुछ जवान-अधेड़ों को वह स्वयं जंगल की ओर खदेड़ गया था कि उमे आसपास खड़े वृक्ष सचमुच दैत्य जैसे लग रहे थे—बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे। गंदला आममान बादलो से घिरा था। कभी-कभी बिजली कड़कने के पश्चात् अंधकार और भी घनीभूत हो आता था।

सहसा तभी हवा की सनसनाहट बढ़ती तो बाँस की झाड़ियों से सीटी का जैसा शोर उठने लगा। आपस में रगड़ खाने से बाँस की टहनियाँ विचित्र-सा स्वर गुंजा रही थीं। लगता था इधर, अभी-अभी शाम को बारिश हुई है, इसलिए कहीं-कहीं गड्ढों में

पानी भर गया था। नई उग आई घास में जगल के पगडण्डीनामा रास्ते भी ओझल हो गए थे। केवल अनुमान के सहारे परसिया अँधियारे में चल रहा था—हॉफना हुआ—एक सुर, लय में—कॉपता हुआ।

बॉस की घनी, कटीली झाड़ियों से तनिक परे हटकर जमीन पर तिरछ झुक खेर के पेड़ के नीचे, कूरी के पास एक विशाल पत्थर पड़ा था—हाथी की पीठ जैसा खुरदरा। उस पर बैठकर वह सुस्ताने लगा। बाएँ पाँव के तलव को टर तक हथेला स दबाए रहा, शायद खून का बहना कुछ थमे।

म्यारो के रोने और झीगुरो के झिन झिन् के अनिरीकत ओर कुछ सुनाई नहीं द रहा था अब।

तभी सहमा बेत की झाड़ियों से किसी के कूदने की आहट आई। उसने आशका से चौकत हुए इधर-उधर देखा और एकाएक उठ खड़ा हुआ।

एक ही कदम अभी आगे बढ़ा था कि एक सफेद सा खरगश कान खड़े कर बिजली की जैमी नजी में दौड़ता हुआ बगलवाली झाड़ी में कहीं ओझल हो गया।

एक बार उठकर फिर बैठना उसके लिए असम्भव था। बैठते समय घुटना में अजाब सी टीस उठती इमालए उसने आगे और आगे बढ़ने का निश्चय किया जब तक कि सिरे छिपाने के लिए कहीं ठोक मा ठार न मिल जाए।

उसके कन्ध पर कुल्हाड़ी उसी तरह अब तक रखा थी। जनऊ क धागे नीचे की ओर लटके हुए। पागलो की तरह वह अपना मोचे ममझे लगानार आगे बढ़ रहा था—जगल और घने जगल में जहाँ आदमी का माया उस नू तक न मके।

उसे लग रहा था पीछे में कहीं मोत उसका पीछा कर रही है। उसके पीछे पीछे बतहाशा भागकर आ रही है। उससे बच निकलने में अलावा आर कोई चारा नहीं।

अभी वह नदा का पथरीला गखर पर सर रहा था दूर कहीं डगरो के गल पर बँधो घण्टी की जसी आवाज सुनाई दी उस। कुत्ते के भूकने का ग्वर। एक बड़े पत्थर पर खड़े हादर दरखा—उसने आगे में जलना दिखना, दो उस पार।

चार के लिए इधर उधर भटकनेवाले घुमलू गालो का पडाव मा लगता है वह चुम्बक की तरह खिचता हुआ बढ़ने लगा।

कुछ ही दूरी तय करन पर लगा उसका अनुमान सही है। बड़े के घन वृक्षा के नीचे द्वार डगरो का गोल है। उमी के समीप आगे धधक रहा है। तीन आदमा बँठ शुल्फई पी रहे हैं। ज्योही शुल्फई में जग में दम लगा। ऊपर एक लपट सी उठ रही है। जरूर गोंजा अनर हागा।

कान— 'मच झुकी टहानया। हलन स व तानो एक साथ चौक।

'मय—।' परसिया ने हॉफत हुए कहा थाहू है।

'कहाँ जान हो?'

"ऐइमे ही द्वार डगरन की खाज मा। घण्टन की आवाज सनिके इधर लोर्ट आए।

“सुनत नहिं जे शेर की आवाज । मारी रात हम जागि के पहग देत रहिन है ।” बीच में बैठा व्यक्ति बोला ।

वह क्षण-भर चुप रहा—कान लगाकर । रौखड़ की दिशा से ही घर-घर की आवाज आ रही थी, ठीक वसी ही जैसी बड़े बर्तन में मट्टा बनाते समय बॉस की बारी मथनी के लगातार घूमने से आती है ।

शुल्फर्ड में एक लम्बा दम लगाकर वह भी अर्धा पाँव पमाकर बैठा ही था कि त्वाला न दार डगर हॉकने आरम्भ कर दिए, नए चरागाह की खोज में ।

परमिया को मालूम था उसे पकड़ने के लिए पुलिस गाँववालों की सहायता ले रही है । नौथे दिन वह नाला पार कर ही रहा था कि बिरजा प्रधान मामले खड़े दीखे—

“कहाँ भटकत हा परसुआ ? गाँव तबाह है । औरतन की इज्जत नाहि बची । पुलम डण्डा चलाए रहि है । तुम का घर-घर, द्वार-द्वार ढूँढत रहि है । तुम गाँव चलो ।”

परमिया चुप - उनके चेहरे की आर देखता रहा ।

‘तुम्हार घर कुछ बचि नाहि । झुर्पाडिया तोडि डारी है । भीखू भीख माँगत है । चदारिया की लाज तोहार हाथ द । तू घर चल ।”

इस बार भी वह कुछ बोल न पाया ।

“पुलम नाय करन को बोलत है, तोहार साथ । तू चल । तोहार मदद हम करि है-- सारे गाँव—गिराम के लाग ।”

“पुलम क्या नाय करत है ?” परमिया तनककर बोला, दबे आक्रोश के स्वर में वह तो खुद ही अनाय कराय रहि । हमार गय्यन भैसन को जे फारम वाले तरक मा धारि क ले जान है, तब पुलम का करत है ? हमारी बहू बेटीन का लोग घसीट के लेइ जात है जाग जखन करत है, तब तोहार पुलम कहाँ जात है ? चार हर साल डाका चलत है । कर-श करारा मय उठाए क ले जान है तब पुलम का कुछ नाहि मुझत ? हमार भेनन माँ फारमवारे कब्जा काग लेत है तब पुलम किम्का साथ दत है ? ऐसी पुर्लामिया पर हमार भरोसा नाह तोहार है तो तुम जाओ ।”

‘तो का तू गम् नगर चलि है ?’ कटककर बिरजा प्रधान न बरा तो परमिया सहसा मन्थ हो उठा । कुल्हाड़ा के बेट पर हाथो का पकट तर्क तेज करता हुआ बोला दौन पीसला हुआ काग रर न मचाओ । खर मानन हो तो लगेट जाओ । नाहि तो हम कुछ भी करि सकत है -

बड़े बिरजा का फिर हिम्मत न पड़ी ।

परमिया कन्ध पर कुल्हाड़ी रखकर पद अगे बढ़ मिट्टी रोदना हुआ । कुछ कदम चलकर एकाएक रुका “फारमवारे बिरजबासी से कहि देना, झन् से भी, तोहार भी दुई टुकड़े नाहि किए तो हमार ना परमुवा नाहि । फारम जराय के हि हम फौसी पर झूलेगे । अन्नाई दैन कही के ।”

परमिया फिर वर्षों तक गाँव लौटा नहीं।

पूरे पाँच साल बाद राग के अंधियारे में एक दिन उसने कचनियों की मडैय्या का द्वार खटखटाया।

“कऊ-न—?” बीमार-सा नागी स्वर था।

“कचनियों नू—।”

वह निर्निमेष उसके चेहरे का आर देखता रहा। गोदने के नीचे निशान आज कहीं भी दीख न रहे थे।

बढ़ी हुई काली दाढ़ी। फटे कपड़े। बिबराल रूप।

“काका किधर हैं। हमार झुपांडया कहाँ है—?” अभी वह पृष्ठ ही रहा था कि कचनियों ने चुपके से पूरे किवाड़ खोल दिए और भीतर आने के लिए इशारा किया।

“काका नाहि रहे—?” इससे अधिक कचनियों बोल न पाई।

कइसे—कइसे? का भव? परमिया का मुँह खुल आया अचरज से।

“पुलम की मार पीट में पेशान हाइके, अऊर तोहार जन्मगी बचाने के खातिर काका ने थाने मा बलि दिही कि सरदार मोहनसह का कतल हम करि है। पुलम का सिपाही हम मारि है। फारमवागे बिरजवामी को भो। बिरजा काका ने गवाही दे डारी ओर काका को फौमी होई गई, गए चैन मा /”

परमिया दूर तक स्तब्ध मा खड़ा रहा। अपने को सम्भालता हुआ फिर बोला, कुछ सोचना हुआ, “अम्मा किधर है? चटारिया—।”

‘गाँव छान्डी के सब निकारि गर। अब कोई नाहि हिया। झुपडिया की ठौर मा साखिया के बाप ने ऐहि फ.मल मा धान बो डारि हे। देखत नहा, घेर बाड लगा ह?’

कोने में मिट्टी के तेल की दिबरी भभक रही थी। उसी के पास बॉम की चटाई पर कोई नन्दा शिशु गहरी नींद में डूबा था।

“जे कौ /”

इस प्रश्न का कचनियों कोई उत्तर न दे सकी। कभी वह चिड़ोने पर सोए शिशु की ओर देखती, कभी परमिया के कुछ हुए आतंकित चेहरे की तरफ।

कुछ क्षण यो ही प्रस्तर-प्रतिमा की तरह निरग्न खड़ा रहा परमिया। महसा न जाने क्या सोचना हुआ मूढ़ा ता क्यानर्या ने टोका, “कहाँ जात हो—इन्ने अनर मा /”

प्रत्युत्तर में परमिया कुछ भी न बोल पाया। अंधियारे में चुपचाप चलता रहा, कन्धे पर कुल्हाड़ी धरे।







## हिमांशु जोशी

जाने-माने कथाकार। 'अन्तत', 'रथचक्र', 'मनुष्य-चिह्न', 'जलते हुए डैने', 'तपस्या तथा अन्य कहानियाँ', 'गंधर्व-गाथा', 'श्रेष्ठ आँचलिक कहानियाँ', 'चर्चित कहानियाँ' आदि (कहानी-संग्रह), 'अरण्य', 'महासागर', 'छाया मत छूना मन', 'कगार की आग', 'तुम्हारे लिए', 'सु-राज', 'समय साक्षी है' (उपन्यास), 'अग्निसम्भव' (कविता-संग्रह), 'यात्राएँ' तथा 'सूरज चमके आधी रात' (यात्रा-वृत्तान्त) विशेष चर्चा के विषय बने।

'तीन तारे', 'काला पानी', 'अग्नि सन्तान' आदि बाल-साहित्य की भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

उर्दू, बांग्ला, डोगरी, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, ओड़िया, मलयालम, पजाबी, गुजराती, सिंधी आदि समस्त भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कुछ रचनाएँ अंग्रेजी, स्लाव, चेक, नेपाली, बर्मी, जापानी, चीनी, कोरियाई, नार्वेजियन आदि में भी अनूदित। कुछ रचनाओं पर फिल्में बनीं। कुछ के आकाशवाणी से नाट्य-रूपान्तर प्रसारित हुए। कुछ मंचित भी हुईं।

